गांधी हिन्दी दर्शन

हिन्दी—स्वयंसिद्ध उद्देश्य

हिन्दी ही हिन्दुस्तान के शिक्षित समुदाय की सामान्य भाषा हो सकती है, यह निर्विवाद सिद्ध है। यह कैसे हो, केवल यही विचार करना है। हिन्दी शिक्षित वर्गों के बीच समान माध्यम ही नहीं बल्कि जन-साधारण के हृदय तक पहुँचने का द्वार बन सकती है। इस दिशा में देश की कोई भी भाषा इसकी समानता नहीं कर सकती और अंग्रेज़ी तो कदापि नहीं कर सकती। हिन्दी जल्दी से जल्दी अंग्रेज़ी का स्थान ले लें, यह एक स्वयंसिद्ध जान पड़ता है।

जिस स्थान को आजकल अंग्रेज़ी भाषा लेने का प्रयत्न कर रही है और जिसे लेना उसके लिए असंभव है, वही स्थान हिन्दी को मिलना चाहिए। क्योंकि हिन्दी का उसपर पूर्ण अधिकार है। यह स्थान अंग्रेज़ी को नहीं मिल सकता है। क्योंकि वह विदेशी भाषा है और हमारे लिए बड़ी कठिन है। अंग्रेज़ी की अपेक्षा हिन्दी सीखना बहुत सरल है।

आज तक हमारा देशी काम और व्यवहार हिन्दी में आरंभ नहीं हो पाया, इसका कारण हमारी भीरूता, अश्रद्धा और हिन्दी भाषा के गौरव का अज्ञान है। यदि हम भीरुता छोड़ दें, श्रद्धावान बनें, हिन्दी का गौरव समझ लें तो हमारी राष्ट्रीय और प्रांतिक परिषदों तथा सरकारी विधान सभाओं का भी काम हिन्दी में चलने लगेगा। आरंभ प्रांतिक राष्ट्रीय मण्डलों से होना आवश्यक है।

एक प्रांत मद्रास ही ऐसा है जिसके कारण कठिनाई उत्पन्न होती है; किन्तु मुझे दक्षिणात्यों की आत्म-शक्ति और कल्पना शक्ति में पूरा विश्वास है और मैं जानता हूँ कि वे जल्दी ही हिन्दी को समान माध्यम के रूप में ग्रहण कर लेंगे। भाषाओं को सीखने की योग्यता जितनी मद्रास में है उतनी किसी अन्य इलाके में नहीं। यह मेरा दक्षिण आफ़्रिका का अनुभव है। यद्यपि वहाँ बहुत बड़ी संख्या द्राविडों की है फिर भी हिन्दी भाषी जितनी जल्दी तमिल या तेलुगु सीखते हैं उसकी अपेक्षा तमिल या तेलुगु लोग हिन्दी ज़्यादा, जल्दी सीख लेते हैं।

इस निवेदन में एक गर्भित बात आ जाती है। वह यह है कि हिन्दी और उर्दू के बीच में भेद नहीं रखा गया है। वास्तव में हम अपने इस्लामी भाइयों से क्यों झगड़ें? वे उर्दू लिपि पढ़ें। हममें से थोड़े लोग उर्दू लिपि भी जानते हैं तथा और अधिक लोग सीख लेंगे। जब तक इस्लामी भाई नागरी लिपि नहीं पढ़ लेंगे तब तक हमारे राष्ट्रीय कार्य दोनों लिपियों में हुआ करेंगे। कैसे ही

(शेष पृष्ठ 4 में)

भारत की अमर वाणी

पं. देवदूत विद्यार्थी

[15 अगस्त—इस पुण्य दिवस की अमर स्मृति के साथ भारतीय मनीषियों की हजारों वर्ष पूर्व की तत्संबन्धी अमर वाणी की ताजगी पाठकों के लिए विशेष प्रेरणा दे सकेगी। —संपादक]

"मैं भारत को प्यार करता हूँ इसलिए नहीं कि मैं उसके भौगोलिक प्रतिमा-पूजन को पसन्द करता हूँ, इसलिए नहीं कि मैं संयोगवश उसकी भूमि में जन्मा हूँ, पर इसलिए कि उसने अशान्त युगों से होकर उन प्राणवान शब्दों की रक्षा की है जो उसके आप्त पुरुषों की प्रबुद्ध चेतना से निकले हैं।" —रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"भारत के मस्तिष्क ने कोई भूल नहीं की जब उसने अपने सब दर्शन, धर्म और अपनी संस्कृति की अनिवार्य चीज़ों का मूल स्रोत वेदों के ऋषि-कवियों को बताया; क्योंकि उसकी जनता की सर्व भावी आध्यात्मिकता बीज-रूप में या प्रथम अभिव्यक्ति के रूप में इसी में निहित है।" —योगी श्री अरविन्द

"वेद मानव पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं"—जिनके संबन्ध में मनु ने कहा है, "वेदोऽखिलो धर्ममूलं।" यहाँ कुछ ऐसे वेद-मंत्र दिये जाते हैं जिनसे यह प्रकट होगा कि आदिकाल से भारतीय संस्कृति के विकास में कैसे उदात्त विचारों की प्रेरणा रही है।"

"मैंने उस शक्ति को जाना है, जो अन्धकार के परे आदित्य के समान है। उसे जानकर मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण करता है। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।" —यजुर्वेद 31-18

"वे उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि कहते हैं। एक ही अस्तित्व है, ज्ञानी उसे भिन्न नामों से पुकारते हैं।" ऋक् 10, 164, 46

"वह एक है जिसका मुनि भिन्न-भिन्न प्रकार से ध्यान करते हैं।" —ऋक् 10, 114, 5

"पूर्ण तप से ऋत (अनादि नियम) और सत्य उत्पन्न हुए हैं।" —ऋक् 10, 190, 1

"यह सारी सृष्टि आनन्द से उद्भूत हुई है, आनन्द में स्थित है और आनन्द में प्रवेश करती है।" —तैत्तरीय उपनिषद 11, 7

"इस जगत में जो कुछ चल-अचल है, सबमें ईश्वर व्याप्त है। त्यागपूर्वक भोग करो, दूसरे के धन का लोभ न करो।"

—यजुर्वेद 40, 1

"जो सर्व प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को सर्व प्राणियों में देखता है वह किसीसे घृणा नहीं करता।" —ईशोपनिषद 3, 5, 7

"पृथ्वी भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने और स्थान के अनुसार अनेक धर्मों का पालन करनेवाले मनुष्यों को धारण करती है।"

—अथर्व. 12, 9, 45

"पृथ्वी मेरी माता है। मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।"

—अथर्व. 13, 1, 12

"वसुधा एक कुटुम्ब की तरह है। सब सुखी हो, सब निरोग हों, सब भद्र हों, किसीको दुःख न हो अमृत पुत्र (मनुष्य) सुनें।"...

—ऋक् 10. 13. 1

"हम सूर्य और चन्द्र की तरह कल्याण-मार्ग पर चलें।

—ऋक् 5, 51, 15

"सब मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, सबको मैं मित्र की दृष्टि से देखूँ हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।" —यजुर्वेद 36, 17

"मैं मित्र से निर्भय होऊँ, शत्रु से निर्भय होऊँ; हमारी रातें भयरहित हों, हमारे दिन भय रहित हों, सब दिशाएँ हमारे लिए भयरहित हों।" —अथर्व. 19, 15, 6

"जो शुभ हो उसे अपने कान से हम सुनें, अपनी आँखों से देखें, और हम बलिष्ठ अंगों और शरीर से तुम्हारी स्तुति करते हुए ईश्वर-प्रदत्त जीवन का उपभोग करें।" —ऋक् 1, 89, 9

"सर्व धर्मों को जाननेवाले ईश्वर! धर्म मार्ग से हमें कल्याण की ओर प्रेरित करो, उस पाप को दूर करो जो हमें कुमार्ग में ले जाता है।

—ऋक 1, 189, 1

"हे ईश्वर, तुम तेज हो, मुझे तेजस्वी बनाओ, तुम वीर्य हो, मुझे वीर्यवान बनाओ; तुम बल हो, मुझे बलवान बनाओ; तुम ओज हो, मुझे ओजस्वी बनाओ। तुम क्षमा हो, मुझे क्षमाशील बनाओ; तुम साहस हो, मुझे साहसी बनाओ।" —यजुर्वेद 19, 19

"हमारे शरीर को स्वतंत्र रखो, हमारे गृह को स्वतंत्र रखो, हमारे जीवन को स्वतंत्र रखो।" —ऋक् 8, 68, 12

"मैं तुम्हें घृणा से रहित एक मन और एक हृदय का बनाऊँगा। एक दूसरे को प्यार करो जैसे कि एक गाय अपने बछड़े को प्यार करती है। पुत्र पिता के प्रति निष्ठावान बने, और माता के साथ एक मन होवे ; पत्नी पति से कोमल और मधुर शब्द बोले ; भाई भाई से और बहिन, बहिन से घृणा न करे। एक मन हो, कार्य में संयुक्त हो, तुम मित्र भाव से बोलो। —अथर्व. 3, 30

"हे ईश्वर, तू स्त्री है, तू पुरुष है ; तू कुमार है, तू कुमारी है ; तू लाठी से टेक कर चलनेवाला जीर्ण है ; तू सब रूपों में रहा है।" —अथर्व. 10, 8, 27

"हे ईश्वर तू पिता है, तू माता है, तू स्वामी है, हम तेरे आनन्द के लिए प्रार्थना करते हैं।" —ऋक् 8, 98, 11

"हम साथ-साथ चलें, समान रूप से बोलें, समान रूप से सोचें और हमारा ध्येय एक हो।" —यजुर्वेद 20, 25

"आकाश की शान्ति, मध्य-भाग की शान्ति, वनस्पति की शान्ति, वृक्षों की शान्ति, सर्व देवों की शान्ति, ब्रह्मा की शांति विश्व की शान्ति, शान्ति की शान्ति, वह शान्ति हमें प्राप्त हो।" —यजुर्वेद 36, 17

"हे ईश्वर, मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से प्रकाश की ओर प्रेरित करो, मृत्यु से मुक्त कर अमरत्व की ओर ले चलो।" —बृहद. उप. 13, 28

"मनुष्य इस संसार में सौ वर्ष तक कर्म करता हुआ, जीने की इच्छा करे।" —ईशोप. 2

"डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार "वैदिक कथन, आप्त वचन अथवा ज्ञानियों की उक्तियाँ हैं जिन्हें हमें स्वीकार करना है यदि हम सन्तुष्ट हैं कि इन ज्ञानियों को किसी प्रश्न सम्बन्धी बातों पर निर्णय देने का हमारी अपेक्षा अधिक अच्छे साधन थे। साधारणतः वैदिक सत्यों का संबंध ऋषियों के अनुभवों से हैं जिस तथ्य की कोई तर्क पूर्ण व्याख्या विचार में लेनी ही है।"

प्रोफेसर मैकसमूलर का कथन है, "मैं मानता हूँ कि मनुष्य के अध्ययन के लिए वेदों के महत्व के बराबर विश्व में कुछ नहीं हैं। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए जो अपने लिए, अपने पूर्व-पुरुषों के लिए, इतिहास के लिए या अपने बौद्धिक विकास के लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन अपरिहार्य है।"

देश और संस्कृति मनुष्य के लिए दैवी देन हैं। उनसे ही शारीरिक और आध्यामिक पोषण पाकर मनुष्य पुष्ट होता है और उत्कर्ष को प्राप्त होता है। हजारों वर्ष से वेदों की रक्षा के लिए जो इतनी सावधानी बर्ती गयी। उसका यही रहस्य है।

तुलसीदास : मूल्यांकन

(आधुनिक वातायन से)

डॉ. जी. बालसुब्रह्मण्यम्

महाकवि तुलसीदास का जन्म ऐसी आवश्यक परिस्थितियों के संदर्भ में हुआ, जब भारत की सारी सांस्कृतिक आस्था प्राय: अवसान-दशा तक पहुँच चुकी थी और विश्वभर में ख्याति प्राप्त भारतीय वीरत्व भी मादक विदेशी संस्कृति से प्राप्त अतिशय विलासिता की गंध में जीर्ण हो चुका था। तुलसी का कवि-सुलभ संवेदनशील मन भारतीयों की इस मानसिक जर्जरता का अवलोकन कर दु:खित हुआ, परिणामतः उन्होंने अपने समूचे काव्यात्मक सर्जन का चरम लक्ष्य पथ-भ्रष्ट इस भारतीय जनता का उद्धार ही माना। यद्यपि अपने "रामचरितमानस" के आरंभ में तुलसी ने कहा—

"नाना पुराण निगमागम सम्मतम् यद्-
रामायणे निगदितम् क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांत: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,
भाषा निबंधमति मंजुल मातनोति।

तुलसी का यह "स्वांत: सुखाय" पाश्चात्यों की "कला के लिए कला" वाली बात नहीं। वस्तु-स्थिति के विलोकन से उनके मानस में आत्यंतिक पीड़ा हुई, शोक हुआ, जिसके फलस्व रूप, जैसे आद्य रामायण-प्रणेता वाल्मीकि के संदर्भ में "शोक: श्लोकत्व मागत:" अक्सर सुनाया जाता है, तुलसी के मन से भी "मानस" की अविराम धारा निकल पड़ी।

तुलसी के समय में केवल राजनैतिक स्तर पर ही नहीं, वरन् धार्मिक स्तर पर भी अराजकता विद्यमान रही थी। एक ओर समाज में सगुण और निर्गुण को लेकर जनता लड़ने लगी, तो दूसरी ओर शिव और विष्णु को लेकर नृशंस हत्याकांड करने लगी। अत: तुलसी ने इस धार्मिक पृथकता को मिटाने का हठ-संकल्प कर लिया। अपने "मानस" में, तदनुकूल उन्होंने सगुण और निर्गुण को निश्चित स्थान प्रदान किया। यदि एक स्थान पर वे—

"जड-चेतन जग जीव से, सकल राम मय जानि" अथवा "सियाराम मय सकल जग जानी" कहकर सगुण के पक्ष धर हुए, तो, दूसरे स्थान पर—

"अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा" तथा "अगुन सगुन दोऊ ब्रह्म सरूपा" का उल्लेख करते हुए उन्होंने निर्गुण का भी कम समर्थन नहीं किया।

तुलसी को सचमुच अमृतत्व प्रदान करनेवाला है—उनका "राम" चरित्र। राम कोरे देवता नहीं है, जिसकी आराधाना व उपासना परंपरागत ढंग से की जा सकती है ; कोरा मानव भी नहीं, जो उत्पन्न परिस्थिति की संकटता को देखकर विचलित होता है। वे शील, शक्ति तथा सौंदर्य के समन्वित रूप हैं, अखंड सक्रियता के उद्दीपनकारी आदर्श मूर्ति हैं।

तुलसी को चिरस्मरणीय बनानेवाली और एक बात है—उनकी "लोक-मंगल" की प्रवृत्ति। तुलसी ने जर्जरित, अवसन्न कायर भारतीयों में वीरता जागृत कराने का स्तुत्य प्रयास इसी लोक-मंगल की भावना के आधार पर किया था। तुलसी को शिथिलता प्राप्त समाज के सम्मुख एक आदर्श पूर्ण जीवन प्रस्तुत करना था, और इस के लिए एक संभावित मार्ग रहा धर्म। तुलसी द्वारा प्रतिपादित उस धार्मिक चेतना के मूल में प्रवृत्तिपरक दृष्टिकोण भी निहित है। इसलिए ही उन्होंने ब्रह्म स्वरूप राम को एक सुगठित आदर्श परिवार की परिधि में उतार दिया, उस माध्यम से ही सारे मनावीय सत्संबंधों का सही मूल्यांकन सिद्ध किया। यही कारण है कि राम चरित मानस केवल राम की जीवन-गाथा न होकर पूरी मानवता के लक्षण-दिग्दर्शन करनेवाली संदर्भ-कृति माना गया है। तुलसी की भक्तिमावना अन्यों की भाँति पलायनवादिनी नहीं है, प्रत्युत मानव में आद्यंत निहित शक्तिमत्ता व सृजनात्मकता के रूपों को भी अपनी प्रखरता के साथ अभिव्यक्त करती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कि यदि तुलसी आज भी जीवित हैं, तो उनके राम चरित्र के सर्जन द्ावरा ही। उनका राम त्रिभावात्मक हैं। एक भाव से वे अहंकार-शून्य, निष्काम भावना-युक्त शांतमय स्थिति का आह्वान करते हैं, तो दूसरे भाव से उक्त निष्काम भावना-युक्त होकर समस्त जड़-चेतन-जगत् की सेवा करना चाहते हैं और तीसरे भाव से दशरथ पुत्र आदर्श पुरुष राम के चरित्र का अनुशीलन करने के अभिलाषी हैं। क्रमविपरीत से दूसरे शब्दों में आदर्श-अनुकरण, लोक सेवा तथा आत्म शांति—यही तीन तुलसी की राम-आराधना के मूलमंत्र हैं। इसी वजह से तुलसी प्रातःस्मरणीय संत-कवि सिद्ध हुए हैं।

कन्नड़ के उपन्यास सम्राट

स्व० डॉ० अ. न. कृष्णराव का हिन्दी प्रेम

श्री एस. रेवण्णा, एम.ए., बी.काम.

[भारत के सभी वरिष्ठ कलाकार चाहे वे कहीं भी रहकर किसी भी भाषा-साहित्य की सेवा करते रहे हों भारत की एकात्म भावना के प्रति सदा एकनिष्ठ रहे हैं। इस दृष्टि से कन्नड के सार्वभौम साहित्यकार श्री अ. न. कृष्णराव जी का तिरोधान कन्नड़ के साथ ही राष्ट्र भारती की भी क्षति मानी जाएगी। पाठक स्वर्गीय अ. न. कृष्णराव के सर्वभारतीय व्यक्तित्व की छोटी झाँकी अधोसूचित लेख में पा सकते हैं।]

—संपादक

दिनांक 8-7-'71 के दिन रात को डॉ० अ. न. कृष्णराव का निधन हो गया। कन्नड़ जनता अपने आपको दरिद्र और अनाथ समझने लगी। न केवल कन्नड़ भाषा-भाषी बल्कि उनकी कृतियों से परिचय रखनेवाले अन्य भाषा-भाषी भी शोक से विह्वल हो गये।

"अ. न. कृ."

डा० अ. न. कृष्णराव कर्नाटक प्रांत के घर-घर में अ. न. कृ. नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म दिनांक 9-5-1908 के दिन तुमकूर के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ। पिता स्वर्गीय ए. नरसिंगराव बड़े विद्वान और कला प्रेमी थे। बालक अ. न. कृ. के मन में ललितकलाओं, विशेषकर साहित्य के प्रति बड़ी आस्था उत्पन्न हो गयी थी। इसका श्रेय स्वर्गीय पिता को मिलना चाहिए। सोलह वर्ष की अवस्था में अ. न कृ. ने कन्नड़ में कहानियाँ, नाटक, आलोचना आदि लिखना शुरू कर दिया था। 1934 में जब प्रथम उपन्यास 'जीवन यात्रे' प्रकाशित हुआ तब उनका पूर्ण व्यक्तित्व निखर आया। अ. न. कृ. में एक सशक्त उपन्यासकार छिपा था। वह 'जीवन

यात्रे' के द्वारा बाहर प्रकट हुआ। कन्नड़ जनता ने इसी उपन्यास के द्वारा एक सच्चे उपन्यासकार के दर्शन किये।

उपन्यास सम्राट—अ. न. कृ. ने संस्कृत और अंग्रेजी भाषा साहित्य का गहन अध्ययन एवं मनन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी उपन्यासकला और भी परिपुष्ट हुई। साथ-साथ साहित्य की अन्यान्य शाखाओं में भी उनकी प्रतिभा का चमत्कार दिखाई देने लगा। उनकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति उपन्यासों में लक्षित होती है। वे संगीत, नाटक आदि कलाओं से आकर्षित थे। 'संध्याराग' नामक उपन्यास ने कन्नड़ सारस्वत लोक में अ. न. कृ. को कीर्ति शिखर पर पहुँचा दिया। (पंड़ित सिद्धगोपालजी ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया है) उनकी सशक्त लेखनी से उदयराग, नट सार्वभौम, साहित्यरत्न, गृहलक्ष्मी जैसे उत्कृष्ट उपन्यास अवतरित हुए। नग्न सत्य, संजेगत्तलु (संध्या की धुंधली) शनिसंतान जैसे उपन्यासों के कारण अ. न. कृ. कन्नड़ साहित्य के एक क्रांतिकारी लेखक माने गये। उनके उपन्यासों की कुल संख्या 112 हैं। वे कन्नड भाषा के उपन्यास सम्राट माने गये।

बहुमुखी प्रतिभा—प्रेमचन्द की भाँति अ. न. कृ. प्रगतिशील लेखकों में अग्रणी हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा को देखकर जनता मुग्ध हो गयी। वे स्वयं नाटक लिखते थे और रंगमंच पर अभिनेता के रूप में भी दर्शन देते थे। उनका पहला नाटक 'मदुवेयो मनेहालो' (शादी है कि बरबादी) रंगमंच की दृष्टि से सफल नाटक रहा। उन्होंने महापुरुषों की जीवनियों को सरल भाषा एवं सुंदर शैली में लिखकर कन्नड़ साहित्य के अभाव की पूर्ति की। 'स्वामी-विवेकानंद', 'विश्वबंधु बसवेश्वर', 'भारतद बापू', 'दी कबीर', 'अल्लम प्रभु', कैलासम आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। उन्होंने कुछ कविताएँ भी लिखी हैं। एक कविता का अनुवाद फ्रेंच भाषा में हुआ है।

हिन्दी भाषा प्रेमी—बेंगलोर नगर जैसे अहिन्दी क्षेत्र में एक हिन्दी प्रचारक के नाते कई बार अ. न. कृ. से मिलकर भारतीय भाषाओं के बारे में विचारों के आदान-प्रदान करने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ था। इस संबन्ध में उनके विचार स्पष्ट और तर्क संगत होते थे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होते देख वे प्रसन्न हुए थे। और उन्होंने उसका हार्दिक स्वागत किया था। मैसूर राज्य में हिन्दी के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले कुछ राजनीतिज्ञ एवं कुछ प्रतिष्ठित लेखकों का खण्डन किया। साथ-साथ वे हिन्दी भाषा-भाषियों की अन्य भाषाओं के प्रति अनुदार प्रवृत्ति और उनकी जल्द बाजी को देखकर रुष्ट भी हो जाते थे। वे हिन्दी

लेखकों एवं कवियों का बड़ा आदर करते थे। देहली में संपन्न हुए अनेक समारोहों में दिनकर, विष्णुप्रभाकर, सुमित्रानंदन पंत जैसे कवियों से मिलकर बातचीत करने का सुअवसर उनको प्राप्त हुआ था। अहिन्दी क्षेत्र में संपन्न होनेवाले हिन्दी सभा-समारोहों में अ. न. कृ. बड़े उत्साह से भाग लेते थे। बेंगलोर में स्थित श्री जयभारती हिन्दी विद्यालय में दिनांक 19-2-1971 के दिन प्रमाण-पत्र वितरण समारंभ में अ. न. कृ. ने अध्यक्ष आसन ग्रहण किया था। शायद हिन्दी समारोह में भाग लेने का यह अंतिम अवसर था। उस दिन सारा कार्यक्रम हिन्दी में हो रहा था। पता नहीं उनको इतना बड़ा जोश कैसे आ गया कि उन्होंने जीवन में पहली बार हिन्दी में भाषण देना शुरू कर दिया। इस अनिरीक्षित भाषण को सुनकर सभासद हर्षातिरेक से तालियाँ बजाने लगे। चार पाँच वाक्य बोलने के बाद अ. न. कृ. ने हिन्दी में बोलने की असमर्थता पर दुख प्रकट करते हुए कन्नड़ में भाषण जारी रखा। उस दिन उन्होंने अपने भाषण में कहा था—

"हमारे देश में एक राष्ट्रगीत है, एक राष्ट्रीय झण्डा है, तब देश की एकता के लिए एक राष्ट्रभाषा की भी आवश्यकता है। राष्ट्रभाषा पद के लिए हिन्दी योग्य भाषा है। कुछ लोगों की राय है कि हिन्दी भाषा कन्नड़ के विकास में बहुत बड़ी रुकावट बन जाती है। परन्तु मैं कहता कि यह उनका भ्रम है। ऐसे हिन्दी विरोधियों की बातों की ओर आप लोग ध्यान मत दीजिये। धैर्य से अपना काम करते जाइये। हिन्दी के बारे में मैं इतना अवश्य कहता हूँ कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद तो मिल गया, परन्तु इतने वर्षों के बाद भी वह राष्ट्रीय स्वरूप धारण नहीं कर पायी। यह राष्ट्रीय स्वरूप तभी आता है जबकि भारत की अन्य भाषाओं की अमूल्य कृतियों का हिन्दी में अनुवाद हो जाता है।"

अच्छे भाषणकार—अ. न. कृ. न केवल साहित्यकार थे बल्कि पराजय से अनभिज्ञ एक प्रचण्ड अस्त्र थे, विरोधी शक्तियों के शर-संधान को विफल बनानेवाले एक ब्रह्मदंड थे। उनकी वाणी में विशाल जन समुदाय के हृदय को स्पर्श करने की अपूर्वशक्ति थी। अ. न. कृ. मूक व्यक्ति को वाचाल बनानेवाले एक जादूगर थे। माता सरस्वती उनकी जिह्वा पर नर्तन करती थी।

ऐसे एक महान कलाकार को 1969 में डाक्टरेट की उपाधि प्रदान कर स्वयं मैसूर विश्वविद्यालय धन्य हो गया।

अंतिम दिनों में अ. न. कृष्णराव मैसूर राज्य के साहित्य अकाडेमी के अध्यक्ष थे।

हरिहर शर्मा

(विश्ववन्द्य बापू के एक प्रियपात्र)

श्री रामानन्द शर्मा

जीवन की गति-विधि अक्सर अबूझ पहले-सी बनी रह जाती है, जब तक धूल-फूल की इस धरती से उसका नाता नहीं टूट जाता है।

बम-पिस्तौल के पथ पर चलनेवाला एक तमिष्-भाषी हृष्ट-पुष्ट सुडौल युवक जब बापू की शरण में आया; और उनके चरणों में समर्पित हुआ, तब बापू ने बड़े प्यार से उसका नाम हरिहर शर्मा रख दिया। आश्रम में वह 'अण्णा' के नाम से ही पुकारा जाता था—जो दक्षिण का प्यारा पारिवारिक शब्द है, हिन्दी में उसे 'भाई' की संज्ञा दी जा सकती है।

तब तक बापू ने मद्रास में हिन्दी प्रचार का झंडा गाड़ दिया था और अपने प्रिय पुत्र देवदास गांधी को वहाँ भेज दिया था। यह सन् 1918 ई. की बात है। उनके आदेश पर उत्तर से कुछ और जोशीले युवक भी वहाँ पहुँच गये थे—जैसे परिव्राजक स्वामी सत्यदेव, प्रतापनारायण वाजपेयी, क्षेमानन्द राहत आदि।

लेकिन बापू को इससे सन्तोष न था—उनकी दूरदृष्टि कुछ ऐसे कर्मठ व्यक्तित्व की खोज में थी, जो दक्षिण का हो और जिसकी मातृभाषा दक्षिणी हो।

हरिहर शर्मा को पाकर बापू की आँखों में एक अद्भुत चमक नाच गयी—बहुत ही उपयुक्त व्यक्ति वह उन्हें जान पड़े हिन्दी प्रचार के लिए।

हरिहर शर्मा ने पहले बापू की गुजराती सीखी, फिर प्रयाग जाकर हिन्दी में वह निष्णात हुए और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रचार कार्यालय' की स्थापना मद्रास के 'मइलापुर' उपनगर में करके उन्होंने विधिवत् हिन्दी का प्रचार शुरू कर दिया।

बापू की सहमति से हरिहर शर्मा ने उत्तर और दक्षिण के राष्ट्र-प्रेमी युवकों के नाम एक अपील निकाली जिसके अनुसार एक दल दक्षिण से उत्तर आया और दूसरा दल उत्तर से दक्षिण पहुँचा।

वह 'असहयोग' का जोशीला ज़माना था। जिनकी नसों में राष्ट्र प्रेम की ज्वाला धधक रही थी; और जो देश-प्रेम के नाम पर कुछ करने को उतावले हो रहे थे, वे आगे-पीछे की चिन्ता छोड़े, अपनी-अपनी नैया को अगाध जल में डुबोए गांधी की आँधी में तिनके की तरह उड़ पड़े।

सन् 1920 ई. के नवम्बर में इन पंक्तियों का लेखक भी बिहार से उड़ता-उड़ता मद्रास जा पहुँचा और बड़ी मुश्किल से 'प्रचार कार्यालय' का पता लगाकर शाम के झुटपुटे में एक छोटे-से खपड़ैल मकान के दरवाजे को शंकित हृदय से खटखटाने लगा।

किवाड़ खुला और एक लुंगीधारी गौरवर्ण, भव्यमुख, लंबा डील-डौल नवागन्तुक के सामने आ खड़ा हुआ।

"कौन ?"

नवागन्तुक कुछ क्षण उस चेहरे को देखता और उसके लंबे चोगे को परखता रहा।

"कहाँ से आये हैं आप ?"

जवाब न देकर नवागन्तुक ने पीछे घूमकर सड़क की ओर नज़र दौड़ाई और झटके (घोड़ा गाड़ी) को खड़ा देखकर वह प्रश्नकर्ता से बोला—

"पहले उस झटकेवाले को एक रुपया दे दीजिए, फिर मैं अपनी बात बताऊँगा।"

भौंचक नेत्रों से देखता उस उदार पुरुष ने अन्दर जाकर रुपया लिया और झटकावाले को देकर फिर इस अद्भुत अभ्यागत से वार्तालाप शुरू कर दिया।

अतिथि अकेला न था—उसके साथ एक और भोला बिहारी युवक भी चुपचाप चला आया था उस अगम्य पथ पर। बहुत मना करने पर भी वह नहीं रुका था—'जहाँ आप जाइएगा, मैं साथ रहूँगा।'

ऐसे हठी साथी को कोई कैसे रोक सकता था ?

सुस्थिर होकर नवागन्तुक ने अपने झोले से 'कर्मवीर' का वह अंक निकाला—जिसमें हरिहर शर्मा की वह अपील छपी थी, और शान्त भाव से उनके आगे बढ़ा दिया।

फिर तो कुछ कहने-सुनने को नहीं रहा—नाम-धाम के सामान्य परिचय के अतिरिक्त।

छोटे-से उस मकान में दो युवक और थे, जो तमिल-भाषी थे और हिन्दी का अभ्यास कर रहे थे।

संयोग—नवागन्तुक कुछ ही दिन के बाद बीमार पड़ा और वह बीमारी धीरे-धीरे ऐसी लाइलाज होती गयी कि विवश होकर हरिहर शर्मा को कहना पड़ा—"यहाँ की आबोहवा आपको रास नहीं आती है—आप लौट जाइए अपने प्रदेश..."

"अगर मर जाऊँ, तो समुद्र में फेंक दीजिएगा—लौटूंगा तो कदापि नहीं। आया हूँ जिस उद्देश्य को लेकर, उसे पूरा करके ही लौटना हो सकेगा—पहले नहीं।"

असाध्य बीमारी में पड़े उस युवक के मुख से वैसी दृढ़ता की बात सुनकर हरिहर शर्मा का हृदय उल्लसित हो गया ; और फिर अपनी सधर्मिणी गोमती देवी के साथ उन्होंने उस रोगी की ऐसी सेवा की, जिसकी याद आज भी उसे पुलकित कर देती है और उसका रोम-रोम उन दोनों के प्रति अमित कृतज्ञता से भर जाता है।

अर्ध शताब्दी के इस दीर्घ अभ्यन्तर में हम दोनों ने एक-दूसरे को काल-चक्र के कई रूपों में घूमते हुए देखा ; और हँस-रोकर परस्पर हृदय को टटोला, भरा तथा हलका किया।

शुरू-शुरू में ही मद्रास में भंगियों ने हड़ताल कर दी और नागरिकों के नाकोदम हो गये दुर्गन्ध के मारे। मइलापुर के जिस छोटे मकान में हम छह आदमी उस समय रहते थे, उसमें एक छोटा-सा पाखाना था, जिसमें कागज़ से लिपटी एक बड़ी बालटी पड़ी रहती थी और ऊपर अगल-बगल सूखी मिट्टी के ढेर। जो पाखाना जाता, थोड़ी मिट्टी से उसे ढँक देता था। पानी गिराने का स्थान अलग था। यों पूरी सफ़ाई की व्यवस्था थी गांधी-आश्रम की पद्धति पर।

हड़ताल जब कई दिन तक चली और बालटी-पर-बालटी भरती गयी, तब देखा—एक दिन हरिहर शर्मा, जो बराबर चार बजे के पहले ही उठने के अभ्यासी थे, सामूहिक प्रार्थना करके उठे और बगैर किसी से कुछ कहे-सुने चुपचाप पाखाने की बालटी उठाकर निकल गये और आधे घंटे के बाद लौटे। फिर ज्यों ही वह पाखाने में घुसे दूसरी बालटी उठाने, नवागन्तुक से रहा न गया—वह भी तीसरी बालटी उठाकर उनके पीछे-पीछे चल पड़ा।

हरिहर शर्मा ने घूमकर देखा और वह मुसकुरा उठे—"अच्छा किया ; सबका अभ्यास चाहिए ही।"

पहले उसी मकान में प्रचार कार्यालय भी था, जिसमें हम लोग रहते थे। नारियल के पत्तों से बुनी छोटी-छोटी चटाइयों पर आगे छोटे-छोटे डेस्क रखकर हम हरिहर शर्मा के साथ, उनके आदेनुसार कार्यालय संबंधी काम करते, आये हुए स्थानीय हिन्दी प्रेमियों को हिन्दी सिखाते, एक साथ बैठते, एक साथ सोते शायद खाते-पीते भी एक साथ ही। शर्माजी व्यवस्थापक थे और हम थे उनके अधीनस्थ कार्यकर्ता—लेकिन हममें सम्बन्ध रहा सदा भाई-चारे का। सचमुच वह हमारे

'अण्णा' ही लगते थे, वैसा ही सुनिग्ध प्यार, आँखों में वैसा ही शीतल शील, बोली में वैसा ही माधुर्य—जैसे हम एक ही परिवार के सुसंस्कृत सदस्य हों।

"वेतन क्या दिया जाए?"

नवागन्तुक हतप्रभ-सा हरिहर शर्मा का मुंह देखता रह गया—

"नौकरी करने तो मैं नहीं आया हूँ—मैं तो देश-सेवा करने का संकल्प लेकर आया हूँ..."

"घर में परिवार है, यहां शरीर है—पैसे के बिना काम तो चलेगा नहीं।"

"तो जो आप मुनासिब समझें।"

"तीस मासिक बस होगा?"

"तीस मासिक—एक रूपया रोज़—इतना लेकर मैं क्या करूँगा?"

नवागन्तुक सचमुच अचरज भरे संकोच में पड़ गया।

"क्या घर में कोई नहीं है—वे आपसे कुछ उम्मीद नहीं रखते हैं?"

नवागन्तुक कुछ क्षण चुप रह गया, उसका मन उतनी ही देर में माँ-बाप और अनाथ छोटे-छोटे चचेरे भाइयों के पास पहुँच गया—जिन्हें वह बड़े कष्ट से पीछे छोड़ आया था।

"तो तीस मासिक रहा आपका जीवन-वेतन।"

नवागन्तुक उसका विरोध न कर सका।

देश-सेवा के नाम पर त्याग के ऊँचे ताड़ वृक्ष पर चढ़ने का मंसूबा लेकर वह नवागन्तुक घर से निकल पड़ा था, लेकिन सेवा का पाठ उसने हरिहर शर्मा से ही पढ़ा। परिवार के प्रति कर्तव्य का बोध भी उसे उन्हीं से मिला।

समय बदलता चला और जीवन भी अपना रंग बदलता रहा। उसी समय, संभवतः कुछ आगे-पीछे, बिहार से भाई अवधनन्दन जी, देवदूत विद्यार्थी जी और उत्तर प्रदेश से पं० रघुवर दयालु मिश्रजी भी मद्रास आ पहुँचे और अद्भुत जोश-खरोश के साथ प्रचार-कार्य में जुट गये।

जो भी जहाँ से आया हो, हरिहर शर्मा के शील-सौजन्य, आचार-विचार, सानुभूति सहयोग, स्नेह-सामीप्य की छाप सब पर एक-सी पड़ी। हमारे सामने वही आदर्श बनकर खड़े थे।

मइलापुर का वह मकान बदला—प्रचार-कार्यालय तिरुवल्लिक्केणी के बिग स्ट्रीट के बड़े आहाते में आया। वहाँ हरिहर शर्मा के बगलगीर हुए आंध्र प्रदेश के

नवयुवक मो. सत्यनारायण जी, जो देखने में कद से कुछ नाटे, हँसमुख, शान्त-गंभीर और सूझ-बूझ में अनोखे जान पड़े।

हरिहर शर्मा का उनपर विश्वास जमा और उनकी प्रेरणा से प्रचार का रथ धीर गति से आगे बढ चला।

दूरदर्शी बापू ने हरिहर शर्मा को ही अपना हाथ-पाँव एवं आँखकान बनाकर मद्रास में बिठाया था और जब-जब प्रचार-कार्य में आर्थिक संकट उपस्थित हुआ, गांधीजी ने हरिहर शर्मा के निवेदन पर आँख मूँद कर उसे दूर किया।

फिर तो बड़े-बड़े परिवर्तन देखे गये प्रचार के प्रांगण में। प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ उसका सम्बन्ध विच्छेद हुआ और गांधीजी की अध्यक्षता में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के नये नाम से काम होने लगा।

दक्षिण के चारों (आन्ध्र, तमिल, केरल, कर्नाटक) प्रदेशों में सभा के शाखा-कार्यालय खुले, सर्वत्र प्रचार-विद्यालय स्थापित हुए, भवन बने, प्रेस और प्रकाशन की नींव पड़ी तथा अपनी परीक्षाएँ धडल्ले से चल पड़ीं।

इन सब प्रगतियों में हरिहर शर्मा को सत्यनारायण जी से आशातीत सहयोग प्राप्त हुआ।

समय फिर बदला और समय का खिलौना मानव-जीवन भी बदलता चला। सभा की रजत जयन्ती मनाने के पूर्व ही हरिहर शर्मा को बापू के आदेश से मद्रास छोड़कर वर्धा की प्रचार समिति में आना पड़ा। समय की झंझा में पड़कर मुझे भी आचार्य काका साहेब कालेलकर की शरण में समर्पित होना पड़ा। यों कुछ दिन हम दोनों का साथ वर्धा में रहा। फिर वर्धा से पूना और पूना से मैं बंबई पहुँचा; और वहाँ भी हरिहर शर्मा के साथ काम करने और उनके नये जीवन को नजदीक से देखने-परखने का अनोखा अनुभव हुआ। मैंने साश्चर्य देखा और अन्तर के उल्लास से उनका बडप्पन महसूस किया—कैसा है यह अद्भुत ताड़ का पेड़, जिसकी जड़ कट गयी है और जिसको चारों और से प्रचंड झकोरे हिला-डुलाकर भूसात् करने पर उतारू हैं; फिर भी वह सुस्थिर खड़ा है—जरा भी अपनी गति-विधि में कोई परिवर्तन नहीं आने दे रहा है।

आह, किस इस्पात का बना था हरिहर शर्मा का वह तन-मन, जो चुप-चाप समय की झंझा को यों शान्त सुस्थिर भाव से झेल रहा था।

दुनिया की दृष्टि बदल गयी थी, इष्ट-मित्र कतराने लग गये थे, उपकृत-कृतज्ञ आँख चुराते थे, बड़े बड़ों की भृकुटी वक्र हो रही थी। लेकिन वह हरिहर शर्मा ही की जीवट थी, जो अपने निर्णीत पथ पर बेफिक्र, बिना किसी चूँ-चपड़ के, आँख मूँदे चले जा रहे थे।

देखकर अन्तरंग दंग रह गये और मन-ही-मन मुग्ध भी होते रहे उस बेमिसाल नज्जारे पर। इन पंक्तियों का लेखक उस समय पूना में था और उसका वह परम सौभाग्य था कि हरिहर शर्मा कुछ दिन के लिए अपने नये जीवन के साथ, उसके अतिथि हुए थे।

कैसा अद्भुत था उनका वह मनोबल और सामाजिक साहस—सारी दुनिया एक ओर और शर्माजी एक ओर!!

हिन्दी प्रचार से उनका प्रेम ऐसा प्रगाढ़ हो चुका था कि सभा के आँगन में झाड़ू लगाने का काम भी वह शौक से करना चाहते थे अपने बिगड़े दिन में।

पिछली बार मद्रास में जब उनसे मिला, तब प्रचार सभा के प्रांगण में हिन्दी-विरोधियों का धावा शुरू हो गया था और सर्वत्र तोड़-फोड़ एवं नागरी अक्षरों की लीपा-पोती नज़र आ रही थी। सबसे पहले हरिहर शर्मा ही सभा में पहुँचे और सर्द आह लेने लगे थे। उस समय के हिन्दी के गहरे प्रेमी, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री बी. गोपाल रेड्डी जी, संयोग से मद्रास आये हुए थे। सभा के कार्यकर्ता उन्हें वह दृश्य दिखाने सभा में ले आये और उस गोष्ठी में हरिहर शर्मा का जो वक्तव्य हुआ, वह भुलाए नहीं भूलता है। कैसा अगाध प्रेम और दर्द भरा था उनके हृदय में दुर्दशा-ग्रस्त हिन्दी के प्रति!

फिर हम लोग पांडीचेरी के अरविन्द आश्रम में भी मिले, जहाँ सौ० कमला देवी और उनके सुपुत्र भी मौजूद थे।

मद्रास में गोमती देवी का पुराना परिवार और पांडीचेरी में यह नया आश्रम और दोनों के बीच निर्लिप्त भाव से समरस हो रहे, चर्खे पर सूत सुलझाते हरिहर शर्मा का वह अद्भुत व्यक्तित्व और गांधी साहित्य पर लेखन का अटूट उनका वह व्यसन। कौन मूल्य आँक सकता है, ऐसे अद्भुत क्रांतिकारी व्यक्ति के ऊबड़-खाबड़ जीवन का?

दक्षिण के हिन्दी-प्रचार का वह अचल आलोक-स्तंभ अब चल बसा—कानों में आवाज़ आती है, किन्तु भावुक हृदय का विश्वास नहीं होता है। हिन्दी प्रचार के विस्तृत क्षेत्र में बापू का विश्वासी, वैसा दृढ़ चट्टान-सा कोई व्यक्तित्व निकट भविष्य में उपलब्ध होगा—कौन जाने...

और, जिन अबोध जनों से स्नेह-नाता जोड़कर वह अचानक जिन्हें छोड़ गये हैं, उनका दिल अभी कैसा हो रहा होगा—यह तो जानकार सहृदय ही समझ रहे होंगे। और उन अनाथों का भविष्य...

राष्ट्रभाषा प्रवीण परीक्षा

1. सक्र जिमि सैल.. ....सिवराज देखिये।

प्रसंग—भूषण उस काल के राष्ट्र कवि थे। उनके काव्य में तत्कालीन हिन्दुओं की मानसिक परिस्थिति का परिचय मिलता है। उस काल में हिन्दुत्व का संदेश भारतीयता का संदेश था। भूषण ने शिवाजी के देशप्रेम हिन्दुओं के उद्धार की उत्सुकता और वीरता का संदेश अपने काव्य से दिया है। ये वीर रस के कवि थे। इनका काव्य आज भी भारतीयों के लिए प्रेरणा स्रोत है। काव्य में अलंकारों की प्रधानता है। इस छंद में उदाहरण देकर शिवाजी की वीरता का प्रतिपादन किया है।

व्याख्या—जिस प्रकार इन्द्र ने पहाड़ों के पंख तोड़ कर उन्हें अपने अधिकार में कर लिया है, जिस प्रकार सूर्य का आतंक अंधकार पर छाया हुआ है, विघ्न-बाधाओं को विनायक ने जीत रखा है, राम ने जिस प्रकार रावण पर विजय पाई, भीम ने जिस प्रकार जरासंध का नाश किया और अगस्त्य मुनि ने चुल्लू में समुद्र को भरकर उसे भयभीत कर दिया, शिवजी ने जिस तरह काम देव को भस्म कर दिया, गरुड जिस प्रकार सर्पों पर हावी हैं, शेर ने जिस प्रकार हाथियों को अपने अधीन कर रखा हैं, बाज के भय से सभी पक्षी भयभीत हैं और कौरवों पर जिस प्रकार अर्जुन का आंतक था उसी प्रकार औरंगजेब की सेना शिवाजी से भयभीत थी।

2. यह है उपाय..........एक नयन।

यह पद्य निरालाजी की 'राम की शक्ति पूजा' से लिया गया है। 'पतंजल योग दर्शन' का आधार लेकर राम की शक्ति पूजा का वर्णन किया गया है। लंका और भारत के बीच में चौड़ा सागर है। राम लंका पर आक्रमण करना चाहते हैं। इससे पहले विजय प्राप्ति के लिये महाशक्ति की पूजा आरंभ करते हैं। क्रमशः उनका मन एक-एक चक्र पार करता हुआ आज्ञाचक्र पर चढ़कर निश्चल हो जाता है। राम प्रत्येक जप के बाद आँख बंद कर एक-एक कमल-पुष्प चढ़ाते जाते हैं। अंत में शक्ति उनकी परीक्षा लेने के लिये अंतिम कमल-पुष्प को उठा ले जाती है। जब राम को कमल-पुष्प नहीं मिलता तो अपने बायें हाथ में ब्रह्म शर लेकर दाहिनी आँख को चढ़ाने के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। यह इस छंद में बतलाया गया है—

भावार्थ—देवी के द्वारा कमल-पुष्प चुराये जाने से राम प्रथम व्यग्र हो उठें किन्तु फिर शांत चित्त से सोचने लगे—क्या किया जाय? बहुत चिंतन के बाद एक उपाय उन्हें सूझा—वे गंभीर आवाज़ में कहने लगे—माँ मुझे भी तो कमल-नयन कहती थी। इसलिये एक नहीं, अभी दो नील कमल मेरे पास हैं। हे माता! मैं अपना एक नेत्र देकर पूजा को पूर्ण करता हूँ।

3. लोभियों का............कम नहीं होता।

यह शुक्लजी के भावात्मक लेख 'लोभ और प्रीति' से लिया गया है। इसमें लोभी और योगी को संयम दृष्टि से समान संज्ञा दी है। वे कहते हैं योगी वही है जो अपने संयम से काम, क्रोध को जीत ले, कभी भी सुख की इच्छा न करे, वासनाओं को त्याग दें, जिसके मन में मान और अपमान की भाव ही न आयें। इसी प्रकार लोभी है जो लोभ के वशीभूत होकर (अगर उसे कहीं से धन मिल रहा हो तो) गालियाँ सहकर भी चुप रह जाता है। क्रोध का लेशमात्र भी चिन्ह उसके मुख पर नहीं आयेगा। किसी के रूप पर आकृष्ट होकर लोभी एक पाई भी नहीं छोड़ता। तात्पर्य यह है, लोभी अपने लोभ के कारण अपने शरीर को सुखाते हैं, न अच्छा पहनते हैं, न अच्छा खाते हैं। लोभ के अंकुश से अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियों का अक्रोध, इन्द्रिय निग्रह, मानापमान में समता तथा तप योगियों जैसा होता है।

4. जहाँ दैन्य............है यौवन!

श्री सुमित्रानंदन प्रकृति के गायक होकर उसके सौंदर्य और सुषमा का वर्णन करने पर भी वे समाज के कबि हैं। कल्पना की उड़ानें भरकर भी धरती पर खड़े होकर उसकी कुरूपता को भी देखते हैं—इस 'ग्राम' कविता में कवि ने गाँव का चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है। ग्रामीणों को देखकर वे कहते हैं—'जहाँ पेट भूखा है और शरीर नग्न है, वहाँ सुन्दरता का कोई मूल्य नहीं। पेट भरे होने पर ही सुन्दरता को खूब आँका जा सकता है। प्रगतिवादी विचारधाराओं में मानवीय जीवन की समस्याओं पर दृष्टिपात किया है। पंतजी कहते हैं—

जहाँ पर असंख्य मनुष्य दीन-हीन और दुर्बल हैं और अपना जीवन पशुओं के समान व्यतीत करते हैं, जिनके बच्चे कीड़ों की तरह रेंगते रहते हैं जहाँ असमय में ही यौवन काल में वृद्धावस्था आ जाती हैं, यही है हमारे ग्रामीणों की स्थिति।

—श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास

' राष्ट्रभाषा विशारद ' — उत्तरार्द्ध परीक्षा

1. **तोको राम मिलेंगे, घूँघट का पट खोल रे।**
घट घट में साई रमता, कटुक वचन मत बोल रे।
धन जीवन को गरब न कीजै, झूठा पँचरंग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बारिले, आसा सों मत डोल रे।
जात जुगत सो रंगमहल में पिया पायो अनमोल रे।
कहैं कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

(पद्य-रत्नाकर — पृष्ठ 119)

कबीरदास भक्तिकाल के संत कवियों में सबसे बड़े क्रांतिकारी थे। वे अक्खड़, फक्कड़ और घुमक्कड़ कवि थे। कबीरदास हिन्दी साहित्य में व्यंग्यात्मक शैली के सर्वप्रथम आविष्कर्ता थे। वे माया को ठगिनी मानते थे।

कबीरदास ' महाठगिनी ' माया के जाल में फँसे हुए लोगों से कहते हैं कि तुम मायारूपी अपने घूँघट के पट को खोल दो। तुम्हें भगवान अवश्य मिलेगा। ईश्वर घट-घट वासी है। वह छोटे बड़े सबमें निवास करता है। अत: किसीसे कठोर शब्द का प्रयोग मत करो। तुम अपने धन या यौवन पर गर्व मत करो। तुम्हारा यह शरीर रूपी रंग-बिरंग चोगा झूठा है। तुम अपने शून्य महल में अर्थात् ईश्वर रहित अपने शून्य हृदय में दीवा जला दो। याने दिल में ज्ञान का आलोक भर दो। तुम्हारा भगवान अमूल्य है। उसको तुम योग और युक्ति से क्रीड़ा भवन में प्राप्त करो। कबीरदास कहते हैं कि इस प्रकार जो आन्तरिक ध्वनि अर्थात् अनहद नाद बज उठता है उससे यथार्थ आनन्द का अनुभव हुआ है।

कबीर के प्रस्तुत पद में कला की कारीगरी तो नहीं, किन्तु मन की अनुभूति की सहजता और जोश अवश्य पाया जाता है।

2. **बचकर हाय ! पतंग मरे क्या ?**
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

(पद्य-रत्नाकर — पृष्ठ 11)

मैथिलीशरण गुप्तजी भारतीय संस्कृति के प्रस्तोता कवि थे। वे विश्व के श्रेष्ठ प्रबन्ध कवियों के समान अमर चरित्रों के स्रष्टा या पुनर्निर्माता थे। ' साकेत ' गुप्तजी की कीर्ति का आलोक स्तंभ है। ' ऊर्मिला का विरह ' नामक पाठ्य भाग

'साकेत' महाकाव्य के नवम सर्ग का मार्मिक अंश है। इसमें विरह विधुरा, कोमल हृदया ऊर्मिला की मनोदशा का मार्मिक चित्रण हुआ है।

सखी को दीया जलाते हुए देखकर ऊर्मिला का कथन है प्रस्तुत प्रसंग। हे सखी, दीपक मत जला, क्योंकि इससे दीपक के साथ पतंगें भी जलेंगे। पतंग और दीपक की लौ में प्रेम की विह्वलता अधिक है। दोनों पक्षों में प्रेम समान रूप से पलता है। अतः प्रेम बलिदान ही चाहता है। प्रस्तुत प्रसंग में ऊर्मिला पतंग और दीपक के सात्विक प्रेम की व्यंजना करती है।

पतंग दीपशिखा पर न जले तो क्या करे? अपने पुनीत प्रेम को छोड़ वह किस भांति जीवित रह सकता है? बिना प्रेम के जीवित रहना तो उसके लिए मृत्यु से भी कठोर है। क्या वह अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्रेम के मार्ग का त्याग कर दे? जले नहीं तो वह करे ही क्या? क्या दीपशिखा पर मर मिटने की उसकी साध उसके जीवन की असफलता है? नहीं, यह तो उसकी विजय है। प्रेम दोनों ओर पलता है।

यहाँ दीपक और पतंग की इस प्रेम कहानी के बहाने ऊर्मिला ने अपने पवित्र प्रेम की व्यंजना की है। यहाँ लक्ष्मण मानो दीपक के समान जलकर प्रेम का परिचय दे रहे हैं। उनके जलने में उनके जीवन की सार्थकता है। ऊर्मिला भी पतंग की भांति लक्ष्मण की प्रेम-शिखा पर अपने प्राणों को होम रही है। गुप्तजी की 'पंचवटी' में लक्ष्मण से शूर्पणखा ने इसी प्रकार विनम्र विनती की थी—"दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो कैसे जलता कूद पतंग?"

8. **सोना पाकर भी क्या सुख से तू सोने पावेगी?**
बढ़ती हुई लालसा तुझको कहाँ न ले जावेगी!
काम, क्रोध, मद, मोह समय पर, लोभ सदैव सभी को!
कर्मों के अनुसार किन्तु है देता दैव सभी को। (द्वापर—पृष्ठ 215)

'द्वापर' राष्ट्रकवि गुप्तजी का एकमात्र कृष्ण काव्य है। श्रीकृष्ण के परम मित्र सुदामा भगवत् भजन में तन्मय होकर दिन बिताते थे। सुदामा अपने परिवार की गरीबी एवं दुरवस्था पर जरा भी ध्यान नहीं देते थे। सुदामा द्वारकाधीश कृष्ण से तुच्छ विषयों की भीख माँगकर उन्हें लज्जित नहीं करना चाहते थे। प्रस्तुत प्रसंग में सुदामा अपनी पत्नी से अपना जीवन-दर्शन व्यक्त करते हैं।

क्या सोना पाकर भी तू सुख से सोने पावेगी? बढ़ती हुई लालसा तुझे कहाँ ले जावेगी! मनुष्य की इच्छाओं का कोई अन्त नहीं है। बढ़ती हुई लालसा ही

दु:ख का प्रमुख कारण है। सदैव सभी को लोभ, काम, क्रोध, मद, मोह आदि होते हैं। ये सब मानव के लिए वरदान नहीं हैं, अपितु बड़े अभिशाप हैं। लेकिन दैव सभी को कर्मों के अनुसार फल देते हैं।

प्रस्तुत पंक्तियाँ वैष्णव भावना से युक्त हैं। गीता की पंक्ति "दुखेष्वनुद्विग्न-मना: सुखेषु विगतस्पृहः वीतरागभय क्रोधः स्थित:प्रज्ञ" का सन्देश यहाँ निहित है। वैष्णव सिद्धांतों से सुदामा की आस्था और बढ़ती हुई लालसाओं से उनकी सावधानी यहाँ दर्शित है। सुदामा बढ़ती हुई इच्छाओं की बाढ़ में डाँवाडोल होनेवाले मानव-मन का सच्चे पारखी हैं। काम, क्रोध से आक्रान्त मानव को सुदामा सावधान करते हैं।

4. **"यह तो अधिकारों का एक संग्राम है सम्राट! जिसमें राजसत्ता को गर्व है अपने पशुत्व का, और कलाकार को अपने देवत्व का।"** (सूर्योदय—पृष्ठ 43)

श्री कमलाकान्त वर्माजी एक प्रसिद्ध एकांकीकार हैं। उनमें मानव के प्रति एक उदात्त सहानुभूति है और जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को मार्मिक ढंग से व्यक्त करने की क्षमता भी है। उन्होंने 'सूर्योदय' में राजसत्ता एवं कलाकार के बीच का संघर्ष अच्छी तरह दिखाया है। आचार्य शशांक एक प्रसिद्ध कलाकार थे। वे कला के पवित्र आदर्शों की स्थापना के लिए आत्मबलिदान करने में भी संकोच नहीं करते थे। आचार्य शशांक ने सम्राट समुद्रगुप्त की राजसभा का एक रत्न बनना अस्वीकार किया। अत: आचार्य ने राजाज्ञा के प्रति अवज्ञा प्रकट की। हार्दिक शान्ति के अतिरिक्त केवल मनोविनोद के लिए अपनी संगीत कला का प्रदर्शन वे करना नहीं चाहते थे। सम्राट राजाज्ञा की अवहेलना सह नहीं सके। अत: सम्राट चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी कि कलाकार शाशंक को कल सूर्योदय के पूर्व पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर से नदी में फेंक दिया जाय। आचार्यजी राजाज्ञा सुनने पर भी अपने हठ से किंचित भी विचलित नहीं हुए। नर्तकी निर्झरिणी की आचार्य के प्रति बड़ी श्रद्धा थी। निर्झरिणी ने आचार्य के प्राणों की रक्षा करने का प्रण किया। उनकी रक्षा संभव नहीं तो स्वयं आचार्य शशांक के साथ मृत्यु को वरण करने को वह तैयार हुई। प्रस्तुत प्रसंग में नर्तकी निर्झरिणी सम्राट समुद्रगुप्त से शशांक के पक्ष में वाग्धारा बहाती है।

राजसत्ता एवं कलाकार के अधिकारों का एक संग्राम है यह, जिसमें राजसत्ता को गर्व है अपने पशुत्व का। लेकिन कलाकार को केवल अपने देवत्व का ही गर्व है। स्वयं राजसभा से त्यागपत्र देकर नर्तकी निर्झरिणी ने कलाकार के देवत्व का पक्ष लिया।

निर्झरिणी का कथन सत्य है। राजसत्ता को अपने पाशव बल से कलाकार को दंड देने का अधिकार है, तो कलाकार को अधिकार है कि वह हृदय में क्षमा और वाणी में अपने विश्वास को रखकर उसे अंगीकार कर लें। नर्तकी होने पर भी निर्झरिणी के साहस और वाग्वैदग्ध्य सराहनीय हैं। प्रस्तुत प्रसंग एकांकी में संघर्ष का सृजन करता है। निर्झरिणी एवं राजा का अन्तर्द्वन्द्व यहाँ व्यक्त होता है।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

राष्ट्रभाषा विशारद — 'पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. "गेहूँ हमारी आँखों पर इस कदर छाया हुआ है कि गुलाब को हम देखकर भी नहीं देख पाते।"

श्रीरामवृक्ष 'बेनीपुरी' हिन्दी के इन्द्रधनुषी कलाकार हैं। उनकी भाषा बड़ी ज़ोरदार और शैली लासानी है। यह उद्धरण श्री 'बेनीपुरी' के 'नई संस्कृति की ओर' नामक लेख से दिया गया है। उन्होंने इस लेख के द्वारा हमें सावधान किया कि संस्कृति भी सड़ जाती है।

जीवित एवं स्वस्थ संस्कृति सदैव परिवर्तनशील रहती है। संस्कृति मानव की ही संपदा है। संस्कार-सम्पन्नता को संस्कृति कहते हैं। यह संस्कार किसका होता है? नैसर्गिक प्रकृति का। युयुत्सा, पलायन, काम, प्रफुल्लता आदि कई नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ मानवेतर प्राणियों में भी वर्तमान रहती हैं जो उनके जीवन को संचालित करनेवाली शक्तियाँ भी होती हैं। मानवेतर प्राणियों का सही माने में कोई जीवन नहीं होता है। उनका इस पृथ्वी पर अस्तित्व मात्र है। जीवन और अस्तित्व पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। अस्तित्व में परिवर्तन और विकास करने की शक्ति के बल पर जीवन का निर्माण होता है। यह शक्ति नैसर्गिक शक्तियों को अनुशासित एवं संस्कृत करने की सामर्थ्य पर निर्भर करती है। नैसर्गिक शक्तियों का संस्कार करने की इस सामर्थ्य से मानवेतर प्राणी बिलकुल वंचित हैं। अतएव उनका कोई जीवन नहीं हैं; अस्तित्व मात्र है। किन्तु मानव उच्चतम प्राणी है जो अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों को अनुशासित कर अपने को नियंत्रित करने में बहुत हद तक समर्थ है। उसकी सभ्यता की समस्त कहानी उसकी नैसर्गिक प्रवृत्तियों के अनुशासन, नियंत्रण और उन्नयन का इतिहास मात्र है, जैसे Ellen Roy ने कहा—"**The history of civilisation is a history of tamed, controlled and sublimated instincts.**" अतएव मानव की सर्वोच्च सम्पदा उसकी संस्कृति में निहित है जिसकी अवहेलना किसी भी हालत में नहीं होनी चाहिए। क्योंकि वह भाव-संपदा है जो गुलाब की तरह मृदु-मधुर है।

इतना होते हुए भी आजकल, श्री 'बेनीपुरी' का आक्षेप है, राजकीय विकास-योजनाओं में कुक्षि-पूर्ति के साधनों को जितना प्रश्रय दिया जा रहा है उतना मानसिक विकास के साधनों को नहीं। अस्तित्व बनाए रखने के लिए पेट भरना ही चाहिए ; शरीर का पोषण अवश्य होना चाहिए और इसके लिए गेहूँ जैसे ठोस चीज़ अवश्य चाहिए। लेकिन यही सब कुछ नहीं है। जीवित रहने के लिए, मानव के मनोविकास के लिए गुलाब जैसी रमणीय संस्कृति की बढ़ती अवश्य होनी चाहिए। तभी मानव मनीषी कहलाने का दावा रखेगा।

2· **"हम रुपये का लुत्फ़ उठाना नहीं जानते, बस, जमा करना, ढोना और खोना जानते हैं।"**

हिन्दी के यशस्वी कहानीकारों में श्री जैनेन्द्र कुमार एक हैं। वे मूलतः अंतर्जगत के कलाकार हैं। यही विशेषता उनकी इस कहानी 'चलित चित्र' में परिलक्षित है, जिसके अंदर से यह उद्धरण दिया गया है। एक अंग्रेज़ सज्जन जब अपना कोट और नग जड़ी अंगूठी वेटिंग रूम (waiting Room) में छोड़कर कहीं बाहर चले गये तब शेख़ साहब ने उनके अजीबोग़रीब बर्ताव पर ताज़्जुब कर यह स्वगत कथन-सा कहा।

रुपया साधन मात्र है ; साध्य नहीं है। साध्य जीवन है और जीवन चलाने के अन्यान्य साधनों में रुपया भी एक है। रुपया ऐसा साधन है जिसके विनिमय से जो कोई भी आवश्यक वस्तु जब कभी भी प्राप्त की जा सकती है। अतएव अन्य वस्तु-साधनों की अपेक्षा रुपया नामक साधन के पीछे दुनिया के अधिकांश लोग अंधाधुंध दौड़ लगाते हैं। यह दौड़ यहाँ तक पहुँची दिखती है कि रुपया साधन के स्थान से निकलकर मानों साध्य बन गया। यह बात, लेखक के विचार में भारतीयों में बहुत साफ़ नज़र आती है।

मानव को जीवित रहने के लिए और जीवन चलाने के लिए आवश्यक साधन जुटाने चाहिए और उनका आवश्यकतानुसार उपभोग करना चाहिए। तभी मानव का जीवन प्रगतिशील बना रहेगा। किन्तु अमेरिका और यूरोप के लोगों की तुलना में भारत के लोग धन का उपभोग करने में कार्पण्य करते हैं और धन-संग्रह करने में ही अपने को खपा देते हैं। रुपये का मज़ा उड़ाने में संकोच करने के कारण ही अधिकांश धन्ना सेठ तोंद बढ़ाए बहुत ही भद्दे आकार में दिखायी देते हैं। ऐसे लोग अमीरी का मतलब यह समझते दिखाई देते हैं कि बहुत-से नौकर-चाकर लगाओ ; अपने सारे काम उनसे कराओ और आप एक जगह पड़े रहो। इस तरह ये अमीरी का ठाठ

दिखाने के लिए थोड़ा बहुत रुपया बहा देते हैं और इससे कई गुना जमा करके चल बसते हैं मानों इनका जन्म धन-संग्रह करने के लिए ही हुआ।

इसके विपरीत अमेरिका के बहुत से करोड़पति लोग जीवन चलाना जानते हैं। लाखों रुपये ख़र्च करके दुनिया की सैर करते हैं और कोने-कोने की विशेष-विशेष बातों की जानकारी पाकर अपने जीवन को सम्पन्न करते हैं। वे जानते हैं कि तरह-तरह के स्थानों में भ्रमण करके आदमी अपने ज्ञान को विस्तृत से विस्तृत एवं गंभीर से गंभीर बना लेता है और विकासशील मार्ग पर अग्रसर रहता है। ये लाखों रुपये ख़र्च कर दुनिया की सैर करनेवाले और हजारों रुपये ख़र्च करके नगीने की अंगूठी ख़रीदनेवाले कलाकार अमेरिकी अरबपतियों और खरबपतियों में ऐसा कोई शायद ही मिले जो भारतीय धन्नासेठों की तरह 'मोटू' दीखे। क्योंकि वे मन और शरीर से हमेशा क्रियाशील रहते हैं। अतएव वे मन से स्वस्थ एवं विकासोन्मुख तथा शरीर से गठीले और फुर्तीले होते हैं।

जिन्दगी चलाना भी एक कला है। इस कला के प्रवीण वे ही हैं जो रुपये को जीवन-यापन का बनाबनाया (Ready made) साधन मात्र समझकर ही उसका संग्रह करते हैं और जीवन को सम्पन्न बनाने के लिए उसका उपभोग करने में कंजूसी बिलकुल नहीं करते हैं जिससे मानव-जीवन उज्वल बनेगा। इस कला के पारखी भारतीयों की अपेक्षा अमेरिकावासियों में निस्संदेह अधिक संख्या में मिलते हैं।

३. "इसलिए जो कुछ व्यक्ति के लिए अहितकर है अथवा निषिद्ध है, वह समाज और राष्ट्र के लिए भी।"

यह स्वर्गीय डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के 'बापू के कदमों में' नामक लेख से दिया गया है। गांधीजी के प्रतिपादित सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों का विवेचन करते हुए लेखक ने यह कहा।

प्रत्येक प्राणी व्यक्ति नहीं कहलाता है। मानव ही तो व्यक्ति कहलाता है। किन्तु हर एक मानव को व्यक्ति कहना भी समीचीन नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति मानव जरूर है; किन्तु प्रत्येक मानव, सही अर्थ में व्यक्ति नहीं है। वह मानव व्यक्ति कहलाने का अधिकारी है जो आत्मानुशीलन करता है और अपनी विशेषताओं और त्रुटियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है।

सजातीय प्राणी एक साथ रहते हैं—समूह बांधकर रहते हैं ताकि सम्मिलित प्रयत्न के द्वारा अपने को अधिक सुखी बना सकें और बाहरी आक्रमण का सफलता-पूर्वक मुकाबला कर सकें। मानव भी इसका अपवाद नहीं है; क्योंकि वह भी

सामाजिक प्राणी है। व्यक्तियों का संगठित रूप समाज कहलाता है और समाज की राजनीतिक व्यवस्था को राष्ट्र (state is the political organisation of society) कहते हैं। समाज और राष्ट्र ये दोनों मानव-निर्मित हैं। अतएव इन तीनों के कर्तव्यों में किसी भी हालत में विरोध नहीं हो सकता। विकास-क्रम में व्यक्ति यदि एक सिरे पर रहता है, तो दूसरे सिरे पर राष्ट्र और बीच में समाज। अतएव यह समझना बिलकुल समीचीन है कि व्यक्ति के हित समाज और राष्ट्र का निर्माण हुआ।

ऐसी स्थिति में यह कहना गलत है कि राष्ट्र के लिए व्यक्ति की आहुति होनी चाहिए। यदि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की वेदी पर अपनी आहुति देता जाए, तो राष्ट्र का अस्तित्व ही कहाँ रहेगा? समाज और राष्ट्र के मूल में व्यक्ति है, यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए। व्यक्ति का हित साधने और उसके कल्याण के हेतु समाज और राष्ट्र नामक संस्थाओं का निर्माण व्यक्ति के द्वारा ही हुआ। अतएव यह कहना बिलकुल संगत है कि जो बात व्यक्ति के लिए लाभदायक है वह समाज और राष्ट्र के लिए भी लाभदायक ही है और इसी तरह जो बात व्यक्ति के लिए हानिहारक है वह समाज और राष्ट्र के लिए भी हानिहारक सिद्ध होगी ही। यदि व्यक्तिगत जीवन में और व्यक्तिगत लाभ के लिए असत्य अथवा हिंसापूर्ण व्यवहार निषिद्ध है, तो समाज और राष्ट्र के कल्याण के हेतु भी असत्य अथवा हिंसापूर्ण व्यवहार संगत कभी नहीं हो सकता।

चाणक्य नीति अथवा कूटनीति राष्ट्रीय जीवन में उसी प्रकार लाभदायक नहीं हो सकती जिस प्रकार व्यक्तिगत जीवन में। व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं व्यक्ति-निर्मित सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी व्यक्ति प्रभु (sovereign) है। अतएव व्यक्ति की मान्यताओं तथा समाज और राष्ट्र की मान्यताओं में अन्तर डालने का प्रयत्न ख़तरे से खाली नहीं है। तभी तो गांधीजी सत्य और अहिंसा की भित्ति पर व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में मेल करने का अथक प्रयत्न किया और इन तीनों दिशाओं में हमको स्वतन्त्रता दिलाने के प्रयत्न में अपने को होम किया।

—के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'प्रवेशिका परीक्षा'

1. समय ईश का दिया हुआ अति अनुपम धन है,
यही समय ही अहो तुम्हारा शुभ जीवन है।
इसका खोना स्वयम् स्वजीवन का खोना है
खोकर इसको स्वल्प स्वयमपि होना है। (पद्य प्रवेशिका)

'समय' शीर्षक कविता से प्रस्तुत पंक्तियाँ उद्धृत की गयी हैं। इस कविता के रचयिता हैं स्वर्गीय सियारामशरण गुप्त जी। आप राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त जी के अनुज हैं और अपने अग्रज तुल्य ही पैनी कल्पना और गहरी भावुकता को कविता के सांचे में ढालने में सुदक्ष हैं। प्रस्तुत कविता में आप समय के महत्व को समझाते हुए उसके सदुपयोग का उपदेश देते हैं। आलस्य की एक अणु मनुष्य की आत्मा में स्वाभाविक रूप में सन्निबिष्ट रहती है। किसी न किसी व्याज से कार्य स्थगन करना उसको भाता है। बेकार गुज़रता हुआ प्रतिक्षण मनुष्य को मृत्यु के निकट और ध्येय से दूर ले जाता है। समय भगवान का अतुलनीय वरदान है। अनुपयोग की अवस्था में यही अभिशाप बन जाता है। जीवन के स्वस्थ और सुनिश्चित विकास के लिए विस्तृत कार्यक्रम में व्यस्त रहना आवश्यक है। धनोपार्जन और यशोपार्जन का सुगम साधन समय का सदुपयोग है। शुभ जीवन के लक्षण समय के सदुपयोग द्‌वारा ही प्रकट होते हैं। व्यर्थ में ही व्यतीत होनेवाला समय अनर्थ का द्‌योतक है। समय को खोते खोते खुद अपनी हस्ती को हम खो जाएँगे। आलसी का जीवन वर्तमान में सुख और भविष्य में घोर दुख कहा गया है। वर्तमान तो केवल एक ही पल है। इसलिए पल भर के सुख के लिए आलस्य का शिकार होना ठीक नहीं है। आलसी होकर दूसरों की आँखों से हम गिर जाते हैं और हमारी महिमा क्षण में लुप्त हो जाती है। इसलिए समय का सदुपयोग करना सदा वांछनीय है।

2. **तजि तीरथ, हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग**
जिहिं व्रज केलि-निकुंज मग, पग पग होत प्रयाग। (पद्‌य प्रवेशिका)

यह दोहा हिन्दी के प्रसिद्‌ध कवि बिहारीलाल की 'सतसई' से उद्‌धृत है। बिहारीलाल ऐसे इनेगिने प्रतिभाशाली कवियों में हैं जिनका महत्व रचनाओं के प्राचुर्य या परिमाण पर आधारित नहीं, गुण पर आधारित होता है। इनकी लिखी एकमात्र रचना है "बिहारी सतसई"। इस रचना द्‌वारा बिहारीलाल ने अपनी अनितरसुलभ प्रतिभा का प्रोज्वल प्रमाण प्रस्तुत किया है। बिहारीलाल के आराध्य देव हैं वृन्दावन के विहारी मुरारी। राधाकृष्ण की युगलमर्ति पर कवि का मन मुग्ध है। तीर्थ यात्रा करने से पुण्योपार्जन की सम्भावना है। मगर कवि कहते हैं कि तीर्थ यात्रा आवश्यक नहीं। हरि और राधिका की युगलमूर्ति के चरण तले अपने प्रेम पुष्पों की अंजलि समर्पित कर दो। शरीर से भासमान प्रभा से अनुराग का सम्बन्ध जोड़ लो। व्रज भूमि में जहाँ भी इन दोनों के पैर पड़ते हैं वहाँ तीर्थराज प्रयाग की पुण्यभूमि प्रस्थापित हो जाती है। श्रीकृष्ण श्यामल वर्ण के हैं—राधिका गौरांगिनी है

और अनुराग का रंग लाल है। अतएव जहाँ इन तीनों का संगम होता है वहाँ प्रयाग ही है। प्रयाग में गंगा, जमुना और अन्तस्सलिला सरस्वती के संगम का सारूप्य राधाकृष्ण प्रेम संगम में देखते हैं और हमें उपदेश देते हैं कि यही उत्तम आराधना है।

8. **तीर की गति से आगे बढ़ते हुए बापू के आत्मज को देखकर लगा जैसे नौआखाली की अधूरी यात्रा पूरी की जा रही है।** (गद्य कुसुम)

धार्मिक राष्ट्रीयता की विराट विरासत जो राष्ट्रपिता गान्धीजी छोड़ गये हैं, उसके उत्तरदायित्व को समझकर निभानेवाले इने गिने महापुरुषों में विनोबा भावे एक हैं। भूदान और सर्वोदय के महान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आसेतु हिमाचल पद यात्रा करनेवाले महापुरुष आप हैं। प्रस्तुत पंक्तियाँ श्रीमती निर्मला देशपांडे लिखित विनोबा की पद यात्रा नामक लेख से उद्धृत हैं। लेखिका विनोबा जी के साथ कुछ दिन यात्रा कर रही थीं और अपने तीखे मीठे अनुभवों का वर्णन करती हैं। विनोबाजी ब्राह्म मुहूर्त में जाग उठते हैं। प्रार्थना के पश्चात् उनकी यात्रा प्रारंभ हो जाती थी। एक दिन लेखिका ने देखा कि विनोबाजी तीर की तरह तेज़ी से चल रहे थे। उनके साथ समान तीव्रता से चलना अन्य लोगों के लिए असंभव था। उनको चलते देखकर लेखिका के मन में गांधीजी की याद आयी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ जब देश विभाजन का विकट अवसर प्रस्तुत हुआ तो जगह जगह सांप्रदायिक कलह की आग धधक उठी। तब बंगाल में नौआखाली नामक जगह में शान्ति स्थापित करने के लिए अहिंसा व्रतधारी पूज्य बापूजी गये थे। आज बापूजी के धार्मिक क्षेत्र के उत्तराधिकारी विनोबाजी को तेज़ी से जाते हुए देखकर लेखिका को लगा कि अहिंसा स्थापन के उस पुराने रास्ते के ये नये राहगीर हैं। नौआखाली के बाद भी देश में सांप्रदायिकता का ज़हर कम नहीं हुआ है। और उस ज़हर को उतारने के काम में विनोबाजी लगे हुए हैं। इसी आशय के साथ लेखिका उपरोक्त प्रकार कहती हैं।

—श्री विष्णुप्रिया, मद्रास

ज़बान को एनकेनप्रकारेण विजितों की कोटि-कोटि ज़बानों में प्रतिष्ठित करो;' मेकाले की शिक्षा नीति का यही आधार रहा—इस कड़वी सच्चाई को स्वीकारने की प्रबुद्धता भारत को आज भी प्राप्त नहीं हो सकी है। स्वतंत्र भारत की समूची विकास-योजनाओं की सतत असफलता इसी सत्य का द्योतक है। क्लाइव ने भारत की भौतिकता को लूटा और आज़ादी में कंकाल भारत हमें मिला। मगर भारत को खंडित करने का श्रेय मेकाले ले गये।

वह शिक्षा शिक्षा नहीं है जो व्यक्ति को उसकी राष्ट्रीय परंपरा से संबंद्ध नहीं कर पाती है, अपने अतीत और वर्तमान को समझा नहीं पाती है और भविष्य में दूर तक झाँकने की दृष्टि प्रदान नहीं करती है।

यूनानो मिस्र रूमा सब मिट गये जहाँ से
अब तक मगर है बाक़ी नामोनिशां हमारा

मेकाले की वह थाती वर्तमान शिक्षा प्रणाली क्या हमारी उपरोक्त परंपरा की तप्त अनुभूति हमारी रक्त-धमनियों में प्रवाहित कर पाती है? "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी"—इस हस्ती की पहचान करा पाती है? पुराचीन काल से आज तक के इस मिट्टी के महान विचारक, साहित्य-सर्जनाएँ, नीति-दर्शन शास्त्र, हृदय-स्पर्शी देवमाला, खजुराहो, अजंता, एलोरा, ताजमहल, लोक-गीत, नृत्य और देश के कोने-कोने में फैली हुई विविध दस्तकारियाँ तथा उन्हें बनाने-संवारने में लगे हुए निष्पाप कर्मठ जनगण को हमारी नज़रों में मेकाले की भाषा-शिक्षा नीति क्या उभार कर दिखा सकी है? दिखा सकती है भला!

मेकाले की बुद्धि को बखूबी ज्ञात था कि राष्ट्रीय परंपरा की संजीवनी लिए बहनेवाली भारतीय भाषाओं की, विशेषतः हिन्दी-गंगा की प्रखर धारा में यूरोपीय साम्राज्यवादी हितों का बेड़ा गर्क हो सकता है। अतः यूरोपीय विद्वानों द्वारा, भारतीय भाषा-साहित्य का तथाकथित प्रारंभकालीन अध्ययन की, शत्रु के खेमे में घुसकर उसकी ताक़त को जानने की खुफियागिरी से अधिक अहमियत मानी नहीं जानी चाहिए।

अंग्रेजों की जीभ भारतीय नामों के सही उच्चारण में असमर्थ रही, तो हमने भी अपनी समर्थता को भूलकर अपने स्वामी (?) के उच्चारणों की उपासना प्रारंभ की। माता, पिता, चटोपाध्याय, बंद्योपाध्याय, श्रीरंगपट्टणम, और तिरुवनंतपुरम क्रमशः माम्मी, डैडी, चटरजी, बनरजी, सरंगपट्टाम, और ट्रिवंड्रम में बदल गये।—अधिक क्या कहें, अपनी मातृभाषा भी अंग्रेज़ी माध्यम से पढ़ते रहे।

स्वातंत्र्य-संग्राम के इतिहास से पता चलता है कि मेकाले की भारतीय भाषा-द्रोही शिक्षानीति की अभिसंधि को परख कर राष्ट्र के चिंतकों, राजपुरुषों व

शिक्षावेत्ताओं ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति का समर्थन किया और परसत्ता-काल से ही अंग्रेज़ी शिक्षालयों के समानांतर में राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं का भी सफल प्रयोग किया था।

राष्ट्रीय शिक्षा को राष्ट्र व्यापक आन्दोलन-रूप देने का भीष्म कार्य गांधीजी द्वारा ही संपन्न हुआ था। गांधीजी की पुकार पर जब 1920 के असहयोग के अंतर्गत अंग्रेज़ी शिक्षालयों का बहिष्कार हुआ, तब सरकारी शिक्षालयों से निष्कासित युवक-युवतियों की शिक्षा तथा लंबे अर्से तक आज़ादी की लड़ाई लड़ने योग्य अहिंसक सिपाहियों को तैयार करने के लिए देश भर में राष्ट्रीय विद्यापीठों का जाल बिछाया गया। महात्मा गांधी मूलतः जीवन-साधक जन-शिक्षक रहे थे। गांधीजी द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं में दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के शिक्षाभियान की सिद्धि व संभावनाओं का उल्लेख ही इस निबंधमाला का मुख्य लक्ष्य है।

गांधीजी तथा उनके पूर्ववर्ती सर्वश्री दयानंद, श्रद्धानंद, रवीन्द्र, लोकमान्य, चिपलूनकर, गोखले, कर्वे, राजा महेन्द्रप्रताप, भगवानदास, आचार्य नरेन्द्रदेव प्रभृति शिक्षा-साधकों द्वारा संचालित राष्ट्रीय-शिक्षालय संस्थायें भले ही सरकारी विश्व-विद्यालयों से तुल न सके, मगर फल-परिणाम की दृष्टि से इनकी बहुमुखी सिद्धियाँ सर्वाधिक अभिनंदनीय तथा सरकारी शिक्षालयों में भी कालांतर में वैचारिक विप्लव पैदा करनेवाली सिद्ध हुईं। स्वतंत्रता का सफल संग्राम इन्हीं संस्थाओं के स्नातक लड़ सके थे। देश भर के रचनात्मक कार्यों का नेतृत्व भी ये ही वहन कर सके थे। अध्यापन, पत्रसंपादन, साहित्य-सृजन, कृषक-मज़दूर संगठन तथा शासन क्षेत्र में भी अपने व्यक्तित्व की छाप डालनेवालों में ये ही अग्रगण्य रहे। राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहासकार मानते हैं कि उक्त सिद्धियों का मूलकारण शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा और हिन्दी की अनिवार्यता है। इन संस्थाओं में अंग्रेज़ी को शिक्षा माध्यम न बनाने से छात्रों के समय और शक्ति का अपव्यय नहीं हो पाया और अपने देश की सच्ची हालत को परखने-समझने का वातावरण भी प्राप्त था। छात्र और शिक्षक का उच्च स्तर का संबन्ध स्थापित हो सका। शिक्षा जीविकोपार्जन के दलदल में फँसने से बची रही। छात्रों का नैतिक स्तर भव्य रहा। स्वदेशीव्रत और कौमी एकता को मर्मतत्व की हैसियत हासिल रही। स्वदेशी भाषा हिन्दी की उपरोक्त व्यापक सत्ता का अन्वेषण और प्रकाशन राष्ट्रपिता गांधी की पारदर्शी सूझ का ही परिणाम है। और उस अमर स्वदेशी-शिक्षा-साधक का प्रयोग सर्वाधिक सफलीभूत हुआ—दक्षिणापथ में, जिसका सबल मिसाल है 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा'।

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

अपने पापों की ... ... हलका हो जाता है। (चिंतामणि)

शुक्लजी के "तुलसी का भक्तिमार्ग" से यह लिया गया है। पाप क्या है? "जो कार्य छिपकर किया जाय और जिसके परिणाम में भय की आशंका हो, वह पाप है।" जब छिपी हुई वस्तु प्रकट कर दी जाती है, तो भय के भाव समाप्त हो जाते हैं। भय ही मनुष्य को पतन गर्त की ओर ले जाता है। ईश्वर विकारहीन है। जब तक विकार मन में बने रहेंगे, ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। पाप मन का होता है। शरीर से किया हुआ कार्य तब तक पाप नहीं माना जाता, जब तक मन से न किया जाय। हमारे मनीषियों ने बार-बार यही कहा है—मन को पवित्र रखो, मन बड़ा चंचल है, इसको नियंत्रण में रखो। भय ही एक ऐसा है, जो एक पाप करने के बाद निरंतर उसकी वृद्धि करता जाता है। एक झूठ को छिपाने के लिए सौ झूठ बोलनी पड़ती हैं। तुलसीदासजी का कहना है कि जो निर्मल मन होता है, वही राम को प्राप्त कर सकता है। अतः आंतरिक गन्दगियों को निकालकर ही मानसिक स्वस्थता प्राप्त कर सकते हैं। दुख जिस प्रकार कहने से कम हो जाता है, और मन को शांति मिलती है, उसी प्रकार उपयुक्त पात्र के सम्मुख अपने पापों को खोलकर रख देने से जीवन का ही नहीं, मनका बोझ भी हलका हो जाता है।

अज्ञान के कारण जीव करणीय और अकरणीय का विचार नहीं कर पाता। ऐसी स्थिति में कुटिल कर्म करने के बाद विवेक आत्मग्लानि के भाव पैदा करता है। इस आत्मग्लानि के जल से सारा आंतरिक मैल धुलकर बाहर आ जाता है। इसलिए भक्त कहउठते हैं—मो सम कौन कुटिल खल कामी। उस महाशक्ति के सामने अपने को महान तुच्छ मानने लगता है। अपनी दीन दशा का चित्रण कर देता है। उस अनंतशील और पवित्रता के सामने जीव को अपने दोष ही दोष और पाप ही पाप दिखाई पड़ते हैं। भक्त जी खोलकर अपने दोषों और पापों का वर्णन कर संतोष का अनुभव करता है। अतः तुलसी आराध्य को प्राप्त करने से पहले मन को सुशीलता की ओर ढालने के लिए कहते हैं। इसलिए पहले मन को फेरना है। उसकी गन्दगियाँ काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा भय को निकाल देना है।

जीभ जोग अरु भोग ... ... जीभ सँभारे बोलिये।

(प्राचीन पद्य प्रसून)

उक्त पद्यांश "प्राचीन पद्य प्रसून" में भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी के फुटकर पद्यों से लिया गया है। भारतेन्दुजी ने सारा जीवन साहित्य समाज और देश की सेवा में अर्पित किया। समाज में प्रचलित रूढ़ियों को अपने काव्य के माध्यम से हटाने का प्रयत्न किया। हिन्दी साहित्य में राष्ट्रीयता की देन साधना का फल है। उस समय जब सम्पूर्ण भारत सो रहा था, तो इन्होंने जागृति का शंखनाद फूँका। इनका व्यक्तित्व, उदारता और स्वातंत्र्य भावनाओं से ओतप्रोत है। व्यक्ति का सब से बड़ा बल वाणी का होता है, जिसको वाणी सिद्ध होती है, वही महान बन सकता है। मनुष्य की पहचान तीन प्रकार से होती है। कांति को देखकर, वाणी से और तीसरी सम्पर्क से। मनुष्य मूक प्राणी नहीं है, वह अपने हृदय के विचारों को वाणी द्वारा व्यक्त करता है। अत: उसके हृदय में क्या है, यह वाणी से पता चल जाता है। जितने महापुरुष अब तक हुए, वे वाणी के कुशल कलाकार थे। वाणी को संयम में न रखनेवाले पतन के गर्त में गये। यह वाणी यद्यपि बहुत छोटी होती है, लेकिन यह बड़े-बड़े अर्थ और अनर्थों का कारण बनती है। इसी के कारण मानव का जहाँ मान होता है, वहाँ यह अपमानित भी करा देती है— इसलिये अंग्रज़ी के एक कवि ने कहा है—कम बोलो, नाप तौलकर बोलो, समय देख कर बोलो, मीठा बोलो और जो बोलो वह करो। जिसने इस मंत्र को अपना लिया, वह सचमुच महान बन जाता है। रहीम ने भी कहा—"आप तो कह भीतर गयी, जूती खाय कपाल।" अत: वाणी ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की परिचायक है— हरिश्चन्द्रजी कहते हैं:—

असल में जीभ योग और भोग को देनेवाली है। इसी जीभ के आधार पर अर्थात् जीभ की साख पर व्यापार होता है। इसी जीभ से बुरे शब्द निकालने पर व्यक्ति को कारावास में डाल दिया जाता है। इसी जीभ के द्वारा मनुष्य स्वर्गिक-सुख प्राप्त करता है और इसी के कारण नारकीय यातनाएँ सहन करता है। इसी जीभ से राम का नाम लेने से वाल्मीकि ब्रह्मा के समान बन गये। इसी प्रकार यह राम से मिलानेवाली है और इसीके कारण मानव शरीर होते हुए भी कुत्ता, सुअर, बंदर, गधा कहा जाता है—अर्थात् वाणी के अनुसार सदा देह का रूपविचार किया जाता है। इसलिये ओठों का नियंत्रण रखते हुए संयम से बोलना चाहिए। जीभ सँभालकर न बोलने का परिणाम अनर्थकारी होता है। इसलिए, जो कुछ बोलो सँभल-सँभल कर बोलो।

—श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास

'राष्ट्रभाषा विशारद' परीक्षा—(पूर्वार्द्ध)

1. "नम्रता सब कुछ कर सकती है।"

यह स्वर्गीय सुदर्शन की 'पंथ की प्रतिष्ठा" नामक कहानी से उद्धृत है। महाराजा रणजीतसिंह ने जब परम सुंदरी वेश्या मोराँ से ब्याह किया है, पंथ के सिक्खों में खलबली मच गयी और महाराजा से कहा गया कि वे यहीं 'संगत' के सामने यह स्वीकार करें कि उन्होंने मोराँ से प्रेम करके बड़ा पाप किया है और इसलिए जो दंड 'संगत' की ओर से मिले, वे भुगतें। इस संदर्भ में जब राजासाहब ने अपने अमृतसर जाने का निश्चय व्यक्त किया तो मोराँ ने सुझाया कि वे स्वयं 'संगत' के सामने उपस्थित होकर अपनी फजीहत न निकलवाएँ बल्कि लिखकर क्षमा माँगे, क्योंकि "नम्रता सब कुछ कर सकती है।"

अकाली फूलासिंह आदमी क्या हैं—फौलाद हैं! अपनी धुन के पक्के हैं। संकल्प की ऐसी दृढ़ता के कारण ही उन्होंने वीरकेसरी रणजीतसिंह को 'संगत' की सेवा में उपस्थित होने को बाध्य किया और उन्हें 'संगत' की दृष्टि में तिनके के बराबर बना सके। इसके बावजूद मोराँ का उक्त कथन—"नम्रता सब कुछ कर सकती है" सारहीन नहीं है। आख़िर आदमी तो आदमी है! फिर अकाली फूलासिंह कितने ही दृढ़-चित्त क्यों न हों—पंथ के नियमों से कितनी ही दृढ़ता से क्यों न जकड़े हुए हों, सजातीय प्राणी के व्यवहार से अप्रभावित नहीं रह सकते। अन्ततः मोराँ के कथन की सारगर्भित कारगर हुई। महान शक्तिशाली रणजीतसिंह जब स्वयं अपनी अकुंठित शक्ति पर ध्यान दिए बिना चुपचाप बंधन में आ गये और कोड़े खाने के लिए नंगे बदन खड़े हुए, तो निर्मम फूलासिंह के दिल में मानों बिजली कौंध गयी। इस समय महाराजा के व्यवहार में कहीं भी दर्प और अभिमान का लेश भी नहीं है। 'संगत' की सजा भोगने के लिए वे अपने आपको पेड़ से बँधवाकर विनय की साकार मूर्ति बने हुए हैं। वीर-दर्प से दीप्त शालीन रणजीतसिंह की मुद्रा की इस कायापलट ने अकाली फूलासिंह को एकदम अभिभूत किया। अतएव वे सहसा बोल उठे—"कोड़े का दंड निचली जाति के लोगों के लिए है, उच्च कोटि के लिए यह दंड किसी अवस्था में भी उचित नहीं हो सकता और फिर यह पंजाब के महाराज हैं।" मोराँ के सुझाव की दूरदर्शिता सचमुच कारगर हुई है। हाँ, रणजीतसिंह ने मोराँ के सुझाव के अनुसार लिखकर क्षमा-याचना नहीं भेजी, बल्कि वे उसी प्रस्तावित 'विनय-मार्ग' पर और विनीत बने। उन्होंने अपने को एक साधारण व्यक्ति के रूप में 'संगत' के सामने खड़ा किया और सिर झुकाये नंगे बदन कोड़ों की मार की प्रतीक्षा करने लगे। विनय की इस शालीनता ने अकाली फलासिंह की कटटरता

को धक्का देकर पामाल किया। बस, फूलासिंह का मानव-रूप उभर उठा और पेड़ से बँधे विनीत वीरकेसरी बेदाग़ छूट गये।

2. "साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं है, हृदय की वस्तु है।"

स्वर्गीय प्रेमचंद उपन्यास-सम्राट के नाम से प्रख्यात हैं। साथ ही साथ वे अच्छे निबन्ध-लेखक भी हैं। उपन्यास की-सी सरल-सुगम शैली में गंभीर से गंभीर विषयों को समझा देना उनके निबन्धों की विशेषता है। यह उद्धरण प्रेमचंद के 'जीवन में साहित्य का स्थान' नामक निबन्ध से दिया गया है।

विषय दो प्रकार के होते हैं—ज्ञान प्रधान और अनुभूति प्रधान। जिस रचना के द्वारा पाठक को किसी विषय की जानकारी मात्र होती है, वह सूचना-प्रधान अथवा ज्ञान-प्रधान रचना कहलाती है। किन्तु दूसरे प्रकार की रचना के द्वारा विषय की जानकारी मात्र नहीं होती, बल्कि तत्सम्बन्धी भाव अथवा भावों का जागरण भी पाठक या श्रोता के अन्दर होता है। पहले प्रकार के विषय समझने के लिए मस्तिष्क का सहारा लेना पड़ता है। बुद्धि, तर्क, विचार आदि मस्तिष्क के अन्यान्य पहलू हैं। इन्हीं के ज़रिए मस्तिष्क पकड़ में आये विषयों का विश्लेषण या विवेचन अथवा आलोचना कर उनका अर्थ लगाता है; विवरणात्मक परिचय पाता है और मूल्यांकन करता है। इस तरह मस्तिष्क के मार्ग पर बढ़ते ज्ञान-संग्रह करनेवाला आदमी बड़ा चौकन्ना रहता है; कभी आत्मविभोर नहीं होता। आत्मविभोरता विश्लेषण के मार्ग पर संभव नहीं होती। क्योंकि विश्लेषण एक बौद्धिक प्रक्रिया है। जब तक कोई विषय आदमी को आत्मविभोर नहीं कर सकता तब तक वह उस पर हावी नहीं हो सकता। आत्मविभोरता साहित्य में ही संभव होती है। साहित्य भाव-प्रधान होता है। भाव (प्रेम, करुणा, उत्साह, क्रोध, भय आदि) संश्लिष्ठ चित्रों या दृश्यों के संदर्भ में ही जाग उठते हैं और भाव ही आदमी को आत्मविभोर करते हैं न कि विचार। हृदय भाव-प्रधान अथवा संश्लेषण-प्रधान होता है और मस्तिष्क विचार-प्रधान अथवा विश्लेषण-प्रधान होता है। संश्लिष्टता में जो मधुर-मादक आकर्षण है वह विश्लिष्टता अथवा विकलांगता में कभी नहीं हो सकता। संश्लिष्टता साहित्य की जननी है और साहित्य की सफलता हृदय की रमणीयता में निहित है। अतएव जो काम मस्तिष्क नहीं कर सकता वह हृदय कर लेता है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य सफल होता है। इसी कारण से संसार के प्रत्येक धर्म-मार्ग पर साहित्यिक रचनाएँ पाई जाती हैं। हमारा महाभारत पंचम वेद कहलाता है। वेद और उपनिषद ज्ञानी लोगों के लिए मार्ग-दर्शक हैं और ज्ञानी लोगों की संख्या बहुत ही कम होती है। इस सत्य को पहचान कर ही किसी धर्म-

प्रवण हृदयग्राही कवि ने वेदों के मथित सार को महाभारत के रूप में प्रचारित करने का मार्ग निकाला। जातक कथाएँ, इंजील, कुरान आदि धार्मिक ग्रंथों में भी मानव के हृदय को आकर्षित करनेवाली सामग्री प्रस्तुत की गयी ; क्योंकि अन्ततः मानव के लिए हृदय-पक्ष ही प्रधान है, न कि मस्तिष्क पक्ष। अतएव हृदय-पक्ष से आविर्भूत साहित्य आदमी को नियन्त्रित करता हुआ, उसे मानवोचित मार्ग पर अग्रसर करता रहता है।

3. **"जब से पतलून ट्रंक में बंद होकर आगरे गयी तब से।"**

यह स्वर्गीय चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' की 'बुदधू का कांटा' नामक कहानी से उद्धृत है। गुलेरी जी ने कुल मिलाकर तीन कहानियाँ और कुछ निबन्ध मात्र लिखे ; किन्तु इन्हीं की बदौलत वे हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट आसन जमाये हुए हैं। यह इस बात की घोषणा करता है कि किसी साहित्यकार का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, बल्कि गुण के हिसाब से होता है। गुण के हिसाब से गुलेरी जी की 'उसने कहा था' और 'बुद्धू का काँटा' ये दो कहानियाँ सचमुच अद्वितीय हैं।

रघुनाथ होली की छुट्टियों में आगरे से अपने गाँव केवल इसी उद्देश्य से आया कि वह किसी न किसी तरह से अपनी पत्नी भागवंती से भेंट करे। अपनी पत्नी को एकांत में पाकर जब उसने उसकी चुप्पी के बारे में पूछा, तो भागवंती ने उपरोक्त वाक्य कहा।

जब भागवंती ने रघुनाथ को पहले पहल कुएँ की जगत पर देखा, तब वह एक प्रकार से अज्ञातयौवना थी और रघुनाथ भी क़रीब-क़रीब उसी अवस्था में था। आत्माभिमान, दिखावट और संकोच इस अवस्था के तीन प्रधान लक्षण हैं। हो सकता है, एक में दिखावट ज़्यादा ज़ोर पकड़ती है, तो दूसरे में संकोच। दिखावट में आत्म-प्रदर्शन के लक्षण कई रूपों में दिखते हैं। अवस्था विशेष की इस प्रवृति के वशीभूत होकर भागवंती जैसी किशोरी रघुनाथ जैसे अपरिचित युवक से भी बढ़ बढ़कर बातें करती है ; ताने देती है और खिलखिलाकर हँस उठती है, जब कि वह मारे संकोच के निरुत्तर रह जाता। खुले वातावरण में पलने के कारण भागवंती मुग्धा-सा व्यवहार करने के बदले चपल मुखरा बनती है। उसकी इस मुखरता ने विपरीत वातावरण में पले संकोची रघुनाथ को अनाड़ी और मूक बना दिया। इन दोनों की प्रवृत्तियों के वैविध्य में साम्य तब आता है, जब कि दोनों को प्रथम स्पर्श ने एक विचित्र अनुभूति दी और एक दूसरे के प्रति विलक्षण व्यवहार किया। ऐसी अनिर्वचनीय अनुभूति की

यादगार के रूप में रघुनाथ अपनी कीचड़ सनी पतलून ट्रंक में बंद करके आगरे चला गया, जो नदी में डुबकियाँ लगाने और एक दूसरे का पीछा करने के सिलसिले में भीगकर कीचड़ के धब्बों से भर गयी थी। भागवंती के प्रति उसके आकर्षण के क्या माने हैं, वह स्वयं नहीं जानता था। इसी तरह भागवंती भी नहीं जानती कि रघुनाथ के प्रति अपना आकर्षण, शरारत के अलावा और कोई अर्थ रखता है। इतना होते हुए भी दोनों के अन्तर्मनों में एक मज़ेदार खिचड़ी पकने लगी, जिसकी सरस अनुभूति तो ज़रूर होती है; किन्तु अर्थ संभवतः समझ के परे। ऐसी विचित्र दशा के कुछ ही समय बाद दोनों का अप्रत्याशित पाणिग्रहण संपन्न हुआ। बस! दोनों में एक दूसरे के प्रति कर्षण तो तीव्र ज़रूर हुआ; किन्तु व्यवहार में उच्छृंखलता के स्थान पर गंभीरता आ गयी। रघुनाथ के व्यवहार के मधुर आकर्षण ने भागवंती के हृदय में मानों खलबली मचा दी। संयोग की कांक्षा बेचैन किए हुए है। कबूँजा कबूँजे को देखकर रंग बदलता है! रघुनाथ की मूक बेचैनी ने कीचड़ भरी पतलून मधुर स्मृति के रूप में, ट्रंक में बंद की, तो इस बात की जानकारी से भागवंती भी अपने को संभाल नहीं पाती और बेचैनी की टीस से छटपटाने लगती है। अतएव वह अन्ततः रघुनाथ को जता दिया कि तुम्हारी कीचड़ भरी पतलून के ट्रंक में बड़ी सावधानी के साथ बंद होते ही मेरे हृदय में मानों काँटा गड़ गया अर्थात् वह विरह व्याकुलता से तड़पने लगी। **—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री**

'राष्ट्रभाषा विशारद—उत्तरार्द्ध' परीक्षा

(1) ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहनवारी,
ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं, कन्द मूल भोग करैं;
तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
विजन डुलाती ते वै विजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे आस,
नगन जडाती ते वै नगन जड़ाती हैं॥ (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ-161)

रीतिकाल में वीर रस की ओजस्विनी कविता करनेवाले एकमात्र कवि भूषण थे। भूषण ने अपनी भेरी ध्वनि से जनता को जगाने का स्तुत्य यत्न किया। वे वीर रस के अनुपम गायक थे। उन्होंने अपने काव्य नायक शिवाजी की वीरता का मार्मिक चित्रण इस प्रसंग में किया है।

वीर शिवाजी ने मुगल सेना पर हमला किया। उनके आक्रमण की ख़बर सुन मुगल पक्ष के सभी स्त्री-पुरुष अपने प्राण लेकर भागने लगे। जो मुगल बेगमें ऊँचे-ऊँचे विशाल मन्दिरों में विहार करती थीं, वे शिवाजी के आक्रमण की ख़बर पाकर भाग निकलीं और घोर वनों में जाकर विशाल और अगाध गुफ़ाओं में रहने लगी हैं। जो बेग़में सुख और चैन से मिश्री आदि खाया करती थीं, अब वे जंगलों में प्राप्त मूलियों को खाकर भूख मिटा रही हैं। जो साम्राज्ञियाँ दिन में तीन बार पेट भर भोजन करती थीं, वे जंगलों में प्राप्त बेर के तीन-तीन फलों पर निर्वाह कर लेती हैं। जिन बेगमों के हाथ-पैर आदि अंग सोने-हीरे के गहनों के भार से शिथिल पड़ जाते थे, वे अंग अब भूख से शिथिल हैं। जो बेगमें महलों में पंखा झल रही थीं वे अब विजन वन प्रदेश में घूमती रहती हैं। कवि भूषण कहते हैं कि शिवाजी महाराज, आपके आतंक से—आपके हमले की बात सुनकर—मुगल बेगमें जो महलों में रत्नों से खचित आभूषण पहना करती थीं, वे अब पहनने के लिए काफ़ी वस्त्र न पाकर नग्न घूमती रहती हैं।

प्रस्तुत छन्द ओजपूर्ण एवं सरस है। भूषण की वीर वाणी में हिन्दुत्व का सन्देश निहित है।

(2) मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ?
जैसे उडि जहाज़ को पंछी फिरि जहाज पै आवै।
कमल-नयन को छाँडि महातम, और देव को ध्यावै।
परमगंग को छाँडि पियासो, दुर्मति कूप खनावै।
जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यौ, क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै॥

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ-125)

सूरदास अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे। उनकी काव्य-वीणा का मधुर स्वर अनुपम है। सूर पहले श्रीकृष्ण से दास्य भक्ति करते थे। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद उनके कंठ से कृष्ण की नित्य लीलाओं की मधुर वाणी स्फुरित हुई।

प्रस्तुत पद में सूरदास ने अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण के प्रति अपनी चरम भक्ति को व्यंजित किया है। मेरा मन अन्यत्र कहाँ सुख पाएगा? मेरा दिल उस जहाज के पक्षी की भांति है जो जहाज़ को छोड़कर उड़ जाता है और कहीं आश्रय न पाकर फिर उसी जहाज़ पर आ बैठता है। कमलनयन श्रीकृष्ण को छोड़कर दूसरे देवों का

ध्यान कौन करेगा? परम पवित्र गंगा नदी को छोड़कर मूर्ख ही प्यास लगने पर कुआँ खोदने जाएगा। जिस भौरे ने कमल के रस का आस्वादन किया है, वह क्यों करील के फल चखने लगेगा? सूरदासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान कामधेनु के समान अभीष्ट फल प्रदान करनेवाले हैं। उनको छोड़कर कौन बकरी को दुहने जाएगा? भगवान कृष्ण को छोड़कर दूसरे देवों की उपासना कौन करेगा?

प्रस्तुत पद में श्रीकृष्ण के प्रति सूर की चरम भक्ति एवं उनकी उत्कट प्रेमासक्ति द्रष्टव्य है। आत्मोत्सर्ग की यह अभिव्यंजना मनोमुग्धकारिणी है। भगवान की पुनीतता एवं महानता का मनोरम चित्रण कर सूर ने अपने समय के निराश लोगों में जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी थी।

(8) "दुख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात;
एक परदा यह झीना नील
छिपाये हैं जिसमें सुख गात।" (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ-28)

'कामायनी' अपने ढंग का एक अद्वितीय प्रबन्ध-काव्य है। यह प्रौढ़ कृति प्रसादजी की उर्वर कल्पना की उपज है। जल-प्रलय से मनु बच गया। लेकिन वह नैराश्य और चिन्ता में लीन था। मनु से मिलने के बाद श्रद्धा ने उसके दिल में प्रेम, विश्वास एवं जीवन के प्रति आस्था को जगाने का प्रयत्न किया। प्रस्तुत प्रसंग दुखी मनु से श्रद्धा का कथन है।

दुःख की पिछली रजनी के बीत जाने पर सुख के नये प्रभात का प्रादुर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार रात के बीत जाने पर प्रभात का प्रारंभ हो जाता है, उसी प्रकार दुःख की वेला की समाप्ति हो जाने पर सुखमय जीवन का नवारंभ हो जाता है। अतः दुःख में अधीर होकर कर्मक्षेत्र से मुँह मोड़ना अनुचित है। दुख का यह झीना सा नील आवरण अपने भीतर सुख गात को छिपाये हैं। दुःख और सुख के बीच एक हल्का-सा परदा पड़ा है, जो धैर्य एवं सहनशीलता से हट जाता है। अतः सुख की पुनः प्राप्ति संभव है।

श्रद्धा का यह कथन कितना यथार्थ है! श्रद्धा के मुँह से एक चिरन्तन जीवन-सत्य का उद्घाटन कराकर प्रसाद जी ने देश-काल-निरपेक्ष मानव-मात्र को निराशा-जन्य पलायनवाद से विरत कर जीवन का आनन्द लेने की ओर प्रवृत्त किया है।

(4) उसका लोकोत्तर साहस सुन,
प्राण सूख जाता है ;
किन्तु उसी क्षण उसके यश का
नूतन रस पाता है
अपनों पर उपराग देखकर
वह आगे आता है ;
उलझ नाग से, सुलझ आग से
विजय-भाग लाता है (द्वापर—पृष्ठ-23)

'द्वापर' की यशोदा विलक्षण व्यक्तित्व रखनेवाली माता है। अपने लाड़ले लड़के कृष्ण की यशोगाथा सुन यशोदा फूली न समाती थी। लेकिन किसी असाधारण कार्य में दृढ़तापूर्वक प्रवृत्त होने की वृत्ति बालक कृष्ण में प्रबल थी। अत: अपने बेटे का लोकोत्तर साहस सुन उसका प्राण सूख जाता था। लेकिन उसी क्षण उसके सुयश का रस या आनन्द उसको प्राप्त होता है। अपनों पर दुर्व्यवहार देखकर कृष्ण निर्भीक होकर उसका सामना करने के लिए आगे आता है। वह नाग से उलझ और आग से सुलझकर विजयी हो जाता है।

कवि ने इस प्रसंग में यशोदा माता के मृदु हृदय का चित्रण किया है। बेटे का साहस सुन प्राण सूख जाना और साथ ही उसकी धवल कीर्ति पर विचार कर प्रसन्न हो जाना आदि कितना अधिक स्वाभाविक है! मातृहृदय के अंकन के साथ कवि ने कृष्ण के उज्वल व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला है।

कृष्ण ने यमुना में रहनेवाला कालिय नामक नाग का दमन किया और उसे बृन्दावन छोड़कर चले जाने को विवश किया था। कालिय को दमन करने के बाद श्रीकृष्ण नदी तट में पहुँचे। इतने में गोप बालकों को ढूँढ़ते हुए व्रज के लोग वहाँ आ पहुँचे। संध्या हो चुकी थी। सब लोगों ने वहीं रात काटने का निश्चय किया। एक दावाग्नि ने रात को लोगों को घेर लिया। सब लोग कृष्ण को पुकारकर आर्तनाद करने लगे। कृष्ण ने बड़े साहस के साथ उस दावाग्नि को पी लिया। कवि ने भागवत के दशम स्कन्ध की इस कहानी पर यहाँ प्रकाश डाला है।

(5) भारतवर्ष जैसा कमज़ोर आज है, वैसा इतिहास में कभी नहीं हुआ था! देश के एक बड़े भारी भाग पर बर्बर नृशंस लुटेरों के झुंडों का शासन है।

(विक्रमादित्य—पृष्ठ-27)

श्री विराज 'सम्राट विक्रमादित्य' में भारत के इतिहास की एक गौरवपूर्ण झांकी प्रस्तुत करते हैं। शकों और हूणों के नृशंस अत्याचार से प्यारा स्वदेश वीरान हुआ। जनता विवश एवं चिन्तित थी। उस समय सन्यासी वेशधारी विक्रम के बाल्यमित्र अजयगुप्त ने अपने जोशीले भाषण से सोनेवाली जनता को जगाया। नगर रक्षक ने अजयगुप्त को देशद्रोही समझकर गिरफ़्तार किया। फिर भी अजय की वीरवाणी श्रोताओं के कानों में गूँजने लगी। उसकी ईमानदारी एवं बहादुरी से लोग प्रभावित हो गये। प्रस्तुत उद्धरण एक श्रोता का कथन है।

भारतवर्ष जैसा कमज़ोर आज है, वैसा इतिहास में कभी नहीं हुआ था। देश में जब क्रांति एवं अशान्ति हो जाती हैं, तब देश के एक बड़े भारी भाग पर बर्बर-नृशंस लुटेरों के झुंडों का शासन होता है। जब सम्राट स्वयं कर्तव्यच्युत हो जाते हैं तब बर्बर लुटेरों के झुंडों के आक्रमण और अन्याय का दमन करनेवाला कोई भी नहीं होता। अतः राष्ट्र कमज़ोर हो जाता है।

श्रोता का कथन एक ऐतिहासिक सत्य की ओर इशारा करता है। आज भी हमारी देशीय एवं भावात्मक एकता को भंग करनेवाली देशीय विरुद्ध शक्तियाँ काम करती हैं।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. दिशि-दिशि में प्रेम प्रभा प्रसार
   हर भेद-भाव का अंधकार
   मैं खोल सकूँ चिर मुँदे, नाथ
   मानव के उर के स्वर्ग द्वार (पद्यमाला)

खड़ीबोली काव्य-जगत् में सुमित्रानन्दन पन्त सौंदर्य द्रष्टा कवि के रूप में विशेष-रूप में ख्यात हैं। सौंदर्य आत्मा को आलोकित करनेवाली स्वस्थ अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब है। जिस प्रकार दीपक से दीपक जलता है, उसी प्रकार आत्मा आत्मा को आलोकित करती है। कवि पन्त जी भी सौंदर्यानुभूति से अनुप्राणित कविताओं द्वारा हमारी चेतना को जागृत करते हैं। 'जीवन का विहान' आपकी लिखी एक सुन्दर कविता है। प्रस्तुत पंक्तियाँ उक्त कविता से उद्धृत हैं। जग-जीवन में सत्य के आधार पर सौन्दर्य को प्रसारित कर शिव को स्थापित करने की उत्कंठा कवि अभिव्यक्त करते हैं। आदमी को इनसान बनाकर इनसानियत के धरातल से देवत्व के आदर्श की ओर उसे उद्ग्रीव और उन्मुख कराना चाहते हैं। प्रेम सार्वभौम अनुभूति है। इसमें

निहित रहनेवाला स्वस्थ गुण परार्थ परायणता है। कवि दिशा-दिशा में ऐसे दिव्य प्रेम का प्रभा-मण्डल व्याप्त करना चाहते हैं। भेद भाव का भयंकर अन्धकार विश्व भर में व्याप्त है। ऐसे अन्धकार का संहार करनेवाले प्रत्यूष का प्रसार बनना चाहते हैं। धरती को स्वर्ग बनाने का रहस्य मनुष्य के हृदय में बन्द है। कवि चाहते हैं कि मानव अपनी आत्मा की उदात्तता और उज्ज्वलता में प्रच्छन्न रहनेवाले स्वर्ग को पहचान लें। अनादि काल से अनुन्मीलित अवस्था में रहनेवाले उर के स्वर्ग के द्वार को उन्मुक्त करके मानव को जगजीवन का चिर सौंदर्य बनाना चाहते हैं। इस प्रकार कवि मनुष्य को एक आदर्श लोक के निवासी बनाने की अपनी इच्छा को प्रस्तुत पंक्तियों में अभिव्यक्त करते हैं।

2. घर जब बना लिया तेरे दर पर कहे बग़ैर
जानेगा अब भी तू न मेरा घर कहे बग़ैर
कहते हैं जब रही न मुझे ताक़ते सुख़न
जानूँ किसी के दिल की मैं क्योंकर कहे बग़ैर (पद्यमाला)

उर्दू कविता के इतिहास में ग़ालिब का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ख़यालों की बुलन्दी और कल्पना की उड़ान में ग़ालिब को ऐसी लाजवाब हस्ती हासिल हुई है कि एक ज़माना इनपर रीझा हुआ है। ग़ालिब की ग़जलों में ग़जब के असर पैदा करने की ताक़त है। प्रस्तुत पंक्तियाँ ग़ालिब की एक मशहूर ग़ज़ल से ली गयी हैं। प्रेमी प्रेमिका से अपनी प्रेमानुभूति प्रकट करते हैं। कहते हैं कि जब अप्रतीक्षित रूप में और अनायास ही जब मैं अपने प्रेम को प्रकट कर बैठा, तो तुम कैसे इनकार कर सकोगे कि ये अनुभूतियाँ तुम्हारे लिए नहीं है। जब तुम्हारी इजाज़त के बिना मैंने अपनी मोहब्बत का छोटा-सा घर तुम्हारे दर पर ही बना लिया, क्या तुम नहीं पहचान लोगी कि यह मेरी ही दीवानगी है। लोग कहते हैं कि मेरी कविता में असर पैदा करने की शक्ति नहीं है; यहाँ तक कहते हैं कि मुझमें कविता करने की ही शक्ति नहीं है। ऐसी हालत में मैं कैसे तुम्हारे हृदय की प्रेमानुभूति से परिचित हो सकता हूँ, जब कि तुम नहीं बताती हो। अर्थात् मैंने सारी दुनिया के आगे अपनी मोहब्बत का ऐलान कर चुका हूँ। अब मुझे देखना है कि क्या मेरी कविता तुम्हारे हृदय में वह असर पैदा कर सकती है, जिससे तुम भी अपने प्रेम की सलज्ज स्वीकृति दे सकोगी।

"पर शस्त्र की झनकार के साथ शान्ति और ज्ञान की उसकी गूंज जो उठी, उसने तो दिशाओं को भर दिया।" (गद्यकुसुम)

भारत के प्राचीन इतिहास गौरव से गर्भित नगरियों में काशी नगरी सर्वश्रेष्ठ है। इस नगरी के इतिहास का वर्णन "काशी नगरी" शीर्षक पाठ में हुआ है। इस पाठ के लेखक श्री भगवतशरण उपाध्याय हैं, जिन्हें ऐतिहासिक निबन्धों की रचना में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। प्रस्तुत पंक्तियाँ उक्त पाठ से ली गयी हैं। इस पावन नगरी के इतिहास क्रम का वर्णन करते हुए लेखक निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत पंक्तियों को कहते हैं। आदि काल से सभी शासकों की गृध्र दृष्टि इस नगरी पर पड़ती रही। सभी ने इसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित करना चाहा और इसके पतित पावनी विशेषताओं से अपने राज्य को प्रभावित करना चाहा। इसलिए आक्रामकों के आवेश और आक्रोश का शिकार बनने का दुर्भाग्य काशी नगरी पर हमेशा मंडराता रहा। शस्त्र की झनकार इस नगरी का शाश्वत संगीत बन गया। परंतु शास्त्र का शांतिमय निर्घोष भी इस नगरी के गगनमंडल में सदा प्रतिध्वनित होता रहा। इस नगरी की वह महिमा थी कि जिसने मण्डनमिश्र के घर के तोतों को वेदों के स्वतः प्रमाणत्व या परत प्रमाणात्व पर शास्त्रार्थ करते हमें सुनाया। भारत की ज्ञानगरिमा की आधार-शिला ही काशी नगरी है। लेखक ने इसी तथ्य की पुष्टि अपने निबंध में की है।

—श्री विष्णुप्रिया

*

बधाइयाँ !

कुमारी आर. सूर्यप्रभा, छात्रा, गांधीजी हिन्दी विद्यालय, पाण्डिच्चेरी, अगस्त [illegible] की राष्ट्रभाषा विशारद में दक्षिण भारत-भर में सर्वद्वितीय आयी हैं तथा दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास से पुरस्कृत भी हुई हैं। इस सिलसिले में हम पुरस्कार विजेत्री कुमारी सूर्यप्रभा को तथा उपरोक्त विद्यालय के संचालक तथा हिन्दी प्रचारक जनाब नू. शरीफ़ को हार्दिक बधाइयाँ देते हैं।

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, तमिलनाडु शाखा

विशेष-बैठक—ता. 6-7-'70 को मदुरै शहर के हिन्दी प्रचारकों की एक विशेष बैठक, स्वर्ण जयंती संबन्धी आयोजनाओं पर विचार-विमर्श करने के लिए श्री टी. पी. वीरराघवन, प्रान्तीय मंत्री, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, तमिलनाडु शाखा, की अध्यक्षता में आयोजित की गयी। उसमें सभा के मानसेवी विशेषाधिकारी श्री एस. चंद्रमौली ने स्वर्ण-जयंती समारोह की आयोजनाओं पर प्रकाश डालते हुए कहा—"सरल हिन्दी परीक्षाओं को चलाने के द्वारा कम से कम रु. 50,000 इकट्ठे करने हैं। अलावा इसके, हिन्दी के हितैषी व्यक्तियों से भेंट स्वरूप धन संग्रह करना भी आवश्यक है। समारोह को इस पैमाने पर आकर्षक ढंग से मनाने की भी योजना है, जिससे कि जनता की हिन्दी के प्रति पूर्ववत् अभिरुचि बढ़े तथा हिन्दी प्रचार के पुनीत क्षेत्र में आये हमारे प्रचारक बंधुओं का उत्साह और प्रेरणा बढ़े।"

ता. 7-7-'70 को इसी प्रकार तिरुच्चि शहर के प्रचारकों तथा संगठकों की बैठक बुलायी गयी। उसमें स्वर्ण-जयंती समारोह की आयोजनाओं पर प्रकाश डालते हुए श्री एस. चंद्रमौली ने बताया, "समारोह तीन दिन का होगा; प्रथम दिन शाम को उद्घाटन समारंभ होगा; दूसरे दिन सबेरे भाषा समारोह, शाम को पदवीदान समारोह और तीसरे दिन सबेरे प्रचारक-सम्मेलन, शाम को समापन समारंभ—इस प्रकार मनाने का प्रारूप तैयार किया गया है।

"प्रचारक बंधुओं तथा अन्य सहयोगियों के सतत प्रयत्नों से ही स्वर्ण जयंती संबंधी योजनाएँ सफल हो सकती हैं। आशा है, आप सब लोगों का पूरा सहयोग सभा को मिलता रहेगा।"

बैठक में श्री हेच. सुब्रह्मण्यम् ने भी (सदस्य, कार्यकारिणी समिति, तमिलनाडु सभा) भाषण दिया।

हिन्दी प्रेमी मंडल, वेलूर

प्रमाणपत्र-वितरण—तारीख 5-7-'70 को हिन्दी प्रेमी मंडल की बैठक वेलूर मेईन रोड़ में श्री भक्तवत्सलम के यहाँ बुलाई गयी। इस बैठक का उद्देश्य गत फ़रवरी 1970 की परीक्षाओं में उत्तीर्ण विद्यार्थियों में प्रमाणपत्र वितरण करने का था। कुमारी प्रेमलता के प्रार्थना गीत के बाद श्री भक्तवत्सलम ने सबका स्वागत किया। श्री श्रीनिवासन ने अध्यक्षासन ग्रहण किया। उन्होंने अपने भाषण में

वार्षिक चंदा : रु. 6-00

एक प्रति का दाम : रु. 0·75

हिन्दी प्रचार समाचार

संपादक : बी. एम. कृष्णस्वामी

वर्ष 32 | फ़रवरी, 1970 | अंक 2

जय हिन्द ! जय हिन्दी !!

सभा की स्वर्ण-जयन्ती इस वर्ष मनाने की तैयारियाँ प्रारंभ हो गयी हैं। इसका ज़िक्र पिछले महीने ही हमने किया था। उक्त स्वर्ण-जयन्ती के सिलसिले में एक अति मुख्य कार्यक्रम और शुरू किया जा रहा है, जिसकी घोषणा करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

सभा की 'रजत-जयन्ती' के अवसर पर 'नयी हिन्दुस्तानी' नामक एक मौखिक पाठवाली परीक्षा सभा की ओर से चलायी गयी थी। इसमें दक्षिण के चारों प्रांतों के हज़ारों लड़के-लड़कियाँ बैठे थे। अब की बार भी स्वर्ण-जयन्ती के उपलक्ष्य में 'सरल हिन्दी परीक्षा' नामक एक परीक्षा चलाने का सभा ने निश्चय किया है। इसके लिए 'सरल हिन्दी' नामक एक पुस्तिका तैयार की जा रही है। तमिल, तेलुगु, कन्नड तथा मलयालम की लिपि में हिन्दी पाठों का लिप्यंतर की हुई ये पुस्तिकाएँ होंगी। निश्चित दिनों तक मौखिक वर्ग चलाकर अंत में मौखिक परीक्षा लेने का कार्यक्रम रहेगा।

इस स्वर्ण-जयन्ती सरल हिन्दी परीक्षा का उद्देश्य है, हिन्दी प्रचार क्षेत्र में हज़ारों-लाखों नये लोगों को लाना।

उक्त 'सरल हिन्दी' परीक्षा संबन्धी पूरा विवरण शीघ्र ही 'समाचार' के द्वारा तथा प्रांतीय सभा की पत्रिकाओं के द्वारा मालूम कराया जायगा। सभा के हितैषी हिन्दीप्रेमियों तथा प्रचारक-बंधुओं से आशा की जाती है कि वे इस कार्यक्रम को, जो कि सन् 1970 के वर्ष-भर में लगातार चलता रहेगा, पूरा-पूरा सफल बनाने में कोई बात उठा न रखेंगे।

मौन-निमंत्रण

श्री सु. कृष्णन, मद्रास

श्री सुमित्रानन्दन पंत का जन्म कूर्मांचल की प्रकृति की गोद में हुआ। प्रकृति से उनको काव्य-प्रेरणा मिली। उनकी काव्य-रचना का आरंभ संवत् 1975 से होता है। वीणा, ग्रन्थि, पल्लव उनके प्रथम काव्य-संकलन हैं। 'गुँजन' तथा 'युगान्त' में क्रमश: वे मधुमय संसार के कर्म तथा लोक-क्षेत्र में अपनी भावनाओं का प्रसार करते गये। पंतजी छायावाद के प्रवर्तकों में एक हैं। किन्तु छायावाद से रहस्यवाद, पुन: स्वच्छन्दतावाद की ओर क्रमश: उन्मुख होते गये हैं। उन्होंने कुछ सफल गीति-नाटकों की भी रचना की है।

'मौन-निमंत्रण' नामक आपकी यह कविता संपूर्ण छायावादी काव्य-धारा में उत्तम कविता है। कवि कहते हैं—संसार चांदनी रात में नादान शिशु की भाँति मौन पड़ा रहा है। निद्रावस्था में अनेकों मनोरम स्वप्न देखने लगता है। तब न जाने, तारों के द्वारा कोई निमंत्रण हो रहा है। कवि का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म हमेशा जागृति की अवस्था में है, और इससे स्पष्ट होता है कि समस्त विश्व की सुप्तावस्था में भी नक्षत्रगणों द्वारा चिरंतन सत्ता का आभास हो रहा है। वर्षा के रूपक वर्णन के द्वारा कवि कहते हैं—काले घनघोर बादलों से आच्छादित आकाश भयंकर है। बीच-बीच में गर्जन तर्जन सुनाई पड़ रहा है; मेघों के मध्य में से विद्युत चमकता है। पर इस भयंकर वातावरण में भी कोई मौन आमंत्रण कर रहा है। कवि कहते हैं—'पवन दीर्घ नि:श्वास ले रहा है। मतलब यह है कि किसी प्रकार के आंतरिक दुख के कारण कोई दीर्घश्वास ले रहा है। वियोगी हृदय की अंतस्थल की भावनाओं की तुलना कवि भ्रमरों के गुंजन से करते हैं।

कवि कहते हैं कि वसंतकाल के आगमन से हर कहीं फूल पुष्पित होते हैं। पृथ्वी हरी-भरी दीख पड़ती है। भ्रमर गुंजार कर कर रहे हैं। मानों मधुमास में वसुधा के यौवन भार को देखकर मन ही मन गुंजार हो रहा हो! कवि को सन्देह हो रहा है कि फूल उच्छवास के साथ खिलते समय शायद अपनी सुगंधि से मुझे अपनी ओर बुला रहा हो!

कवि का संकेत है कि पवन सागर को विक्षुब्ध करके उँची-ऊँची लहरों को उठाकर उनका मंथन कर फेनाकार बना देता है। अर्थात् वायु के झोंकों से समद्र के मध्य भाग में लहरें उछल-कूद करती हैं। उस समय लहरें फेनाकार बन जाती हैं। क्षण मात्र में वहाँ बुलबुले भी भर जाते हैं। कवि का तात्पर्य यह है कि जैसे बुलबुलों की अवस्था क्षणिक है उसी प्रकार संसार की सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं।

उस नश्वर अवस्था में भी कौन मुझे निमंत्रण दे रहा है? लहरों का उछलना शायद कवि ने किसी अद्भुत जलमानुष के हाथों माना है। कवि ने इस संसार को 'बुल-बुलों का व्याकुल संसार' बताया है। वे स्वयं प्रकृति के अंग-प्रत्यंगों के मार्मिक चित्रकार हैं।

कवि का प्रभातकालीन वैभव का चित्रण देखिये—

"स्वर्ण, सुख, श्री सौरभ में भोर विश्व को देती है जब बोर—"

प्रभातकाल का शुभारंभ समस्त संसार का वैभव ही है। न जाने विहगावली धरती और अंबर को एक बनाने के जैसे कलरव कर रही है। तो भी किसी अज्ञात जगह से मौन-आमंत्रण सुनने में कवि भूल नहीं करते। फिर वे कहते हैं—

"कनक छाया में, जब कि सकाल खोलती कलिका उरके द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार;
न जाने ढुलक ओस में कौन खींच लेता मेरे दृग मौन!"

कवि कहते हैं कि समय को अनुकूल पाकर प्रकृति स्वर्ण-द्वार खोल देती है; अर्थात् कलिकाएँ प्रभात की वेला में अपनी पंखुड़ियाँ विकसित करती हैं और उनके सौरभ से भ्रमर रसपान करने के लिए तड़प उठते हैं। उनका तड़पन गुंजार के रूप में व्यक्त करते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने सुकुमार कलियों को नवयौवन युवतियों के, और उनपर मंडरानेवाले भ्रमर कुमारों को यौवनयुक्त प्रेमियों के रूप में वर्णन किया है।

और एक जगह में कवि कहते हैं कि दिन-भर के क्रिया-कलापों से थकावट होने पर भी शनैः शनैः सन्ध्या का होना अनिवार्य है, पर वह भी स्वर्णिम किरणों के साथ। संध्या की खुमारी के बाद फिर सारा विश्व स्वप्न लोक में डूब जाता है। कवि को ऐसा ज्ञात होता है कि निद्रोन्मीलित स्थिति में भी कोई मौन होकर उन्हें इधर-उधर घुमाता-फिराता है—उस अव्यक्त, परंतु द्युतिमान सत्ता को संबोधित कर कहते हैं—न जाने वह कौन है? मुझे बता दे कि मुझे किस पथ की ओर ले जा रहा है? क्या तू अपने नस-नस में नये भाव-भर गान सुनाता रहता है?

वास्तव में यह अव्यक्त सत्ता उनके सुख और दुख का साथी है जिसमें ईश्वरीय वैभवों का साक्षात्कार होता है। मानवों में अज्ञान है। ब्रह्म की अनंत सत्ता का साक्षात्कार ही मानव मन के ज्ञान का आधार है।

कवि इस कविता द्वारा 'सत्यं, शिवम्', सुंदरम, की ओर मानव के ध्यान आकृष्ठ कराने की प्रवृत्ति भी करते हैं। प्रकृति का मानवीकरण कवि-कर्म है और उस कर्म में पंतजी की कलम उत्कृष्ट है।

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. नियति तुम्हारे लिए अटल है .....स्वभाव सहजात ।

(नवीन पद्य-रत्नाकर)

प्रसंग—श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के "निज ललाट की रेख" हृदय से लिया गया है। नवीनजी का व्यक्तित्व भारतीय गरिमा लिये हुए है। पराधीन भारतीयों पर नृशंसतापूर्ण व्यवहार को देखकर कवि का हृदय कराह उठा। उस समय राष्ट्र-जागृति के गीत से सारा भारत गूँज उठा। आलसी और अकर्मण्य भाग्य को प्रधानता देने लगे। शासकों का इन भाग्यवादियों पर दमनचक्र चलता रहा। उस समय सुषुप्त मानवहृदयों ने देश-प्रेम और राष्ट्रीयता का संदेश दिया। कलाकार कर्म को प्रधानता देते हैं भाग्य को नहीं। यह कहावत प्रचलित है—जो जैसी करनी करे सो तैसा फल पाय। नवीनजी के पूर्व के कवियों ने भी कर्म के आधार पर ही भविष्य का निर्माण बतलाया। सचमुच देखा जाय, तो मनुष्य अपने कर्मों के द्‌वारा ही भविष्य का निर्माण करता है। विधाता नाम की कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो मनुष्य के ललाट पर उसका भविष्य लिखती हो। विधाता मनुष्य के कर्म ही होते हैं। जब मानव कार्य करते हुए उसमें असफलता पाता है, तो उस असफलता का दोष भाग्य या विधाता पर डाल देता। उस असफलता पर चिंतन करने के लिए स्वस्थ मस्तिष्क ही नहीं मिलता। अगर वह सोचता कि इस असफलता का कारण स्वयं मैं ही हूँ, कहीं मेरे ही कार्य में त्रुटि रह गयी थी, इसलिए मैं सफल न हो सका। भाग्य का भरोसा मनुष्य विवश होकर और अज्ञान वश करता है—कवि इसी नियति के बारे में यहाँ कहते हैं—

भावार्थ—भाग्य या दैव पर विश्वास करनेवालो, अगर भाग्य तुम्हारे लिए अटल है, तो ज़रा इसपर विचार करो—जिन कारणों से भाग्य बनता है, क्या तुम उनसे अपरिचित हो? कर्म में प्रवृत्त प्राणी के विकास में यही अड़चनें व्याप्त हैं। तब तो हम यह कह सकते हैं कि तुम्हारी इच्छाओं की स्वाधीनता स्वाभाविक है। स्वभाव और इच्छा दोनों का उद्‌गम स्थल एक ही है। तुम्हारा यही भाग्यवाद पर विश्वास करनेवाला स्वभाव तुम्हारे विकास में बाधक बना हुआ है। अगर तुम चाहो, तो कर्मों द्‌वारा अपने भाग्य को बदल सकते हो।

2. जग की आँखों से.....पटावरण में (रश्मिरथी)

प्रसंग—श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' के रश्मिरथी काव्य से लिया गया है। श्री दिनकरजी वर्तमान हिन्दी कवियों में प्रगतिवादी विचारधारा को लेकर प्रसुप्त भारतीयों को झकझोरते हुए उनके हृदय में मानवीय गुणों का बीजारोपण कर भारत की ही नहीं, विश्व की भूमि पर प्राणों में नयी जागृति भरते हैं। कवि जातिवाद की अपेक्षा गुणों की ही प्रधानता देता है। उनका कहना है—व्यक्ति अपने निजी गुणों के कारण जिस पद का अधिकारी है वह उसे मिलकर ही रहेगा। माता-पिता के दोष भी उसमें बाधा नहीं डाल सकते। कर्ण के चरित्र द्वारा नयी मानवता की स्थापना करने का प्रयास करते हैं। कुन्ती के माध्यम से नारीगत दुर्बलताओं के साथ-साथ उसके मातृत्व पक्ष को सशक्त शब्दों में प्रस्तुत करते हैं। मातृत्व गुण में है। केवल जन्म देना ही मातृत्व गुण नहीं है। कवि यहाँ युग की परम्पराओं पर कुठाराघात करना प्रतीत है जो आज भी चली आ रही है।

भावार्थ—कर्ण यहाँ कुन्ती को सम्बोधित करते हुए वर्तमान में ऐसी प्रवृत्तियों-वाले प्राणियों से जो अपने रहस्य को संसार से छिपाकर रखते हैं और उसे छिपाने में ही मान की तृप्ति मान लेते हैं। वे समझते हैं कि हमारा रहस्य पूर्ण रुपेण ढँका हुआ है। उस पर्दे में कोई ऐसा छेद नहीं है जो उसके द्वारा रहस्य को समझ सके। यह मनुष्य की अज्ञानता है; क्योंकि जगत-नियंता से कोई भी रहस्य छिपा हुआ नहीं है। अगर मनुष्य अपनी चालाकी से उसे छिपाना चाहे तो वे उसको प्रकट करा देते हैं।

कुन्ती ने कर्ण के जन्म को छिपाकर रखा और अंत तक उसे छिपाने का प्रयत्न करती रही, किन्तु कुन्ती के बतलाने से पहले ही कर्ण स्वयं इस बात को जान चुका था। कहने का तात्पर्य है कि रहस्य हमेशा रहस्य बना हुआ नहीं रह सकता। एक न एक दिन वह प्रकट हो ही जाता है।

3. हमारे यहाँ उपदेशक......खिचा पड़ता है। (चिंतामणि)

प्रसंग—यह गद्यांश चिंतामणि के "श्रद्धा और भक्ति" पाठ से लिया गया है। शुक्लजी के निबन्धों में विचार और भावों का योग अपने उत्कृष्ट कलात्मक रूप में दिखाई देता है। इन निबन्धों में इनका व्यक्तित्व अधिक उभरकर आया है। व्यक्तिगत घटनाओं एवं प्रसंगों के द्वारा शुक्लजी ने प्रत्येक निबन्ध में ऐसी आत्मीयता उत्पन्न कर दी है जो क्षण-भर के लिए पाठकों का मनोरंजना करने के साथ-साथ सम्बन्धित विषय को अधिक रूप में स्पष्ट करती है। शुक्लजी जहाँ अपने निबन्धों में लोकोक्तियों, मुहावरों, विदेशी शब्दों आदि द्वारा भाषा में एक सहज प्रवाह और चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं वहाँ उनका व्यक्तित्व दिखाई देता है।

अंतःकरण की सार्थक उपयोगिता ही पूर्ण मनुष्यता है। दया, धर्म, प्रेम, सत्य आदि की स्वानुभूति द्‌वारा ही मानव उस परम अनुभूति का अधिकारी बनता है। जहाँ धर्म भाव है वहीं ईश्वर की भावना हो सकती है। मानव ईश्वर में ही अपने मनोभावों एवं कर्मों की पूर्णता स्थापित कर उसे अपने से श्रेष्ठ समझने लगता है। श्रद्धा और प्रेम के संयोग से भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। भक्त भगवान में अपनी भावनाओं का पूर्ण प्रकाश देखकर उससे तादात्म्य स्थापित करना चाहता है। राम और कृष्ण जीवन के प्रत्येक कार्य में अपनी पूर्णता के साथ हमारे निकट आत्मीय प्रतीत होते हैं। इससे जातीय संघठन को बल मिलता है। हमारे ये अवतार अपने जीवन द्‌वारा कर्म सौंदर्य संघटित करने के कारण अवतार माने गये हैं।

भावार्थ—जो केवल उपदेश देते हैं, लेकिन उनके समान कर्म (आचरण) नहीं करते, उनको ईश्वर का अवतार नहीं माना जाता। ईश्वर अपने जीवन से अनेकों सुन्दर कर्म करते हैं। उन्हींको अवतार माना जाता है। जो सुन्दर कर्म करते हैं, उन कर्मों में एक आकर्षण होता है तथा उनका माधुर्य हृदय को मुग्ध कर लेता है। यही कारण है कि कर्म सौंदर्य की ओर हमारा मन अपने आप खिंच जाता है। —श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास

'राष्ट्रभाषा विशारद'—उत्तरार्द्ध परीक्षा

(1) मुरली है अपूर्व असि उसकी,
विजयी है वह प्रेम का;
वह गोधन का धनी, हाथ है
उस उदार का हेम का। (द्‌वापर—पृष्ठ 68)

व्रज के ग्वाल बालक गिरिधारी गोपाल के लिए अपने तन, मन, धन को सदा न्योछावर करने के लिए तैयार थे। गोपाल की मुरली की मधुर तान ने उन्हें मंत्र-मुग्ध कर दिया था। प्रस्तुत प्रसंग में ग्वाल बालकों ने गोपाल के अनन्य व्यक्तित्व की सराहना की है।

श्रीकृष्ण की 'अपूर्व असि' मुरली है। वह प्रेम की विजयी है। मधुर मुरली नाद से उसने व्रज के बालकों तथा ललनाओं को रसोन्मत्त कर दिया था। जिस प्रकार तलवार में चोट करने की शक्ति निहित है उसी प्रकार मधुर मुरली-रूपी तलवार में सुननेवालों के दिल में प्रेम की कसक पैदा करने की शक्ति विद्यमान

थी। गायों को चटानेवाला गोपाल गोधन का धनी है। उस उदार का हाथ हेम का था; याने सोने को भी वह उदार भाव से दान करता था। एक प्यारे प्रेम-लोक से पले ग्वालबाकों की वाणी श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने योग्य है।

(2) ईश्वर के निर्माण किये हुए विश्व का जो पुनर्निर्माण कर सके, वही कलाकार है। कला की साधना ईश्वरत्व की चरम आराधना है।

(सूर्योदय—पृष्ठ 11)

श्री कमलाकान्त वर्माजी का प्रसिद्ध एकांकी है सूर्योदय। प्रसिद्ध कलाकार आचार्य शशांक ने अपने साथी जलधर के साथ अभी वीणा बजायी थी। वीणा की सुरीली संगीत-लहरी चारों ओर छा गयी थी। शशांक अलौकिक आनन्द और शांति में तन्मय हो बैठा था। एक मृगशावक ने शशांक का उत्तरीय पकड़कर खींचा तो उनका ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। शशांक ने जलधर से कहा कि मेरी कला ने मुझे आज समझा दिया है कि पृथ्वी पर कलाकार ईश्वर का प्रतिनिधि है। लेकिन जलधर ने बताया कि तुम उन्हीं कलाकारों में एक होने के नाते ऐसी बातें बताते हो। प्रस्तुत प्रसंग जलधर से शशांक का मार्मिक कथन है।

ईश्वर के निर्माण किये हुए संसार का जो पुनर्निर्माण कर सके, वही कलाकार है। कला की साधना ईश्वरत्व की चरम आराधना है। सच्चा कलाकार पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। इस संसार के उलझनों को सुलझाना कलाकार का पुनीत कर्तव्य है। इस भूतल को स्वर्ग बनाने का स्तुत्य कार्य कलाकारों से ही संभव है। इसलिए कला की उपासना ईश्वर की चरम आराधना है।

समर्थ एकांकीकार ने आचार्य शशांक के मुख से कला की दिव्य शक्ति एवं महत्ता की झांकी दिखायी है। आचार्य शशांक के महान व्यक्तित्व पर भी प्रस्तुत प्रसंग प्रकाश डालता है।

(3) क्षत्रियों के कंठ को शीतलता नहीं चाहिए, उसमें अग्नि का निवास होना चाहिए। मेरा बाण बोधिसत्व को अगले जन्म में सच्चा क्षत्रियत्व प्रदान करेगा।

(सूर्योदय—पृष्ठ 69)

डा. रामकुमार वर्माजी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कवि, आलोचक और नाटककार हैं। वे एकांकी नाट्यकला के मर्मज्ञ हैं। 'उदयन' नामक एकांकी में वर्माजी ने हिंसा पर अधिष्ठित राजसत्ता की आत्मिक शक्ति से हार दिखायी है।

भगवान तथागत अहिंसा और सत्य के सन्देश का प्रचार करने कौशाम्बी पधारे। कौशाम्बी की जनता ने तथागत का हार्दिक स्वागत किया। जनता तथागत की अमृत वाणी सुन भाव विभोर हो गयीं। लेकिन कौशाम्बी के सम्राट उदयन भगवान बुद्ध के आगमन से अप्रसन्न थे। उन्होंने अपने सेनाध्यक्ष रुमण्वान से इस प्रसंग में तथागत के प्रति अपना विचार व्यक्त किया है।

क्षत्रिय युद्ध और संघर्ष से भयभीत नहीं होते। उनके कंठ में जनता को जगाने की शक्ति निहित है। वे अपनी हुँकारमयी वाणी से लोगों में जोश और उत्साह प्रदान करेंगे। लेकिन तथागत क्षत्रिय होने पर भी शांति और प्रेम के उपासक हैं। उनके कंठ में शीतलता है, अग्नि का निवास नहीं। अतः सम्राट उदयन क्षत्रिय वर्ग की रक्षा करने के वास्ते अपने बाण से तथागत को मारना चाहते हैं। अतः वे बुद्ध को अगले जन्म में सच्चा क्षत्रियत्व प्रधान कर सकेंगे। अधिकार के मद में उन्मत्त एक उद्दंड राजा का उद्गार है प्रस्तुत प्रसंग। इस एकांकी में संघर्ष एवं पाठकों को औत्सुक्य प्रदान करने में उदयन का यह कथन सहायक हुआ है।

(4) जिस चरित्र का निर्माण केवल स्वयं के लिए हो, वह चरित्र मूल्यहीन है और उसका निर्माण व्यर्थ है। चरित्र का निर्माण स्वार्थ के लिए नहीं, परार्थ के लिए होना चाहिए। (सूर्योदय—पृष्ठ 103)

श्री विपिनचन्द्र 'बंधु' जी का एक एकांकी है 'ऋष्यश्रृंग'। अंग देश में भयंकर अकाल पड़ गया। जनता दिन-ब-दिन भूखों मरने लगी। किसी धर्मशास्त्री ने बताया कि राज्य में किसी पूर्ण ब्रह्मचारी के आने से दुर्भिक्ष दूर होगा। अतः लोग एक पूर्ण ब्रह्मचारी का पता लगाने लगे। सौभाग्य से गौतम नामक एक अनुभवी ऋषि ने ऋष्यश्रृंग नामक एक पूर्ण ब्रह्मचारी का नाम-निर्देश किया। ऋष्यश्रृंग के पिता विभांडक जब गौतम से मिले, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि अपने पुत्र का नामनिर्देश किया गया है। इससे विभांडक को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने ऋष्यश्रृंग को आदर्श भव्य चरित्रवान बनाया था। उन्हें स्त्री के अस्तित्व तक का ज्ञान नहीं था। प्रस्तुत प्रसंग में गौतम विभांडक की मिथ्या धारणा की आलोचना करते हैं।

जो व्यक्ति अपने लिए जीता है, वह स्वार्थी है। व्यक्ति के चरित्रनिर्माण से समाज की भलाई होनी चाहिए। चरित्र का निर्माण स्वार्थ के लिए नहीं, परार्थ के लिए होना चाहिए। मानव-समाज का कल्याण तभी संभव है जब कि जनता का चरित्र उज्ज्वल एवं पवित्र हो। वही व्यक्ति महान समझा जाता है, जो दूसरों

[शेष पृष्ठ 41 में देखें]

हिन्दी के प्रमुख राष्ट्रीय कवि

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

डा० लक्ष्मीनारायण दुबे

कानपुर की 'प्रभा' और 'प्रताप' मूलतः राष्ट्रीय और सांस्कृतिक पत्र-पत्रिकाएँ थीं। इनके प्रधान कवियों के अन्तर्गत मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आते हैं। जहाँ तक 'प्रताप' का सम्बन्ध है, यह निःसंकोच एवं एक मत से कहा जा सकता है कि 'सनेही' जी इसके सर्वप्रधान कवि थे; क्योंकि उनकी ही सर्वाधिक कविताएँ इसमें मुद्रित-प्रकाशित हुई थीं। राष्ट्रीय-साप्ताहिक 'प्रताप' का स्वर्णकाल या गरिमा उस समय से सम्बन्ध रखती है जबकि गणेशशंकर विद्यार्थी उसके संपादक थे और उनके जीवन-काल में वह अपने शौर्य एवं महिमा की दीप्ति से विभूषित था। इस युग का भी विशेष सम्बन्ध 'सनेही' जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से रहा है।

'सनेही' जी प्रधानतः राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के कवि हैं। इस क्षेत्र में उनका विशेष प्रदेय और महत्वपूर्ण स्थान है। प्रचार-प्रसार से दूर रहने के कारण उनको 'आधुनिक-यश' प्राप्त नहीं हुआ जो अन्य कवि गण 'अर्जित' कर ले गये हैं। उनका जीवन राष्ट्रार्पित रहा है। उन्होंने सब कुछ त्यागकर, वर्तमान-काल की 'विनिमय-भाषा' में कुछ प्रतिदान नहीं ग्रहण किया। उनकी साठ वर्षों की सतत और संघर्षपूर्ण साधना का अपना ऐतिहासिक महत्व है जिसका मूल्यांकन करना हम सबका निजी धर्म एवं कर्तव्य है।

'सनेही' जी को 'प्रताप' के साहित्य या कविता-विभाग का एक प्रकार से सम्पादक या 'इन्चार्ज' ही माना जाता था। गणेशजी का उनपर बड़ा अनुग्रह था। 'प्रताप' में उनकी शताधिक कविताएँ प्रकाशित हुईं। 'प्रभा' में अधिक कविताएँ प्रकाशित नहीं हुईं। 'प्रताप' की प्रमुख और विशिष्ट कविताओं के संग्रह भी उस युग में प्रकाशित हुए थे जो आज दुर्लभ हो गये हैं और इनका राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य के अध्ययन-अनुसंधान में अपरिहार्य महत्व है। जहाँ 'राष्ट्रीय वीणा' के प्रथम भाग का सम्पादन शिवनारायण मिश्र वैद्य ने किया था वहाँ उसके द्वितीय भाग का सम्पादन कविवर गयाप्रसाद शुक्ल ने 'त्रिशूल' उपनाम से किया है। द्वितीय भाग के अन्तर्गत 'प्रताप' के तृतीय और चतुर्थ भागों में प्रकाशित देशभक्ति-पूर्ण कविताओं का संचयन है। इसका प्रथम संस्करण सन् 1922 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में कुल 91 कविताएँ प्रकाशित हुईं। इनमें चार कविताएँ शुक्लजी की हैं,

जिन्हें 'सनेही' उपनाम से लिखा गया है। ये सन् 1916-17 में प्रकाशित हुई थीं।

'राष्ट्रीय-वाणा' के प्रथम भाग में कवि को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला; क्योंकि उनकी 23 कविताओं को संगृहात किया गया। ये सन् 1914-15 ई० की रचनाएँ थीं। इनमें 'सनेही' और 'त्रिशूल' दोनों नाम ही प्राप्त हैं। इन संग्रहों के अतिरिक्त, उस युग के अन्यान्य संकलनों में भी 'सनेही' जी को स्थान प्राप्त हुआ।

'सनेही' जी के काव्य को निम्नलिखित विवेच्य-विषयों में विभाजित किया जा सकता है:—

1. उर्दू मिश्रित; 2. शृंगारिक; 3. धार्मिक; 4. प्रकृति-परक; 5. उद्बोधन-गीत; 6. व्यक्ति पूजा; 7. देशभक्ति; 8. सांस्कृतिक; 9. सामयिक; 10. प्रगतिवादी; 11. काव्यानुवाद; 12. विविध।

प्रत्येक काव्य-विषय या उपकरण का संक्षिप्त विश्लेषण अपेक्षित है।

उर्दू मिश्रित—शुक्लजी ने अनेक उर्दू प्रधान रचनाएँ 'त्रिशूल' के नाम से लिखीं तथा अन्य रचनाएँ 'सनेही' के नाम से। 'त्रिशूल' कवि-नाम से लिखित उनकी कविताओं में राष्ट्रीयता, ओज, प्रवाह और संघर्ष के दर्शन होते हैं। 'सदाये वतन', 'फ़रियादे बुलबुल', 'कौमी गजल', 'शैयादे वतन', 'इफलास की घटा', 'हसरत', 'गजल', 'शहीदाने देहली' आदि 'प्रताप' में प्रकाशित रचनाएँ उनकी इसी शैली की हैं। 'समझते हैं?', 'क्या करूँ?' आदि कविताएँ विशुद्ध उर्दू की हैं। 'कौमी गजल' को उन्होंने 'बहरे तवील' और 'गजल' को 'बहे तवील' में लिखा। गणेशजी पर लिखित उनकी कविता इस भाषा शैली का उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत करती है:—

"दीवानए-वतन गया जंजीर रह गई।
चमकी चमक के कौम की तकदीर रह गई।
जालिम पुलक ने लाख मिटाने की फिक्र की,
हर दिल में अक्स रह गया तसवीर रह गई।"

शृंगारिक—'सनेही' जी का प्रेम-शृंगार पर्याप्त मर्यादित, नैतिक और स्थूल रहा है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता एवं उपदेशात्मकता के दर्शन उसमें सहज उपलब्ध हैं। 'आंसू' में कवि कहता है:—

"ओसकण हैं यह कमल-दल पर पड़े,
या सुधाकर में सुधा-सीकर पड़े।

या उगल मोती रहे हैं खंजरीट,
आइने में या कि हैं जौहर पड़े ॥"

कवि ने प्रणयोपासना या शृंगारिकता को भी राष्ट्रीयता का आवरण पहनाया है। राष्ट्रोपासना की वृत्ति के कारण उन्होंने 'नवीन नखसिख' (नेत्र), 'नवीन नखशिख (कान)' आदि रचनाओं में रीतिकालीन परिपाटी का अनुसरण न करते हुए, उसे समसामयिक वातावरण में उपस्थित किया है। 'कान' को प्रस्तुत रंग प्रदान किया गया:—

"चाहिये ऐसे सुन्दर कान।
जिनको अमृत सदृश्य माता हो देश सुयश गुण गान।
जिनमें हृदय गूंजा करती सुखद-स्वदेशी-तान ॥"

धार्मिक—कवि आस्थावान और ईश्वरभक्त है। उसने राष्ट्रीय-संग्राम में भगवान श्रीकृष्ण के विविध रूपों की अवतारणा की है। कहीं कवि 'प्रार्थना' करता है, तो कहीं "पावन प्रतिज्ञा'। 'श्रीकृष्ण विजय', 'श्रीकृष्ण और अर्जुन', 'कृष्ण गमन' आदि कविताओं में कवि ने देश-भक्ति को उद्दीपन प्रदान किया है। 'दशहरा और मुहर्रम' में कवि ने साम्प्रदायिकता का विरोध किया है और एकता के सूत्र को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया है।

प्रकृति-परक—'सनेही' जी प्रकृति-प्रेमी हैं परन्तु उनका प्रकृति-प्रणय भी राष्ट्रदीप्ति से प्रोज्वल है। उन्होंने 'होली', 'बसंत' आदि को देशानुराग से मंडित कर दिया है। कवि कहता है:—

"हाय, हम कैसे वसंत मनावें।
हार सिंगार उजार भये हैं ढ़ाकहु ना पतियावें।
जर्मन रंग कुरंग भयो हैं रंग कहाँ से लावें ॥"

उन्होंने 'दूब की राम कहानी' लिखी। द्विवेदीयुगीन परम्परा के अनुसार 'ग्रीष्म गुणावली' की सृष्टि हुई।

उद्‌बोधन-गीत—डा० सुधीन्द्र ने लिखा है कि जब राष्ट्र के जन-जीवन में स्वराज्य की हलचल हो रही थी तब जन के प्रतिनिधि कवियों की काव्य-वीणा पर राष्ट्रीय-चेतना की झंकृतियाँ उठना सहज स्वाभाविक था। सन् 1914 से हिन्दी काव्याकाश इन गातों और झंकृतियों से गुंजित हो उठा था। वस्तुतः समस्त राष्ट्र का दर्प और ओज इन कवियों के कण्ठ में मुखरित हो रहा था। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के राष्ट्रीय साप्ताहिक 'प्रताप' में इस काल में शत-शत राष्ट्रीय कविताएँ

प्रकाशित हुईं। इन गीतों का कई खण्डों में प्रकाशन हुआ है। राष्ट्र में सर्वांगीण जागरण था। नैतिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में सेवा-त्याग, देश-सेवा और कर्मयोग की भावना सर्वोपरि थी, सामाजिक क्षेत्र में रूढ़ि-रीतियों के मूलोच्छेदन की तथा राजनीतिक क्षेत्र में स्वत्व और अपना जन्मसिद्ध अधिकार मांगने की चेतना, इन सबकी प्रतिध्वनि 'राष्ट्रीय-वीणा' की झंकृतियों में हमें सुनाई देती है। मैथिलीशरण गुप्त, 'एक भारतीय आत्मा', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', 'त्रिशूल', सत्यनारायण कविरत्न, बदरीनाथ भट्ट, सियारामशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, लक्ष्मणसिंह क्षत्रिय, 'मयंक', भगवान नारायण भार्गव आदि के अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात अनेक कवियों की राशि-राशि राष्ट्रीय गीतियों का संकलन इसमें है।

'उद्बोधन' और 'अभियान' गीतों का 'सनेही'—काव्य में प्राचुर्य है। स्वदेशाभिमान की पुनीत प्रवृति की जागृति इन पंक्तियों ने की।—

"वह है गुणी या निर्गुणी, वह रंक या श्रीमान् है,
वह है निरक्षर भट्ट या उद्भट महा विज्ञान है।
वह विप्र, क्षत्रिय, वैश्य है या शुद्ध क्षुद्र अजान है,
वह शेख ही है या कि सय्यद, मुगल या कि पठान है,
जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है।"

कवि ने 'वंदे मातरम्' भी गाया—

"पुत्र तेरे मस्त हैं स्वाधीनता के प्रेम में,
भर दिये तूने बड़े अरमान, वन्दे मातरम।
सत्य की तलवार तूने दी कसी शोधी हुई,
कर दिया निर्भीक रख दी सान, वन्दे मातरम॥"

व्यक्तिपूजा—व्यक्तिपूजा या वीरपूजा से सम्बन्धित अनेक प्रशस्तियाँ कवि ने लिखीं। उन्होंने महात्मा गांधी का स्वागत किया। राय बहादुर पं० बेणीमाधव द्विवेदी वकील की मृत्यु पर शोकोद्गार प्रकट किये। 'नवीन' जी की मृत्यु पर भी शोक-रचना लिखी थी। शहीदों के गुणगान गाये। तिलक-जयंती पर कविता लिखी। महामना तिलक की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अनेक शोक-गीतियाँ लिखीं। सन् 1921 में कवि ने लार्ड चैम्सफ़ोर्ड के सम्बन्ध में लिखा था—

"तुमको करना था क्या और क्या कर चले?
निर्दयीपन सभी को दिखाकर चले॥
पाप पूरी तरह से कमाकर चले।

दीन दुखिया जनों को सताकर चले।
है गनीमत की अब भी हया कर चले॥
आज दुनिया पै मानो दया कर चले॥

देशभक्ति—'सनेही' जी के नस-नस में देशानुराग कूट-कूट कर भरा हुआ है। वे देशभक्ति के वैतालिक हैं। इस क्षेत्र में उन्होंने विपुल सर्जना की है। उन्होंने अनेक राष्ट्रीय और जातीय गीतों का सृजन किया। कवि ने होली पर यह शुभाकांक्षा की—

"हो ली दुर्गति बहुत प्रभो! हो सच्ची होली,
हुई दिल्लगी बहुत करो अब बंद ठिठोली!
धूलभरी हे नाथ! धरो अब कर से झोली,
करो सुर्खरू देश लगाकर सुख की रोली!
रंग वृथा हरि हैं अगर, तब करुणा घोली न हो।
हो ब्रजेश जब तब कृपा क्यों घर घर होली न हो?

कवि ने 'बेलजियम का राष्ट्रीय गीत' लिखा। 'परतन्त्रता पर 'त्रिशूल' का प्रहार किया। 'मातृ आराधना' की। 'भारत सन्तान' का महिमांकन किया। 'रौलट बिल का शिकंजा' को स्पष्ट किया। 'सत्याग्रह' के गौरव का आकलन किया। 'साम्यवाद' की दुन्दुभि बजायी और अन्त में 'असहयोग कर दो' के गगन-भेदी नारे से जग-जीवन को प्रकम्पित कर दिया।

सांस्कृतिक—राष्ट्रीय कवि की आत्मा को सांस्कृतिक पक्षों में ही संतोष और स्थायित्व प्राप्त होता है। अतीत का गुण-गान और अपनी गरिमा के अनावरण से ही राष्ट्रीय-काव्य का दिव्य स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है। कवि की 'शुभ चिन्तना' द्रष्टव्य है—

"गाओ अकबर-आजम शासन, और शिवा की शान,
गाओ शौर्य्य सहित संतत तुम,
शुभ स्वराज्य गुण खान।
सुरक्षित हो भारत, भगवान।"

'सनेही' जी ने सांस्कृतिक रूपों की स्पष्ट अभिव्यंजना की है। उनका काव्य इस प्रकार के भाव-चित्रों से परिप्लावित है।

सामयिक—कवि का ध्यान अपनी वर्तमान दुरवस्था की ओर भी आकृष्ट हुआ। उसे समाज में राजनीतिक और अनेक प्रकार की विषमताओं और विडंबनाओं के दर्शन हुए। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है—

"कहीं घूस मनहूस राक्षसी - सी मुँह बाए,
दीन जनों का डाल रही सर्वस्व चबाए।
अपने ही बन रहे अधिकतर यहाँ पराए।
जाते हैं अब बात बात पर हक ठहराए।
नाहक को हक कह रहे निपट निराली चाल है,
मुल्ला को भी मुफ्त की मुर्गी हुई हलाल है।"

"वोट का भिखारी' भी देखने योग्य है—

"न हो ग्रेजुएट अक्ल तो है नहीं कम।
गलत है कि हममें नहीं है ज़रा दम।
महाजन हैं हम एक ही सेठ हैं हम।
हमारा अदब मानता एक आलम।
मुझे वोट देना, मुझे वोट देना।"

युद्ध से भी सामान्य त्रस्त है—

"घन गर्जन कर धांय धांय गोले चलते हैं,
धूआंधार घर, ग्राम, नगर, जंगल जलते हैं।
होता उल्कापात कि भीषण बम गिरते हैं,
डर के मारे भगे चील कौवे फिरते हैं॥"

कवि मनोकामना करता है कि कब अतीत की सुखद पुनरावृत्ति होगी—

"रंग, जाति, मतभेद, भावभ्रम कब तक हमें भुले हैं।
मानवीय समता की बातें कब मन मध्य समे हैं।
कब हम एक भाव भाषा की धारा प्रबल बहे हैं?
माता-पिता बन्धु सम सिगरे भारत को अपने हैं॥
'सनेही' कब फिर वे दिन ऐ हैं?"

प्रगतिवादी—'त्रिशूल' जी ने अपने काव्य में सामाजिकता को भी पर्याप्त प्रश्रय प्रदान किया है। वे समाज और जगत के प्रति-सचेत-सतर्क रहनेवाले कलाकारों में से हैं। उनका काव्य सच्चे अर्थों में प्रगतिशील काव्य है। उन्होंने 'किसान' को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया। 'किसान का आर्त्तनाद' भी उसीका अटूट अंग बना। 'दम गनीमत है किसानों का' लिखकर उनका पक्ष मज़बूत किया। 'किसानों की होली' भी लिखी। 'मजदूरों की होली' भी कैसे भुलायी जा सकती थी! 'वर्तमान भारत की आर्थिक दशा' का चित्र कवि की तीक्ष्ण लेखनी से विस्मृत नहीं हो पाया है—

"कुछ भूखों मर रहे महातनु शीर्ण हुआ है।
कुछ इतना खा गये कि घोर अजीर्ण हुआ है।।
कैसा यह वैषम्य भाव अवतीर्ण हुआ है।
जीर्ण हुआ मस्तिष्क, हृदय संकीर्ण हुआ है।।
कुछ मधु पीकर मस्त हो, आँसू पीकर कुछ रहें।
कुछ लूटें संसार-सुख, मरते जी कर कुछ रहे।।"

काव्यानुवाद—श्री रायकृष्ण दास के मतानुसार, साहित्य में सन् 1912 से 16 तक को हम गीतांजलि की धूम का युग कह सकते हैं। 'प्रताप' प्रेस से गीतांजलि का अनुवाद गद्य में प्रकाशित हुआ था। 'सनेही' जी ने भी रवीन्द्र-गीतांजलि के कई गीतों का काव्यानुवाद किया और वे 'प्रताप' में प्रकाशित हुए। इनको 'राष्ट्रीय वीणा' में भी स्थान प्राप्त हुआ है। 'मंगलकामना', 'याचना', 'अन्य प्रेम', 'ईश्वरावाहन' और 'देवालय' नामक पाँच कविताएँ रवीन्द्र-काव्य से अनूदित हैं। कवि ने भावानुवाद किया है और उसे इस सुकृत्य में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है।

विविध—'सनेही' जी ने अनेक अन्योक्तियों का भी सृजन किया। इनका विषय चन्द्र, सूर्य, आकाश, पतंग, दुष्ट, श्वान, अग्नि आदि हैं। सूर्य के प्रति कवि कहता है:—

'वाष्प से ही परम प्रशस्त हुए, खूब तप करत पाया मस्त हुए।
मित्र! दो दिन न एक रंग रहा, शाम आते ही आते अस्त हुए।।'

अन्योक्तियों में व्यंग का प्राधान्य है।

उस युग में चित्रों के आधार पर कविताएं लिखने की उसी प्रकार की ही प्रचलित परिपाटी थी जैसे 'समस्या-पूर्ति' की। 'सरस्वती' में इस प्रकार की कई कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। 'सनेही' जी ने भी कानपुर की 'प्रभा' में चित्रों पर अनेक कविताएं लिखीं यथा लार्ड चैम्सफोर्ड, वर्तमान भारत की आर्थिक दशा आदि।

कवि ने 'प्रताप' के प्रत्येक उत्थान-पतन के साथ अपने जीवन का अभिन्न सम्बन्ध रक्खा। दैनिक 'प्रताप' के प्रकाशन पर जहाँ आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने दिनांक 16 नवम्बर, 1920 के पत्र में अपना 'शुभाभिलाष' व्यक्त किया।

जहाँ मैथिलीशरण गुप्त और गयाप्रसाद शुक्ल ने अपनी काव्यमयी भावांजलि प्रस्तुत की, 'त्रिशूल' ने अपने 'आषीश सुमन' के पल्लवों को इस प्रकार बिखेरा:—

"हृदयों में भर रहे हो, देशप्रेम अनन्य।
दैनिक दर्शन से हुए भक्त तुम्हारे धन्य।

बड़भागी तुम से हुआ, यह तुक बंद 'त्रिशूल'।
शुभ अवसर पर भेंट को, लाया है दो फूल॥"

मूल्यांकन—'सनेही' जी का युग उथल-पुथल का युग था। वह राष्ट्र का संक्रमण काल था। उस समय परतंत्रता को तिरोहित कर, राष्ट्रीय स्वाधीनता की उपलब्धि ही सर्वोपरि लक्ष्य के रूप में निरूपित थी। कवि ने अपने आपको उद्देश्य के अनुकूल ढाल लिया। शुक्ल जी राष्ट्र-प्रहरी थे। उनके पास न तो काव्यसाधना का अवकाश था और न भाषा के परिष्कार या छन्द-अलंकार की समालोचना का। उनका सारा समय देशभक्ति के कार्यों में व्यतीत होता था। उनका काव्य अभिव्यंजना का काव्य है। वह साज-सज्जा की सृष्टि नहीं है। उसे हम अभिधा या लक्षणा का काव्य कह सकते हैं। व्यंजना के लिए वहाँ प्रावधान नहीं। वह सही रूपों में राष्ट्रीय धड़कनों को अपने में समेटे बैठा है। आन्दोलन का काव्यात्मक इतिवृत्त उनकी रचनाओं में विद्यमान है।

निष्कर्ष—'सनेही' जी का सारा काव्य प्रताप और अन्य अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भिखरा पड़ा है। 'प्रताप' में तो एक ही अंक में, तीन-तीन चार-चार कविताएँ छपती थीं। राष्ट्रीय कवियों के साथ यह दुर्भाग्य रहा कि न तो उनकी रचनाएँ समुचित रूप से संकलित रह सकीं और न उन्हें विधिवत संग्रह का आवरण मिल सका। यही स्थिति 'सनेही' जी के साथ रही और इसी स्थिति का सामना 'एक भारतीय आत्मा' और 'नवीन' को करना पड़ा। चतुर्वेदीजी की कृतियों का प्रकाशन बड़े विलम्ब से हुआ और 'नवीन' जी का तो आधे से अधिक साहित्य उनके जीवन-काल में भी प्रकाशित नहीं हो पाया। इन राष्ट्र-वीरों को तो अपना यौवन और आकांक्षाएँ कारागृहों को समर्पित कर देनी पड़ी थीं। सारा जीवन अस्त-व्यवस्थता तथा अनियमनताओं से अपूर्ण रहता था, अतएव, संचयन और संकलन की उनसे आशा-अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी।

सर्वप्रथम कार्य हमें यह करना चाहिए कि 'सनेही' जी के समस्त यत्र-तत्र बिखरे साहित्य को एकत्रित कर, उसे 'सनेही ग्रंथावली' या खण्डावली के रूप में, व्यवस्थित ढंग से प्रकाशित किया जाना चाहिए। उनके साहित्य को खरीद कर रुचिपूर्वक, उसका अध्ययन-स्वाध्याय किया जाना चाहिए। यही उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट अभिनंदन है और यही हमारी उस महान कवि के प्रति वास्तविक श्रद्धांजलि और सर्वोपरि अभिनंदन हो सकता है।

—साभार 'जनभारती'

अनुबंध

विश्व विद्यालय-विभाग

(दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास)

मानसेवी सहसंपादक: श्री एस. श्रीकण्ठमूर्ति

निवेदन

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा 1964 में संस्थापित तथा सभा के अध्यक्ष एवं भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री स्व० लाल बहादुर 'शास्त्री' द्वारा उद्घाटित स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग द्वारा अब तक उच्च हिन्दी शिक्षण एवं स्नातकोत्तर शिक्षणकार्य सुचारू रूप से संपन्न हो रहा है। विभाग के कार्यकलापों के परिचयात्मक विवरण देने के अतिरिक्त शोधछात्र तथा अन्य विद्वानों के अनुसंधानात्मक लेख-प्रकाशन की सुविधा की कमी की, इस हिन्दी प्रचार समाचार के "विश्वविद्यालय विभाग-अनुबंध" द्वारा पूर्ति हो रही है।

शोध-छात्रों से तथा अन्यान्य विद्वज्जनों से सानुरोध प्रार्थना है कि अपने शोधात्मक लेख—विशेषकर हिन्दी तथा दक्षिणी भाषाओं के कवि, कृति या साहित्य का किसी विधा के तुलनात्मक अध्ययन संबंधी, विभाग में प्रेषित करके अपने परिश्रम के लाभ उठाने का पाठकों को सुअवसर देने के अतिरिक्त इस 'अनुबंध प्रकाशन' कार्य में सहयोग प्रदान करने की कृपा करें।

परिचय

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी द्वारा संस्थापित दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा दक्षिण भारत में 1918 से राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-कार्य में संलग्न है। उसकी आठ श्रेणीबद्ध परीक्षाओं द्वारा तथा चार प्रान्तीय सभाओं द्वारा सभा का कार्य सुव्यवस्थित रूप से संपन्न हो रहा है और अब तक के 1050 परीक्षा केन्द्र, करीब साठ हज़ार स्नातक तथा क़रीब 12,600 प्रचारकों का रहना उसकी कार्य-सफलता का द्योतक है।

राष्ट्रभाषा प्रचार जैसे राष्ट्रीय कार्य में सभा का हिस्सा इतना प्रभावोत्पादक व जनप्रिय रहा जिससे प्रभावित होकर भारतीय संसद ने सभा को "राष्ट्रीय महत्व की संस्था" घोषित करते हुए "दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा अधिनियम" (केन्द्र अधिनियम 14/1964) पारित करने के द्वारा सभा को यह अधिकार दिया कि वह हिन्दी में तथा उसके शिक्षण में प्रवीणता के लिए परीक्षाएँ चलावे तथा उपाधियाँ, सनदें, प्रमाणपत्र आदि प्रदान करे। तदनुसार सभा ने स्नातकोत्तर उपाधियाँ, एम.ए. तथा पी.हेचडी., हिन्दी में क्रमश: "राष्ट्रभाषा पारंगत" व "राष्ट्रभाषा साहित्याचार्य" कायम करने का निश्चय किया और उस निश्चय के फलस्वरूप सभा के स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग का जन्म 1964 में हुआ।

सभा के अध्यक्ष, स्नातकोत्तर विभाग के कुलाधिपति तथा भारत के तात्कालीन प्रधान मंत्री श्री लाल बहादुर 'शास्त्री' ने दिनांक 6-11-1964 को स्नातकोत्तर विभाग का उद्घाटन किया। उक्त समारंभ की सफलता चाहते हुए निम्नलिखित प्रतिष्ठित व्यक्तियों से शुभ कामनाएँ प्राप्त हुईं—

डा० एस. राधाकृष्णन (भारत के राष्ट्राध्यक्ष), डा० जाकीर हुसेन (उपराष्ट्राध्यक्ष) सरदार हुकुम सिंह (सभापति, लोक सभा); श्री एम. अनंतशयनम अय्यंगार (राज्यपाल, बिहार); श्री वी. वी. गिरि (राज्यपाल, केरल); श्री जयचामराज ओडयार (राज्यपाल, मदरास); डा० संपूर्णानंद (राज्यपाल, राजस्थान); श्री एच. वी. पटासकर (राज्यपाल, मध्यप्रदेश); श्रीमती पद्मजा नायुडू (राज्यपाल, पश्चिमी बंगाल); डा० ए. न. खोसला (राज्यपाल, उडिया); श्री मेहदी नवाज़ जंग (राज्यपाल, गुजरात); श्री एन. आर. दास (उप-आचार्य, विश्वभारती); डा० ए. वी. राव (उपकुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय); श्री बी. मल्लिक (उपकुलपति, कलकत्ता विश्वविद्यालय); डा० डी. सी. पावटे (उपकुलपति, कर्नाटक विश्वविद्यालय); श्री जी. भट्ट (उपकुलपति, सागर विश्वविद्यालय); डा० पी. पारीजा, (उपकुलपति, उत्कल विश्वविद्यालय); डा० एल. नारायण (उपकुलपति, आन्ध्र विश्वविद्यालय); डा० एन. के. अनंतराव (उपकुलपति, उत्तर प्रदेश कृषि विश्वविद्यालय); श्री बी. वी. साठे (उपकुलपति, बंबई विश्वविद्यालय); श्री बी. के. गुहा (उपकुलपति, बर्दवान विश्वविद्यालय); श्री बद्रुद्दीन तय्याब्जी (उपकुलपति, अलिगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय); डा० एन. वी. गाडगील (उपकुलपति, पूना विश्वविद्यालय); डा० एन. आर. तावडे (उपकुलपति, मराठवाडा विश्वविद्यालय); डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी (हिन्दी विभागाध्यक्ष, पंजाब विश्वविद्यालय); श्री एस. गुलाम रसूल (हिन्दी-उर्दू विभागाध्यक्ष, अण्णामलै विश्व-विद्यालय); श्री गुलजारीलाल नंदा (गृहमंत्री, भारत सरकार); श्री डी. संजीवय्या

(उद्योग मंत्री); डा० के. एल. राव, (सिंचाई मंत्री); श्री सत्यनारायण सिन्हा, (परिवहन मंत्री); डा. श्रीमती सौन्दरम रामचंद्रन, (उपशिक्षा मंत्री), श्री आर. के. मालवीया (उप-उद्योग मंत्री); श्री जयसुखलाल हाथी, (राज्य मंत्री, गृह विभाग); श्री एस. वी. कृष्णमूर्ति राव, (उप-सभापति, लोक सभा); श्री एस. निजलिंगप्पा, (मुख्य मंत्री, मैसूर); डा० बी. रामकृष्ण राव, (संसद-सदस्य); श्री सी. दास, श्री टेकुर सुब्रह्मण्यम, श्री टी. वी. आनंदन सभी संसद-सदस्य, आदि—

विभाग के विभिन्न वर्गों में सम्मिलित छात्रों की संख्या यों है—

छात्र-तालिका

साल	प्रथम वर्ष		द्वितीय वर्ष		पूर्व-शोध-वर्ग		शोध-छात्र	
	एम. ए. प्रीवियस	पारंगत पूर्वार्द्ध	एम.ए. फाइनल	पारंगत उत्तरार्ध	प्री.पी. एच.डी.	पूर्व सा. आचार्य	पी. एच.डी	रा. भा. सा.चार्य
1964-65	6	9	—	—	—	—	—	—
1965-66	8	7	5	8	7	—	—	—
1966-67	7	8	8	7	5	2	2	—
1967-68	8	8	4	3	5	5	5	2
1968-69	7	—	4	3	—	—	5	5
1969-70	9	8	5	—	—	—	—	—

विभाग के कार्य संचालनार्थ उत्तर व दक्षिण के विश्वविद्यालयों के कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों की "स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान परिषद्" का तथा "स्नातकोत्तर अध्ययन एवं अनुसंधान का बोर्ड आफ़ स्टडीज़" का निर्माण हुआ।

उपर्युक्त समितियों द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार स्नातकोत्तर विभाग का प्रथम वर्ग—राष्ट्रभाषा पारंगत (पूर्वार्द्ध) तथा एम. ए. (प्रीवियस) का आरंभ किया गया।

1965 जुलाई में राष्ट्रभाषा पारंगत (उत्तरार्द्ध), एम. ए. (फाइनल) का वर्ग भी आरंभ किया गया। साथ ही एम. ए. परीक्षोत्तीर्ण छात्रों के लिए एक प्री० पिहेच. डी. वर्ग का प्रारंभ किया गया।

स्नातकोत्तर विभाग का स्नातक-परीक्षाओं के लिए भारत सरकार, अंतर विश्वविद्यालय बोर्ड तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों की मान्यता प्राप्त करने का प्रयत्न बराबर चल रहा है। अब तक तीन विश्वविद्यालयों ने सभा की एम.ए. डिग्री की मान्यता की स्वीकृति की सूचना दी है तथा सरकार द्वारा 'रा. भा. पारंगत' को एम. ए. (हिन्दी भाग) का समकक्ष होने की घोषणा भी निकाली जा चुकी है। इन अधिकृत सूचनाएँ अन्यत्र दी जा रही हैं।

भाषा-साहित्य-परिषद्

छात्रों की अभिव्यंजना-शक्ति तथा वक्तृत्वकला की वृद्धि करने तथा ज्ञानाभिवृद्धि के उद्देश्य से स्नातकोत्तर विभाग के छात्र 'भाषा साहित्य परिषद' के तत्वावधान में प्रतिवर्ष विभिन्न शैक्षणिक कार्यकलापों में सम्मिलित होते आये हैं।

वर्तमान वर्ष दिनांक 16-8-'69 को विभागीय अध्यक्ष डा० नरेन्द्रशर्मा की अध्यक्षता में कुलसचिव श्री एस. चंद्रमौली ने भाषा साहित्य परिषद के वर्तमान सत्र का उद्घाटन किया। इस अवसर पर सत्र भर के लिए निम्नलिखित परिषद के पदाधिकारी सर्वानुमत से चुने गये—

परिषद संचालक—श्री के. रामा नायडु (प्राध्यापक)
परिषद मंत्री—कु. श्री गुरुप्यारी उम्मत
परिषद उपमंत्री—कु. के. एस. सुन्दरी
परिषद कोषाध्यक्ष—श्री वै. तुलसी रेड्डी

अब तक परिषद के निम्नलिखित कार्यक्रम संपन्न हुए हैं—

(अ) छात्र-चर्चा :

दिनांक	अध्यक्ष	विषय
23-8-69	डा. नरेन्द्रकुमार शर्मा	'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
1-11-69	डा. नरेन्द्रकुमार शर्मा	'हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद'
15-11-69	श्री एस. श्रीकण्ठमूर्ति	'रहस्यवाद तथा रीतिकाल'
22-11-69	श्री एन. वेंकटेश्वरन	'हिन्दी साहित्य का स्वर्णयुग भक्तिकाल ही है'

(आ) प्रतिष्ठित विद्वानों के भाषण

दिनांक	भाषणकर्ता	भाषण का विषय
1-9-'69	श्री एस. आर. सारंगपाणि (प्रधान मंत्री, द. भा. हि. प्र. सभा)	'हिन्दी साहित्यालोचन में भारतीय दृष्टि'

கோவிந்தன்) "कूडारै वेल्लुम् शीर गोविन्दन्" हैं, अपने विरोधियों को भी अपना चरण प्रदान करनेवाले हैं। ये कन्याएँ तो उसी के स्मरण में अपना समय बिता रहीं हैं। अत: उन्हें श्रीकृष्ण के साथ मिलकर उत्सव मनाने का सौभाग्य (கூடியிருந்து குளிர-कूडि इरुन्दु कुळिर) प्राप्त होता है। इस संयोग में कितना आनन्द है! अभी तक, व्रत धारण के अवसर पर जिन वस्तुओं से कन्याओं ने निवृत्ति पायी थी उन्हें फिर प्राप्त करके लौकिक सुखानुभव करती हैं, "பல்கலனும் யாமணிவோம், ஆடை உடுப்போம், அதன் பின்னே பாற் சோறு மூட, நெய் பெய்து முழங்கை வழி வாரக் கூடியிருப்போம்"। "हम कई प्रकार के आभूषण पहनेंगी। रंग बिरंगे वस्त्र धारण करेंगी। तदनन्तर दूध में बने अन्न में (சர்க்கரைப் பொங்கல் गुड़भात) घी बहाकर (बहाकर अर्थात यहाँ अधिक मिलाकर) श्री कृष्ण के साथ मिलकर उस अन्न का भोजन करेंगी। कन्याएँ इस संयोगावस्था में अत्यन्त संतुष्ट हैं। वे, "गोविन्द! यही हमारे व्रत की फल-प्राप्ति है" (யாம் பெறும் சம்மானம்) कहकर ईश्वरीय सान्निध्य का अनुभव करती हैं। भक्त और आचार्य इस स्थिति को ब्रह्मानन्द की मानते हैं।

इस संयोग में रहनेवाली कन्याएँ उससे छूटना नहीं चाहती। उनकी प्रार्थना है कि हमारा यह संयोग, यह संग कभी छूटने का नहीं है। न तो तुम छुड़ा सकते हो, न हम छुड़ा सकती हैं। वे कहती हैं—"உன் தன்னோடு உறவேல் நமக் கிங்கொழிக்க ஒழியாது" उन्तन्नोडु उरवेल् नमक्किङ्गोळिक्क ओळियादु)। इसी अवस्था में वे बनी रहना चाहती हैं। अत: कन्या-व्रत का उद्देश्य सातों जन्म तक गोविन्द के साथ मिले रहना, उसीकी सेवा करना और अपनी दूसरी इच्छाओं से निवृत्त पाना ही है।

इस प्रात: स्नान का उल्लेख तमिल साहित्य के 'परिपाडल्' नामक ग्रंथ में है। संघ काल के कवि नल्लन्दुवनार ने मदुरै के पास के वैगै नदी में कन्याओं के इस प्रकार के प्रात: स्नान (नीराडल्) का वर्णन किया है। ये इसको 'अंबावाडल्' कहते हैं, अर्थात् कन्याओं का माताओं के साथ जाकर स्नान करना लगता है। लेकिन यह शब्द 'अंबावै' होना चाहिए। 'अंबावै' शब्द देवी के लिए प्रयुक्त होता है। यह आगे चलकर 'पावै' मूर्ति के लिए प्रयुक्त हुआ होगा, ऐसा विद्वान लोग अनुमान करते हैं।

तमिलनाडु का सौभाग्य है कि हज़ारों सालों से यहाँ के लोगों के जीवन को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न कई रूपों में होता आ रहा है। ऐसी सामूहिक क्रिया ही लौकिक कलेवर में आध्यात्मिक आवरण पहनकर तमिल प्रदेश की कन्याओं को सौभाग्यशालिनी बना रही हैं।

भारतीय साहित्य और संस्कृति

(श्री हेनरिएता रेपिन्स्काया)

[सोवियत सत्ता के दौरान सोवियत संघ में 86 भारतीय लेखकों की 613 पुस्तकें 23,930 हज़ार प्रतियों में प्रकाशित हुई हैं ।]

भारतीय साहित्य और भारतीय संस्कृति के विषय में "इनोस्त्राननाया लितेरातुरा" (विदेशी साहित्य) में व्यापक रूप से विचारों को प्रतिबिम्बित किया जाता है । यह पत्रिका मास्को से प्रकाशित होती है ।

इस साल पत्रिका के पहले अंक में आर. के. नारायण का उपन्यास "दि वेन्डर आफ़ स्वीट्स" प्रकाशित हुआ है । सोवियत संघ में अनुवाद का स्तर साधारणतया बहुत ऊँचा है और इस कृति के अनुवाद का स्तर विशेष ऊँचा रखा गया है । इस कृति का अनुवाद और इसपर टिप्पणी एन. देमरोवा ने लिखी है ।

उन्होंने लिखा है कि नारायण साधारणतया अपनी पुस्तकों के लिए साधाराण से शीर्षकों का चुनाव करते हैं । ऐसा लगता है कि वह स्वयं अपना परीक्षण करते हैं । क्या पाठक ऐसे साधारण और रूखे-सूखे शीर्षकोंवाले उपन्यासों को स्वीकार करेंगे ? क्या वह उन उपन्यासों को जिनमें प्रेम-वर्णन, भावुकता आदि नहीं होती हैं और जो व्यंग्यत्मक हों स्वीकार करेंगे ? और हम जानते हैं कि पाठक इन उपान्यासों का हार्दिक स्वागत करते हैं ।

एन. देमूरोवा का भारतीय उपन्यासकार के विषय में जो मूल्यांकन है वह अतिशयोक्तिपर्ण नहीं है । सोवियत पाठक नारायण के काल्पनिक नगर 'मालगुड़ी' से भली-भान्ति परिचित हैं और उनके भले स्वभाववाले चरित्रों को पसन्द करते हैं, उनकी कठिनाइयों के प्रति उन्हें सहानुभूति है ।

इस पुस्तक ने सोवियत पाठकों को भाव-विभोर किया है । सोवित पाठक इस भारतीय लेखक की तुलना अपने प्रिय सोवियत लेखक से करते हैं जिसे वह पसन्द करते हैं । एन. वेमूरोवा ने अपनी टिप्पणी में "आलोचकों ने 'नारायण' की तुलना अकसर चेखव से की है । यह लेखक एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं लेकिन इन दोनों में जो चीज़ समान है वह यह है कि जिस चीज को यह पसन्द करते हैं उसका मूल्यांकन ठण्डे दिमाग से कर सकने में समर्थ हैं । नारायण छोटे से छोटे विवरण को भी नहीं छोड़ते हैं । उन्होंने मालगुडी के विषय में स्नेह और प्रेम से लिखा है । लेकिन इन भावनाओं से उनकी दृष्टि का पैनापन कम नहीं हुआ है । ये उनके व्यंग से संतुलित हैं ।

कविता का अनुवाद गद्य की तरह सरल नहीं होता है, लेकिन सोवियत अनुवादकों ने इस कठिन काम को भी सफलतापूर्वक किया है। "इनोस्त्राननाया लितेरातुरा" अकसर भारतीय कवियों के कविता संग्रहों को प्रकाशित करता है। हाल के महीनों में पत्रिका ने निम्नांकित शीर्षकों में भारतीय कवियों की रचना छापी है, भारतीय कविताओं में से, और अमृता प्रीतम, शंकर कुरूप, सज्जाद ज़हीर की कविताओं का संकलन।

यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पत्रिका में विदेशी साहित्यकारों की रचनाओं के अनुवादों के अलावा उनकी रचनाओं के विषय में आलोचनाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं। एम. कुरगानत्सेव ने सज्जाद ज़हीर के कविता-संग्रह, जिसका रूसी अनुवाद "द्रवित नीलमणि" के नाम से प्रकाशित हुआ है, की आलोचना में लिखा है: "'द्रवित नीलमणि' में भारत की अनुभूति, उसके प्रभात और रात्रियाँ, उसके दुख और उपलब्धियाँ, उसकी नैतिक जिज्ञासा और उनके सुख और रोज़ी-रोटी के संघर्ष और आधुनिक भारत के जनगण का इतिहास भरा पड़ा है। इस सबके बाद भी यह संकीर्ण भारतीय विषयवस्तु से मुक्त है, क्योंकि इस में समस्त संघर्षरत मानवता को सम्बोधित किया गया है। यह वास्तव में सच्ची और वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत है।"

इसी विचार को कवि अलिम केशोकोव ने टैगोर, शंकर कुरुप, मोहम्मद इकबाल, अली सरदार जाफ़री और विष्णु डे के कविता-संकलन "हम एक ही ग्रह के निवासी हैं" की आलोचना में भी प्रतिबिम्बित किया है। अलिम केशोकोव ने लिखा है: "यह पुस्तक नागरिक भावना से ओतप्रोत है और इसमें जनगण की नियति के लिये उत्तरदायित्व की भावना भरी पड़ी है। कविताओं में उत्पीड़ित जनगण की अधिकार प्राप्त करने और जीवित रहने की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त किया गया है।"

"इनोस्त्राननाया लितेरातुरा" अक्सर भारत के सांस्कृतिक जीवन और उसके सांस्कृतिक जीवन की समस्याओं के विषय में लेख प्रकाशित करती है। उदाहरणार्थ पत्रिका ने मरियम सालगानिक का लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने भारत की भाषा-समस्या और इससे वहाँ के लेखकों के सामने आयी हुई कठिनाइयों का वर्णन किया है।

पत्रिका में भारतीय फिल्मों के विषय में भी दिलचस्प आलोचना प्रकाशित होती है। हाल के एक लेख में यह आलोचना उन फिल्मों के विषय में थी जो अभी हाल ही में ताशकन्त में हुए अफ़्रीकी-एशिया फ़िल्म समारोह में प्रदर्शित की

गयी थीं। आलोचक ने लिखा है कि भारत की प्रगतिशील फ़िल्म निर्माण-कला को विश्व की जनता की मान्यता प्राप्त है। भारतीय फ़िल्म निदेशक सत्यजित रे, बिमल राय, के. अहमद अब्बास और अन्य लोगों की फ़िल्मों में भारत में होनेवाले सामाजिक परिवर्तन की गहन व्याख्या निहित होती है और यह व्याख्या कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त की जाती है।

पत्रिका के स्तम्भ "वर्तमान घटनाएँ" में भी भारतीय सांस्कृतिक जीवन की घटनाओं का उल्लेख रहता है। इस स्तम्भ में भारत में ग़ालिब जयन्ती, जवाहरलाल नेहरू पुरस्कार विजेता, चुइकोव की कला-प्रदर्शनी की सफलता, सोवियत लेखकों की पुस्तकों के भारतीय भाषाओं में अनुवाद इन विषय पर समाचार प्रकाशित हुए हैं।

इन सारे विषयों में पत्रिका के पाठक बहुत दिलचस्पी लेते हैं। पत्रिका के पाठकों को मालूम है कि शोलोखोव की "धीरे बहो दोन" हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी है। उन्हें यह भी मालूम है कि किरघीजियाई लेखक एतमातोव की कहानी "जमालिया" पंजाबी में छप चुकी है। इन सब बातों से यह प्रदर्शित होता है कि दो महान देशों के लेखकों और जनता के बीच मित्रता दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती जा रही है। "इनोस्त्रान्नाया लितेरातुरा" पत्रिका एक पवित्र लक्ष्य, जिसके विषय में भारतीय कवि शंकर कुरुप ने जो कहा था—"साहित्य और कला का सामान्य दायित्व है कि वह जनगणों, राष्ट्रों और महाद्वीपों के बीच मित्रता पैदा करें और उसे सुदृढ़ बनायेंगे, उसको पूरा कर रही है।

समाचार के ब्लाक बिक्री के लिए

'हिन्दी प्रचार समाचार' में 'सभा समारोह' स्तंभ के अंतर्गत हिन्दी प्रचारकों द्वारा भेजे गये चित्र छपते हैं। उक्त चित्रों के ब्लाक प्रचारक-बंधु अपने उपयोग के लिए लेना चाहें, तो उपलब्ध हो सकते हैं। हर एक ब्लाक बनाने का जो मूल्य हमें लगे, उसके आधे मूल्य की रिआयत में बेचे जाएँगे। जो प्रचारक बंधु इस तरह से ब्लाक लेना चाहें, वे 'समाचार' के अंक, पृष्ठ-संख्या, केन्द्र का नाम आदि का पूरा विवरण देकर हमसे पत्र-व्यवहार करने की कृपा करें। —संपादक

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. बालधीबिशाल......नगर प्रजारी है।

प्रसंग—यह पद्य प्राचीन पद्य प्रसून में संग्रहीत तुलसीदासजी की कवितावली के सुन्दरकाण्ड से लिया गया है। कवितावली में 'सुन्दरकाण्ड' भाव और कला की दृष्टि से सर्वोत्तम बन पड़ा है। इसमें भयानक रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। हनुमान द्वारा लंकादहन का सजीव चित्रण, शब्द-मर्मज्ञ तुलसी की वाणी से मर्मस्पर्शी बन गया है। कला की दृष्टि से प्रथम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा तथा अंतिम छे पंक्तियों में संदेह अलंकार है। यह अलंकार-रचना नैसर्गिक है। जब पवन-पुत्र हनुमान की पूँछ में आग लगा दी जाती है और हनुमान उस प्रज्वलित पूँछ को जिसमें से आग की लपटें उठ रही हैं लंका के चारों ओर घुमा देते हैं। कवि उनकी जलती हुई पूँछ का वर्णन यों करते हैं:—

व्याख्या—हनुमान की पूँछ में आग की जलती लपटें विकराल रूप से उठ रही हैं। यह प्रज्वलित पूँछ ऐसी प्रतीत होती है मानों काल अपनी लाल और भयानक जीभ फैलाकर लंका को निगल जाना चाहता है। धरती और आकाश के बीच का भाग काल का फैला हुआ मुँह है और उनके बीच में जलती हुई लंबी पूँछ जीभ है। कवि को संदेह होता है वह जीभ नहीं है। क्योंकि जीभ एक सी होती है। लेकिन पूँछ से उठती हुई लपटें कहीं ऊँची हैं तो कहीं नीची। ऐसा मालूम पड़ता है कि आकाश पुच्छलतारों से भर गया है। क्योंकि पुच्छल तारा अपने स्थान पर कुछ चौडा और बड़ा होता है। लेकिन लपटें नीचे की ओर चौड़ी और ऊपर की ओर पतली हैं। पुच्छल तारे की ये लपटें पूँछ हैं। लपटों के बीच का रिक्त स्थान व्योम वीथिका (आकाश की गली) जैसा दिखाई दे रहा है। लेकिन फिर कवि कहता है—नहीं यह पुच्छल तारे भी नहीं हो सकते। क्योंकि पुच्छल तारा ऊपर मोटा और नीचे पतला होता है। इसकी लपटें तो नीचे से मोटी होकर ऊपर पतली दिखाई दे रही हैं। यह वीर-रस योद्धा की खुली हुई तलवार है। क्योंकि वीर की खुली हुई तलवार रक्त रंजित होती है। पूँछ की आग की लालिमा रक्त है। कवि को इसमें भी सन्देह होता है कि तलवार की धार में बीच-बीच में कटाव नहीं होता है। लेकिन पूँछ से निकलती हुई लपटों के बीच में रिक्त स्थान है जो कटाव जैसा प्रतीत होता है। इसलिए यह तलवार भी नहीं है।

यह इन्द्रधनुष है, क्योंकि इन्द्रधनुष में कई रंग होते हैं। मुड़ी हुई पूंछ में, जलती हुई आग में, कई रंग दिखलाई दे रहे हैं। लेकिन यह इन्द्रधनुष भी नहीं है, क्योंकि इन्द्रधनुष को देखकर आनन्द होता है, यह तो भयानक है। यब विद्युत का कलाप है जो जमीन और आकाश के बीच दिखलाई दे रहा है, लेकिन यह विद्युत का कलाप भी नहीं हो सकता, क्योंकि बिजली कभी चमकती है कभी छिप जाती है। इसकी ज्वाला का प्रकाश निरंतर होता है। यह सुमेरु पहाड़ से निकलती हुई भयानक आग की नदी है। रावण का भवन सुमेरु पहाड़ है, उस भवन में बैठे हुए हनुमान की लटकती हुई पूंछ जिसमें आग जल रही है, भयानक नदी है जिसमें मरे पड़े हुए राक्षस आदि उस नदी के जीव हैं। इस भयानक दृश्य को देखकर राक्षस और राक्षसियाँ घबड़ा गयी पहले तो उसने रावण का बगीचा ही उजाड़ा था, लेकिन अब नगर को ही जला दिया है। तुलसीदास को अंतिम उपमा ही उपयुक्त जंची। क्योंकि जब नदी में बाढ़ आती है वह नगरों को उजाड़ देती है। इसी प्रकार लंका के चारों ओर आग ने फैलकर सारी लंका को जला दिया है।

2. दीया बुझाकर भागनेवाला......ठोकर खाकर गिर भी सकता है।

प्रसंग—यह गद्यांश चिन्तामणि के "लज्जा और ग्लानि" पाठ से लिया गया है। स्वर्गीय रामचन्द्र शुक्ल के निबंध चिन्तामणि में संग्रहीत हैं। चिंतामणि के प्रथम भाग में इनके भावात्मक निबन्ध हैं। इन निबन्धों के द्वारा लेखक पाठक के मर्म को स्पर्श करते हैं। भावों का उद्गम स्थल मानव का अंतस है। शुक्लजी अंतस की गहराइयों तक पहुँचकर प्रत्येक भावों का सुन्दर विश्लेषण करते हैं।

लज्जा और ग्लानि मानस के दो अलग-अलग भाव हैं। हम बुरे न समझे जाएँ, यह स्थायीभाव जिसमें जितनी अधिक होगी वह व्यक्ति उतना ही लज्जाशील होगा। अच्छे मनुष्यों को अपने बुरे कामों पर, तथा बुरे कामों के कडुए फल पर (अपमान पर) अपनी तुच्छता का अनुभव होता है, वही ग्लानि है।

हम दूसरों को अच्छे नहीं लगते, यह समझकर लोग लज्जित होते हैं। अपनी यह हीनता अज्ञान का कारण है। अज्ञान अपना हो या पराया, किसीकी भी हमेशा रक्षा नहीं कर सकता। अज्ञान का रूप ही अंधकार है। अज्ञानी मनुष्य अपने अज्ञान के कारण यह नहीं सोच पाता कि कर्मों से ही मुझे कष्ट सहना होगा। स्वभावतः यही होता है—मनुष्य अज्ञान के कारण कुछ का कुछ कर बैठता है, अंत में परिणाम-फल दुख ही मिलता है—लेखक की इन पंक्तियों में यही भाव रिलक्षित होता है।

भावार्थ—एक अज्ञानी मनुष्य अपने को छिपाने के लिए दीपक को बुझा देता है, लेकिन वह यह नहीं सोचता कि अंधकार में ठोकर खाकर मैं गिर भी सकता हूँ। (अफ्रीका का शुतुर्मुर्ग भी ऐसा ही अज्ञानी होता है। जो अपने सिर को रेत में छिपा कर यह समझता है कि मैंने अपने पूरे शरीर को छिपा लिया है। परिणाम यह होता है, शिकारी उसे पकड़ लेता है) इसलिए मनुष्य अज्ञान के कारण ही स्वयं पीड़ाओं का आह्वान करता है। —श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास।

'राष्ट्रभाषा विशारद'—उत्तरार्द्ध परीक्षा

1. या लकुटी अरु कामरिया पर,
राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवोनिधि को सुख,
नन्द की गाय चराइ बिसारौं। (पद्य रत्नाकर—पृष्ठ 152)

रसखान मुसलमान होने पर भी भगवान श्री कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। उनकी प्रसिद्ध कृति 'प्रेम वाटिका' सचमुच प्रेम की मधुर वाटिका है। उनके प्रेम के सुन्दर उद्गार ने जनता को रसोन्मत्त किया था।

रसखान व्रजभूमि के वन, बाग, तटाग आदि में भी भगवान के दिव्य दर्शन करते थे। बालक कृष्ण दूसरे गोप बालकों के साथ गायों को चराने जाया करते थे। गायों को हाँकने के लिए एक लाठी और जमीन में बिछाकर बैठने के लिए कंबल अपने पास रखते थे। इस लाठी और कंबल पर तीनों लोकों का राजाधिकार छोड़ देने के लिए वे तैयार थे। बालक कृष्ण दूसरे गोप बालकों के साथ नन्द की गायें चराते हुए अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठों सिद्धियों को और नौ निधियों के सुख को भी भुला देने के लिए वे तैयार हैं।

एक सच्चे भक्त का हृदयोद्गार यहाँ व्यक्त हुआ है। संसार के सुख और ऐश्वर्य को छोड़ भगवान के सामीप्य सुख के लिए लालायित होनेवाले रसखान "इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दुन वारिये" को उक्ति सार्थक करते हैं। भाषा चलती, सरस एवं शब्दाडंबरमुक्त है।

2. "कौन तुम? संसृति-जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक?" (पद्य रत्नाकर—पृष्ठ 28)

'कामायनी' अपने ढंग का एक अद्‌वितीय प्रबन्ध काव्य है। यह महाकाव्य जयशंकरप्रसादजी की उर्वर कल्पना की उपज है जल-प्रलय से बच निकलनेवाला एक मात्र जीवधारी मनु था। वह हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर खिन्न एवं उदास होकर बैठा था। एकाएक श्रद्‌धा उस पथ में आ जाती है। वह मनु के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है। मनु का परिचय प्राप्त कर लेने के लिए वह भाव-मग्न मनु से प्रस्तुत प्रसंग में प्रश्न करती है।

संसार-सागर के तट पर, समुद्र की तरंगों से फेंकी हुई अमूल्य एक मणि के समान तुम कौन हो? अपनी दिव्य ज्योति से चुपचाप इस निर्जन स्थान का अभिषेक करनेवाले तुम कौन हो?

'यह 'श्रद्‌धा' सर्ग का प्रथम छन्द है। अत्यन्त नाटकीय ढंग से इस सर्ग का प्रारंभ होता है। 'श्रद्‌धा' का आगमन और मनु से उसका कथन पाठकों की जिज्ञासा की वृदि्ध करने में समर्थ हैं। इस पद्‌य में जितने शब्द प्रयुक्त हैं सब भाव व्यंजना में सहायक हैं। 'संसृति जलनिधि' यहाँ अपने अभिधेयार्थ में भी सही उतरता है क्योंकि समस्त संसार जलमग्न हो गया था। मनु की दिव्य कान्ति ने उस सुकुमारी को अवश्य आकृष्ट किया था। 'कर रहे निर्जन का चुपचाप प्रभा की धारा से अभिषेक' में इस बात की व्यंजना है कि मनु अब दुखी एवं उदास नहीं है। लेकिन उसने अदम्य आत्मविश्वास के साथ आलोक बिखेरना भी आरंभ कर दिया है। मनु की प्रभा की धारा में अभिषिक्त होने की श्रद्‌धा की अभिलाषा भी यहाँ व्यंजित होती है।

3. "अविश्वास, हा! अविश्वास ही,
नारी के प्रति नर का;
नर के तो सौ दोष क्षमा है,
स्वामी है वह घर का!
उपजा किन्तु अविश्वासी नर,
हाय! तुझी से नारा!" (द्‌वापर—पृष्ठ 41)

मैथिलीशरण गुप्तजी द्‌विवेदी युग के पुनरुत्थान काल के कवि थे। प्राचीन के प्रति पूज्यभाव और नवीन के प्रति उत्साह उनकी काव्यगत विशेषता है। उन्होंने उपेक्षित मूक नारियों को वाणी देने का सराहनीय कार्य किया है। 'द्‌वापर' की विधृता अपने वैदिक पति के अन्याय और अविचार से खिन्न थी। विधृता भगवान कृष्ण के रास में सम्मिलित होना चाहती थी; किन्तु, उसके वैदिक पति ने उसे घर से

बाहर जाने से रोक दिया। स्वाभिमानिनी एवं पति परायणा विधृता इस अपमान को सह न सकी। उसने बड़े दुख के साथ अपने प्राण छोड़े। अपने पति से दो बातें करने को क्षण भर उसकी आत्मा खड़ी रही। प्रस्तुत प्रसंग अपने पति से विधृता की आत्मा का मार्मिक कथन है।

नारी के प्रति नर अविश्वास ही करता है। घर का स्वामी होने के नाते उसके सौ दोष क्षम्य हैं। किन्तु अविश्वासी नर का प्रादुर्भाव नारी से ही हुआ। पति परायणा विधृता के आहत हृदय का चीत्कार है यह प्रसंग। पति से शंका की गयी पत्नियों का आक्रोश यहाँ गरजता है। "अविश्वास, हा! अविश्वास ही" में नारी की विवशता एवं वेदना मुखरित है। "स्वामी है वह घर का!" में उपालंभ एवं व्यंग्य की व्यंजना है। युग-युग से पुरुषों के अत्याचार और अनादर से खिन्न नारी की वाणी हम यहाँ सुनते हैं।

4. **जिस युग में हम हुए, वही तो अपने लिए बड़ा है;**
   अहा! हमारे आगे कितना कर्मक्षेत्र पड़ा है। (द्वापर—पृष्ठ 52)

राष्ट्रकवि गुप्तजी की कृतियों में नवयुग का कंठ ही बोलता है। गुप्तजी युग की चेतना को वाणी देने का स्तुत्य यत्न निरन्तर करते थे। 'द्वापर' का बलराम एक स्वतंत्र तथा कार्य परायण महापुरुष है। श्रम और कर्तव्य की महत्ता पर बलराम अपने विचार प्रस्तुत प्रसंग में व्यक्त करता है।

अपने युग को हीन समझना अवश्य आत्महीनता होगी। युग की दुर्बलता और दीनता से सजग रहना ही मानव का कर्तव्य है। जिस युग में हम पैदा हुए वही तो अपने लिए श्रेष्ठ है। हमारे आगे विस्तृत कार्यक्षेत्र पड़ा है। युग पर दोषारोपण कर्मक्षेत्र से पीछे हटना कायरों का कार्य है। यह संसार एक कर्मभूमि है। कर्म वीर बनकर अपने युग को श्रेष्ठ बनाना हर एक व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य है। धर्म संस्थापन करने के लिए कर्म करने की अनिवार्यता पर यहाँ हलकर बलराम ज़ोर देता है।

5. **कृपया वचन न मन में रखना तुम अन्यान्य हमारे,**
   प्रिय के बंधु, अतिथि हो उद्धव, तुम सम्मान्य हमारे।
   विवशों का मन, वाणी को भी व्याकुल कर देता है;
   आर्तों का आक्रोश ईश भी सुनकर सह लेता है। (द्वापर—पृष्ठ 182)

द्वापर गुप्तजी का एकमात्र कृष्ण काव्य है। विरह विधुरा गोपियों को ज्ञान मार्ग का उपदेश देने उद्व व्रज में आ पहुँचे। कृष्ण के प्रेम में मग्न ग्वालिनियों ने उद्धव का निर्गुण सन्देश ध्यान से सुना। फिर उन्होंने उद्धव के ज्ञान मार्ग की

खिल्ली उड़ाई। उद्धव गोपियों की व्यंग्य भरी बातें सुनकर किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया। प्रस्तुत प्रसंग में गोपियों ने सम्मान्य अतिथि से अपने अन्यान्य वचन को मन में न रखने की प्रार्थना की है।

तुम प्रिय के बन्धु हो। इसके अतिरिक्त तुम हमारे आदरणीय अतिथि हो। इसलिए हमने जो बातें बतायी हैं उन्हें तुम भूल जाओ। हम प्रणयविह्वला नारियाँ हैं। इसलिए हमारा मन वाणी को भी व्याकुल कर देता है। ईश्वर भी दीन-दुखी लोगों का आक्रोश सह लेता है।

ये गोपियों के व्यथित मृदु हृदय के उद्गार हैं। इसमें कितनी मधुर व्यंजना है! हम तो प्रेम विह्वला एवं कोमल हृदया हैं। तुमने अपने नीरस उपदेशों से हमारे हृदय को घायल एवं व्याकुल कर दिये। अतः हम अपने मन को काबू में न रख सकीं। हमने तुम्हें आड़े हाथों लिया। फिर भी आर्तों का आक्रोश होने के नाते हमारा अपराध क्षम्य है। क्योंकि भगवान भी आर्तों की कटूक्तियाँ सह लेता है। तुम तो बड़े ज्ञानी हो। गोपियों की वाणी उद्धव के ज्ञान गर्व को मिटाने में समर्थ है। गोपियों के वाक् चातुर्य का उत्कृष्ट नमूना है प्रस्तुत प्रसंग।

—श्री पी. कृष्णन, एम.ए., कण्णनूर।

'राष्ट्रभाषा विशारद'—पूर्वार्द्ध परीक्षा

1. "प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है।"

यह वाक्य श्री जगदीशचन्द्र माथुर कृत 'भोर का तारा' नामक एकांकी से लिया गया है। कवि शेखर जब अपनी पत्नी छाया से राजाश्रय सम्बन्धी अपनी कल्पित घटना कवित्वमय शैली में सुनाता है तब छाया अपने पति से यह वाक्य कहती है। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक अवश्य हैं; पर दोनों की प्रवृत्तियाँ और चेष्टाएँ बिलकुल मेल नहीं खाती हैं। स्त्री यदि प्रेरणा है, तो पुरुष कर्तव्य और कर्म है। स्त्री को रमणी भी कहते हैं और कविता रमणीय है ही या रमणीय होने के लिए है। इसीलिए इन दोनों—कविता और वनिता में प्रायः साम्य बिठाया जाता है। दोनों हृदय को झकझोरती हैं; दोनों भाव विभोर कराती हैं और दोनों से प्रेरणा मिलती है कर्म करने को—कर्म-संकुल जगत से, थकावट से चूर आये हुए पुरुष को स्त्री से ही आश्वासन और शान्ति उसी तरह मिलती है जिस तरह कविता से। रमणीय रमणी के आश्रय में कुछ समय सुस्ताने के उपरान्त वह नई चेतना और नई प्रेरणा प्राप्तकर पुनः कर्म-निरत हो जाता है। यह तांता तब तक बना रहता है जब तक स्त्री में कविता की-सी रमणीयता वर्तमान रहती है और

पुरुष में आस्वादन की उर्वर शक्ति विद्यमान रहती है। किन्तु अति परिचय से अवज्ञा भी उत्पन्न हो सकती है। इसलिए एक ही स्वाद या एक ही वस्तु से निरंतर चिपके रहने से राग के स्थान पर विराग का पैदा होना असहज नहीं कहा जा सकता। 'मीठो पर लोन अरु लोन पर मीठो' (रहीम) तो है। ऐसी-स्थिति में पुरुष अपने उचटे मन को लिए, पिंजड़े से छूटे हुए पक्षी-की भाँति खुली प्रकृति में दौड़-धूप करता है और नये अनुभव बटोर-बटोर कर हाँफ़ता हुआ उसी रमणीय-रमणी के क्रोड़ में वापस आ गिरता है जो क्रोड़ कविता सम मधुर, उत्तेजक और मलय-मारुत की भाँति उत्साहवर्द्धक है जिससे आत्मविभोर होकर वह अपने भाव-कुसुमों से उस ममतामय क्रोड को भर देता है। इस भाँति स्त्री अथवा कविता को सजा-सजाकर पुरुष अपने को उऋण बनाने का व्यर्थ प्रयास करता रहता है।

2. "बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात।"

यह वाक्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'साहित्य का स्वरूप' नामक लेख से दिया गया है। आचार्य शुक्ल प्रकांड पंडित ही नहीं बल्कि आकर्षक शैलीकार भी हैं। नपे-तुले शब्दों में स्पष्ट भावाभिव्यक्ति उनकी शैली की विशिष्टता है। किस प्रकार की रचनाएँ साहित्य के अन्तर्गत आती हैं, यह स्पष्ट करने के बाद शुक्लजी साहित्यिक अभिव्यक्ति की विशिष्टता पर प्रकाश डालते हैं। साहित्य का माध्यम भी शब्द ही है। शब्द मूर्त या अमूर्त वस्तु का प्रतीक मात्र है अर्थात् शब्द वस्तु नहीं है बल्कि वह वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है। अतएव शब्द प्रयोग या कथन के द्वारा अर्थ का बोध होता है अर्थात् वस्तु का बोध होता है। किन्तु किसी रचना के द्वारा यदि किसी बात की जानकारी मात्र होता है, तो वह न साहित्य के अन्तर्गत मानी जाती है न वह साहित्य की प्रतिष्ठा पाती है। साहित्य कहलाने के लिए भाव जगाने की क्षमता अपेक्षित है। अतएव किसी बात की जानकारी कराना और तत्सम्बन्धी भाव जगाना ये दोनों स्पष्टतः दो भिन्न बातें हैं। साहित्य जगत में व्यंजना दो प्रकार की मानी गयी है—वस्तु व्यंजना और भाव-व्यंजना। वस्तु-व्यंजना किसी वस्तु या तथ्य की व्यंजना करती है और भाव-व्यंजना किसी भाव की व्यंजना करती है। इन दोनों प्रकार की व्यंजना में, एक प्रकार के साहित्य समाज में, अंतर इतना ही माना जाता है कि एक में वाच्यार्थ के व्यंग्यार्थ में बदल जाने का क्रमागत बोध श्रोता या पाठक को नहीं होता। (वाच्यार्थ वह है जो शब्द के मूल अथवा कोशगत अर्थ से अभिप्रेत है और व्यंग्यार्थ वह अर्थ है जो कोश में नहीं मिलता; पर एक दूरस्थ, निराला अर्थ निकलता है जो प्रकरण या संदर्भ से अछूता नहीं बल्कि उससे बिलकुल सम्बद्ध ही पाया जाता है। जैसे गरमी से

हैरान होकर यह कहना—'पत्ता तक नहीं हिलता' (अर्थात् हवा बिलकुल नहीं है)। किन्तु अन्तर यहीं समाप्त नहीं होता। अर्थ की जानकारी या भाव की जानकारी पाना और भावानुभूति पाना एक नहीं। इस बात की जानकारी मात्र करना कि 'अमुक क्रोध कर रहा है' या 'अमुक प्रेम कर रहा है' स्वयं क्रोध या प्रेम का अनुभव करना नहीं है। वास्तव में भावानुभूति करानेवाली रचना ही साहित्य कहलाती है। अतएवभाव-व्यंजना अथवा रस-व्यंजना वस्तु-व्यंजना से बिलकुल भिन्न है।

3. "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, दृढ़ीकरण या विकास अथवा उससे उत्पन्न अवस्था है।"

पंडित जवाहरलाल नेहरू विश्वविख्यात राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् अमर साहित्यकार भी हैं। प्रस्तुत अंश उनके 'हम और हमारी संस्कृति' नामक लेख से उद्धृत है। संस्कृति मानव की ही संपदा है जिसकी बदौलत वह विकास की सीढ़ी पर धड़ाधड़ चढ़ता जाता है। मानव अन्य प्राणियों की भाँति ही जन्म के समय बिलकुल कोरा है। हाँ, जन्मजात नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ भी उसे प्राप्त हैं। ये तो इतर प्राणियों को भी प्रकृति-प्रदत्त हैं। किन्तु मानव और अन्य प्राणियों में स्पष्ट अंतर यह है कि वह अपनी जन्मजात शक्तियों को नियंत्रित कर गतिशील करता है और इतर प्राणी तो विवेक के अभाव में जन्मजात शक्तियों के आधीन रहते हैं और हमेशा एक ही प्रकार की स्थिति में पड़े रहते हैं। यहीं पर मानव की ज्ञान यात्रा शुरू होती है। वह अपनी आयु की बढ़ती के अनुसार विभिन्न प्रकार का ज्ञानार्जन ही नहीं करता है बल्कि उससे फ़ायदा भी उठाता है। ज्ञानार्जन करने और उससे फ़ायदा उठाने के लिए उसे अपनी प्रवृत्तियों का निरोध करना पड़ता है और इस तरह वह उनका उन्नयन करता है। एक प्रकार से हर एक नये अनुभव के परिवेश में वह अपने को उसके अनुरूप बनाता है अर्थात् उसका शरीर और मन दोनों उसके नियंत्रण में रहते हैं। तभी वह उससे कुछ सीखता है और अपने को शिक्षित और प्रशिक्षित करता है—अनजाने में ही सही। यह क्षमता मानवेतर प्राणियों में बिलकुल नहीं है। इसीलिए वे अपनी स्थिति में कोई परिवर्तन या विकास नहीं कर सके। किन्तु मानव अपने को नियंत्रित कर सकता है; अपने को संस्कृत कर सकता है और अपनी स्थिति में वांछित परिवर्तन प्रस्तुत कर प्रगतिशील बना रहता है और विकास के पथ पर अग्रसर रहता है। मानव जितनी मात्रा में अपनी शक्तियों को नियन्त्रित करता है—प्रशिक्षित करता है उतनी ही मात्रा में उसकी संस्कृति गहन बनती है और उर्वरा बनती है जिसकी छाया में पला हुआ मानव अत्यन्त मनोहर लगता है। इस प्रकार मानव की प्रगति उसकी संस्कृति पर निर्भर करता है। —श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री।

सगुणवादी तुलसी

[अप्रैल 1970 के समाचार में प्रकाशित श्री 'चन्द' मदरासी के लेख 'निर्गुणवादी तुलसी' के उपलक्ष्य में प्राप्त दो लेख नीचे दिये जाते हैं : —संपादक]

1

श्री पुलिकोंड वेंकटरत्नम, कावली

संसार के सभी दार्शनिक सिद्धान्त यही प्रकट करते हैं कि भगवान एक ही है। मात्र निर्गुण परमात्मा को मान्यता देनेवाले दार्शनिकों का मत है कि भगवान किसी भी हालत में सगुण तथा साकार नहीं बनता, जब कि सगुणवादी कहते हैं कि वही निर्गुण परमात्मा साधु-भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर, उनकी रक्षा करने अवतार लेता है। इसके समर्थन में हम गीता का यह प्रसिद्ध श्लोक ले सकते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

तुलसी भी अपने 'रामचरितमानस' में घोषणा करते हैं—

अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा, गावहिं मुनि-पुराण-बुध-बेदा ।
अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि तुलसी को हम निर्गुणवादी कहें या सगुणवादी। श्री चन्दजी अपने लेख में तुलसी के निर्गुणवादी होने के समर्थन में श्री रामचरितमानस के बालकाण्ड का प्रसिद्ध प्रार्थना-श्लोक—"यन्मायावशवर्ति ....रामाख्यमीशम् हरिम्" उद्धृत करते हैं। पर हमें यहाँ ध्यान देना चाहिए कि सगुण रूप धारण किये निर्गुण भगवान (राम) की ही तुलसी प्रार्थना करते हैं। इसी श्लोक की भाव-छाया से संपन्न संस्कृत श्लोक—"यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुत:" के अन्त में—"यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा **देवाय तस्मै नमः ।**" कहा गया, जो कुछ हद तक निर्गुण की सूचना देता है। पर तुलसी का मार्ग इससे सर्वथा भिन्न है। वे स्पष्ट रूप से दशरथात्मज सगुण-साकार राम का ही नाम लेते हैं। वे निर्गुणवादी होते तो यह नहीं लिखते—"**रामाख्यमीशम्** हरिम् ।"

अगर श्री चन्द के विचार हमें स्वीकार करने पड़े, तो सभी सगुणवादी निर्गुणवादी ही बन जाएँगे। मुसलमान कवि रसखान को हम सगुणवादी कृष्णभक्त ही मानते हैं। पर वे भी अपने एक प्रसिद्ध सवैये में तुलसी के "यन्मायावशवर्ति" के अनुसार ही कहते हैं—

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुबेद बतावैं ।
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ, पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छिछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ।।

यहाँ निर्गुण भगवान ही रसखान के सगुण भगवान (कृष्ण) बने नज़र आते हैं और इसीलिए रसखान अपने अनेकों सवैयों में सगुण कृष्ण की रसमयी लीलाओं का रसात्मक वर्णन करते हैं ।

श्री चन्दजी ने बालकाण्ड के एक प्रार्थना-श्लोक को ही अपने सिद्धान्त के समर्थन में लिया है । पर अन्य काण्डों के प्रारंभिक प्रार्थना-श्लोकों पर उनका ध्यान नहीं गया, जो स्पष्ट रूप से सगुण तथा साकार राम के ध्यान पर ही प्रकाश डालते हैं । जैसे—

(1) नीलाम्बुजश्यामल कोमलाङ्गम्
सीता समारोपित वामभागम् ।
पाणौ महासायक चारु चापं
नमामि रामम् रघुवंशनाथम् ।। (अयोध्याकाण्ड)

(2) सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं
रामाभिरामं भजे ।। (अरण्यकाण्ड)

(3) सीतान्वेषणतत्परौ पथिगतौ
भक्तिप्रदौ तौ हि नः ।। (किष्किन्धाकाण्ड)

(4) शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिज नयनं
सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं
बन्धुना सेव्यमानम्
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं
पुष्पकारूढ रामम् ।। (उत्तरकाण्ड)

उपरिलिखित इन उदाहरणों के अतिरिक्त तुलसी के जीवन के संबंध में यह प्रसंग भी प्रसिद्ध है । एक बार वे बृन्दावन गये, जहाँ कृष्ण के मंदिर स्थान-स्थान पर विराजित थे । सब भक्तों के साथ तुलसी भी एक कृष्ण-मंदिर में चले । पर जब कृष्ण-मूर्ति को उन्होंने हाथ नहीं जोड़े, तो उपस्थित भक्तों को आश्चर्य हुआ कि तुलसी राम और कृष्ण में ऐसा भेद क्यों करते हैं । झट तुलसी के मुँह से यह दोहा निकला—

बलिहारी या रूप की, भले बने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष-बाण लेहु हाथ ।।

कहा जाता है कि पलक झपते ही उस मन्दिर में कृष्ण की मनोहर मूर्ति की जगह धनुर्धर राम उपस्थित हो गये तो तुलसी ने अपना मस्तक नवाया ।

इस संबध में मेरा विनम्र विचार है कि कोई सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय हमें विभिन्न अंशों में निहित प्रमुखता प्राप्त तत्व को ही लेना उचित है। तुलसी को निर्गुणवादी या सगुणवादी कहते समय हमें विचार करना चाहिए कि तुलसी के ध्यान-नेत्रों के सम्मुख निर्गुण-निराकार परमात्मा की ज्योति दर्शित होती है या सगुण-साकार दशरथात्मज राम का रूप। उनके जीवन के संबंध में यह भी बताया जाता है कि चित्रकूट में रहते समय उन्हें राम के दर्शन हुए—घोड़े पर चलनेवाले राजकुमार के रूप में ही ।

निर्गुणवादी कबीर कहते हैं—"सुन्न महल में दियरा बरिलै आसन सों मत डोल रे।" पर तुलसी कभी मन में ज्ञान की ज्योति जलाने पर ज़ोर नहीं देते। वे भक्ति को मणि-दीप कहते हैं, जो सांसारिक विषयवासनाओं की हवा से नहीं बुझता और जिससे आन्तरिक शान्ति तथा बाह्य सफलता दोनों प्राप्त होती हैं ।

श्री चन्दजी ने विनयपत्रिका का 58 वाँ पद और श्री रामचरितमानस के लंकाकाण्ड की राम-विजयरथ से संबंधित चौपाइयाँ उद्धृत की हैं। पर मेरा विचार है कि ऐसे सांगरूपकों से तुलसी के निर्गुण तत्व की प्रमुखता प्रकट नहीं होती। ये सब भक्त के प्राप्त करने योग्य उत्तम गुणों पर ही प्रकाश डालते हैं। सूर भी एक पद में पापी मन के दुर्गुणों का सांगरूपक बांधते हैं। जैसे—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।

सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नन्दलाल ।।

तो क्या सूर भी निर्गुणवादी बन जाएँगे?

श्री चन्द ने अपने लेख में अनेक गूढ़ विषयों पर खोज पूर्ण प्रकाश डाला है, जो एक सीमा तक सबको मान्य हो सकते हैं। पर सिद्धांत की बात उठने पर उपलक्ष्य के पीछे न पड़कर प्रधान लक्ष्य की ही खोज करना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। श्री चन्दजी लिखते हैं—"जिसको तुलसी की भक्ति कहा जाता है, वह निर्गुण को जानने का साधन है। भक्ति साध्य नहीं, साधन है।.........तुलसी

साधारण से साधारण लोगों को मोक्ष साधना का उपाय बतलाते हैं।.........एक निर्गुणोपासक सन्त ही मोक्षोपाय बतलाने की क्षमता रखता है।" आदि।

इस पर मेरा नम्र विचार है कि श्री चन्द की धारणा बिलकुल गलत है। तुलसी के लिए भक्ति कोई साधन नहीं, बल्कि सब कुछ हैं। वे भक्ति के लिए ही भक्ति करते हैं। अयोध्याकांड में भरत के मुँह से तुलसी की सारभूत प्रार्थना इस प्रकार प्रकट होती है—

अरथ न धरम न कामरति, गति न चहौं निरबान।
जनम जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥

इसमें तुलसी "**गति न चहौं निरबान**" कहकर मोक्ष की भी अवहेलना करते हैं और राम-पदों के प्रति रति (प्रेम या भक्ति) प्राप्त करने के लिए अनेक जन्म धारण करने वे तैयार हैं। विनयपत्रिका के प्रारंभिक पदों में भी हर देवता की प्रार्थना कर वे अपनी यही इच्छा हर बार प्रकट करते हैं—"राम भगति बर दीजै।...देहु कामरिपु रामचरण रति" आदि। तब श्री चन्दजी के विचार— तुलसी की भक्ति साध्य नहीं, साधन है।...तुलसी मोक्ष-साधना का उपाय बतलाते हैं—कैसे ठीक बैठ सकते हैं?

अन्त में हम यही कह सकते हैं कि परमात्मा एक ही है, जो निर्गुण और सगुण दोनों होता है। पर जब तुलसी के सिद्धान्तों की प्रमुखता की बात उठती है तो हम उनको सगुणोपासक भक्त ही कह सकते हैं, न कि निर्गुणोपासक ज्ञानी। इसपर हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि मूर्ति-पूजा के समर्थक और भगवान के किसी विशेष रूप की उपासना करनेवाले जो भक्त होते हैं, वे सगुणोपासक ही होते हैं।

भक्त-शिरोमणि तुलसी की भक्ति-भावना और उनके मन की विशुद्ध अभिलाषा श्री रामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड के निम्नलिखित प्रारंभिक श्लोक में स्पष्ट प्रकटित है। जैसे—

नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च॥

भाव है—हे रघुनाथजी! मैं सत्य कहता हूँ और फिर आप सबके अन्तरात्मा होने के कारण सब जानते ही हैं कि मेरे हृदय में दूसरी कोई इच्छा नहीं है। हे रघुकुल श्रेष्ठ! मुझे अपनी पूर्ण भक्ति दीजिये और मेरे मन को काम आदि दोषों से रहित कीजिये।

लोको भिन्न रुचिः। अपना-अपना मत है। प्रार्थना मेरी इतनी ही है कि श्री चन्दजी तथा सहृदय पाठकगण मेरे इन विनम्र विचारों पर भी ध्यान देने की कृपा करें।

2

श्री एन. पी. कुट्टनपिल्लै, हैदराबाद

'हिन्दी प्रचार समाचार' के अप्रैल अंक में प्रकाशित श्री 'चन्द' मदरासी का लेख 'निर्गुणवादी तुलसी' पढ़कर मेरे मन में कई शंकाएँ उत्पन्न हुईं। लेखक ने कुछ उद्धरणों के सहारे तुलसी को निर्गुणवादी प्रमाणित करने का प्रयास किया है और इस प्रयास के लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। किन्तु तुलसी को निर्गुणवादी सिद्ध करने के लिए कुछ उद्धरण पर्याप्त नहीं हैं; कुछ ठोस आधार पर तथ्य-स्थापन की आवश्यकता है। अगर ऐसे उद्धरण मात्र से तुलसी निर्गुणवादी सिद्ध हो सकते तो सूर तथा मीरा को भी विवश होकर निर्गुणवादी मानना पड़ेगा। सूर ने अपने इष्टदेव को परब्रह्म, अविगत, अविनाशी, माया रहित, रूप-रेखा-गुण विहीन सब कुछ कहा है, जैसे—

(1) परब्रह्म अविगत अविनाशी, मायारहित अतीत।
मनौं नहीं पहिचानि, कहुँ की, कहत सबै मन भीत॥

(2) अविगत की गति कछु कहत न आवै।

(3) रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिनु निरालंब कित धावै
सब विधि अगम बिचारहिं ताते सूर सगुन-पद गावै।

मीरा के भी इष्टदेव 'जोगी', 'अन्तरजामी' सब कुछ हैं। जैसे—

(1) जोगी मत जा मत जा, पाइ परूँ मैं तेरी चेरी हूँ।

(2) मीरा दासी व्याकुली रे, पिव पिव करत बिहाई।
बेगि मिलो प्रभु अन्तरजामी, तुम बिन रह्यो न जाई॥

अतः सूर, तुलसी, मीरा सब के आराध्य भगवान मूलतः अलौकिक हैं, निर्गुणी हैं। किन्तु इस आधार पर कोई उनको निर्गुणवादी नहीं कहता। सूर, तुलसी, मीरा आदि ने ईश्वर के अलौकिक एवं लौकिक, अरूप एवं सरूप दोनों रूपों की मान्यता दी है और दोनों के प्रति अपनी पूर्ण आस्था दिखाई है। अतः किसी कवि को निर्गुणवादी या सगुणवादी सिद्ध करने के लिए कुछ आधार का सहारा लेना पड़ेगा।

भक्तिकाल राजनैतिक उलट-फेर एवं घोर-अशान्ति का समय था। उस समय कबीर तथा जायसी से निर्गुणोपासना का प्रचार था ही। किन्तु सामान्य जनता उससे

संतुष्ट नहीं हो सकी। राजनैतिक अत्याचारों से आक्रान्त भारतीय जनता का उद्धार करने में अलख, अविनाशी, निर्गुण, निरंजन भगवान असमर्थ रह गया। उसके लिए रूप, शील, सौन्दर्य से युक्त सगुण नर रूप भगवान की आवश्यकता थी जिसके भरोसे पर जनता चैन ले सकती थी। अतः सूर और तुलसी ने अपने ईश्वर को मूलतः निर्गुण मानते हुए भी उनके व्यावहारिक सर्वजन सुलभ सगुण रूप को जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया ताकि वे जनता की आशा के केन्द्र बन सकें। अतः उनके सगुण रूप में भी निर्गुणता थी और निर्गुणता में भी सगुणता। या उनके अरूप भी सरूप थे और सरूप भी अरूप थे। भगवान शंकर के अनुसार ब्रह्म अद्वैत, अनादि, अनन्त है। वह प्राकृत गुण—सत्व, रज, तम से हीन है। किन्तु उसमें अप्राकृत गुण माने गये। षड्गुण अर्थात् ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज से युक्त होने से ब्रह्म भगवान कहा जाता है। जब वह गुण रहित है तब निर्गुण है और वही गुणयुक्त होने पर सगुण बनता है। अतः एक ही ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दो रूप हैं। फिर भक्तिकाल में प्रचलित निर्गुणवाद और सगुणवाद ब्रह्म के अवतारवाद को लेकर हुए थे। निर्गुणवादी ईश्वर को अवतारी कभी नहीं मानते थे, जब कि सगुणवादियों के अनुसार परात्पर ईश्वर मनुष्य रूप धारण करके लीलाएँ दिखाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो तुलसी अपने उपास्य राम को परब्रह्म होते हुए भी अवतारी मानते हैं, जो सगुणवाद का आधार है—

एक अनीह, अरूप अनामा। आज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥
शुद्ध सच्चिदानन्दमय कंद भानुकुल केतु
चरित करत नर अनुसरत संसृति सागर सेतु।

अतः तुलसी के राम सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही निर्गुण हों, पर व्यावहारिक दृष्टि से 'नर रूप हरि' हैं। इसलिए तुलसी कभी-कभी उनके दोनों रूपों की स्तुति करते हैं—

"अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुण सगुण सुमिरामि वर रूप रूपं।" व्यावहारिक दृष्टि से नर रूप हरि को अपनाने के उपरान्त तुलसी उनको बार-बार 'रघुपति', 'कोसलपति', 'रघुनन्दन' की उपाधियों से सुशोभित करते हैं और उनके चरण-सरोज और मंजुल छवि के प्रति आसक्त भी दिखाई देते हैं—

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोरुह लोचन सुचि सुन्दर स्याम।

वैसे ही 'भजहु राम पद-पंकज', 'जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे', 'श्रीरघुनाथ कृपालु' आदि उद्‌गारों में तथा राम भी 'सलोनी मूरती' को मन-मुकुर में बसाये रखने की उनकी आकुलता में तुलसी के सगुणवादी रूप के ही दर्शन होते हैं। तुलसी की मान्यता है, 'नाना भाँति राम अवतारा।' राजतिलक की तैयारी के समय राम की उक्ति भी विचारणीय है—

'जनमे एक संग सब भाई, भोजन सयन केलि लरकाई।' तिसपर तुलसी के सगुणावादी रूप पर शंका! रामचरित मानस में आद्‌यन्त राम की विशुद्‌ध मानवीय भावनाओं का सन्निवेश सशक्त एवं हृदयस्पर्शी है।

लेखक ने अपने लेख में कई स्थानों पर हमारे कथन का समर्थन भी किया है। वे लिखते हैं—"शक्ति, शील और सौन्दर्य जिनको भगवान राम ने साधना से प्राप्त किया था।" निर्गुणवादी का ब्रह्म परात्पर, परमतत्व है, उसे किस बात की साधना करनी पड़ती है! फिर साधना करने के लिए नर रूप की भी आवश्यकता है। जब लेखक के मतानुसार ही राम ने साधना से अलौकिक गुण प्राप्त किये हैं तो निश्चित है कि राम लौकिक व्यक्ति हैं, नररूप हैं। दूसरी जगह लेखक की स्वीकारोक्ति है—"तुलसी ने राम को निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप मानकर उनके अभेद का निरूपण किया है।" तब सगुण रूप राम के उपासक तुलसी कभी निर्गुणी भी हो सकते हैं? निष्कर्ष में वे लिखते हैं "एक निर्गुणोपासक सन्त ही मोक्षोपाय बतलाने की क्षमता रखता है।" भारतीय धर्म ग्रंथों या दार्शनिक ग्रंथों में कहीं भी यह विधि-विधान नहीं देखा या सुना गया है। शंकराचार्य ने निर्गुण और सगुण रूप को मान्यता देकर ही मोक्ष के उपाय बताये थे और भारतीय जनता उनका आदर करती है। श्री रामकृष्ण 'काली माँ' को प्रश्रय देकर ही मोक्षोपाय से अवगत थे। यही क्या 'गीता' में भगवान कृष्ण ने अपने को सगुण ब्रह्म स्वीकार करते हुए भी मोक्ष के साधनों को सुझाया है और आज भी 'गीता' सर्वश्रेष्ठ धर्मग्रंथ मानी जाती है।

सारांश, लेखक ने तुलसी को निर्गुणवादी सिद्‌ध कर तुलसी साहित्य के मूल्यांकन में नये प्रतिमान प्रस्तुत करते हुए परस्पर विरोधी कुछ बातें लिखी हैं। हम निष्कर्ष में यही कह सकेंगे कि तुलसी ने अपने ईश्वर को मूलतः निर्गुण मानते हुए भी उपासना के क्षेत्र में सगुण को व्यावहारिक एवं बोधगम्य जानकर नर रूप भगवान राम के लोक मंगलकारी स्वरूप का गुण-गान किया है, जिस अर्थ में वे निर्गुणवादी न होकर सगुणवादी ही ठहरते हैं।

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. **इनके द्वारा प्रत्येक मनुष्य......भारी बल है।** (चिन्तामणि)

यह गद्यांश श्री रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तामणि में संग्रहीत तुलसी का भक्ति मार्ग से लिया गया है। गोस्वामीजी ने स्वतः अंत स्सौंदर्य को प्राप्त कर, उस अंतस्सौंदर्य में ही अपार शक्ति और अनंतशील की झाँकी दिखलायी है। जिसको शक्ति-सौंदर्य की झांकी मिल गयी, जिसको शील सौंदर्य की झलक प्राप्त हुई, उसके हृदय में सच्चे वीर की अभिलाषा और उसके आचरण पर मधुर प्रतिबिम्ब की छाप बैठ जाती है। तुलसी की विनयपत्रिका उनके हृदय की भावतरंगें हैं। भक्त में हीनता, आत्म ग्लानि, आत्म निवेदन, आशा एवं उत्साह का जितना अधिक सान्निध्य होगा उतना ही उसके भावों का विकास होता जायगा। भक्ति का मूल तत्व है दैन्य। इस दैन्य में अपनी लघुता का प्रादुर्भाव होता है। अपने आराध्य की महान शक्ति के प्रकाश में उसे अपनी असमर्थता और दीन दशा का चित्र साफ़ दिखाई पड़ता है। इसमें भक्त अपनी त्रुटियों, पापों और दोषों को अधिक देखता है। और अपना हृदय खोलकर वर्णन करने में उसे अपार संतोष मिलता है। वह अपनी कोई भी बात उससे नहीं छिपाता—

भक्त अपनी दैन्य भावना एवं आत्म-ग्लानि के द्वारा अपने दोषों की और अपनी बुराइयों की ओर ही ध्यान आकृष्ट कराता है। यह भक्त का साहस है। दैन्य और आत्म निवेदन में अपनी त्रुटियों को व्यक्त कर सकने का साहस अपेक्षित है। इस दैन्य भाव के द्वारा ही भक्त को बल मिलता है।

2. **धुओं का देश है नादान......नहीं पहचानता है।** (नवीन पद्य रत्नाकर)

राष्ट्र कवि दिनकर की मेधा से ऐसा कौन-सा पाठक होगा जो परिचित न हो। इन्होंने भारतीयों के प्रसुप्त हृदयों में चेतना का संचार कर जागृति का नव पथ निर्माण किया। अभी 'परशुराम की प्रतीक्षा' इसका प्रमाण है। कवि अपनी इस "नयी आवाज़" कविता से पाठकों में मानवीय गुणों का आरोप करना चाहते हैं। वे मानवीय गुण कल्पना की वस्तु नहीं और न वे स्वर्ग से प्राप्त किये जा सकते हैं। वह मानवता उसे इस भूतल से ही प्राप्त हो सकती है। प्राणी जब इस धरती पर अनेकों अनुभूतियाँ प्राप्त कर लेता है, अनेकों संकटों से हँसता हुआ निर्बाध निकल आता है तब कहीं उसे मानवीय गुणों का प्रकाश मिल

पाता है। मानवता अनेकों अनुभूतियाँ प्राप्त करने पर ही मिलती है। जीवन-पथ में पग-पग पर आनेवाले संकटों को सहन करते हुए, पीछे पैर न हटाकर निरंतर आगे बढ़ते हुए जाते समय, सुलझने के अनुभवों को सँजोकर कार्य रूप में परिणत करनेवाला ही मानव है—

इस संसार की बाहरी और भीतरी रूप भिन्न हैं। इसका वाहरी रूप धोखा है। नये-नये अनुभव भूमि पर ही मिल सकते हैं। वे भी ऊपर-ऊपर नहीं ज़मीन के अन्दर हैं। संकटों का सामना करते हुए उन्हें खोजकर प्राप्त करना है। प्राप्त करने से पहले उसका परिचय पाना भी आवश्‍ है। पहचान होने पर ही वह प्रकाश मिल सकेगा। वह वस्तु भूमि पर कहीं । और स्वयं प्रकाशमान है लेकिन परिचय के अभाव में मानव उसे नहीं पा सकता।

3. **सब विधि गुरु .... करिय समाजू।**

रामचरित मानस तुलसी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है। तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी परिस्थितियों का सफल चित्रण तुलसी ने इसमें किया है। इस छंद में उनकी इस प्रतिभा का पूर्णरूपेण परिचय प्राप्त होता है। इसमें "सब विधि गुरु प्रसन्न जिय जानी" और "रहसि मृदुवानी" का विशेष रूप भासित होता है। रहसि का अर्थ प्रसन्न, हँसकर या रहस्य लिया जाय? सब विधि का अर्थ अभिधा में भले ही सव प्रकार लगाये, लेकिन यहाँ गूढ़ अर्थ में देखना होगा। जो बात अभी तक रहस्य बनी हुई थी वह क्या थी? राम को अभी तक युवराज क्यों नहीं बनाया? इसके पीछे धार्मिक और राजनैतिक दो कारण थे। पहला तो अंध तापस के पुत्र श्रवण कुमार का वध कर देने से क्षत्रियों ने ही नहीं मानव जाति ने इनसे सभी प्रकार के सम्बन्ध तोड़ दिये थे। ये जाति वहिष्कृत थे; लेकिन राम के विवाह ने वह वंधन हटा दिया, फिर भी ब्राह्मणों ने उन्हें स्वीकार नहीं किया। वह वशिष्ट की कृपा पर निर्भर था। दूसरे कैकेयी से विवाह करते समय राजा ने कैकेयी के पिता को यह वचन देकर ही कैकेयी से विवाह किया था कि "इसका पुत्र ही गद्दी पर बैठेगा।" लेकिन यह सामाजिक कठिनाई अब सामने थी कि राम बड़े हैं और वड़ा लड़का ही गद्दी का मालिक होता है। यह एक रहस्य था जिसे बड़े सुन्दर ढंग से राजा ने वशिष्ठ के सम्मुख प्रस्तुत किया। साथ-साथ यह भी बतलाया कि सेवक, सचिव, पुरवासी, मित्र तथा जो भी हमारे शत्रु थे उन सबको राम प्रिय है। राजा ने पूर्व पीठिका वशिष्ठ के सामने रखी और उस रहस्य को भी बतलाकर कहा कि केवल अब आपकी कृपा चाहिए। अगर आपका अनुग्रह हो तो इस रहस्य को सुलझा सकते हैं।

—श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास

राष्ट्रभाषा विशारद '—पूर्वार्द्ध परीक्षा

1. "तो मुझे भी प्राणदंड मिले!"

यह कथासरोवर में संग्रहीत स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कहानी 'पुरस्कार' से उद्धृत है। कहानी के अन्त में कोशल नरेश के आग्रह करने पर मधूलिका ने पुरस्कार के रूप में यह 'प्राणदंड' मांगा है। प्रसाद की कहानियों का आधार अक्सर अन्तरद्वंद्व होता है। इस कहानी में भी व्यक्तिनिष्ठ प्रेम और राष्ट्र प्रेम के अन्तरद्वंद्व की सुन्दर झाँकी है।

प्राणदंड़ की यह याचना मधूलिका के जीवन की एक विडंबना है। मधूलिका में राष्ट्र प्रेम और मधुर प्रेम अथवा सख्य प्रेम दोनों सने हुए हैं। राष्ट्र प्रेम अर्जित है—वंशानुगत है और मधुर प्रेम जन्मजात है। राष्ट्र प्रेम से प्रताड़ित होकर उसने कोशल सेनापति के सामने अरुण का भंड़ा फोड़ दिया जिसके परिणाम-स्वरूप अरुण को प्राणदंड़ मिला। और वह अपना दंड़ भोगने के लिए तैयार खड़ा रहा। तब राजा के अनुरोध करने पर मधूलिका अपराधी अरुण के बगल में जा खड़ी होती है और पुरस्कार के रूप में अपने लिए भी प्राणदंड माँगती है। मधूलिका का यह व्यवहार साधारण पाठक को सचमुच आश्चर्य में डाल देता है। किन्तु उसका यह व्यवहार असल में अस्वाभाविक नहीं है। प्रेम मूलत: व्यक्तिपरक होता है। अतएव वह प्रगाढ़ता में ऐकान्तिक ही होता है और व्यक्तिनिष्ठ होता है। मधूलिका और अरुण मधुर नैसर्गिक प्रेम के वशीभूत होकर अर्थात् शारीरिक वाँछा से अनुप्राणित होकर एक दूसरे के प्रति आकर्षित हुए। और दोनों को एक दूसरे पर पूरा विश्वास ही नहीं बल्कि भरोसा भी है। इसीलिए अरुण सीधे मधूलिका के पास चला आता है और मधूलिका उसे अपने हृदय और घर दोनों में निस्संकोच आश्रय देती है। अरुण भी उसपर इतना विश्वास करता है कि वह अपनी 'योजना' सम्बन्धी सारी बातों को मधूलिका से बिलकुल नहीं छिपाता है।

राष्ट्र प्रेम और व्यक्तिनिष्ठ प्रेम में स्पष्ट अन्तर यह है कि पहला आदर्श पर टिका रहता है और दूसरा यथार्थ पर। आदर्श कुछ हद तक कृत्रिम होता है और यथार्थ बिलकुल ठोस और सहज। आदमी आदर्श के फेर में ज़रूर रहता है; पर वह उसीमें हमेशा जिंदगी नहीं बिताता है। आदर्श की खुमारी के उतरते ही उसका असली रूप उभर उठता है—उसकी दमित नैसर्गिक प्रवृत्ति उबल पड़ती है। यही बात मधूलिका के सम्बन्ध में भी हुई। अरुण के प्रति उसका जो अनुरागमय उसके सामने उसका वंशानुगत राष्ट्र प्रेम ढीला पड़ गया। प्रेम के इन

दो रूपों में जो संघर्ष छिड़ा, उसमें आदर्शमय प्रेम हार गया; क्योंकि इसका साथ मधूलिका का हृदय अन्त तक नहीं दे सका। इससे सिद्ध होता है कि मस्तिष्क को हृदय के सामने कभी न कभी झुकना ही पड़ता है। 'अरुण' रहित जीवन मधूलिका को सारहीन लगा। सारहीन जीवन बिताने का मतलब होता है घुल-घुलकर मरना। मधूलिका की यह स्थिति मैथिलीशरण गुप्त के निम्नांकित पद्य के भाव से बिलकुल तुल जाती है:—

"बचकर हाय! पतंग मरे क्या?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या?
जले नहीं तो मरा करे क्या?
क्या यह असफलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।"

अलावा इसके मधूलिका के प्राणदंड माँगने का कारण और एक है। रहस्य का उद्घाटन कर उसने अपने प्रियतम के साथ विश्वासघात किया। ऐसी स्थिति में कौन प्रेयसी जीवित रहना चाहती है जिसका प्रियतम मुस्कुराकर मानों यह जता रहा हो कि तुम विश्वासघातिनी हो और तुम्हारे इस विश्वासघात के कारण ही मैं असफल रहा। अतएव मधूलिका ने अपने लिए भी प्राणदंड माँगा।

2. **"शेखर अब तक भोर का तारा था। अब प्रभात का सूर्य होगा।"**

यह श्री जगदीश चन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' नामक एकांकी से उद्धृत है। यह इस एकांकी का अन्तिम वाक्य है। माधव के चेताने पर शेखर जब अपना "भोर का तारा' नामक कविता-संग्रह जला देता है तब छाया कहती है—"माधव तुमने मेरा प्रभात नष्ट कर दिया है।" इसके उत्तर में माधव का यह कथन है।

यदि जीवन मानवता की अभिव्यक्ति है, तो कविता जीवन की अभिव्यक्ति है। कविता रस साहित्य की एक विधा है जो रमणीय होती है। साहित्य की अन्यान्य विधाओं में कविता भी एक है जिसमें भाव-चेतना अथवा सौंदर्य-चेतना, उक्ति-वक्रता के अलावा वर्ण-संगीत का भी समावेश होता है। इस वर्ण-संगीत के कारण ही कविता अपनी सहोपरी विधाओं की अपेक्षा अधिक अमोघ होती है। कविता हृदय की वस्तु है और हृदय भाव-कोश है। चाहे जिस किसी भी भाव का आश्रय लेकर कविता प्रस्फुटित हो, वह मादक रस-कलश होती है। अतएव अत्यन्त प्रभावोत्पादक होती है। क्रान्ति, राजनैतिक हो या सामाजिक अथवा किसी-प्रकार की क्यों न हो, तब तक वांछित फल नहीं दे सकती जब तक वह भाव-क्रान्ति का अनुगमन नहीं करती। अर्थात् मन का उन्नयन शरीर के पोषण के मुकाबले में

प्राथमिकता रखता है ; क्योंकि मन शरीर को शासित करता है। इसीलिए जब-जब देश पर संकट आता है तब तब कवियों के लिए पुकार मचती है ताकि वे अपनी कविता के द्वारा जनता को धैर्य और स्थैर्य दें और उसमें भर दें संजिवनी-शक्ति।

शेखर में अपनी प्रेयसी के प्रति प्रगाढ़ अनुराग है। इसलिए वह अपनी प्रिय-पत्नी के प्रति कोमल-कान्त कविता कर-कर अपनी प्रतिभा को स्वाहा करता है और निकालता है 'भोर का तारा' कविता-संग्रह जिसकी कविताओं में आक्रमणकारी से लोहा लेने और लोहा बजाने की प्रेरक शक्ति नहीं है। कवि का भी अपने देश के प्रति एक उदात्त कर्तव्य होता है। जब वह अपने कर्तव्य को विस्मृत कर एक संकीर्ण मार्ग पर अपनी अमोघ प्रतिभा का दुरुपयोग करता रहता है तब माधव जैसे सहृदय लोग आकर शेखर जैसे पथभ्रष्ट कवियों को पथ पर खड़ा करते हैं और उनकी प्रतिभा को चमकाते हैं। न जाने, महात्मा गांधी की गूंज ने कितने कवियों को चमका दिया! यदि माधव के वचनों के प्रभाव में आकर शेखर न चेत जाता और अपनी प्रेयसी के चुंबन-परिरंभण की मादक अनुभूति को मधुर, कोमल अभिव्यक्ति देने में ही अपनी इति समझता, तो वह सचमुच भोर का तारा ही रह जाता जिसे कुछ ही समय बाद सूर्य की अरुणाभ कान्ति में अदृश्य होना पड़ता। वह कवि ही अमर रहेगा जिसकी कविता में समयानुसार शीतल ज्योत्स्ना की मधुर मादकता भी मिलती है और प्रचंड मार्तंड का प्रखर ताप भी मिलता है। इसीलिए इस उद्धृत कथन के जरिए माधव छाया को यह आश्वासन देता दिखाई देता है कि उसके प्रिय पति शेखर का स्तर ऊँचा हुआ और वह अपनी उच्च स्तरीय कविता के जरिए प्रभातकालीन सूर्य की भाँति संसार में कान्ति बिखेर देगा। आखिर भोर के तारे की क्या बिसात है! टिमटिमाते दीपक की भाँति उसका जीवन क्षण भंगुर है। रात भर अपनी सीमित सामर्थ्य के बल पर विकराल अंधकार से जूझनेवाला तारा भोर के समय अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिनता रहता है और अरुणोदय के होते ही वह बिलकुल तिरोहित हो जाता है। इसी तरह शेखर को "भोर का तारा" (जिसमें ऐकान्तिक प्रेम के उद्‌गार भरे हुए हैं) पर प्राप्त होनेवाला यश क्षण-भंगुर है और इसीलिए उसपर भरोसा रखा नहीं जा सकता। किन्तु अब देश की पुकार सुनकर देशवासियों में कर्तव्य-पालन की शक्ति भरनेवाली और शत्रुओं को कंपानेवाली जो कविता शेखर के द्वारा होगी वह निस्संदेह प्रभात-कालीन सूर्य की भाँति जन-जन में फैले अज्ञानांधकार को दूर करने में पूर्णतः समर्थ होगी और कर्तव्यच्युत जनता संभल जाएगी। ऐसी स्थिति में शेखर सचमुच प्रभात का सूर्य ही कहलाएगा अर्थात् युग-प्रवर्तक कवि कहलाएगा।

3. दुनिया में ख़तरा बुरे की ताक़त के कारण नहीं, अच्छे की दुर्बलता के कारण है ।

यह 'कथासरोवर' में संग्रहीत श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्यायन 'अज्ञेय' की कहानी 'शख्याता' से उद्धृत है। जब देविंदरलाल को रफ़ीकुद्दीन के दोस्त के यहाँ विष देकर मारने का प्रयत्न किया गया तब उन्होंने यह अनुभव किया कि दुनिया में आफत बुराई की ताकत के कारण नहीं बल्कि अच्छाई की दुर्बलता के कारण है।

संसार अच्छे और बुरे का मिश्रण है। मानव की मानवता संस्कार के द्वारा जाग्रत होती है और उसीकी बदौलत सँवरती है। संस्कार के द्वारा ही मानव निकृष्ट स्वार्थ को उत्कृष्ट बना पाता है। किन्तु ऐसा कोई मानव नहीं मिल सकता जिसमें स्वार्थपरता का नितान्त अभाव हो। रूप अथवा मुखौटे के अनुसार स्वार्थ का मान बढ़ता या घटता है। मानव का वह स्वार्थ अच्छा या सुन्दर समझा जाता है जो दूसरे मानव के स्वार्थ में रोड़ा नहीं अटकाता। प्रादेशिक आन्दोलन हो या धार्मिक कलह, उसके मूल में पाशविक स्वार्थ पाया जाता है। असल में कौन चाहता है कि मरे या मारे? स्वभावत: कोई नहीं चाहता। इसके बावजूद आदमी आए दिन दंगे-फसाद में जूझ जाता है और मासूम लोगों को मौत के घाट उतार देता है। निकृष्ट स्वार्थ की भावना पहले एकाध ईर्ष्यालु नेता के हृदय में पैदा होती है जिसकी लपटों में नेता के इधर-उधर के लोग भी आते हैं जो दल बाँधकर निरपराध लोगों का खून बहा देते हैं और इसीको अपना प्रेम समझ बैठते हैं। बुरे लोगों में एकता और समझौते का सूत्र जितना मज़बूत होता है उतना सुदृढ़ अच्छे लोगों में नहीं होता। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बुरे लोगों के लक्ष्य और तरीके अत्यन्त सीमित होते हैं और अच्छे लोगों के अनगिनत क्षेत्र जितनी मात्रा में सीमित होती उतनी ही मात्रा में उसमें एकता का बन्धन ज़्यादा मज़बूत बनता है। सज्जन का मार्ग विचार-विनिमय का होता है और होता है विचार-स्वातंत्र्य का। फ़्रान्स के प्रसिद्ध विचारक वालटैर ने कहा—"तुम जो कहते हो उसका अनुमोदन मैं नहीं करता, पर तुम्हारे इस तरह कहने के अधिकार का समर्थन मैं अपने आख़िरी दम तक करूँगा" (I disapprove of what you say, but I will defend to the death your right to say it—Voltire) स्थाई, अचल ऐक्य किसी भी क्षेत्र का क्यों न हो मृत्यु सूचक है। गांधी जैसे सज्जन संत के वध का कारण भी सज्जन की दुर्बलता में ही ढूँढ़ा जा सकता है। यदि गांधी के पक्ष में और भी सज्जन आ जाते और ये सक्रिय रूप गांधी पंथ पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होते, तो गांधी कदापि मारा नहीं जाता। इस

तरह सज्जनता का साहसहीन दौर्बल्य ही गांधी, सुकरात आदि की मृत्यु का कारण रहा। यदि शरण में आये हुए देविंदरलाल की रक्षा के कार्य में रफीकुद्दीन और उनके संबन्धी लोग साहस के साथ तत्पर रहते, तो देविंदरलाल के रफूचक्कर होने की नौबत तथा दंगे की खुशफात ही बिलकुल बंद हो जाती।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा विशारद' उत्तरार्द्ध परीक्षा

1. **थके नयन रघुपति छबि देखे।**
   पलकन्हि हूँ परिहरीं निमेषे॥
   अधिक सनेह देह भै भोरी।
   सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
   लोचन मग रामहिं उर आनी।
   दीन्हे पलक कपाट सयानी॥ (पद्य-रत्नाकर— पृष्ठ 187)

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि थे। वे भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि थे। 'रामचरितमानस' तुलसीदासजी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। जीवन के चिरन्तन आदर्शों के अनमोल मोती 'रामचरितमानस' में बिखरे पड़े हैं।

'वाटिका-प्रसंग' मानस के बालकांड का एक हृदयस्पर्शी अंश है। यह प्रसंग तुलसीदासजी के नवीन प्रसंग की उद्भावना का परिचालक है। विवाह के पहले दिन जनक राजा की वाटिका से सखियों ने सीताजी को श्रीरामचन्द्र को दिखलाया। श्रीराम के अनुपम सौन्दर्य एवं महान व्यक्तित्व देख सीताजी उनपर मुग्ध एवं आकृष्ट हो गयीं। प्रस्तुत प्रसंग में समर्थ कवि ने सयानी सीताजी के मृदु हृदय के प्रेम को व्यंजित किया है।

श्री रघुनाथजी की छवि देखकर नेत्र थकित हो गये। पलकों ने भी गिरना छोड़ दिया। अधिक स्नेह के कारण शरीर विह्वल हो गया। मानो शरद् ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी (बेसुध हुई) देख रही है। नेत्रों के रास्ते श्रीरामजी को हृदय में लाकर सयानी जानकी ने पलकों के किवाड़ लगा दिये। याने नेत्र मूँदकर उनका ध्यान करने लगीं।

तुलसीदासजी ने यहाँ श्रीराम के अनुपम सौन्दर्य के साथ कोमल उर के प्रेम को भी व्यंजित किया है। "लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी"—में सीताजी के पवित्र सात्विक प्रेम का सुन्दर वर्णन है। आँखों के

मार्ग में श्रीराम को अपने मन-मंदिर में प्रतिष्ठित कर पलकों के किवाड़ को बन्द करनेवाली सयानी जानकी का यह चित्र भव्य एवं भासुर है।

2 **आओ, प्रिय! भव में भाव-विभाव भरें हम,**
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम।
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम,
संसार-हेतु शत बार सहर्ष मरें हम। (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 15)

श्री मैथिलीशरण गुप्तजी की यशोधरा प्रेमविह्वला एवं स्वाभिमानिनी माँ थी। वह कभी-कभी चिन्तन एवं मनन में संलग्न रहती थी। उसके विचार में हाथ में आये हुए जीवन की उपेक्षा करके मुक्ति को ढूँढने का प्रयत्न व्यर्थ है। अत: वह अपने पति से वापस आने की विनती करती है।

हे प्रिय! तुम वापस आओ। हम इस भव-सागर में भाव-विभाव भरें। अर्थात् हम स्वयं कर्तव्य परायण होकर इस संसार की शून्यता मिटा दें। हम दूसरों के लिए कर्तव्य की प्रेरणा देनेवाले बन जाएँ। हम इस संसार-सागर में कदापि डूबेंगे नहीं। खैर, तर जाएँ या न तर जाएँ इसकी चिन्ता ही छोड़ दो। तुम मुक्ति की कामना तो करते ही हो। लेकिन कैवल्य की कामना भी कामना ही है। हमें मोक्ष की इच्छा के लोभ में स्वधर्म को नहीं भूलना चाहिए। अत: हम अपने धर्म को धारण कर लें। हम इस संसार की भलाई के लिए सहर्ष सौ बार मरें।

जनता के कल्याण के लिए सौ बार सहर्ष मरने की मधुर लालसा रखनेवाली यशोधरा का उज्वल व्यक्तित्व यहाँ द्रष्टव्य है। यशोधरा के मृदु हृदय के इन उद्गारों में वैष्णव सिद्धान्तों की मधुर व्यंजना हुई है। 'डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम"—में "नित्य: सर्वगत स्थाणुरचलोऽयं सनातन:" आत्मा की ओर इशारा है। 'स्वधर्म धरें हम!' गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेय:' का ही दूसरे शब्दों में स्पष्टीकरण है। वैष्णव सिद्धान्तों में यशोधरा की आस्था और निराशावाद से उसकी विरक्ति यहाँ द्रष्टव्य है।

3. **अधिकारों के दुरुपयोग का**
कौन कहाँ अधिकारी?
कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या
अर्द्धांगिनी तुम्हारी?
मैं पुण्यार्थ जा रही थी, तुम
पाप देख बैठे हा! (द्वापर—पृष्ठ 33)

श्री मैथिलीशरण गुप्तजी की रचनाओं में युग युग से पीड़ित जननी, सखी और प्यारी नारी की करुण पुकार हम सुन सकते हैं। 'द्वापर' की विधृता अपने वैदिक पति के अन्याय और अविचार से खिन्न थी। विधृता भगवान कृष्ण के रास में भाग लेना चाहती थी, किन्तु, उसके वैदिक पति ने उसे घर से बाहर जाने से रोक दिया। पति के अनादर और अविश्वास से खिन्न अभागिनी विधृता इस अपमान को सह न सकी। प्रस्तुत प्रसंग अपने पति से विधृता की आत्मा का मार्मिक कथन है।

अधिकारों के दुरुपयोग का अधिकारी कौन है? तुम्हारी पत्नी का क्या कुछ भी अधिकार नहीं है? पुण्य की प्राप्ति के लिए वह भगवान के रास में भाग लेना चाहती थी। लेकिन उस पवित्र पुण्य कार्य में भी उसके पति ने पाप देख लिया।

पति की भांति पत्नी का भी समान अधिकार है। अधिकारों के दुरुपयोग का हक़ पति को बिलकुल नहीं है। अतः विधृता नारी स्वतंत्रता के लिए यहाँ अपने पति से वाग्धारा बहाती है। "मैं पुण्यार्थ जा रही थी; तुम पाप देख बैठे हा!" में "हा!" की कितनी बड़ी व्यंजना है! नारी के कोमल दिल के करुण रुदन की गूँज है 'हा!' में। विधृता की वेदना, विवशता एवं व्याकुलता इस 'हा!' में मुखरित हुई हैं। इन पंक्तियों का भाव प्रसादजी की कामायनी में द्रष्टव्य है—

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध वनी अधिकार और अधिकारी की।"

4. **बन्दी जो जीवित रहकर भी**
जीवन से वंचित है;
धन से, जन से और स्वयं जो
निज तन से वंचित है।
प्रखर चेतना, आह! आग सी
जिसमें जाग रही है; (द्वापर—पृष्ठ 84)

द्वापर गुप्तजी का एकमात्र कृष्ण काव्य है। नृशंस कंस ने अपनी बहिन देवकी और उसके पति को कैद किया। पति परायणा, कोमल हृदया देवकी भीषण कारागार से अपने पति महोदय की दयनीय दशा पर विचार कर खिन्न होती है। उसके पति राजा हैं। फिर भी अब वे कंस के अराजक बन्दी हैं। प्रस्तुत प्रसंग दुखिनी अबला देवकी का कथन है।

जो व्यक्ति बन्दी है वह जिन्दा रहकर भी जीवन से वंचित है। वह संपत्ति से भी वंचित है क्योंकि वह अपनी संपत्ति का उपयोग नहीं कर सकता। वह जन से और स्वयं अपने तन से भी वंचित है। क़ैदख़ाने की लौह शृंखला में बन्धा हुआ

क़ैदी अपने तन की शक्ति का सदुपयोग नहीं कर सकता। उस बन्दी में प्रखर चेतना आग की भाँति जाग उठती है।

राष्ट्र कवि ने यहाँ सुकुमारी देवकी के मुँह से कारागार का भीषण चित्र खींचा है। कंस की नृशंसता एवं देवकी और उसके पति की दुरवस्था का प्रतीक है वह कारागार। "प्रखर चेतना, आह! आग-सी जिसमें जाग रही है" पंक्ति के 'आह!' शब्द में बन्दी की विवशता, विषमता और विषाद की भावना मुखरित हुई हैं। उसकी प्रखर चेतना याने प्रखर जीवन शक्ति आग के समान जाग उठने पर भी वह बदला लेने में असमर्थ है।

5. **वेदमार्गियों में आ पहुँचा, यह निर्वेद कहाँ से?**
लौटा ले जाओ हे उद्धव, लाये इसे जहाँ से।
हम सौ वर्ष जियेंगी, अपनी आशा लेकर उर में।

(द्वापर — पृष्ट 198)

द्वापर के 'गोपी' प्रसंग में गुप्तजी ने विरह विधुरा गोपियों की भगवद् भक्ति एवं उनकी उत्कट प्रेमासक्ति को व्यंजित किया है। उद्धव विरहणी गोपियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश देने व्रज में आ पहुँचे। कृष्ण के प्रेम में मग्न ग्वालिनियों ने उद्धव का निर्गुण सन्देश ध्यान से सुना। फिर उन्होंने उद्धव के 'निर्वेद' की कड़ी आलोचना की। गोपियों की वाणी में वचनवक्रता एवं वाग्वि-दग्धता कूट-कूटकर भरी है।

हम लोग वेदमार्गी हैं। यह 'निर्वेद' कहाँ से यहाँ आ पहुँचा? उद्धव, इसे तुम जहाँ से लाये वहाँ लौटा ले जाओ। हम अपने मृदु हृदय में आशा लेकर सौ वर्ष जिएँगी।

प्रस्तुत प्रसंग गोपियों के मृदु व्यथित हृदय के उद्गार हैं। भोलीभाली ग्वालिनियों की व्यंग्य भरी उक्ति उद्धव के दिल में चुभनेवाली है। "लौटा ले जाओ हे उद्धव, यह माल इस बाज़ार में नहीं बिक सकेगा। क्योंकि इसके लिए यहाँ ग्राहक नहीं है। अतः जहाँ से इसे लाये वहाँ लौटा ले जाओ। सूरदास की गोपियों के समान वे भी कहना चाहती हैं "ऊधो जुवतिन और निहारो। तब यह जोग मोट हम आगे हिये समुझि बिसतारो।" "हम सौ वर्ष जियेंगी अपनी आशा लेकर उर में" में सूर की पंक्ति "स्वासा अटकि रहे आसा लागि जीवहिं कोटि बरीस" की शक्ति निहित है। गुप्तजी ने भली भांति गोपियों के हृद्गत भावों को यहाँ अभिव्यक्त किया है। श्लेष आदि कृत्रिम विधानों से मुक्त ऐसा ही भाव गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता **—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर।**

‘प्रवेशिका’ परीक्षा

(1) मैं हूँ उनके साथ, खड़ी जो सीधी रखते अपनी रीढ़ !
कभी नहीं जो तज सकते हैं अपने न्यायोचित अधिकार
कभी नहीं जो सह सकते हैं शीश नवाकर अत्याचार
एक अकेले हों या उनके साथ खड़ी हो भारी भीड़ ;
(पद्यमाला—2)

प्रस्तुत पंक्तियाँ “आप किनके साथ हैं” शीर्षक कविता से उद्धृत हैं। इसके कवि हैं श्री हरिवंशराय ‘बच्चन’। बच्चन का नाम हिन्दी काव्य जगत में विशेष रूप से प्रसिद्ध है। जीवन की मस्ती के गायक के रूप में तथा ‘हालावाद’ नामक एक नये काव्य वाद के प्रवर्तक के रूप में आप स्मरणीय हैं। आपके विचार बड़े सुलझे हुए हैं, उदगार स्पष्ट हैं और अभिव्यक्ति की शैली प्रभावशाली है। इन पंक्तियों में कवि अपनी आत्मा की असाधारण निर्भीकता का परिचय देते हैं। संसार में सीधी रीढ़ रखनेवाले इक्के-दुक्के ही हैं। कवि ऐसे लोगों में गिने जाना गौरव की बात समझते हैं। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए ऐसे लोग आत्मोत्सर्ग तक कर देते हैं। न्यायोचित अधिकारों को छिने जाते देखकर कभी खामोश नहीं रह सकते हैं। असहाय और निरुपाय बनकर, आतंकित और आशंकित होकर अत्याचार के क्रूर सान्निध्य में कभी सिर नहीं झुकाते हैं। उनका सिर कट जाएगा, मगर नहीं झुकेगा। किसी आदर्श के लिए डट जाते तो अकेले होने पर भी साहस के साथ उसे निभाते। अर्थात् अपने आदर्श में एकाकी हो जाना भी उनके साहस और शक्ति को कुंठित नहीं कर सकता है। ऐसे ही पथ निर्माताओं में परिगणनीय बनने का प्रयत्न मनुष्य को करना चाहिए।

(2) “असल में भाषा की दीवार के आर पार बैठे हुए भी वे एक ही हैं।
(गद्यकुसुम—2)

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक श्री रामधारी सिंह ‘दिनकर’ भारत की एकता और अखंडता को कई अकाट्य तर्कों द्वारा सिद्ध करते हुए “भारत एक है” शीर्षक निबन्ध में अपने विचारों को प्रकट किया है। भारत बहु भाषा भाषी देश है। भाषा की विशेषता यह है कि वह चिर परिवर्तनशील है। कहा भी गया है—

“कोस कोस पर बदले पानी, चार कोस पर वाणी”

इसलिए भाषा के स्वरूप की अनित्यता और परिवर्तन शीलता के आधार पर राष्ट्रीयता निर्भर नहीं रहा करती है। विचारों की एकता सबसे बड़ी एकता है।

भारतीय संस्कृति की अखण्डता के कारण काश्मीर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक विचारों की एकता बड़ी सशक्त है। हमारी भाषाएँ तो भिन्न-भिन्न हैं मगर भाषा का आवरण पहनकर निकलनेवाले भावों की आत्मा अखण्ड भारतीय आत्मा है। प्राचीन संस्कृति के प्रतीकों और परंपराओं का प्रयोग भारत की प्रत्येक भाषा में समान रूप में दृष्टिगत होता है। हमारे आदर्श राम और घनश्याम सभी भाषाओं में अपनी लीलाओं को करते चित्रित किये गये हैं। यहां तक कि इस देश के मुसलमान और ईसाई लोग भी हमारी प्राचीन परंपराओं की अदृश्य तन्तु से संचालित से प्रतीत होते हैं। इस प्रकार भाषा की दीवार के और पार बैठे हुए भी हम सब एक ही हैं।

(३) क्या राजपूत, केवल अनिष्ट की आशंका से अपने कर्तव्य पथ से विचलित हो जाएँगे, अपनी मर्यादा छोड़ देंगे? (जयपराजय)

'जयपराजय' उपेन्द्रनाथ अश्कजी का लिखा प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। प्रस्तुत नाटक में राजपूत लोगों की असाधारण वीरता और त्यागशील मनोवृत्ति का सुन्दर परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रस्तुत पंक्तियाँ कुमार राघव देव के उद्गार बनकर प्रकट होती हैं। राघवदेव की मनोवृत्तियाँ बड़ी उदात्त हैं। वीरता केवल खड्ग प्रहार मात्र में नहीं है। अनिष्ट की निश्चित आशंका के समक्ष में भी अपने धर्म को निभाना ही सच्ची वीरता है। मन्त्री राघवदेव को सलाह देते हैं कि राठौर कुमार रणमल का आगमन दुर्भाग्य का द्योतक है, देश की शान्ति में बाधक है। अतएव उनको किसी न किसी तरह टाल देना ही उचित है। इस सलाह को सुनकर कुमार राघवदेव उत्तेजित हो जाते हैं। यह कैसी सलाह है जो राजपूतों की स्वाभाविक उदारता के प्रतिकूल है। राजपूत युद्ध में मर मिटना जानते हैं मगर शीत-युद्ध के घात तिघात उन्हें पसन्द नहीं है। परिणाम को जानकर भी अपने गुणों को उत्सर्ग नहीं कर सकते हैं। शरणागत की रक्षा करना उनके लिए जीवन धर्म का निचोड़ है। युद्ध में वे पराजित हो सकते हैं मगर इस धर्म में वे कभी पराजित नहीं होंगे। आश्रयदाता केवल आश्रय की भावना से उत्तेजित होकर क्रियाशील होता है। आश्रितों के गुण दोषों का विवेचन करना वह नहीं चाहता है। अतएव कुमार राघवदेव मन्त्री से कहते हैं कि राजपूत अनिष्ट को मोल सकता है मगर अपने धर्म को भूल नहीं सकता है। कर्तव्य पथ से कभी विचलित नहीं हो सकता है और अपने ऐतिहासिक परंपराओं से निर्धारित मर्यादा की तिलांजलि नही दे सकता है।

—श्री विष्णुप्रिया, मद्रास

ऐसा क्यों ?

श्री के. नारायणन, तिरुवनन्तपुरम

शिक्षक लोग हमेशा यही चाहते हैं कि विद्यार्थीगण शुद्ध, व्याकरणसंगत भाषा लिखें। इसी उद्देश्य से विद्यार्थियों को व्याकरण के नियम सिखाते हैं। किन्तु यदि उनका उद्देश्य सफल होना हो तो यह आवश्यक है कि पाठ्य-पुस्तकों की सामग्री में उन नियमों का पूरा-पूरा पालन हो। यदि विद्यार्थी को व्याकरण के कुछ नियम ज़ोर-ज़ोर से सिखाये तो जाएँ, पर स्वयं उसकी पाठ्य-पुस्तक में उन नियमों का पालन न हो तो उसे यह बात खटकेगी ही। ऐसी अवस्था में विद्यार्थी असमंजस में पड़ जाता है कि वह किसे ठीक माने—व्याकरण-ग्रंथ में उल्लिखित नियम को या पाठ्य-पुस्तक में पाये जानेवाले प्रयोग को ?

साधारणतया व्याकरण में सिखाया जाता है कि 'राम चल दिया', 'सीता हँस दी' आदि प्रयोग ही ठीक हैं, क्योंकि इन वाक्यों में 'दे' क्रिया 'चल', 'हँस' आदि क्रियाओं के साथ उनके अर्थ पर ज़ोर देने के लिए ही आयी है, प्रधान क्रिया के रूप में नहीं। अतः ज़ोर देकर विद्यार्थी को सिखाया जाता है कि 'उसने हँस दिया' 'उन्होंने हँस दिया' आदि प्रयोग सरासर गलत हैं। अब विद्यार्थी के मन में यह धारणा घर कर जाती है। लेकिन जब वह अपनी ही किसी दूसरी पाठ्य-पुस्तक में यह वाक्य पढ़ता है—"उसने हँस दिया", तो उसे भ्रम हो जाता है कि यह तो व्याकरण में सिखाये गये नियम के विरुद्ध है, इसी गलती से बचने के लिये मास्टरजी ने ज़ोर देकर कहा था। फिर भी पाठ्य-पुस्तक में—वह भी धुरंधर लेखक द्वारा लिखित लेख में—ऐसी गलती क्यों पायी जाती है? क्या ऐसे श्रेष्ठ लेखक इस प्रकार की गलती करेंगे? या यदि यह सही है तो व्याकरण में इसे गलत क्यों बताया गया था ?

इन भ्रमों को दूर करने के लिए यह अत्यंतापेक्षित है कि व्याकरण के नियमों और असली व्यवहार में मेल हों ऐसा न हो कि व्याकरण व्याकरण के लिए रहे और असली लेखन उससे कोई संबंध ही न रखे !

यह पहचानना अक्सर मुश्किल हो जाता है कि इस प्रकार की भूलें जो आजकल कसरत से दिखाई पड़ती हैं, लेखकों के अज्ञान से होती हैं या प्रमाद से।

पाठ्य-पुस्तकों में अक्सर हर पाठ के अंत में व्याकरण-संबंधी कुछ अभ्यास एवं निर्देश दिये जाते हैं। यह अत्यंत आवश्यक है कि ऐसे निर्देशों में पूरी सावधानी बरती जाये। नहीं तो वह हास्यास्पद बन जाता है। उदाहरणार्थ, 'शुद्ध करो' में दिये गये ये वाक्य लें:—

अशुद्ध : मैं उनको नहीं पहचानता हूँ ।

शुद्ध : मैंने उनको नहीं पहचाना ।

यह बेहूदा-सा लगता है कि 'मैं उनको नहीं पहचानता हूँ' का शुद्ध रूप 'मैंने उनको नहीं पहचाना' है। 'मैं उनको नहीं पहचानता हूँ' से अंतिम 'हूँ' को निकालकर 'मैं उनको नहीं पहचानता' बना देना पर्याप्त होगा। किन्तु उसे भूतकाल में बदलने की ज़रूरत क्या है? क्या इस प्रकार भूतकाल में बदल देने पर ही उसे शुद्ध किया जा सकता है? और यदि ऐसा हो तो 'मैं उसको नहीं पहचाना' का शुद्ध रूप क्या होगा?

शुद्ध करने के लिए दिया हुआ दूसरा वाक्य है—"मालिक को इनकार कर नौकर चला गया" और शुद्ध रूप दिया गया —"मालिक से इनकार कर नौकर चला गया"! इन वाक्यों को देखने से पता चलता है कि शुद्ध कराने के लिए दिये जानेवाले वाक्यों के चुनाव में कैसी लापरवाही दिखायी गयी है! उद्देश्य यह दिखाना था कि 'इनकार करना' क्रिया के पहले आनेवाला विभक्ति-चिह्न 'से' है, 'को' नहीं। पर उसे दर्शाने के लिए जो वाक्य दिया गया है वह बिल्कुल निरर्थक हो गया है। किसी **कार्य को करने से** इनकार किया जा सकता है, जैसे, "जाने से इनकार करना", "देने से इनकार करना" आदि। किन्तु "मालिक से इनकार करके नौकर चला गया" का अर्थ क्या है? क्या 'मालिक' भी कोई क्रिया है जिसे करने से इनकार किया जा सकता है? क्या उपर्युक्त वाक्य से यह स्पष्ट हुआ है कि कौन-सा काम करने से नौकर ने इनकार किया?

गलत वाक्य और सही वाक्य दर्शाने के लिए दिया हुआ और एक वाक्य देखिये :—

'उन्होंने इस पुस्तक को लिखा'—गलत।

'उन्होंने यह पुस्तक लिखी'—सही।

यह ठीक है कि हिन्दी भाषा की वाक्य-रचना रीति के अनुसार साधारणतया कर्म के साथ 'को' विभक्ति-चिह्न नहीं लगाया जाता, कर्म को 'को' के बिना लिखना ही मामूली रीति है। जैसे, 'मैंने आम को खाया' के बदले 'मैंने आम खाया', उन्होंने चिट्ठी को लिखा' के बदले 'उन्होंने चिट्ठी लिखी', इत्यादि। पर इससे यह निष्कर्ष तो निकाला नहीं जा सकता कि कर्म के साथ 'को' मिलाये गये वाक्य **गलत** हैं। यदि ऐसे वाक्य **गलत** हों तो व्याकरण-ग्रंथ में 'दुष्यन्त ने इन वृक्षों को बोया है', 'लड़कियों ने रोटियों को खाया' आदि वाक्य सही क्यों ठहराये गये हैं और ऐसे वाक्यों को 'कर्तृवाच्य भावेप्रयोग' के अंतर्गत क्यों रखा गया है?

'निम्न प्रयोगों द्वारा वाक्यों का सही प्रयोग समझाइये' के अंतर्गत यह वाक्य पाया जाता है :—

' राम का लड़का और तुम्हारी लड़की खेलती है "

आश्चर्य की बात है कि यह प्रयोग सही कैसे हुआ! श्री रामदेव, एम.ए. द्वारा लिखित 'व्याकरण-प्रदीप' के 176-वें पृष्ठ पर स्पष्ट रूप से बताया गया है—"यदि भिन्न-भिन्न लिंगों के विभक्ति-रहित एकवचन कर्त्ता 'और' अथवा अन्य किसी समुच्चयबोधक अव्यय से जुड़े हुए हों तो क्रिया पुंल्लिग और बहुवचन में होती है, जैसे "राम और सीता अपना पाठ पढ़ रहे हैं।", "इस राज्य में बाघ और बकरी एक घाट पानी पीते हैं।" इस नियम को दृष्टि में रखते हुए 'राम का लड़का और तुम्हारी लड़की खेलते हैं' ही ठहरता है। तब 'राम का लड़का और तुम्हारी लड़की खेलती हैं' कैसे सही हुआ? और यदि यह सही है तो व्याकरण ग्रंथ में दिये नियम का क्या हुआ?

'एक ही शब्द का कई शब्द-भेदों में प्रयोग' दिखलाने के लिए कई वाक्य दिये गये हैं। उनमें एक 'क्या' शब्द का समुच्चयबोधक अव्यय के रूप में प्रयोग दिखाने के लिए दिया गया है :—

"क्या राम और क्या गोपाल, दोनों मेरे लिए समान हैं।"

लेखक का उद्देश्य यह दर्शाना है कि चूँकि इस वाक्य का अर्थ "राम और गोपाल—दोनों ही मेरे लिए समान हैं" है, 'क्या' शब्द का यहाँ समुच्चयबोधक अव्यय के रूप में प्रयोग हुआ है। लेकिन लेखक यह भूल जाते हैं कि उनके द्वारा दिये गये वाक्य में 'और' शब्द भी विद्यमान है, तब 'क्या' शब्द का समुच्चयबोधक वाला अर्थ कैसे स्पष्ट किया जा सकता है? लेखक के विवक्षित विचार को स्पष्ट रूप से प्रकट करने के लिए यही वाक्य बेहतर होगा—"क्या राम, क्या गोपाल, दोनों मेरे लिए समान हैं।" 'और' शब्द को निकाल देने पर ही 'क्या' का समुच्चयबोधक अव्ययवाला प्रयोग स्पष्ट होगा।

अंत में यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि उपर्युक्त बातें किसी पाठ्य-पुस्तक के लेखक या सम्पादक की क्षमता की आलोचना करने के उद्देश्य से नहीं लिखी गयी हैं। उद्देश्य तो केवल इसी बात पर ज़ोर देना है कि विद्यार्थियों को अनावश्यक श्रम से बचाने के लिए पाठ्य-पुस्तकों में व्याकरण-सम्मत भाषा ही का उपयोग कितना आवश्यक है।

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. जामैं रस कछु......भाषा कोऊ होय । (प्राचीन पद्य-प्रसून)

यह दोहा भारतेन्दु के दोहों से लिया गया है। भारतेन्दु जी जन्मजात प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इनका हृदय राष्ट्र प्रेम से ओतप्रोत था। काव्य-रचना का इनका एक नवीन दृष्टिकोण था। मानव-हृदय में अनेकों भाव सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। किसी विशेष कारण के घटित होने पर वे जागृत होते हैं। इन भावों की अनुभूति तो हर एक व्यक्ति को हो सकती है, लेकिन रसानुभूति सहृदय व्यक्तियों में ही होती है। भाषा भावों को व्यक्त करने का साधन मात्र है। भावों को व्यक्त कर देने मात्र से ही काम नहीं चलता। जब भाव भाषा के माध्यम से कथित प्रसंग के अनुसार हृदय को जगा देता है, तभी रस का अनुभव होता है। भारतेन्दु जी का इसके बारे में कहना है—

भावार्थ—जिसमें कुछ रस होता है सब कोई उसीको पढ़ते हैं। भाषा कोई भी क्यों न हो, उसमें पाठक अनूठी उक्ति चाहते हैं, अर्थात् व्यक्त करने का ढंग अनूठा हो, जिससे पाठक व श्रोता कथित भावों का रसास्वादन कर सकें।

2. ये मुँदे नयन ज्ञानोन्मीलित.........निष्प्रश्रय । (नवीन पद्य-रत्नाकर)

महाकवि तुलसीदास केवल भारत के ही नहीं, विश्व की जिन-जिन भाषाओं में उनके काव्य का अनुवाद हुआ उस-उस देश के निवासी उनकी असाधारण प्रतिभा के सम्मुख विनत हो जाते हैं। यह महाकवि कैसे बने? इसका कारण अनेक लोगों ने एवं विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाया है, लेकिन सूर्यकांत त्रिपाठी निराला ने अपने काव्य तुलसीदास में अनूठे ढंग से व्यक्त किया है। उक्त छंद उनके "तुलसीदास" काव्य का अंश तुलसी वैराग्य के नाम से 'नवीन पद्य रत्नाकर' में दिया गया है।

तुलसीदास अपनी पत्नी के वियोग को सहन न कर सके। वे उनके पीछे ही ससुराल पहुँच गये। रत्नावली की भाभी ने व्यंग भर कर कहा—देखा, रत्नावली! ये तुमसे कितना प्यार करते हैं? भाभी की बातों से रत्नावली का नारीत्व जाग उठता है। नारीसुलभ लज्जा और संकोच से उसकी दशा ही विचित्र हो जाती है—उससे रहा नहीं जाता है, पति से कहती हैं—तुम अपने कुल की महानता और पवित्रता को मिटाकर बिना बुलाये ही यहाँ चले आये, धिक्कार है तुम्हारे लिए! तुम

वासना के गुलाम हो। मेरे इस हाड़-मांस पर बिना मूल्य के ही बिक गये। तुमने यही शिक्षा पायी? यह सुनकर कवि के संस्कार जाग उठते हैं। वे अपनी प्रिया का रात्रि के और ही नवीन रूप देखते हैं—वह नीलवसना सरस्वती हैं। उनकी जीवन-बांस से निकलनेवाला स्वर अंतर ध्वनित हो वीणा की मादकता भर रहा था। देखते-देखते सरस्वती का रूप विकराल हो जाता है। सिर के केश बिखर जाते हैं और उसकी आँखों से ज्वाला निकलने लगती है, जिससे स्वयं ही वह रूप भस्म हो जाता है।

भावार्थ—तुलसीदास के बाह्य चक्षु बंद हो जाते हैं, संसार उन्हें असार लगने लगता है। उनके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं। कली के सौरभ के समान तुलसीदास के चित्त की स्थिति हो जाती है। वे अपने ही चित्त में स्थित हो जाते हैं। उन्हें ज्ञात हो जाता है कि प्राणशक्ति स्थिर होकर भी असीम है। जिस सौन्दर्य में कवि बंद था आज उसी सौंदर्य का विकास हो गया है। उनके ज्ञान का सौरभ उसमें से फूट निकलता है। जिस प्रकार फूल में सुगंध और गीत में छंद विकसित होते हैं। उसी प्रकार उनमें सरस्वती का विकास होता है। इसके द्वारा तुलसी को देह और आत्मा क्या है—इसका बोध होता है। वे वैराग्य लेकर निकल पड़ते हैं।

8. श्री गुरुचरन सरोज रज........फल चारि। (अयोध्याकाण्ड)

यह दोहा तुलसीदास के अयोध्याकाण्ड में मंगलाचरण का है। इस अयोध्या काण्ड में तुलसी क्या बतलाना चाहते हैं? वे राम के स्वरूप का आरंभ में ही चित्रण कर देते हैं। शिव स्वरूप राम हमें इस काण्ड में आरंभ से अंत तक दृष्टिगोचर होते हैं। वे अपनी वामांगी को साथ लेकर, त्याग का मुकुट धारण कर, पितृवचनों को शिरोधार्य कर, वरदान के विषम गरल का हँसते हुए पान कर, वन में दुष्ट स्वभाव के मनुष्यों के स्वभाव में परिवर्तन लाते हुए सबके हृदयसम्राट बन जाते हैं। इस दोहे से ऐसा मालूम पड़ता है कि तुलसी ने सबसे पहले अयोध्या काण्ड लिखा और इसके बाद बालकाण्ड। क्योंकि वे राम के विमल यश का वर्णन करने के लिए अपने हृदय-दर्पण को साफ़ करते हैं। लेकिन एक महाकवि इस प्रकार नहीं करेगा। पहले उन्होंने बालकाण्ड ही लिखा होगा। क्योंकि बालकाण्ड में राम बालक रहते हैं। उनके ऊपर कोई जिम्मेदारी नहीं है, लेकिन जब विवाह कर वे अयोध्या में आते हैं, तो वे बालक नहीं रहते। बालक अगर कोई गलती कर दे, तो उसे क्षमा कर देते हैं, लेकिन बड़े होने पर गलतियाँ क्षम्य नहीं हो सकतीं। इसलिए तुलसीदास ने बालक राम के वर्णन में सावधानी बरतने की आवश्यकता नहीं समझी। राम के विवाह के बाद वे उनको आदर्श पुरुष के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वे राम के सुकृतों का वर्णन करते जा रहे हैं। राम का चरित्र, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों फलों का

देनेवाला है। उनके हृदय पर राम के चरित्र का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक पड़े, जिसका अपनी वाणी द्वारा यथा रूप दिया जा सके। इसलिए इस अयोध्याकाण्ड के आरंभ में ही हृदय दर्पण को सुधारने की आवश्यकता पड़ी—

भावार्थ—मैं ऐसे श्री रामचन्द्रजी के निर्मल यश का वर्णन करने जा रहा हूँ। वह चारों फलों का देनेवाला है। इसलिए मन के दर्पण को (अगर कहीं धुँधला हो तो) गुरु के चरण कमलों की रज से साफ़ (निर्मल) करूँ, जिस से कि श्री राम के चरित्र का निर्मल स्वरूप देख सकूँ। —श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास

'राष्ट्रभाषा विशारद उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनौं, तू जसुमति कब जायौ।
कहा करौं यहि रिस के मारै, खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हंसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर।
तू मोही को मारन सीखी दाउहिं कबहुं न खीझै।

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 126)

सूरदास विट्ठलनाथजी द्वारा स्थापित अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे। उनकी काव्य वीणा का मधुरस्वर अनुपम है। सूरदास की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना सूरसागर है। सूरसागर में कवि ने कृष्ण के बचपन की विविध अवस्थाओं के अगणित मनोरम चित्र खींचे हैं। वे एक से एक बढ़कर हैं। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्र इस पद में महाकवि सूर प्रस्तुत करते हैं।

बालक कृष्ण और बड़े भाई बलराम खेल रहे थे। बलराम ने कृष्ण का उपहास किया। बालक कृष्ण खिन्न होकर घर वापस आया। इस प्रसंग में वह अपनी माँ से बड़े भाई की शिकायत करता है।

माँ, मुझे बड़े भाई ने चिढ़ाया है। वे मुझसे कहते हैं कि तू खरीदा हुआ लड़का है। तुझको यशोदा माता ने कब जन्म दिया है? क्या करूँ मैं नाराज हूँ, अतः खेलने नहीं जाता। वे बार बार मुझसे पूछते हैं कि तेरे माँ-बाप कौन हैं? यशोदा और नन्द गोरे हैं। तू तो काला है। गोरे माँ-बाप का काला बच्चा कैसे संभव है? भैये की बात सुनकर सब गोप बालक चुटकी बजा बजाकर हँस

पड़ते हैं। बलवीर ही इनको ऐसा कहना सिखाते हैं। तूने मुझे ही मारना सीखा है। बड़े भाई पर कभी नाराज़ ही नहीं होती।

कितनी सरल मधुरता और सहज स्वाभाविकता है इन पंक्तियों में! कृष्ण की तोतली वाणी में बाल सुलभ रोष, निराशा, दुख आदि कितने ही अधिक भावों की भरमार है। 'गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर' में कितना सुन्दर मार्मिक व्यंग्य है! "चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब" में सहज स्वाभाविकता का मनोहर चित्रण है। 'तू मोहि को मारत सीखी' में बालक के रोष और शिकायत की मधुर व्यंजना है। सूर की सरसता, भावुकता और वाग्विदग्धता प्रस्तुतपद में विद्यमान है।

2. मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिंबित जग होय ॥ 3 ॥
सखि सोहति गोपाल के, उर गुंजन की माल।
बाहर लसति मनो पिये, दावानल की ज्वाल ॥ 4 ॥

(पद्यरत्नाकर—पृष्ठ 155)

बिहारीलाल रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि थे। 'बिहारी सतसई' हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रचना है। बिहारी के दोहे यद्यपि छोटे हैं, तो भी उनमें प्रचुर भाव भरे रहते हैं। उनके दोहे रस के छींटे हैं।

प्रथम दोहा एक सच्चे भक्त का हृदयोद्गार है। श्रीकृष्ण की मनमोहक मूर्ति की अद्भुत अवस्था है। भक्त के मन-मंदिर में भगवान की मूर्ति प्रतिष्ठित है। फिर भी भक्त भगवान की मूर्ति की प्रतिच्छाया सारे जगत् में देखता है।

सारांश—श्रीकृष्ण की मोहन मूर्ति की अत्यन्त अनोखी रीति है। क्योंकि वह यद्यपि भक्त के सुन्दर चित्त के भीतर रहती है, फिर भी वह सारे संसार में प्रतिबिंबित होती है। याने भगवान की मोहक मूर्ति की छवि की प्रतिच्छाया भक्त विश्व भर देखता है।

द्वितीय दोहा अपनी एक सखी से नायिका का कथन है। श्रीकृष्ण ने व्रज के लोगों को बचाने के वास्ते अग्नि को पी लिया था। जब कृष्ण गुंजों की माला पहनकर आया, तब ऐसा लगा कि अंतर की दावानल की ज्वाला का आलोक बाहर लसित हुआ है।

सारांश—हे सखी देखो, गोपाल के हृदय पर गुंजों की माला ऐसी शोभा देती है, मानो कृष्ण ने जो दावानल पी लिया है, उसीकी ज्वाला बाहर दिखाई पड़ रही है। इस दोहे में एक और भाव की व्यंजना भी है। नायिका ने नायक से गुंजों के

कुंज में मिलने का वादा किया था। लेकिन वह नहीं मिल सकी। बेचारा नायक दुखी होकर गुंजों की माला पहनकर नायिका के सामने उपस्थित हुआ। नायिका को नायक की गुंजों की माला देखकर ऐसा लगती है मानों नायक ने जो दावानल (विरह दुख की आग) पी लिया है उसकी ज्वाला बाहर दिखाई दे रही हो।

इन दोहों में भाषा की गठन, भावों की सुकुमारता, कल्पना की उडान आदि विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं।

3. स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
   चकित रहता शिशु-सा नादान,
   विश्व की पलकों पर सुकुमार
   विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
   न जाने नक्षत्रों से कौन
   निमंत्रण देता मुझको मौन ! (पद्य-रत्नाकर, पृष्ठ 41)

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता श्री सुमित्रानन्दन पंतजी आधुनिक हिन्दी के श्रद्धेय कवि हैं। वे हिन्दी के कुशल शब्द-शिल्पी एवं सुकुमार भावनाओं के सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। प्रकृति के प्रति जिज्ञासा की प्रवृत्ति बचपन से ही पंत जी में प्रबल है। 'मौन निमंत्रण' में कवि ने प्रकृति के कार्यों में ईश्वरीय सत्ता को दिखाया है। प्रस्तुत प्रसंग 'मौन निमंत्रण' की पहली पंक्तियाँ हैं।

जब संसार स्निग्ध चाँदनी में नादान बच्चों की भाँति चकित रहता है और जब विश्व की पलकों पर अजान सुन्दर स्वप्न विचरते हैं, तब नक्षत्रों से मुझको मौन-निमंत्रण देनेवाला व्यक्ति कौन है ?

माया के स्वप्न में लीन, चाँदनी की छिटक से विस्मित जन को परमात्मा तारों की जगमगाहट से अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है। प्रकृति में किसी अव्यक्त अज्ञात सत्ता के अन्वेषण की प्रवृत्ति यहाँ द्रष्टव्य है।

4. कोई क्लान्ता कृषक-ललना खेत में जो दिखावे,
   धीरे-धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
   जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला,
   छाया द्वारा सुखित करना तप्त भूतांगना को ॥ (पद्य-रत्नाकर, पृष्ठ 8)

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' खड़ीबोली काव्य के निर्माताओं में अग्रणी हैं। उनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। 'पवनदूत' नामक पाठ्य भाग 'प्रियप्रवास' के षष्ठ सर्ग से लिया गया है। विरहिणी राधा पवन को दूत बनाकर भेजती है। इस प्रसंग में राधा पवन को आवश्यक निर्देश देती है।

श्याम से मिलने जाते समय कोई श्रांता कृषक ललना खेत में दिखावे तो उसके पास तुम तुरन्त जाओ। धीरे-धीरे उसको स्पर्श कर उसकी थकावट को तुम दूर करो। अगर आसमान में कोई बादल जाता है तो उसे फैलाकर तप्त वसुन्धरा देवी को छाया देकर उसे तुम सुखी बनाओ।

राधा के विरह सन्देश में उसकी व्यक्तिगत प्रेमासक्ति, विश्व मंगल की कामना के रूप में परिणत हो गयी है। यहाँ क्लान्त-श्रान्त कृषक ललना के साथ तप्त भूतांगना को भी विरह विधुरा राधा सुख देने का निर्देश करती है। राधा के विरह व्याकुल व्यक्तित्व में वेदना का लोकव्यापी उदात्तीकरण चित्रित किया गया है।

5. अहिंसा तपस्वी का धर्म है; योद्धा का नहीं, क्षत्रिय का नहीं। क्षत्रिय का धर्म है प्रजा का रक्षण। (विक्रमादित्य, पृष्ठ 24)

श्री विराज अपने नाटक 'सम्राट विक्रमादित्य' में भारत के इतिहास की एक गौरवपूर्ण झांकी प्रस्तुत करते हैं।

शकों के आक्रमण से जनता विवश एवं पीड़ित थी। उन आततायियों ने सतियों का भी मान भंग किया था। फिर भी अवन्ती के नागरिक और सम्राट आमोद-प्रमोद में आमग्न थे। संन्यासी वेशधारी विक्रम का बाल्यमित्र अजयगुप्त ने अपने जोशीले भाषण से जनता को जगाने का कार्य किया। अवन्ती के एक चौराहे पर जब अजयगुप्त भाषण देने लगा तब एक श्रोता ने कहा कि अब तो यहाँ अहिंसा का राज है, बल और शौर्य का अब क्या काम। प्रस्तुत प्रसंग में संन्यासी श्रोता का उत्तर देता है।

एक तपस्वी के लिए अहिंसा भूषण है। लेकिन एक वीर क्षत्रिय के लिए वह भूषण नहीं है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय का परम पुनीत कर्तव्य है। जब निरीह जनता पर नृशंस अत्याचार होता है तब अहिंसा की आड़ में चुप रहना कायरता है। अकारण रक्तपात तो नीति-विरुद्ध है। फिर भी क्रूर, असभ्य, बर्बर शकों से युद्ध कर उन्हें भगा देना शान्ति रक्षा के लिए आवश्यक है। राष्ट्र में अशांति, अमंगल और हलचल मचानेवालों को अहिंसा के नाम पर दंड दिये बिना छोड़ देना जरूर विपत्ति को मोल लेना है।

6. जिसने भी भारतीय प्रजा के खून से हाथ रंगे हैं, जिसने भी भारतीय ललनाओं के सतीत्व से खेल किया है, उसे अपने खून से इन अपराधों का प्रायश्चित करना पड़ेगा। (विक्रमादित्य—पृष्ठ 38)

श्री विराज के सम्राट विक्रमादित्य महत्व के लक्षणों को धारण किये हुए एक स्वतंत्र कार्यपरायण महापुरुष हैं। वे आचार्य कात्यायन के उपदेश से तलवार

छोड़कर अहिंसा के पुजारी बन गये। लेकिन शकों के आक्रमण से प्यारा स्वदेश वीरान हुआ। जनता विवश होकर कराहने लगी। इस दर्दनाक दशा को देखकर धीरोदात्त नायक विक्रमादित्य ने दया और क्षमा त्याग दी। उन्होंने पवित्र भारतवर्ष की स्वाभाविक सीमाओं को चिरकाल के लिए सुरक्षित रखने का प्रण किया। प्रस्तुत प्रसंग में सम्राट विक्रमादित्य महाकवि कालिदास से आततायियों का बदला लेने का ज़िक्र करते हैं।

शत्रुओं ने निरीह भारतीय प्रजा का खून किया था। भारतीय सपूतों के खून से उनके हाथ रंगे हुए थे। इसका प्रायश्चित्त शत्रुओं के रक्त से ही संभव है। भारतीय ललनाओं के सतीत्व से खेलनेवालों को अपने खून से ही अपने अपराधों का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा।

यहाँ हम आर्तत्राण परायण और अनीति के अंगारों में आग लगानेवाले धीरोदात्त नायक की ही आवाज़ सुनते हैं। नायक विक्रमादित्य के महान उज्वल व्यक्तित्व पर भी यह प्रसंग प्रकाश डालता है।

7. **कर रहे हैं रक्त के क्षेत्र में रंग की क्रीड़ा, युद्ध के मैदान में प्रेम की लीला, मृत्यु के प्रांगण में मन्मथ की पूजा! यह शरों की बौछार में आपने फूलों की शय्या बिछायी है!** (सूर्योदय – पृष्ठ 219)

श्री गोविन्दवल्लभ पंतजी एक सिद्धहस्त नाटककार थे। 'विषकन्या' एकांकी में उन्होंने एक विजेता राजा के रण और प्रणय के बीच का द्वन्द्व दिखाया है।

चन्द्रविजय तो शत्रु पर विजय प्राप्त कर चुके थे। उस रात को अपराजिता नामक एक कोमलांगी उनके शयनकक्ष में आकर उपस्थित हुई। अनुनय विनय के साथ अपराजिता ने अपना हृदय किवाड़ राजा के सम्मुख खोल दिया। कामी राजा अपने शयनकक्ष में सुन्दर नारी को पाकर मुग्ध एवं कर्तव्यच्युत हो गये। लेकिन शत्रु सेना ने उस समय धावा बोल दिया। युद्धभेरी बजने लगी। वीर सैनिक राष्ट्र धर्म की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए। फिर भी विलासी राजा शयनकक्ष से टस से मस न हुए। दोनों सेनापति राजा के कमरे में घुस आये। प्रस्तुत प्रसंग में दोनों सेनापति राजा की विलासिता और अकर्मण्यता की कड़ी आलोचना करते हैं।

वीर सैनिकों के लहू बहाते वक्त राजा रंग की क्रीड़ा में आमग्न हैं। रंगभूमि में भी राजा प्रेम की लीला में तन्मय हैं। जब वीर सिपाही अपने प्राणों की उत्सर्ग करते थे उस समय राजा मन्मथ की पूजा में तल्लीन हैं। राजा का प्रयत्न शरों की बौछार में फूलों की शय्या बिछाने का है। सेनापतियों की बातें विलासी राजा के हृदय में चुभनेवाली हैं। उनकी वाणी से घायल होकर ही विलासी राजा कर्तव्य पथ पर आ गये थे। **श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर**

विशारद पूर्वार्द्ध ' परीक्षा

1. " उनका हँसना-रोना मेरी रचना पर पड़कर अंकुरित हो उठता है। अपने गानों को वे लोग भूल जाते हैं, अपना प्रेम वे लोग रख रख जाते हैं।"

यह गद्यकुसुम में संगृहीत विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'पथ के छोर पर' नामक भावात्मक लेख से उद्धृत है। इस लेख के जरिये रवि बाबू ने प्रेम के माहात्म्य पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसी सिलसिले में उन्होंने कवि-कर्म के आधार की भी सुंदर झाँकी दी है।

रचना किसी प्रकार की क्यों न हो, उसका आधार अनुभव है। अनुभव दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अभिव्यक्ति की प्रभविष्णुता अनुभव की सजीवता पर निर्भर करती है और अनुभव की सजीवता रचयिता की भावुकता पर अवलम्बित होती है। यों तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवन-यात्रा के सिलसिले तरह तरह के अनुभव प्राप्त करता जाता है। अनुभव की अनुभूति की गहराई आदमी को अन्य आदमियों से अलग करती है और अनुभूति प्रवण आदमी कवि कहलाता है जो अनुभूति को अभिव्यक्ति दिये बिना नहीं रह सकता। पर आपकी ही की अभिव्यक्ति और अन्य बीती अभिव्यक्ति में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। यों तो कवि कभी कभी अन्य बीती को भी अभिव्यक्ति देता है; फिर भी उसकी प्रत्येक रचना में उसीके अनुभवों को ढूँढ़ना न संगत है न हेतुपूर्ण। यदि प्रत्येक कवि अपने जीवन में घटी बातों को ही व्यक्त करता आता, तो संसार अब तक उत्तम काव्य-कृति से वंचित ही रह जाता। शोक विधुर क्रौंच पक्षी के चीत्कार ने महर्षि वाल्मीकि को भावाभिभूत किया और परिणामस्वरूप अनायास अनुष्टुप छंद में आदि काव्य (रामायण) आविर्भूत हुआ। इससे यही सिद्ध होता है कि आप बीती की अपेक्षा अन्य बीती आश्रित काव्य अधिक कलामय एवं रमणीय होता है। वास्तव में कवि और अनुभव में दूरी जितनी ज्यादा होती है उतनी ही अधिक कलाकारिता उसकी रचना में आ जाती है। अर्थात् उसकी रचना उतनी मात्रा में सरस और रमणीय होती है। इसलिए टी. एस. एलियट को कहना पड़ा—' There is always a separation between the man who suffers and the artist who creates; and the greater the artist the greater the separation.' (भोगनेवाले प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में हमेशा एक अन्तर रहता है और कलाकार उतना ही बड़ा होता है, जितना यह अन्तर भारी होता है।) इसी भाँति रवि बाबू का भी कहना है कि उनकी रचना का आधार पथ पर मिले हुए लोगों के सुख-दुख हैं जिनकी अनुभूति से अनुप्राणित होकर वे भाव-

विभोर हो जाते हैं। फलस्वरूप काव्य के अंकुर का सृजन होता है और काव्य में दुख जन्य गीत भी मधुरतम प्रेम की भाँति आनंदप्रद होते हैं—"मधुरतम गीत वे हैं जो दुखतम हैं।' (sweetest songs are those that are saddest.)

—P. B. SHELLEY

2. "मैं क्या शोक से उदास हुआ हूँ? माया काटे करती नहीं।"

यह गद्यकुसुम में संगृहीत 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध से दिया गया है। इसके लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं जो हिन्दी के मौलिक, सफल और सबल निबन्धकार हैं।

प्राणी सदैव परिचित वातावरण में रहना ज्यादा पसंद करता है। मानव इस नियम का अपवाद नहीं है। वह तरह-तरह के संदर्भों में तरह-तरह का ज्ञान प्राप्त करता है और समाज के सहयोग से उसका मूल्यांकन करता है। इस प्रकार प्राप्त ज्ञान का जितना अंश मूल्यवान बनता है, अर्थात जितने अंश से उसका कोई न कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, उसको आह्लाद पहुँचता है, उसके आधार पर समाज की परिपाटियाँ बनती हैं और आचार-विचार बनते हैं। आचार-विचार या रीति-रिवाज समय विशेष में, ज्ञान विशेष से निकलते हैं। समय हो या ज्ञान कोई अचल सत्ता नहीं है वरन् गतिशील अर्थात परिवर्तनशील सत्ता है। गतिशील संसार में परिवर्तन अवश्यंभावी है। मानव इस सत्य को जानकर भी स्वभावतः पहचानना नहीं चाहता है। अतएव वह किसी मान्य आचार या विचार को तोड़ने का मन नहीं करता। यदि इसके लिए विवश हो जाता है, तो पहले पहल वह बड़ा संकोच करता है। साहित्य के क्षेत्र में जो चीजें कवि-प्रसिद्धियों के रूप में प्रचलित हैं वे आज नहीं दीखती हैं। आचार्य द्विवेदीजी जैसे विद्वान भली भांति जानते हैं कि अशोक के फूल का जमाना बीत गया है। कवि-प्रसिद्धि है कि अशोक में फूल नहीं होते। एक तरह के प्रलंब और तरंगायित पत्तोंवाले वृक्ष को 'अशोक' कहते हैं। बहुत से कवियों ने तो साफ़ लिख दिया है कि इसके फूल नहीं होते हैं। जो भी हो, इस वृक्ष के सम्बन्ध में मतभेद है। हाँ, यह बात बिलकुल सत्य है कि आज जिस अशोक के फूल की कोई मूल नहीं है वह महाकवि कालिदास की कविता में पूर्ण वैभव पर था! वहाँ पर इस फूल के मनोरम चित्र ही नहीं वरन् उसके लोहित पल्लवों के रमणीय दृश्य भी भरे हुए हैं। किन्तु समय ने पलटा खाया और अशोक के फूल साहित्य के क्षेत्र से तिरोहित हो गये। यह घटना काल-ज्ञान रखनेवाले पंड़ित को भी दुख में डुबो देती है, यद्यपि वह अच्छी तरह जनता है कि प्रत्येक वस्तु के समय और मूल्य की अवधि होती है। ऐसे दुख का कारण अज्ञान

नहीं है। इसका कारण है पक्षपात जो मिटाए नहीं मिटता—'prejudice dies hard'—बड़े से बड़े पंडित भी कभी-कभी ऐसे पक्षपात के शिकार बनते हैं और कभी अशोक के फूल जैसी चीज़ की पूछ न होने पर, गौरव घटने पर आहें भरते हैं! इनकी यह भला अज्ञान उन्हीं की बनाई हुई है; इसीलिए उसे वे मन से निकालना या काटना नहीं चाहते। फलतः यह पक्षधर ज्ञान उनको आगे बढ़ने नहीं देता और वे नये-नये क्षेत्रों का अन्वेषण करने के बजाय गतानुगतिक बने रहते हैं।

3. "इसीलिए जगत चल रहा है, नहीं तो वह अपने भार से आप ही अचल हो जाता।"

यह गद्यांश गद्य कुसुम में संगृहीत विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'पथ के छोर पर' नामक लेख से दिया गया है। इस लेख में प्रेम के प्रभाव पर विशद प्रकाश डाला गया है।

संसार गतिशील है। संसार से तात्पर्य संसार में बसे हुए लोगों से है। लोगों की गतिशीलता का सबल आधार है प्रेम। प्रेम आदमी को स्थिर बैठने नहीं देता। मानव प्रेमबद्ध है, उसी तरह जिस तरह नाव रस्से से बँधी होती है। जिस रस्से से नाव बँधी होती है, उसी रस्से के सहारे वह आगे की ओर खींची जाती है। इसी भाँति मानव को प्रेम सूत्र आगे आगे खींचता जाता है। अनुबन्ध के अनुपात में मानव के प्रेम का क्षेत्र विस्तृत होता है। प्रेम-बन्धन के आकर्षण के प्रभाव से अन्य प्रकार के बन्धन तो तड़ातड़ टूट जाते ही हैं। संस्कार के अनुसार मानव जीवन में जो प्रेम-बन्धन तैयार हैं उनमें से संकीर्ण बन्धन बृहत्तर के लिए अपना स्थान छोड़कर आप तिरोहित हो जाते हैं जिससे कि मानव का रूप उस हद तक निखर उठता है। शैशवावस्था से अन्तिम अवस्था तक की लंबी अवधि में संस्कारी एवं संस्कृत मानव के प्रेम में कई मोड़ आते हैं। उसकी प्रारंभिक आत्मा-रति (Naracissistic tendency) परिवार के परिवेश के अधीन पारिवारिक प्रेम का रूप धारण करती है, तो और कुछ आगे चलकर प्रादेशिक प्रेम में बदल जाती है। इसी तरह प्रादेशिक प्रेम राष्ट्र-प्रेम में बदल जाता है और आगे चलकर राष्ट्र-प्रेम विश्व-प्रेम के लिए अपना आसन छोड़ जाता है। यही प्रेम की उच्चतम अवस्था है जिसको प्राप्त होकर मानव 'वसुधैव कुटुंबकम' की अनुभूति करता है। इस अवस्था को प्राप्त मानव ही सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है; सृष्टि का शृंगार है। ऐसे विश्वात्मा अपने इस बृहत् प्रेम के निर्वाह के लिए अपने छोटे-मोटे प्रेम-बन्धनों को तोड़-ताड़कर समस्त विश्व के कल्याण के हेतु अपने को होम करते हैं जिससे संसार प्रगतिशील बना रहता है। यदि बृहद् प्रेम-सूत्र में विचरण करनेवाले, बृहत् प्रेम-सूत्र से आबद्ध विश्वात्मा मानव न आते, तो संसार की गति कभी को कुंठित हो जाती

और संसार अपनी अचल स्थिरता में सड़ जाता। अतएव प्रेम-सूत्र को यथा संभव विस्तृत और सुदृढ़ बनाकर उसे मजबूती से थामे चलना मानव मात्र का धर्म है। तभी विश्व का अस्थित्व बना रहेगा और तभी मानव का निखार चमकेगा।

—के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. पैदा कर जिस देश जाति ने तुमको पाला पोसा
किये हुए है वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्तव्य तुम्हारा
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा।" (काव्य-कुसुम)

ये पंक्तियाँ "कर्ममार्ग" शीर्षक कविता से उद्धृत हैं। इस कविता के रचयिता श्री रामनरेश त्रिपाठी जी हैं। खड़ीबोली काव्यधारा के आरम्भकालीन कवियों में आपका नाम गिना जाता है। इनकी कविताओं में मनुष्यता के वास्तविक आदर्शों का आकर्षक और प्रभावशाली वर्णन प्राप्त होता है। कहा गया है "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसि।" मनुष्य अपने देश और जाति के संस्कार और परम्पराओं से लाभान्वित होकर स्वस्थ जीवन का अधिकारी बनता है। उस देश और जाति की रक्षा में उसकी आत्मरक्षा निहित है। देश अपने सपूतों से यह प्रतीक्षा करता है कि संकटकाल में सहर्ष वे सर्वस्व समर्पण करें। कवि पथिक का सम्बोधन करते हुए कहते हैं, तुम्हारा पहला कर्तव्य मातृभूमि के ऋण को चुकाना है। अर्थात् कर्ममार्ग पर चलकर, फलोदय की आतुरता से आन्दोलित हुए बिना, देशोद्धार का कार्य करना चाहिए। इसके पश्चात् धरती के फैले आंगन में अपने मन की इच्छा के अनुसार उन्मुक्त होकर जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जब देश के प्रति हमारा कर्तव्य निर्वाहित हो जाते हैं तब हमारे सारे बन्धन खुल जाते हैं और आन्तरिक सुख की अपार सामग्री उपलब्ध हो जाती है। फिर वसुधा को सुधासिक्त करने के लिए हमारा जीवन उपयोगी हो सकता है।

2. गल बाहें हो या हो कृपाण
चल चितवन हो या धनुष बाण
हो रस विलास या दलित त्राण
अब यही समस्या है दुरन्त
वीरों का कैसा हो वसन्त।" (काव्य-कुसुम)

ये पंक्तियाँ "वीरों का कैसा हो वसन्त" शीर्षक कविता से ली गयी है। यह स्वर्गीय श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की रचना है। आप खड़ीबोली काव्य-

साहित्य में राष्ट्रीय धारा की कवयत्री हैं। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई पर बड़ी ओजस्विनी भाषा में आपने काव्य लिखा है। साहित्य के क्षेत्र में रहते हुए स्वतन्त्रता संग्राम में आपने सशक्त योगदान दिया है। उग्रता और भावुकता का गंगाजमुनी संगम आपकी "वीरों का कैसा हो वसन्त" शीर्षक कविता में दर्शनीय है। जब देश परतन्त्र है तब कवि जिह्वा क्या करे, मूक रहे या मुखरित हो जाये। जब रणभेरी का निनाद सुनाई दे रहा है तब वीर क्या करे। घरवाले की गलबांही में गल जाए या तलवार लेकर लड़ने के लिए डट जाए। चंचल चितवन की मादक और मोहक माया में फंस जाए या तीर कमान लेकर वीर समान रण प्रांगण के लिए प्रस्थान करे। रस विलास में लीन हो जाये या दलितों की रक्षा करने में लग जाये। कवयित्री कहना चाहती है कि जब देश गुलाम है तो पहला कर्तव्य देश के प्रति है। परतन्त्र देश के वीरों का वसन्त युद्ध क्षेत्र में ही है।

3. लोकप्रियता का मार्ग बड़ा कठिन है मंत्रिवर! इसमें फिसलन है, कीचड़ है, और गढ़े हैं। कर्तव्य को ही अपना पथ प्रदर्शक बनाकर चलना पड़ता है। (जयपराजय)

ये पंक्तियाँ "जयपराजय" शीर्षक नाटक से ली गयी हैं। इसके लेखक हैं उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। आप उपन्यासकार के रूप में विशेष ख्यात हैं। नाटकों की रचना में भी आपको विशेष सफलता प्राप्त हुई है। जयपराजय आपके सफल नाटकों में एक है। राजस्थान के इतिहास के पन्नों से उक्त नाटक की कथावस्तु ली गयी है। राणा लक्षसिंह के द्वितीय पुत्र कुमार राघवदेव और मंत्री के बीच में होनेवाले वार्तालाप के सिलसिले में उपरोक्त पंक्तियाँ राघवदेव के उद्गार बनकर प्रकट होती हैं। मंत्री परिषद की सभा में सम्मिलित होने के लिए कुमार राघव देव विलम्ब से आते हैं और अपने विलम्ब के लिए क्षमा याचना करते हुए उपरोक्त प्रकार कहते हैं। लोकप्रिय व्यक्ति को अपनी लोकप्रियता बनाये रखने के लिए व्यक्तिगत सुख सुविधाओं का थोड़ा उत्सर्ग करना पड़ता है। अप्रिय विषय में भी आवश्यकता पड़ने पर दिलचस्पी लेनी पड़ती है। कभी कभी आयोग्य लोगों की मंडली में भी शामिल होना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति के सामने एक कर्तव्य रहता है। वह है सभी के दिल को बनाये रखना, सभी को मनाये रखना, चाहे इसके लिए थोड़ी बहुत फिसलना भी क्यों न पड़े। कुमार राघवदेव को नगर की गायिका के संगीत सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए विवश किया गया और यदि उसे टालने की कोशिश करें तो उनकी लोकप्रियता की मात्रा में कमी हो जाएगी।

—"विष्णुप्रिया"

मध्यमा परीक्षा

प्रश्न—वीर दुर्गादास ने अजीत को कैसे मारवाड़ का राजा बनाया ?

उत्तर—भारत के इतिहास में राजपूत वीरों के बलिदान और स्वामिभक्ति के कई उदाहरण मिलते हैं। ऐसे ही वीरों में दुर्गादास भी एक थे।

दुर्गादास मारवाड़ के सेनापति आशकरण के पुत्र थे। वे बचपन से ही बड़े वीर और स्वामिभक्त देश प्रेमी थे।

औरंगज़ेब की आज्ञा से राजा जसवंतसिंह ने मराठे राज्य पर चढ़ाई की। उसके बाद औरंगज़ेब ने जसवंतसिंह को लाहौर का सेनापति बनाया। एक युद्ध में आशकरण मारा गया तो जसवंतसिंह ने वीर दुर्गादास को अपना सेनापति बना लिया। काबुल के बागी मुसलमानों को दबाकर जसवंतसिंह ने सफलता पायी। युद्ध में जसवंतसिंह ने अपने तीनों पुत्रों को खो दिया। उनके पुत्रों की मृत्यु औरंगज़ेब की कूटनीति के द्वारा हुई थी, यह जानकर जसवंतसिंह ने सारे राजपूत सरदारों को इकट्ठा किया और औरंगज़ेब के षड्यन्त्र का सामना किया। जसवंतसिंह ने दुर्गादास को मारवाड़ सेना का सेनापति बनाकर उपदेश दिया कि वह मारवाड़ की आज़ादी की रक्षा करें और जसवंतसिंह के वंशज को राजा बनावें। उसने यह कहकर अपनी आँखें मूंद लीं।

अब दुर्गादास के कंधों पर राज-परिवार की रक्षा, मारवाड़ देश की आज़ादी की रक्षा तथा सेना के संगठन आदि की ज़िम्मेदारी पड़ी। सचमुच वे ही मारवाड़ के एकमात्र सहारा थे। दुर्गादास ने बड़ी चालाकी से जसवंतसिंह की रानी और नवजात बच्चे को औरंगज़ेब के पंजे से छुड़ाया। इस कारण औरंगज़ेब ने उनसे क्रोधित होकर मारवाड़ पर चढ़ाई की। तब दुर्गादास ने अजीत की रक्षा के लिए मेवाड़ का राणा राजसिंह से मदद माँगी। इसके अलावा उन्होंने सारे देश में घूमकर सेना का संगठन किया और पहाड़ियों में छिपकर युद्ध किया।

आखिर औरंगज़ेब ने दुर्गादास की वीरता के सामने सिर झुकाया। दुर्गादास से संधि भी कर ली। औरंगज़ेब के मरने के बाद उन्होंने सारे राजपुताने के राजाओं को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। अजीत का राज-तिलक बड़े वैभव के साथ मनाकर वे स्वयं आराम-तलब के लिए मेवाड़ चले गये।

दुर्गादास की वीरता, स्वामिभक्ति तथा कर्तव्यपरायणता का यही एक अनूठा उदाहरण है।

—के. श्रीराम ऐंगार, क्रोमपेट

पुस्तक-परिचय

बीस साल के देश में बीस दिन की यात्रा : लेखक : एम. शंकरन ; अनुवादक : र. शौरिराजन ; प्रकाशक : मल्लिकै पदिप्पकम ; मूल्य : रु. 3·50

यात्रा संस्मरण लिखना आसान है, मगर उसमें रोचकता पैदा करना आसान नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक में रोचकता आखिरी पृष्ठ तक पायी जाती है। बीस साल के देश में लेखक ने बीस दिन की ही यात्रा की है, मगर पाठक को उस देश के आचार-विचार, आहार-व्यवहार का गहरा ज्ञान प्राप्त हो जाता है और लेखक के अनुभवों को खुद दोहराने की इच्छा सी जागृत हो जाती है। समाजवादी राष्ट्रों में यात्रिकों को स्वच्छन्द विचरण की अनुमति नहीं दी जाती है और अधिकतर निर्देशित यात्रा (guided tour) से ही तृप्त होना पड़ता है। लगता है कि लेखक को भी इतनी ही तृप्ति मिली है। लेखक के हृदय में जर्मन जनवादी राष्ट्र के प्रति पूर्वनिश्चित प्रशंसात्मक भावनाएँ विद्यमान हैं। लेखक ने वर्णन के लिए हास्य रसात्मक शैली को अपनाया है जिसके कारण यात्रा वर्णन की गम्भीरता कहीं-कहीं जाती रही है। मगर वर्ण्य विषय की रोचकता के कारण हमारा ध्यान बरबस आकृष्ट रहता है ! इस कृति का सबसे सशक्त अंश अनुवाद है। भाव के हर मोड़ को बड़ी नफ़ासत के साथ दिखाने के लिए ऐसे-ऐसे नपे तुले शब्दों को अनुवादक ने अपनाया है जो कि हिन्दी भाषा के विकासशील विश्वात्मिकता के परिचायक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में चित्रों का समुचित उपयोग किया गया है। आवरण पृष्ठ भी रंगीन होने के साथ-साथ आकर्षक भी है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उक्त कृति उत्तम यात्रा साहित्य की श्रेणी में परिगणनीय है। (बड़े हर्ष की बात है कि इस कृति पर श्री र. शौरिराजन को भारत सरकार से एक हज़ार रुपये का पुरस्कार प्राप्त है। —संपादक)

कृष्णमन्दिर : (नाटक) ; लेखक : श्री एन. डी. कृष्णमूर्ति, एम. ए. बी. ईडि. प्रकाशक : भारतीय साहित्य मंदिर, धारवाड-1 ; मूल्य : दो रुपये।

कालिदास ने कहा है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्"। दृश्य काव्य के रूप में नाटक की रमणीयता अधिकतर उसकी अभिनेयता पर निर्भर रहा करती है। परन्तु वर्तमान काल में जब नाटक को दृश्य काव्य और श्रव्य काव्य के दोहरे व्यक्तित्व को निभाना पड़ता है, सफलता सन्तुलित प्रस्तुतीकरण पर निर्भर रहती है। नाटक में जहाँ स्वाभाविकता आद्यन्त व्याप्त रहती है, पाठक संकेन्द्रित ध्यान के साथ नाटकीय

कथावस्तु में लीन हो जाता है। प्रस्तुत नाटक पाठक को अभिभूत करने की क्षमता रखता है। कथावस्तु का विकासक्रम बड़ा स्वाभाविक है। रामदास के घायल होने की घटना को और रोचक बनाया जा सकता था। मन्दिर के नाम पर भारत भर में होनेवाली ढकोसलाबाजी को लेखक ने बड़ी कुशलता से अनवगुण्ठित किया है। लेखक की भाषा में कन्नड की साहित्यिक भूमिका की परछाईं दूर तक छायी हुई है। तमिल और कन्नड के मुहावरों के अनूदित रूप का प्रयोग अनूठा रस प्रदान करता है। देशी अहदे में विलायती शराब की तरह लेखक की भाषा कल की हिन्दी की झलक दिखाती है। परन्तु यह कहने में हमें संकोच नहीं कि प्रस्तुत नाटक, अपनी कई मौलिकताओं के कारण पुरस्कार के योग्य है। छपाई तथा आवरण पृष्ठ को और अधिक आकर्षक बनाया जा सकता था। —विष्णुप्रिया

गांधी सप्तक—(कविता संग्रह); रचयिता: 'देव केरलीय'; प्रकाशक: हिन्दी प्रकाशन सहकारी संघ, कोट्टयम्; मूल्य: 50 पैसे.

पंडित नारायणदेव, जिनकी साहित्यिक संज्ञा देव 'केरलीय' है, हिन्दी के सुकवि हैं। यह उनकी सात सुंदर गांधी गाथा कविताओं का संग्रह है। शीर्षक हैं—1. प्रणति हमारी स्वीकार करो, 2. हम गांधी के अनुयायी, 3. गांधी मंडप, 4. पाथेय, 5. बापू के श्रीचरणों पर, 6. धरती की आत्मा, 7. युगमानव। हिन्दी के लोकप्रिय कविवर बच्चनजी ने इस संग्रह की भूमिका लिखी है। ये सभी गीत बहुत ही सुन्दर, सुपाठ्य बने हैं; लेखक बधाई व प्रोत्साहन के पात्र हैं।

जीवन साहित्य (गांधी-चिन्तन अंक), सितंबर-अक्तूबर, 1969; प्रकाशक: सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली; मूल्य: 2.50.

अहिंसात्मक नवचेतना का मासिक 'जीवन साहित्य' गांधीवाद का प्रशस्त परिवाहक है। उसका यह लघु विशेषांक सचमुच उपादेय प्रकाशन है और इस गांधीशताब्दी वर्ष के अनुकूल भी है। विशेषांक की सामग्री तीन खंडों में विभाजित है—सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र्य। इनमें संगृहीत लेखों के विषय हैं—विभिन्न व्यक्तियों ने गांधीजी को किस रूप में देखा, किस रूप में समझा और गांधीजी ने अपने आदर्शों को किस प्रकार अपने जीवन में उतारा।

पठनीय एवं संग्रहणीय विशेषांक है।

வாழ்க நீ எம்மான் (वाऴ्ग नी ऍम्मान्!) कविता संग्रह: कविवर श्री ता. मु. सेतुरामन्; प्रकाशक: कवियरशन् पतिप्पकम्; 74, वेंकटेश ऍिग्रामणि स्ट्रीट, मद्रास-2; मूल्य: तीन रुपये।

पूज्य बापूजी के जयगान और कीर्तिगान के रूप में सभी भारतीय भाषाओं के सुख्यात कविवरों की चुनी हुई कविताओं के तमिल पद्यानुवाद इसमें दिये गये हैं। कुशल कविवर ने हिन्दी प्रचारक एवं लेखक श्री के. नारायणन के समवेत प्रयास से भारतीय कविताओं को, जो गांधी गाथा के हैं, तमिल में छंदोबद्ध किया है। तमिल के भारती, मलयालम के जी. शंकर कुरुप और वळ्ळत्तोल, हिन्दी के शिवमंगल सुमन, पंतजी और माचवेजी, तेलुगु के दाशरथि और जंध्याल पापय्य शास्त्री, कन्नड के इश्वासणगल्ल और गोविन्द पै. आदि भारतीय कविवरों की कविताएँ इसमें दी गयी हैं।

राष्ट्रीय चेतना का संवर्धक, श्लाघ्य प्रयास है। —'शौरि'

अंधेरे के विरुद्ध: उपन्यास; लेखक: श्री उदयराज सिंह; प्रकाशक: अशोक प्रेस, पटना-6; मूल्य: रुपये पाँच मात्र।

इस उपन्यास में लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर कालीन एक गाँव का सजीव चित्रण करने का सफल प्रयास किया है। कथानक के प्रस्तुतीकरण में लेखक ने एक विचित्र नये विधान को अपनाया तथा बड़ी कुशलता व मुस्तैदी के साथ अंत तक उसे निभाया भी। दो पीढ़ियों की दो गाथाओं को बड़े ही रोचक ढंग से उपन्यास के आरंभ से अंत तक साथ-साथ चलाकर लेखक ने सचमुच कमाल कर दिया है। जमीन्दार शासनकाल के गाँव के एक इतिवृत्त को अंतर्कथा के रूप में लेकर लेखक ने उसी गाँव का स्वातंत्र्योत्तर कालीन चित्र को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। प्रधान इतिवृत्त के साथ आगे बढ़ते हुए पाठक के मन में अन्तर्कथा को जानने की उत्सुकता भी बराबर बनी रहती है।

जमीन्दारी प्रथा के निर्मूलन के बाद एक गाँव के जमीन्दार का बेटा बी.डी.ओ. बनकर उसी गाँव में आता है। गाँव की बुरी हालत को सुधारने की कोशिश करता है। इस कार्य में गाँव के डाक्टर का सहयोग भी उसे प्राप्त होता है। लेकिन उनको गाँववालों का, वहाँ के व्यापारी लोगों का तथा राजनीतिक नेताओं का इस कदर सामना करना पड़ता है कि अन्त में बी. डी. ओ. तथा डाक्टर को हार मानना पड़ता है। पात्रों का चित्रण, भाषा, शैली तथा कथानक का प्रस्तुतीकरण इतने रोचक हैं कि पढ़ते ही बनता है। —मु. नरसिंहाचार्य

(४) **भारत भारती**—इस स्तंभ में हिन्दी के साथ दक्षिण के चारों भाषा-साहित्यों की समुन्नत गद्य-पद्यात्मक कृतियों के "सार-सार" का प्रकाशन होगा। केन्द्र तथा प्रादेशिक साहित्य अकादमियों, भारतीय ज्ञानपीठ प्रभृति हिन्दी प्रकाशन संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत तथा प्रकाशित रचनाओं का भी रसास्वादन कराया जायगा। दक्षिणी साहित्य के अनुवाद-लेखन को भी प्रोत्साहित किया जायगा।

प्रादेशिक गद्य-पद्य-साहित्य की नूतन विधाओं की मार्मिक टुकड़ियों (कविता, कहानी-एकांकी-आदि) को भी शाया किया जायगा। मूल कविता के हिन्दी कवितानुवाद को तरजीह दी जायगी। गद्यानुवाद भी स्वीकार्य है। कविता दोनों लिपियों में (प्रादेशिक तथा नागरी-लिपि) लिख भेजनी होगी। पृष्ठ संख्या की तंगी के कारण छोटी तथा चुनी-गिनी रचनाएँ स्वागतार्ह होंगी।

अंत में "हिन्दी प्रचार समाचार" के सभी पाठकों, ग्राहकों तथा प्रमाणित प्रचारक-बंधुओं से हमारा साग्रह अनुरोध है कि पत्रिका का संवार-श्रृंगार करने तथा पृष्ठ संख्या की वृद्धि के लिए पत्रिका की ग्राहक संख्या बढ़ाने में हमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें।

—**संपादक**

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. **"यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें, जो सिद्धांतों की मूर्तिमात्र हो—जिनमें जीवन नहीं हो।"** (गद्य रत्नावली)

बीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में प्रेमचन्द के समान भारतीय जन सामान्य की हू-ब-हू तस्वीर साहित्य वेदी पर उपस्थित करनेवाले दूसरे नहीं थे। आदर्शोन्मुख यथार्थवादी कलाकार होते हुए भी उनके अंतिम उपन्यास "गोदान" में हमने शुद्ध प्रगतिवादी कलाकार के रूप में उनके दर्शन किये। मनुष्य मात्र से उनका अगाध प्रेम था। उन्होंने कभी भी अवास्तविक चरित्र का उद्घाटन करने की दुश्चेष्टा नहीं की है। प्रस्तुत अंश आपके "उपन्यास" नामक विश्लेषणात्मक निबन्ध से दिया गया है।

साधारणतया वह व्यक्ति आदर्शवादी माना जाता है जो किसी समाज, संप्रदाय या वर्ग विशेष की प्रस्तुत दशा से असंतुष्ट होकर उसके लिये किसी नये आदर्श की कल्पना करता है। भूतल पर स्वर्ग, खुदा का राज्य, रामराज्य, शोषण रहित समाज आदि को स्थापित करना चाहता है। मगर इसके विपरीत कोरी कल्पना जगत से कोसों दूर रहकर जीवन की समस्त परिस्थितियों के प्रति ईमानदारी का दावा करते हुए भी प्रायः सदैव मनुष्य की हीनताओं और कुरूपताओं का चित्रण करता है। उपरोक्त दोनों सिद्धांत अपने में पूर्ण नहीं है। क्योंकि कोरे आदर्शवाद का प्रभाव लोगों पर कम ही पड़ता है। यह जरूर होता है कि एक आदर्शमय चरित्र के अध्ययन करने पर मन को शांति मिलती है। मगर वैसे पात्र हमारे आस-पास कहीं कभी, देखने को न मिले तो निराशा होती है। कहने का मतलब है, निर्जीव चरित्र का प्रभाव सजीव समाज पर नहीं पड़ सकता। रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणों में चित्रित चरित्र से बीसवीं शताब्दी के मनुष्य प्रभावित होते हैं तो उसका यही कारण है कि वे सब कोरी कल्पना के न होकर जीवन्त रहे हैं। प्रेमचन्द यहाँ उन आदर्शवादी कलाकारों को सावधान करते हैं जो केवल कोरी कल्पना के सहारे उच्छृंखल समाज के सामने आदर्श व्यक्तित्व का स्वरूप खड़ा करके अपने कर्तव्य की इतिश्री मान बैठे हैं। इस दिशा की ओर जागृत कलाकारों को विशेष ध्यान देना चाहिए।

2. **मन! माधव को नेकु निहारहि।**
तौं जनि तुलसीदास निसि बासर हरि पद कमल बिसारहि।।

(प्राचीन पद्य प्रसून)

भक्त शिरोमणी गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति भावना में शक्ति, शील एवं सौन्दर्य का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उनकी राम-भक्ति वह परमार्थ है, जिससे जीव को जिन्दगी में वीरता, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता आदि सब कुछ सुलभ हो सकती है। 'विनय पत्रिका' से यह पद दिया गया है। इस ग्रन्थ में प्रधानतः तुलसी की मनोवृत्ति का विशद निरूपण हुआ है। राम-भक्ति का कोरे प्रचार मात्र तुलसी का लक्ष्य न होकर, सामान्य मनुष्य के अंदर सुप्त दशा में रहनेवाले महामानव को जागृत करना भी उनका परम लक्ष्य रहा है। समाज की आबो-हवा में रहकर लोकधर्म का निर्वाह करते हुए किस भांति मनुष्य को जीवन व्यतीत करना है, यह सब 'मानस' में हमें प्राप्त हैं तो आत्म-शुद्धि के जरिये मनुष्य जाति किस भाँति अपरिमित शक्ति हासिल कर सकती है—यह 'विनय पत्रिका' में हम पा सकते है।

विश्व में व्याप्त नाना प्रकार के उत्पीडन का कारण मूलरूप में जीव का मन ही तो है। कतिपय विचारों या अभिलाषाओं में फँसकर आत्मा अपने असली स्वरूप को भूल जाती है। असत्य को सत्य मानने उद्यत होती है। मन की अस्थिरता में नाना प्रकार की विषय वासना में लीन होकर आत्मा कलुषित होती है। संसार भोग-भूमि नहीं है, यह कर्म-भूमि है। यहाँ तुलसी अत्यंत विनय-भावना से प्रेरित होकर अपने मन को सचेत करते दीखते हैं। हे मन! भगवान माधव (राम) की तरफ़ ध्यान दे। रे शठ! हर हमेशा कंगाल किस भाँति अपनी अतुल धन-राशि की रक्षा करना चाहता है उसी प्रकार तू परमात्मा राम को अपने मनोमंदिर में पूजा करता रहा। राम शक्तिशील, सौन्दर्य एवं ज्ञान के आगार हैं। संत वृन्द को सदा प्रसन्नता देनेवाले, समस्त पापों को भंजन करनेवाले एवं विषय विकारादि को दूर भगानेवाले हैं राम। अगर तू योग-साधना, यज्ञ-व्रतादि कर्मकांडों से दूर रहकर संसार सागर से पार पाना चाहता है तो हे मन! (तुलसी) रात-दिन श्रीराम चन्द्र के चरणारविन्दों का स्मरण करते रह।

संत कुल-श्रेष्ठ तुलसी यहाँ कहते हैं कि राम-नामस्मरण करने से ही भव-ताप शान्त हो सकता है। अपने हठी मन को इसीलिये वे समझाते हैं। मृग-तृष्णा का पीछा छोड़कर मन को भगवान की भक्ति रूपी भागीरथी में अवगाहन करना ही हमारा प्रथम कर्तव्य है।

4. आज झाड देगा निश्चय ही तू इस जड़ता के जाले ;
आ पहुँचा तू अहा ! अचानक विप्लव की झाड़ूवाले !

— (नवीन पद्य रत्नाकर)

स्वर्गीय सियारामशरण गुप्त की कृतियों में हम ज्यादातर प्रसाद गुण की खूबियाँ देखते हैं, जो अत्यंत स्वाभाविक है। अग्रज मैथिलीशरण ने काव्योपेक्षिता नारियों के प्रति जैसे अपना ध्यान केन्द्रित रखा था, वैसे ही अनुज ने मानव जीवन से संबन्धित कई ऐसे उपेक्षित घटनाओं को अपने काव्यों में उचित स्थान दिया है। सम सामयिक विचार धाराओं से प्रभावित कवि गाँधीजी के अनन्य आराधक रहे। बापू की विचारधारा एवं देश-भक्ति की भावना में मानों कवि ने अपनी आत्मा को एक रस कर दिया है। "शुभागमन" शीर्षकवाली इस कविता में उदात्त अनुभूति मात्र हम नहीं देखते, अपितु सुलझी चिंतनधारा के दर्शन भी करते हैं। परंपरा से प्रचलित नाना प्रकार की कुप्रथाओं ने भारतीय जनजीवन को अनादि काल से जटिल एवं विषैला बना रखा था। सारहीन बातों को छोड़ने से लोग दर्द का अनुभव तक करने लगे थे। कूपमंण्डूकता ने घर कर लिया था। इन सब ने सहृदय कवि के अन्तस्थल को बुरी तरह से विदीर्ण कर दिया था। कहने का तात्पर्य है कि सामान्य जन जीवन के प्रगतिपथ में अडंगा डालनेवाली विचारधाराओं के आप सशक्त विरोधी निकले। सामाजिक क्रांति की प्रबल कामना कवि के मन में जाग उठी। कुप्रथाओं को जड़मूल नष्ट करने का स्वप्न कवि देख रहे थे। उनका विरोध विध्वंसात्मक न होकर आखिर तक सौम्य व सात्विक रूप में व्यक्त होता रहा। श्री रामचन्द्र, कृष्ण सदृश युग पुरुष जिस भाँति मात्र अपने युग को न प्रवर्तित कर भविष्य के लिये भी स्वयं आदर्श रहे उसी भांति मोहनदास गांधी ने पुनः यहाँ अवतार लिया है। राजनीतिक पराधीनता से बढ़कर धर्मान्धता, जातीय कट्टरता, संकीर्ण मनोभावना आदि प्रवृत्तियों से भारतीय जनता मृतप्राय हो चुकी थी। ऐसे अवसर पर बापू यहाँ अवतरित हुए। शंख, चक्रधारी न होकर हस्त में झाड़ू लेकर मोहन (विष्णु) अवतरित हुए। यहाँ के जन जीवन में फैली गंदगियों को झाडने के वास्ते कर्म का प्रतीक झाड़ू लेकर वे आये। कवि की कल्पना शायद इस घटना पर आधारित रही होगी कि चंपारन सत्याग्रह के अवसर पर गांव के लोगों से किये जानेवाली गंदगी की सफ़ाई गान्धी ने खुद झाड़ू लेकर की। कम शब्दों में कहें तो बापू ने कर्म मार्ग की महत्ता को पुनः हमें बताया है। सामाजिक व्यवस्था या धार्मिक परंपरा ने कई निरर्थक मान्यताओं को यहाँ फैलाया है। प्रगति-गामी जीवन के लिये वे सब विघ्न स्वरूपा रहीं। उन गंदगियों को चक्र से या वेणु से दूर कैसे किया जा सकता था ? अतः मोहन ने उचित

उपाय के साथ काम शुरू किया। राष्ट्र का समस्त वातावरण जहरीला बना था। हे बापू! इस संकट से तू ही हमारी रक्षा कर सकता है। कवि स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—हमें पूर्ण यकीन है कि आज तू ही जड़तापूर्ण जालों को झाड़-पोंछकर शुचित्व की स्थापना कर सकता है। भारत में फैले हुए निरर्थक रूढ़ियों को तहस नहस करने के लिये कवि लालायित हैं। क्रांति करने झाडूधारण मानों बापूकर आये हैं। प्रस्तुत पद्य में गांधी के प्रति कवि की आस्था खूब दर्शित है।

4. **'पराधीनता से बढ़कर विडम्बना और क्या? अब समझ गये होंगे कि वह संधि नहीं पराधीनता की स्वीकृति थी।'** —(चन्द्रगुप्त)

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों के महान भारतीय साहित्यकारों में प्रसाद भी एक थे। उनको मैं हिन्दी भाषा का कवि न मानकर भारतीय कवि मानता हूँ। क्योंकि उनका संपूर्ण साहित्य स्वयं भारतीय संस्कृति की अमर व्याख्या है। उनके नाटकों में आर्यावर्त का अतीत मूर्तिमान होकर नाच उठा है। वह वर्तमान को ध्वनित करता हुआ भविष्य की ओर इंगित करता है। आपकी कृतियों की मूल चेतना सांस्कृतिक आवरण में सामाजिक, धार्मिक, एवं राजनीतिक परिस्थितियों को समेटे रहती है। "चन्द्रगुप्त" नाटक के द्वितीय अंक के सातवें दृश्य से यह अवतरण प्रस्तुत है। देशद्रोही आंभिक की सहोदरी कुमारी अलका पंचनद के राजा पर्वतेश्वर से यों कहती है।

नारी जीवन के प्रति एक तरह की आस्थाजनक प्रत्याशा प्रसाद के सभी नाटकों में पाई जाती है। विदेशी आक्रमणकारियों के समक्ष नतमस्तक होनेवाले पुरुष बन्धुओं का परित्याग लोक धर्म की रक्षार्थ अलका करती है। समकालीन राजनीति में अंशतः ही सही, अलका सक्रिय भाग लेती है। मालव कुमार वीर सिंहरण के प्रति उसके मन में जो प्रेम जागा उसे अंतःकरण में ही बंद करके राष्ट्रोद्धार के गुरुतर कार्य में लगती है अलका। वयस्क पर्वतेश्वर भी अलका पर मुग्ध हैं। मगर अलका उस ओर मौन है। सिकन्दर के साथ पर्वतेश्वर ने जो संधि कर ली थी, उसकी खूब खिल्ली अलका अवसर मिलने पर उडाती रहती है। राजनीति में ऐसी संधियाँ भविष्य में केवल पराधीनता की कडियाँ ही बनती हैं। ऐसी झूठी संधियों के कुपरिणामों से भारतीय जनता प्रागैतिहासिक काल से लेकर 'ताशखण्ड' संधि तक देख चुकी है। पर्वतेश्वर अलका को अपने सुसज्जित राजमहल की मखमली शय्या पर देखना चाहता है। उलका के मोह में पड़कर वह सब कुछ करने उद्यत होता है। देश-भक्ता अलका काफ़ी प्रभावशाली ढंग से अपने प्रति पर्वतेश्वर को आकृष्ट होता जानकर समकालीन राजनीतिक अंतरिक्ष को

प्रकाशमान बनाने की चेष्टा करती है। मालव पर आक्रमण करनेवाली यवन सेना को पर्वतेश्वर की जो मदद मिलनेवाली थी, उसे रोक लेती है। सिकन्दर से विश्वासघात करने की परेशानी राजा को सताती है तो भी अलका के मोह के सामने वह सामान्य बन जाती है। झूठी संधि के ओट में जो पराधीनता छिपी है, उसे अब थोड़ा समझने लगा है। खुद एक बन्धन में राजा बंदी हुआ है। अलका प्रभावशाली ढंग से वस्तु स्थिति का परिचय भुक्तभोगी राजा को देती है। प्रसंग से स्पष्ट होता है कि राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हर समस्याओं का समाधान अपने में पूर्ण होवें, समझौते के बहाने समस्याओं को बिसारने की चेष्टा न किया जाय।

—श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्चि

'राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. "**कहते हैं, दुनिया बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है, जितने से उस का स्वार्थ सधता है। बाकी फेंक कर आगे बढ़ जाती है।**"

यह आधुनिक हिन्दी के प्रख्यात निबन्धकार पंड़ित हजारीप्रसाद द्विवेदी के "अशोक के फूल" नामक निबन्ध से दिया गया है। इस निबन्ध के बहाने द्विवेदीजी कहना चाहते हैं कि दुनिया में कोई भी चीज स्थिर नहीं है; किसी की मान-मर्यादा शाश्वत नहीं है। बस! परिवर्तन ही परिवर्तन है!

दुनिया फ़ानी है या बाक़ी, इस पचड़े में न पड़कर इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि वह चलती बदलती है। दुनिया या संसार का मतलब उसके नक्शे या उसकी मिट्टी नहीं है बल्कि जिंदगी जीनेवाले लोग है। आदमी के अंदर कुछ जन्मजात शक्तियाँ निहित होती हैं अवश्य; किन्तु उनको उभाड़नेवाली स्थितियाँ और वस्तुएँ समयानुसार भिन्न-भिन्न होती हैं। ज्यों-ज्यों आयु बीतती है, आदमी ज्ञानार्जन करता है और अनुभवी बनता जाता है। अनुभव के अनुसार उसकी आवश्यकताएँ बनती हैं और आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली चीज़ें संस्कार के अनुसार बदलती जाती हैं।

युगों पहले हमारे समाज और साहित्य में अशोक-पुष्प ही नहीं, अशोक वृक्ष भी बड़ा समादृत था। लोग अशोक वृक्ष की पूजा करते थे। (यह पूजा संभवत: यक्षों और गंधर्वों की देन है।) वास्तव में लोग अशोक वृक्ष के बहाने कंदर्प देवता या कामदेव की पूजा करते थे। इसे मदनोत्सव कहते थे। यह उत्सव त्रयोदशी के दिन मनाया जाता था। संस्कृत के 'मालविकाग्निमित्रम' और 'रत्नावली' नामक नाटकों में इस मदनोत्सव का बड़ा ही मनोहर एवं रमणीय वर्णन मिलता है।

कोमलांगी सुंदरियाँ पूजा के थाल लिए पहले कंदर्प देवता या कामदेव की पूजा करती थीं और बाद में मनोहर भंगिमा से पति के चरणों पर अपनी अंजली के मादक पुष्प बिखेर देती थीं। यह सचमुच बड़ा ही मादक दृश्य है। कामोद्दीपन के लिए यह पुष्प-संभारमय उत्सव मनाया जाता था। ऐसे अविराम एवं कामोद्दीपक उत्सव सामंत-सभ्यता में ही संभव था जो सभ्यता साधारण जनता के परिश्रमों पर पली थी। ऐसी ही सभ्यता के परिवेश में हिन्दी की रीतिकालीन काव्यधारा फूट निकली जो सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तित होती ही सूखसी गई। इसी प्रकार जब सामंतों और साम्राज्यों का नामोनिशान नहीं रह गया तब काम वासना के प्रतीक अशोक के फूल की पूछ भी नहीं रह गई। यह उसी नाटकीय ढंग से समाज और साहित्य के प्रांगण से तिरोहित हो गया था जिस मनोहर नाटकीय ढंग से सामंतों के मंच पर उसका प्रवेश हुआ था। संतान कामिनियों का काम जब पीरों और भूत-भैरवों के द्वारा होने लगा, तो बस अशोक का फूल बिलकुल भुला दिया गया! आखिर दुनिया स्वार्थी ही है! आदमी के संपर्क में जितनी भी चीजें जाती हैं उन सभी को वह थोड़े ही याद रखता है। वही वस्तु—वही अनुभव वह याद रखता है और याद करता है जिसके द्वारा उसका कोई न कोई प्रयोजन सिद्ध होता है। इसीलिए तो कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहा—

'जगती वाणिवृत्ति है रखती, उसे चाहती जिससे चखती, काम नहीं, परिणाम निरखती, मुझे यही खलता है, दोनों ओर प्रेम पलता है।'

2. **"लोकतंत्र का विषय मूल में नैतिक है।"**

यह आधुनिक युग के विख्यात राजनीति-विशारद स्वर्गीय हेराल्ड लास्की का कथन है जो श्री भगवानदास केला की पुस्तक "लोकराज्य या सच्चा लोकतंत्र" के छठे अध्याय के प्रारंभ में उद्धृत है। प्रस्तुत प्रसंग का आधार लेकर लेखकने लोक-तंत्र और नैतिकता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है।

लोकतंत्र अथवा जनतंत्र आधुनिक युग की राजनैतिक विचार-धारा में महत्वपूर्ण स्थान रखे हुए है। मानव समाज के विकास-क्रम में आवश्यकतानुसार कई अंदरूनी व्यवस्थाएँ अस्तित्व में आई हैं, जैसे राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था, कानूनी व्यवस्था आदि आदि। लोकतंत्र राजनैतिक व्यवस्था की नीति के अन्तर्गत आता है। यह धारणा बिलकुल असंगत है कि राजनीति और नैतिकता के बीच में पटरी नहीं बैठती। विवेक का आधार लेकर निर्मित मानव-समाज में नैतिकता की उत्पत्ति होती है; क्योंकि जब हम समरसतापूर्ण भौतिक जगत के प्रति ध्यान देंगे, जिसका आधार लेकर मानव आविर्भूत हुआ, तब हमें मालूम होगा कि मानव मूलतः

बौद्धिक प्राणी है और इसलिए वह नैतिक प्राणी है। वह भौतिक जगत के विशाल प्रांगण में सम्पन्न लंबे विकास-क्रम में आविर्भूत हुआ और यह विकास-क्रम अविच्छिन्न रूप से लगातार जारी रहा है। मानव अपने मस्तिष्क, बुद्धि, संकल्प इत्यादि के साथ भौतिक जगत का एक अभिन्न अंश है। भौतिक जगत की प्रगति उच्छृंखल अथवा रहस्यमय नहीं है बल्कि एक नियमबद्ध व्यवस्था है। अतः मानव का अस्तित्व और विकास तथा उसके उद्वेग, विचार, संकल्प आदि भी निश्चित हैं। अतएव मानव प्रधानतः बौद्धिक एवं नैतिक प्राणी है। मानव की नैतिकता उसकी जन्मजात बुद्धिमत्ता के साथ निर्दिष्ट होनी चाहिए। तभी वह स्वभावतः और अपनी इच्छा से नैतिक बन सकता है। मानव की जन्मजात बुद्धिमत्ता तथा नैतिकता समरसतापूर्ण व्यवस्था (Harmonious Order) पर जोर देता है। नैतिकता बुद्धिमत्तापूर्ण अथवा विवेकपूर्ण कृत्य मात्र है। अतएव समस्त सामाजिक प्रयास का उद्देश्य यह होना चाहिए कि मानव अपनी जन्मजात बुद्धिमत्ता के प्रति अधिक से अधिक जाग्रत रहे।

मानव की नैतिकता जन्मजात तो है; किन्तु मानव का व्यवहार सदैव नीतिपरक नहीं होता। जब मानव में स्वार्थपरता आवश्यकता से अधिक जमा होती है तब उसके व्यवहार में नैतिकता का पहलू ओझल हो जाता है। नैतिकता से आशय यह है कि हम सब का हित चाहें अर्थात जिस तरह हम अपने हित-साधन में लगे रहते हैं उसी प्रकार सब का हित-साधन करते रहें। ऐसा व्यवहार तभी संभव होता है जब कि हम अपने अधिकारों के साथ-साथ अपने कर्तव्यों के सम्बन्ध में भी सावधान रहें। नैतिकता की पहली शर्त यह है कि जो मानव अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता है वह अपने अधिकारों को भी खो देता है। सामाजिक व्यवस्थाओं के असंतुलन, दुनियाँ की खुराफात और मानव के बर्बरतापूर्ण व्यवहार आदि का एकमात्र कारण मानव का अनैतिक व्यवहार ही है। वर्तमान लोकतंत्री अथवा जनतंत्री राज्यों में जनता के हित-साधन के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएँ बना दी जाती हैं; तरह-तरह के निर्माण कार्य होते हैं। किन्तु मानव के अंदर दमित, विस्मृत जन्मजात प्रवृत्ति को उसके नैतिक पहलू को जगाने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है। जब तक यह प्रयत्न नहीं किया जाता, तब तक राजनैतिक दलबंदियों का स्वैरविहार जारी रहेगा और कानून के विशेषज्ञ कहे जानेवाले वकील लोग अपने पक्ष में फैसला कराने के हेतु कानून के बाल की खाल निकाल-निकाल कर जज साहब को भी गुमराह करते रहेंगे। अतएव बहुजनहिताय सच्चे लोकतंत्र की स्थापना मानव के जन्मजात विवेक एवं स्वाभाविक नैतिकता के जागरण तथा विकास पर निर्भर करती है।

8. "जब गहने बनवाने पर भी निष्ठुराई की, तो यही कहना पड़ेगा कि यह जाति ही बेवफा है।"

यह अवतरण कहानी सम्राट स्वर्गीय प्रेमचन्द की "आभूषण" नामक कहानी से उद्धृत है। जब यह मालूम हुआ कि झींगुर की पत्नी बिना किसी लड़ाई-झगड़े के, छे महीने के बच्चे को भी छोड़कर, चुपचाप दूसरे पुरुष के साथ भाग खड़ी हुई, तब विमल ने यह उद्धरित वाक्य कहा।

मानव—स्त्री हो या पुरुष सदैव स्थिर और नियमबद्ध नहीं रहता। मानव किसी भी स्थिति में अपने जीवन से संतुष्ट नहीं रहता। विमल अब तक समझता आया कि गहने पाते ही उसकी पत्नी शीतला, चैन की बंसी बजाएगी। किन्तु अब झींगुर की पत्नीवाली घटना सुनने के बाद उसने सारी-स्त्री जाति पर ही लांछन लगा दिया जो उसकी पत्नी पर भी लग सकता है। यह कुछ हद तक ठीक भी है। उसकी पत्नी भी दूध की धुली नहीं है। शीतला और विमल का सम्बन्धी और मित्र सुरेश एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और शरीर की स्वाभाविक भूख मिटाने पर उतारू भी हुए। किन्तु प्रेमचन्द की आदर्शवादिता की करामात की बदौलत उनके रुखने पलटा खाया।

विमल घरबार सब छोड़कर पत्नी को खुश करने के इरादे से—उसके आभूषण-प्रेम को साकार करने के प्रयत्न में रंगून भाग गया और वहाँ अपनी पत्नी के लिए गहने जुटने सिर तोड़कर कोशिश करने लगा। अब तक वह इसी धारणा में था कि गहने पाते ही स्त्री एकदम निहाल हो जाएगी। किन्तु झींगुर की पत्नी, गहनों की कमी न होने पर भी, गुमराह हो गई। झींगुर की पत्नी का यह व्यवहार विमल की समझ के परे हो गया। अतएव उसने अपना बयान-सा दिया कि स्त्री जाति ही बेईमान है—विश्वास रखने योग्य नहीं है। किन्तु झींगुर की पत्नी उसी धातु से बनी प्रतीत होती है जिस धातु से टालस्टाय की "अन्ना करिनीना", शरत् बाबू की "सविता" और रांगेय राघव की "गदल" बनी हुई हैं।

मराठी के यशस्वी उपन्यासकार श्री वि. स. खांड़ेकर ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'क्रौंच-वध' के एक पात्र के द्वारा कहलाया—"वेश्या अपनी सुंदरता की बिक्री फुटकर करती है; किन्तु कुलीनस्त्री विवाह के रूप में उसका थोक विक्रय करती है" इस प्रसंग में व्यक्त विमल का कथन भी करीब-करीब इसी तरह है। क्या विमल का यह आक्षेप पुरुष जाति पर लागू नहीं हो सकता? हाँ, बिल्कुल ठीक उतरता है। जीवन की एकरसता उचाट पैदा करती है। यह उचाट जाने-अनजाने सब लोग महसूस करते हैं। परिवर्तन आकर्षक ही नहीं बल्कि स्फूर्तिदायक भी

होता है। अतएव स्त्री हो या पुरुष अपने सुखमय जीवन के कोलाहल में भी इधर-उधर उत्सुक होकर देखता। कुछ लोग, जो सामाजिक मान-अपमान को ज्यादा महत्व देते हैं, मन की उत्सुकतापूर्ण आकुलता मन के अंदर ही दबाकर मानसिक व्यभिचार करते हैं और कुछ लोग, जो झींगुर की पत्नी की तरह निडर होते हैं, मन की प्रेरणा के अनुसार चलकर भाव और कर्म को एक कर देते हैं। यथार्थतः ईमानदारी या वफादारी या सचाई वहीं होती है जहाँ भाव और कर्म, किसी प्रकार के संघर्ष के बिना, एकाकार या समरस होते हैं। हमारे शास्त्रों में मन की चंचलता को भी दोष माना गया है। इस कसौटी पर यदि कसा जाए, तो दुनिया में ऐसा एक भी शायद ही मिले जो बेवफा या बेईमान न कहा जाए।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा विशारद'—उत्तरार्द्ध परीक्षा

1. **मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।**
   सांप पिटारा राणा भेज्या, मीरा हाथ दियो जाय।
   न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय।
   जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय।
   न्हाय धोय जब पीवण लागी, हो अमर अँचाय।
   सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरा सुलाय।
   सांझ भई मीरा सोवण लागी, मानो फूल बिछाय।
   मीरा के प्रभु सदा सहाई, राखे विघन हटाय।
   भजन भाव में मस्त डोलती, गिरिधर पै बलि जाय॥

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 149)

मीराबाई केवल गायिका और कवयित्री ही नहीं, श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका भी थीं। उनका प्रत्येक पद अमृत रस से परिपूर्ण है। माधुर्य भाव से अपने आराध्य देव की उपासना करनेवाली मीरा भगवान के सामीप्य सुख के लिए लालायित है। भगवान कृष्ण ने कई विपत्तियों से उस अनन्य साधिका को बचाया था। मीरा ने प्रस्तुत पद में अपने आराध्य देव की असीम कृपा तथा आश्रितवत्सलता पर प्रकाश डाला है।

मीरा मग्न होकर भगवान कृष्ण के गुण गाने लगती हैं। मीरा के ससुर मेवाड़ का महाराणा मीरा के व्यवहारों से खिन्न एवं अप्रसन्न हुआ। राणा ने मीरा को मारने के लिए सांप की पिटारी भिजवा दी। भगवद् भक्ति में तन्मय

मीरा ने जब नहा धोकर पिटारी खोल दी तो उसमें सालिग्राम दिखाई पड़ा। उसके बाद राणा ने विष का प्याला भिजवा दिया। जब मीरा नहाने के बाद विष पीने लगी तो वह उसके लिए पूजा के पहले पीने का अमर आचमन बन गया। फिर भी रुद्ध क्रुद्ध सम्राट का क्रोध शांत नहीं हुआ। उसने भगवान की उस अनन्य उपासिका को सुलाने के लिए कांटों की सेज भिजवा दी। लेकिन सांझ हुई और मीरा सोने लगी तो ऐसा लगा मानों उस सेज पर फूल बिछे हों। मीरा कहती है कि मेरे प्रभु भगवान कृष्ण सदा मेरे सहायक रहे हैं और उन्होंने सभी विघ्नों को हटा दिया है। भगवद् भजन में आमग्न होकर वह उनपर अपने को अर्पण करती है।

प्रस्तुत पद एक सच्ची साधिका का हृदयोद्गार है। इस पद में मीरा की भावाकुलता और तन्मयता विशेष दर्शनीय है। कला विहीनता ही इस पद की कलात्मकता है और सहजता ही इसका सौन्दर्य है। मीरा की पदावली भक्तों, संगीतज्ञों और काव्य रसिकों में समान रूप से आदृत है। प्रस्तुत पद नितांत वैयक्तिक, आत्मस्फूर्त एवं आत्मकेन्द्रित है।

2. **विशु की रात 'चन्द्रलेखा' थी, दिवस सूर्य का मंदिर।**
ऊषा-सन्ध्या में गुंजित था आत्मज का शैशव स्वर॥
लगता उसे कभी था मानो उसका आत्मज आया।
अलक जाल में किलक पुलक भर मुख-सरोज मुसकाया॥

(कोणार्क—पृष्ठ 42)

श्री रामेश्वर दयाल दुबे भारतीय संस्कृति एवं सरलता के सुमधुर गायक हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा से अतीत की दुर्भेद्य तहों में दबी संस्कृति का उद्धार किया है। कोणार्क के सूर्य मंदिर की कला अप्रतिम एवं अद्भुत है। लेकिन उस परम रमणीय मंदिर के स्रष्टा शिल्पी विशु की करुण कथा ने मंदिर और उसके परिवेश को आँसुओं से सिक्तकर दिया है। महाशिल्पी विशु अपने कुशल शिल्पीदल के साथ सूर्य मंदिर के निर्माण में दत्तचित्त थे। बारह वर्ष के अथक प्रयत्न के फलस्वरूप ही मन्दिर का निर्माण लगभग पूर्ण हो चुका था। विशु को अपनी पत्नी और संतान की मधुर याद सताती थी। प्रस्तुत पद महाशिल्पी विशु के विरह कातर व्यक्तित्व की मनोहर झांकी है।

विशु का दिन सूर्य मंदिर के निर्माण में बीतता था। लेकिन रात को अर्धांगिनी 'चन्द्रलेखा' विशु के मन और आँखों में वास करती थी। लेकिन ऊषा और सन्ध्या में आत्मज का शैशव स्वर गूँज उठता था। कभी-कभी विशु को ऐसा

लगता था कि मानों उसका लाल आ गया है। अलक जाल में किलक पुलक भर बालक का मुख कमल मुसकाता था।

'विशु की रात 'चन्द्रलेखा' थी, दिवस सूर्य का मंदिर'—इसमें एक कलाकार के हृदय के कर्तव्य तथा प्रेम का द्वन्द्व दर्शनीय है। ऊषा-सन्ध्या के कलरव एवं छवि अपने आत्मज की याद कराने में समर्थ है। 'अलक जाल में किलक पुलक भर मुख-सरोज मुसकाया'—इसमें कितनी अधिक स्वाभाविकता है! इस पंक्ति में एक मंजु मुसकाते बालक की कैसी मधुर व्यंजना है! किलकारियाँ मारनेवाले बालक का मुख सरोज 'यशोधरा' की पंक्ति "किलक अरे मैं नेक निहारूँ इन दांतों में मोती वारूँ" की याद दिलाता है।

मनोवैज्ञानिकता की कसौटी पर कसने पर भी प्रस्तुत प्रसंग खरा उतरता है। विशु के उर में पत्नी एवं संतान की मधुर स्मृति प्रसुप्त एवं जाग्रत अवस्था में विद्यमान थी। अतः रात को चन्द्रलेखा तथा ऊषा-सन्ध्या में आत्मज की स्मृति में विशु का संलग्न रहना सहज संभव है।

8. हा! दूसरे के दुख के आँसुओं से अपने सुख की सिंचाई हो नहीं सकती। मेरा सुख...मेरा सुख चैन...नहीं चाहिए मुझे वह सुख! (जुआ—पृष्ठ 143)

'जुआ' नाटक की ऊषा नारीस्वतंत्र्ता के लिए वाग्धारा बहानेवाली आधुनिक नारी की प्रतिमूर्ति है। बचपन में उस सुकुमारी को शुख शांति और प्रेम नहीं मिले थे। उसकी अभागिनी माँ को निष्ठुर पति ने छोड़ दिया था। अतः आंसू पीते-पीते माँ ने अपने प्राण छोड़े। चढ़ती जवानी में ऊषा ने डॉ. वसंतराव को पति के रूप में अपने मन-मंदिर में प्रतिष्ठित किया। लेकिन उसके पूर्व ही डॉ. वसंतराव ने किशोरी से विधिवत् विवाह कर दिया था। श्रीकांत से ऊषा को ज्ञात हुआ कि किशोरी के पिता बाबा साहब उसके भी पिता हैं। फिर भी पत्नी-त्यागी पिता बाबा साहब के प्रति ऊषा के मन में किंचित भी प्रेम और आदर व्यंजित नहीं हुए। बल्कि बदला लेने की लालसा उस ललना में प्रबल हो गयी। बाबा साहब की द्वितीय पत्नी इन्दिराबाई ने अपने मातृहृदय का किवाड़ ऊषा के लिए खोल दिया। इन्दिराबाई की प्रेम और वात्सल्य से युक्त मधुर वाणी एवं उसके महिमामय व्यक्तित्व ने ऊषा को हठात् आकृष्ट किया। प्रस्तुत प्रसंग इंदिराबाई से ऊषा का मार्मिक कथन है।

दूसरों के आँसुओं से अपने सुख की सिंचाई करना नृशंसता तथा स्वार्थ की पराकाष्ठा है। इससे सच्चा सुख कभी भी संभव नहीं होगा। त्याग में जो सुख है वह स्वार्थ की सिद्धि में नहीं है। पराथ के लिए अपने स्वार्थों की बलि देना महान कार्य है।

डॉ. रामकुमार वर्मा एक लब्ध प्रतिष्ठ कवि, आलोचक और नाटककार हैं। वे एकांकी नाट्यकला के मर्मज्ञ विद्वान हैं। 'उदयन' नामक एकांकी में वर्माजी ने हिंसा पर अधिष्ठित राजसत्ता की आत्मिक शक्ति से हार दिखायी है।

भगवान तथागत अहिंसा और सत्य के सन्देश का प्रचार करने कौशाम्बी पधारे। कौशांबी की जनता ने तथागत का हार्दिक स्वागत किया। जनता बुद्ध की अमृत वाणी सुन भाव विभोर हो गयी। परन्तु कौशाम्बी के सम्राट उदयन भगवान बुद्ध के आगमन से अप्रसन्न थे। सम्राट उदयन ने अपने सेनाध्यक्ष रुमण्वान से इस प्रसंग में तथागत के प्रति अपना विचार व्यक्त किया है।

ऊषा की बातों में उसकी सघन व्यथा तथा त्याग की मधुर व्यंजना है। 'एक के दुख में से दूसरे की सुख-निर्मिति असंभव है' इस पवित्र आदर्श को लेकर ऊषा के त्याग का यह अनुपम चित्र कितना उज्वल है! कितना हृदयहारी है! प्रेम विताडित ऊषा धमकी और प्रलोभन से टस से मस न हुई। जब इन्दिराबाई ने अपने उदार मातृ हृदय में ऊषा को जगह दी तो ऊषा ने अपने प्रेम की भी बलि औरों के वास्ते दी। व्यक्ति की सुख-कामना के विशेषण से नाटक की प्रमुख समस्या को हल करने का सराहनीय यत्न नाटककार ने यहाँ किया है। क्षमामयी, ममतामयी और करुणामयी के रूप में ऊषा का मनोरम चित्रण मनोमुग्धकारी हुआ है।

4. विष को विष से नष्ट किया जा सकता है। किन्तु जिस विष ने अमृत का नाम धारण कर लिया है, उसका प्रतिकार किस नीति में होगा?

(सूर्योदय—पृष्ठ 65)

'विषस्य विषमौषधम्' होने के नाते विष से विष नष्ट किया जा सकता है। लेकिन विष ने अगर अमृत का नाम धारण कर लिया है तो उसके नष्ट करने में कठिनाई है। उदयन यहाँ भगवान तथागत को 'विष' का प्रतीक ही मानते हैं। लेकिन सम्राट के अनेक सैनिक भी तथागत के भक्त हो गये थे। श्री बुद्ध की मधुर वाणी ने जनता के मन को मोह लिया था। अतः अधिकार के मद में उन्मत्त सम्राट उदयन तथागत को अमृत का नाम धारण करनेवाला हलाहल ही समझते हैं।

उदयन की वाणी में तथागत के प्रति उसका विचार व्यक्त होता है। प्रस्तुत प्रसंग एक उद्दंड राजा का उद्गार है। एकांकी में संघर्ष तथा पाठकों को औत्सुक्य प्रदान करने में उदयन का यह कथन सहायक हुआ है।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **"अगर हम मैले का सदुपयोग करना सीख लें, तो लाखों रूपयों की खाद बचा लेंगे और स्वयं अनेक रोगों से बच जाएँगे।"** —(गद्य कुसुम-2)

देश-विदेशों के भारतीयों पर साम्राज्यवादी शासकों के अत्याचारपूर्ण शासन का उग्र तांडव नृत्य का समय था। दक्षिण अफ़्रीका के भारतीय अपने मूल अधिकारों से भी वंचित किये गये थे। उनके सहायतार्थ गांधीजी को दक्षिण अफ़्रीका जाना पड़ा। वहाँ पर गांधीजी को कई प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं, जिससे अंग्रेज़ी साम्राज्यवादियों के खिलाफ़ आंदोलन करने की उन्हें पहले-पहल प्रेरणा मिली।

दक्षिण अफ़्रीका के प्रवासी भारतीयों के मूल-अधिकारों की रक्षा के लिए गांधीजी ने सत्याग्रह युद्ध की एक योजना बनायी थी। इसके लिए उन्होंने एक आश्रम की स्थापना की। यह आश्रम सत्याग्रहियों का प्रशिक्षण केन्द्र माना जाता था, जो "टालस्टाय फार्म" नाम से मशहूर था।

टालस्टाय फार्म में स्त्री-पुरुष बाल-बच्चे आदि भारत के विविध वर्गों के नागरिक शामिल थे। खाना पकाने से लेकर पाखाना साफ़ करने तक के सारे कार्य आश्रमवासी स्वयं करते थे। आश्रम तो एक बड़ी बस्ती हो गयी थी; फिर भी बहुत ही साफ़-सुथरा रहता था। कूड़ा-कचरा, मैला या जूठन आदि खुले मैदान में नहीं डाला जाता था। सारा कूड़ा-कचरा एक गड्ढ़े में डाला जाता था और ऊपर से मिट्टी डाल दिया जाता था। गंदा पानी एकत्रित करके पेड़ों की सिंचाई का प्रबंध किया जाता था। प्रत्येक आवास के नज़दीक एक गड्ढ़ा खोद रखा था। आश्रम के सारा मैला और कूड़ा-कचरा उसी में गाड़ दिया जाता था और ऊपर से मिट्टी डाल दिया जाता था जिससे सड़ जाने से उससे दुर्गंध बाहर न आवें। इससे वहाँ के खेतों को अच्छी खाद मिलती थी; साथ ही आश्रमवासियों की तंदुरुस्ती भी सुधर गयी थी।

इस विषय पर विचार करते हुए गांधीजी ने अपनी आत्मकथा के एक प्रसंग में उपरोक्त आशय व्यक्त किया है।

2. **"कविते देखो, विजन विपिन में वन्य कुसुम मुरझाना;**
व्यर्थ न होगा इस समाधि पर दो आँसू-कण बरसाना।" (पद्यमाला-2)

भारतीय स्वाधीनता के इतिहास से हमें कई गण्य मान्य देशप्रेमियों के त्यागमयी जीवन का उल्लेख पाया जाता है। लेकिन खेद की बात है कि उस महान यज्ञ के अग्निकुंड में स्वयं प्राणाहुति किये अनगिनत मामूली सिपाहियों के बारे में देश बिलकुल मौन है।

जन्म भूमि को पराधीनता के चंगुल से मुक्त कराने के लिए कितने ही नर-नारियों को शहीद बनना पडा ; कितनी ही माताओं की गोद सूनी पड़ गयी थी ; कितनी ही सुमंगलियों को अमंगलि बननी पड़ी ; कितने ही नादान शिशुओं को पितृ-वात्सल्य से वंचित होना पड़ा ! आखिर, स्वाधीनता संग्राम के इस बृहत् इतिहास के पन्ने इने-गिने कुछ महानों के नामों से भरा दिये गये है । पर एक बात देश भूल रहा है जो कि इस स्वाधीनता की नींव करोड़ों संख्या के मामूली सेनानियों के रक्त-रंजित मूल-समाधियों पर ही अवलंबित है ।

इस कृतघ्नता-पूर्ण व्यवहार का महाकवि दिनकरजी "सिपाही" शीर्षक कविता द्वारा खंडन कर देश के कलाकारों तथा काव्यकारों से अनुरोध करते हैं—हे कलाकार, तुम अपनी तूलिकाओं को इन देश प्रेमी मामूली सिपाहियों के ज्वलंत जीवन-गाथाओं से भरने के लिए प्रयत्न करो, जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम की बलिवेदी पर अपने प्राणों को चढ़ा दिया है । प्रभात में विकसित होकर शाम होते-होते मुरझा जानेवाले जनशून्य कानन के वन्य-कुसुमों के समान उपेक्षित इन वीर जवानों के त्यागमयी जीवन की करुणामयी कहानियों की जीवन्त रचना करो जिससे उन असंतृप्त अज्ञात शहीदों की मूक समाधियों पर कम से कम आँसू की एक-दो बूँदें भी गिराने की प्रेरणा मिल सके ।

बस, स्वर्गस्थित वीरात्माओं की शायद यही कामना हो ।

3. "**तिनका कहूँ न निंदिए, जो पाँयन तर होय ।**
कबहुँ उड़ि आँखिन परै, पीर घनेरी होय ।।

(पद्यमाला-2—प्राचीन पद्य, कबीर)

धन या ओहदे बढ़ने से मनुष्य अपने को बड़ा समझते हैं और दूसरों का निंदा-निरादर करने में तुले रहते हैं । पर वे यह नहीं समझते कि शायद एक न एक दिन ये कुचले हुए मनुष्य भी उनके बराबर उच्च स्थान प्राप्त कर सकते हैं ।

इस भावना की निंदा करते हुए संत कबीरदास संसार को ऐसा उपदेश देते हैं कि अपने अधीन का कभी निंदा-निरादर न करें । क्योंकि वह भी मनुष्य है । एक न एक दिन उच्च स्थान पर आसीन होने का उसको भी अवसर आएगा और इससे बदला लेने का उसको मौका भी मिलेगा जिसने उसका निंदा-निरादर किया हो !

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

केन्द्र-सभा की सूचनाएँ

सूचना

1144/70-71/कार्यालय/980 ता. 16-3-197

सभा की सेवा से अवकाश प्राप्त करने के सिलसिले में श्री पी. गणपति, कार्यालय पर्यवेक्षक को ता. 22-3-'71 से ता. 12-4-'71 तक 22 दिनों की सवैतनिक छुट्टी स्वीकृत है। छुट्टी के बाद ता. 13-4-'71 से वे सभा की सेवा से अवकाश प्राप्त माने जायेंगे। श्री पी. गणपति ता. 20-3-'71 को शाम तक अपना कार्य-भार श्री टी. के. वीरराघवन, प्रधान मंत्री के सहायक को सौंप देंगे।

—विशेष अधिकारी

सभा के एम. ए., (हिन्दी) को विक्रम विश्वविद्यालय से मान्यता

प्रेषक :

विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन

प्रति :

डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन
प्रवाचक एवं अध्यक्ष
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
मद्रास-17.

क्रमांक प्रशासन/मान्यता/71/3778 दिनांक 31-3-1971

विषय :—एम.ए. (हिन्दी) परीक्षा को मान्यता के संबंध में।

महोदय,

उपरोक्त विषय में आपके पत्र क्रम संख्या 2/70-71 आर. जी. दिनांक……… के संदर्भ में सूचित किया जाता है कि इस विश्वविद्यालय की तुल्यता समिति ने आपके द्वारा संचालित एम.ए. (हिन्दी) की परीक्षा की पारस्परिक मान्यता के आधार पर मान्यता प्रदान की है।

भवदीय,

(ह)………………………………

कुलसचिव

(सही प्रतिलिपि)

उसके बाद श्री नारायणजी ने अपने वक्तव्य में कहा कि हम शिबिर संचालकों से और कुछ नहीं माँगते हैं। सिर्फ़ वे यह माने कि हम उनके हैं। दक्षिण के लोग मुश्किल से किसीसे दोस्ती करते हैं, अगर दोस्ती करते हैं, तो छोड़ते नहीं। श्री भारत कुलभूषणजी के भाषण के बाद श्री नागप्पाजी ने कहा कि हिन्दी चाहिए का आन्दोलन उत्तर भारत से नहीं बल्कि दक्षिण भारत से होगा। यह झंडा हमारे यहाँ से ऊँचा होगा। हमारी मदद करना सेंट्रल हिन्दी डाइरेक्टर का काम है।

श्री नागप्पाजी के भाषण के उपरान्त श्री श्रीनिवास मूर्तिजी ने वित्त मंत्री, शिबिर के संचालक, तथा मार्ग दर्शकों को फूलों की मालाएँ पहनायीं। मैसूर राज्य के वित्त मंत्री श्री रामकृष्ण हगडे का भाषण हुआ। बाद श्री गोपाल शर्माजी बोले।

श्री श्रीनिवास मूर्तिजी ने आगन्तुकों के सत्कार के लिए जो परिश्रम उठाया था वह लिखा नहीं जा सकता। वे स्वयं अपने हाथों से घी परोसते और स्वयं खड़े होकर सबको खाने के लिये आग्रह करते। सवेरे पाँच बजते ही सबके दरवाजे खटखटाते और कहते "काफ़ी तैयार है, उठिये।" जैसे शादी में वधू के पिता सबको खिलाने के बाद खुद आखिर खाते हैं वैसे ही इस शिबिर में श्री श्रीनिवासमूर्तिजी को सबसे पीछे ही खाते देखा गया। खाना पूरा परोसने तक श्री पी. नारायणजी के साथ उनका अनुसरण करते हुए सब कबीर की दोहावालियों का गोष्ठी-गान करते थे। ये सब बहुत अच्छा था।

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

वह मौन नीलिमा निलयों में बसनेवाली,
रूपहली घनों की अलकें सहलानेवाली,
वह सूर्यमुखी किरणों की परियों से वाहित
सुकुमार सरोरुह-से स्तनवाली सजल धूप। (सुमित्रानन्दन पंत)

युग प्रवर्तक महाकवि पंत की काव्य साधना का विशद अनुशीलन करने पर मालूम होगा कि उनकी प्रगतिवादी विचारधारा एक स्थान में आकर अस्थिर होने लगती है। 'ग्राम्या', 'युगवाणी' के कवि ओझल हुए-से लगते हैं। मार्क्सवाद में अतीव आस्था रखते हुए भी वे उससे पूर्णतः प्रभावित नहीं हो सके। आगे चलकर आत्मवाद, ईश्वरवाद एवं अहिंसावाद संबन्धी बातों पर भी आपकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। यह पद्य आपकी "संदेश" शीर्षक कविता से उद्धृत है। अरविन्द दर्शन से प्रभावित कवि एक अपूर्व दार्शनिक धरातल पर आ चुके थे। 'स्वर्णकिरण' से 'अणिमा' तक के काव्य ग्रन्थों में इसका प्रमाण हमें मिलता है। यही नहीं, आगे की सभी रचनाएँ सर्वात्मवाद से ओतप्रोत हैं। मानवतावादी कवि के दर्शन इस तरह से उनकी समस्त काव्यों में हम कर सकते हैं। 'अणिमा' तक पहुँचते-पहुँचते कवि के लिए प्रकृति उपास्यवस्तु या आसक्तिपूर्ण कौतूहल के लिए आलंबन स्वरूपा न बनी थी। अब प्रकृति से ज़्यादा उसकी आत्मा को अंकित करने के लिए वे अत्यंत आकुल रहे। प्रकृति को अपने ख़्यालातों का माध्यम भी बनाया था और कुदरत का शुद्ध वर्णन वहुत ही कम स्थान पर किया है। 'संदेश' में एक मधुर कल्पना की मनोहर तस्वीर हम देखते हैं। कवि दुपहरी में सो गया था। जब उनकी निद्रा गोधूलीबेला में खुली तब कक्ष में जो स्वर्णिम धूप फैली हुई थी उसने कवि के मन को मोहित कर लिया। उक्त धूप के माध्यम से कवि ने अपने विचार को अभिव्यक्त किया है। नारी के स्वरूप में परले धूप को चित्रित किया। नीले अंतरिक्ष कक्षा में धूप-सुन्दरी निवास करती है। वह मेघरूपी काली अलकों को सहलानेवाली सूर्यमुखी किरणों से ले जाये जानेवाली एवं सुकोमल कमल के समान मृदुल गंभीर उरोजोंवाली लज्जाशील थी। अत्यंत कमनीय ढंग से कवि ने धूप का मानवीकरण करके यहाँ दिखाया है। नारी के सभी अंग प्रत्यंगों की कल्पना इस कविता में की है। यहाँ उत्प्रेक्षा का सुन्दर निर्वाह किया गया है।

2. करम को मूल तन........धर्ममूल गंगा जल बिन्द पार करिबो ।

(प्राचीन पद्य प्रसून)

महाकवि पद्माकर अपनी सीमित रचनाओं की सरसता एवं रमणीयता के बल पर रीतिकालीन साहित्य युग में विशेष ख्याति के अधिकारी रहे। भारतीय सांस्कृतिक संपन्नता एवं धार्मिक परिज्ञान उन्हें बचपन से ही प्राप्त था। एक तरह से पैतृक संपत्ति के रूप में साहित्यिक रुचि उन्हें मिली थी। उक्त अभिरुचि को अपने ढंग से संवार कर समकालीन ग्रन्थकारों के बीच वे काफ़ी चमक उठे। अपने लिये एक स्थायी स्थान को साहित्य जगत में उन्होंने हासिल किया है। भाव-गांभीर्य, अभिव्यक्ति कुशलता, अलंकार योजना, सार्वभौमिक चिंतन प्रवृत्ति आदि ने मिलकर एक महाकवि का-सा स्वरूप उन्हें दे दिया है। प्रस्तुत पद्यांश "गंगालहरी" से उद्धृत है। पतितपावनी गंगामाता की महिमा स्वयं आर्यावर्त की आत्मकहानी है। पुण्य प्रदायिनी गंगा अनादि काल से भारतीय संस्कृति के समुचित विकास के आधारशिला बनकर प्रवाहित रहती है। पाप को धुलाकर जीवन को मोक्षसंपदा प्रदान करनेवाली गंगामैया की महिमा का गायन भावविभोर होकर पद्माकर ने किया है। कर्म का आधार मानव का शरीर है। शारीरिक चेतना का आधार उसकी आत्मा मात्र है। आत्मा रहित शरीर का क्या प्रयोजन है? शिवस्वरूप आत्मा के निकलने पर शरीर शव हो जाता है। आनन्द का भोग ही जीवात्मा का परम ध्येय है। कवि कहते हैं—हे मनुष्य! आनन्द की व्यवस्था का अधिकारी राजा होता है। राजा की स्थिरता तभी संभव है जब कि वह प्रजा की भलाई के कार्य में लीन होगा। प्रजा पालक राजा के राज्य में ही धर्म के प्रकाश फैलते हैं। अन्यथा दुःख रूपी अंधकार ही व्याप्त रहेगा। प्रजा रक्षार्थ आवश्यक धान्य का उत्पादन होना चाहिए। धान्य की समृद्धि तभी संभव है जब खूब वृष्टि हो। मगर वर्षा के लिये पवित्र यज्ञादि की व्यवस्था होनी चाहिए। तभी कज़रारे बादल गरज उठेगा। यज्ञादि कार्य के लिये धन की बड़ी आवश्यकता होती है। धन प्रप्ति के लिये मन में धर्म की प्रबल कामना रखना आवश्यक है। उक्त धर्म को प्राप्त करने के लिये गंगाजी की एक छोटी-सी बूँद का सेवन करना मात्र काफ़ी है। पद्माकर ने काफ़ी चमत्कार एवं सरल ढंग से गंगा की महिमा का गान किया है। शब्दों पर कवि का पूरा अधिकार है। भाषा की प्रांजलता तथा स्वाभाविकता यहाँ विशेष आकर्षण की वस्तु रही है। पद्माकर ने यहाँ पतितपावनी भागीरथी की पवित्रता का उद्घोष किया है।

3. मानवी वृत्तियों ही के मर्मस्पर्शी अंशों को छांटकर उन्होंने मनोविकारों को तीव्र और परिष्कृत करने का प्रयत्न किया; दूसरी प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों की मर्मस्पर्शिनी शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया है।" (चिंतामणी)

पंडित रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के प्रवर निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में जनसामान्य के बीच काफ़ी आदर पा चुके हैं। साहित्य की विभिन्न विधाओं पर आपने सशक्त लेखनी चलायी है। आपके मननशील और आत्म निर्भर व्यक्तित्व की छाप उनकी कृतियों पर यत्र-तत्र दिखाई देती है। यह गद्यांश चिंतामणी' के "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र" नामक समीक्षात्मक निबन्ध से उद्धृत है।

भारतेन्दु ने नर प्रकृति का चित्रण विशेष मनोयोग के साथ किया। बाह्य प्रकृति के साथ उनका मन शायद कम रमा है। रीतिकालीन कवियों की भाँति परंपरा युक्त परिपाटी पर ही भारतेन्दु ने प्रकृति चित्रण प्रस्तुत किया। तात्पर्य है कि आलंबन रूप में प्रकृति का वर्णन उन्होंने कम किया। वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्यों में जिस गंभीरता एवं सूक्ष्मता के साथ प्रकृति का शुद्ध वर्णन किया है, उसके समक्ष यह कुछ भी नहीं। यह रीति शुक्लजी को अभीष्ट नहीं है। वे आलंबन रूप में प्रकृति के वर्णन का सफल समर्थक हैं। शुक्लजी के विचार से प्रकृति का व्यापक कार्य क्षेत्र मानव कल्पना को विशाल तथा उन्नत करने की सामर्थ्य रखता है। कविजनों को चाहिए कि प्रकृति वर्णन द्वारा मानव मन को प्रगति पथ की प्रेरणा प्रदान किया करें। भारतेन्दु की रचनाओं में उक्त प्रवृत्ति का थोड़ा अभाव हमें खटकता है। इस ओर संकेत देते हुए निबन्धकार लिखते हैं—"भारतेन्दु ने मानव मन में उत्पन्न होनेवाले छोटे-छोटे मर्मस्पर्शी भावों का तो सजीव वर्णन किया है जो हमारे मनोविकारों का परिष्कार भी करते हैं एवं शेष जगत के साथ हमारे रागात्मक संबन्ध का निर्वाह भी करते हैं। परन्तु, उन्होंने प्रकृति के उन्मुक्त व्यापार-स्थल की नितांत उपेक्षा तो की है। उनके काव्यों में मार्मिक प्रकृति चित्रण का अभाव-सा है। वे परंपरा पालन मात्र करते रहे। घिसी-पिटी लकीर पर ही चलते रहे।" निबन्ध के अंत में शुक्लीजी ने लिखा है कि कवि का मन प्रस्तुत प्राकृतिक वस्तुओं पर रमता नहीं है, हटता हुआ जाता है। इसीको कम शब्दों में कहा जाय तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी अंत में प्रकृति के जितने सफल चितेरे रहे उतना बाह्य प्रकृति के नहीं रहे।

—श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्चि।

'राष्ट्रभाषा विशारद – पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. **"लेकिन आखिर को वह भी संकीर्ण मतवाद बन गया और जीवन की आर्थिक पद्धति में उसका चाहे जो भी महत्व हो, हमारी बुनियादी शंकाओं का समाधान निकालने में वह भी नाकामयाब है।"**

यह स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू के "हम और हमारी संस्कृति" नामक लेख से, जो मूलतः श्री रामधारी सिंह

"दिनकर" के "चार अध्याय" नामक ग्रंथ के प्राक्कथन के रूप में लिखा गया, उद्धृत है। संस्कृति क्या है? उसका पोषण और वृद्धि कैसे होती है इत्यादि बातों के स्पष्टीकरण के संदर्भ में उक्त उद्धरण आया है।

मन या रुचियों की परिष्कृति अथवा शुद्धि को संस्कृति कहते हैं। मन और रुचि ये दोनों सूक्ष्म एवं अगोचर हैं यद्यपि मानव का सारा व्यवहार इन दोनों के द्वारा ही संचालित होता है। मन हो या रुचि वैयक्तिक होती है। अनुभव अपना अपना होता है और अपने-अपने अनुभव के आधार पर ही आदमी अपनी रुचियाँ बनाते हैं। मुंडे-मुंडे भिन्नैरुचिः। आवश्यकतानुसार कुछ पुरानी रुचियाँ छूट जाती हैं और कुछ नयी बन जाती हैं। रुचियों के अनुसार शील बनता है और शील की बदौलत ही आदमी अच्छा या बुरा समझा जाता है। आदमी के शील के निर्माण में बड़े-बड़े मनीषियों का हाथ रहता है। फलतः मानव की संस्कृति अपनी स्वस्थता में सदैव गतिशील रहकर अपना एक सार्वभौमिक रूप बना लेती है।

मानवीय समस्याओं का निदान प्रस्तुत करनेवाले पंथों में मार्क्सवाद भी एक रहा। एक समय था अर्थात् लगभग सन् 1930 तक क़रीब-क़रीब सारी दुनिया इसके पीछे मोहांध थी। आख़िर उसकी भी पोल खुल गयी जब कि रूस में मार्क्सवाद के सिद्धांतों के अनुसार राज्य स्थापित किया गया। संसार के अधिकांश बुद्धिमानों ने अन्दाज़ा लगया कि मार्क्सवाद के अनुसार चलने से पृथ्वी पर स्वर्ग उतर आएगा जब कि कोई भी आदमी अभावग्रस्त नहीं रहेगा। किन्तु यह वाद भी अन्य कई वादों की तरह पक्षधर रह गया। वर्ग-कलह को प्रोत्साहन दिया गया और मज़दूरों की तानाशाही (Prolitarian Dictatorship) के लिए एकदम रास्ता ही खोल दिया गया। तानाशाही किसी तरह की क्यों न हो, बड़ी ही ख़तरनाक चीज़ है जिसकी छत्रछाया में संस्कृति और सभ्यता के लिए कोई जगह ही नहीं हो सकती। अतएव मार्क्सवाद या समाजवाद की व्यवस्था में वैयक्तिक इच्छा, अभिरुचि और अधिकार के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। मार्क्सवाद के अनुसार राज्य (State) कालांतर में अपने आप अदृश्य होता है। (State withers away—Karl Marx) अर्थात् शासक और शासित नामक विभाजन नहीं होता है। किन्तु पचास साल की लंबी अवधि के बाद भी रूस में राज्य शासन की श्रृंखलाएँ रत्ती-भर भी ढीली नहीं पड़ीं। ऐसे संदर्भ में ही 'राज्य के अदृश्य होने' और भयावह शक्तिसम्पन्न तानाशाही के बीच के वैषम्य की ओर रूस के प्रसिद्ध नियंता स्टालिन का ध्यान दिलाने पर उन्होंने मज़ाक-सा किया—"Yes it is contradictory; but this contradiction is a living thing and completely reflects Marxist dialectics." (हाँ, यह असंगत

ही है ; किन्तु यह असंगति एक जीवित लक्षण है और यह मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक सिद्धांतों को बिलकुल प्रतिबिम्बित करती है ।

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र भी त्रुटिरहित नहीं है । उसकी ज्वलंत त्रुटि यह है कि वह अतिरिक्त बचत-मूल्य (Surplus value) को कोई महत्व नहीं देता वास्तव में अतिरिक्त बचत-मूल्य ही समाज की प्रगति एवं उत्थान की आधार-शिला है । यह पूँजीवादी पद्धति की ही विलक्षणता नहीं है कि उत्पादक अपने श्रम का पूर्ण फल नहीं पाता । समाज की प्रगति, विशेषकर उत्पादक के साधनों की प्रगति, इतिहास के प्रारंभ से ही, इस बात पर अवलम्बित रहा है कि उत्पन्न वस्तु का पूरा उपभोग समाज के द्वारा नहीं हुआ । समाज के उपभोग के बाद जो अंश (Margin) बाकी रहता है वह सामाजिक बचत (Social Surplus) कहलाता है । युग-युगों की यह सामाजिक बचत ही समस्त प्रगति की प्राणशक्ति रही । (The Margin can be called Social Surplus, which has, through the ages, been the lever of all progess—M. N. Roy) अतएव मार्क्सवाद भी मानवीय शंकाओं का समाधान करने में असफल ही रहा है । संस्कृति की बढ़ती और प्रसार में मार्क्सवाद रोड़े अटकाता ही रहा है ।

2. **"यह उस सुंदर रूप से अधिक भयंकर नहीं है जिसकी ओर से मनुष्यता का शत्रु काम उसका वध करने के लिए कान तक प्रत्यंचा खींचे खड़ा है ।**

यह स्वर्गीय पंडित गोविंद वल्लभ पंत की प्रसिद्ध कहानी 'मिलन-मुहूर्त' से उद्धृत है । जब वासवदत्ता हिंस्र पशु सिंह को जीवन-दान देने के कुपरिणाम की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न करती है, तो मरणासन्न सिंह के घावों को धो धोकर उसे जिलाने के प्रयत्न में लगे बौद्ध भिक्षु उपगुप्त यह उद्धरित वाक्य कहता है ।

प्राणी दो प्रकार के हैं—बौद्धिक और अबौद्धिक । सारे मानवेतर प्राणी अबौद्धिक और मानव नामक प्राणी बौद्धिक है । अपनी बौद्धिकता की बदौलत ही मानव अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों का संस्कार एवं परिष्कार करता जाता है । जन्मजात प्रवृत्तियों में सब से अधिक प्रबल और तीव्र प्रवृत्ति है काम । काम प्रवृत्ति कभी इतनी तीव्र और अनियन्त्रित हो उठती है कि उसके वश आदमी अपनी सारी बुद्धिमत्ता खो बैठता है ; अविवेकी बनता है और पशुवत् व्यवहार करता है । परिणामतः पतित रहता है । अतएव काम मानवता का प्रबल शत्रु माना जाता है । यों तो कहा जाता है—"ज़र, ज़मीन, ज़न (सोना, भूमि, स्त्री) ये तीनों हैं झगड़े के मूल"; किन्तु ध्यान देने पर विदित होता है कि इन तीनों में भी 'ज़न' की विनाशकारिता बाकी दो के मुकाबले में ज़्यादा अचूक होती है । काम की तुष्टि के

लिए न जाने कितने लोगों ने 'ज़र' और 'ज़मीन' को स्वाहा किया। इसकी पुष्टि के लिए कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

काम आदमी को सचमुच अंधा बना देता है और कामांध आदमी अपनी आदमियत ही खो देता है। जिस तरह कोई व्याध धनुष की डोरी अपने कान तक खींचकर अपने शिकार के प्रति अचूक बाण छोड़ता है उसी तरह काम प्रवृति भी दुर्बल मनुष्य पर हावी होने और उसे पथ-भ्रष्ट करने सदैव सन्नद्ध रहती है। अतएव भिक्षु उपगुप्त के विवेकपूर्ण वचनों की चेतावनी कामप्रताड़िता भुवनमोहिनी वेश्या वासवदत्ता समझ ही नहीं सकी।

वास्तव में मानवता व बुद्धिमत्ता या विवेक शारीरिक सौंदर्य में नहीं है। शारीरिक सौंदर्य मरुमरीचिका के समान है। वह आदमी को अशान्त ही नहीं करता बल्कि पथ भ्रष्ट भी करता है। अतएव भिक्षु ने उक्त उद्धरण के द्वारा शारीरिक सौंदर्य की क्षणभंगुरता एवं निस्सारता की झलक देकर कामातुरा वासवदत्ता की आत्मिक ज्योति जगाने का प्रयत्न किया।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा विशारद-उत्तरार्द्ध'—परीक्षा

1. **तजि तीरथ हरि राधिका, तन दुति करि अनुराग।**
   जिहि व्रजकेलि-निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग॥

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 155)

बिहारीलाल रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि थे। "बिहारी सतसई" हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रचना है। बिहारी के दोहे यद्यपि छोटे हैं, तो भी उनमें प्रचुर भाव भरे रहते हैं। उनके दोहे रस के छींटे हैं। प्रस्तुत दोहा सच्चे भक्त का हृदयोद्गार है। लेकिन वह 'तीर्थाटन' की अपेक्षा 'हरि राधिका तन दुति' का अनुरागी है। व्रजभूमि को प्रयाग की भाँति पुण्य तीर्थस्थान बनानेवाले हरि-राधिका के प्रति उस भक्त के दिल में असीम श्रद्धा एवं अटूट विश्वास है।

सारांश—तीर्थाटन को छोड़कर श्रीकृष्ण और राधिका की उस छटा पर प्रेम करो (प्रेमपूर्वक युगलमूर्ति की माधुरी को ध्यान में अवलोकन करो), जिस छटा से व्रजमण्डल की पग-पग पृथ्वी प्रयाग के समान पुण्यदायीनी हो जाती है अथवा त्रिवेणीवत हो जाती है। श्रीकृष्ण और राधिका के पुनीत चरणों के स्पर्श से पृथ्वी का पवित्र होना बिलकुल संभव है। श्री लाला भगवान दीन जी ने "व्रजकेलि निकुंज मग, पग-पग होत प्रयाग" के आशय को पल्लवित करके यों लिखा है—

"चरणों की नख-प्रभा से सफ़ेद, तलवों की आभा से लाल और कृष्ण के चरणों के पृष्ठभाग से श्याम कांति की आभा पड़ने से गंगा, सरस्वती और यमुना (अथवा त्रिवेणी) का होना स्वाभाविक है।" इस दोहे में भाषा की गठन, भावों की सुकुमारता, कल्पना की उड़ान और अलंकारों का सफल प्रयोग आदि खूबियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

2. **बलि जानेवाला जानवर आख़िरी बार चीख भी तो मार सकता है। पर बनावटी गिरस्ती के अग्निकुंड में बलि चढ़ानेवाली हमारी स्त्रियाँ धीरे-धीरे, तिल-तिल जल जाती हैं, भस्म होती हैं।** (जुआ — पृष्ठ 112)

श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका है। जुआ उनका प्रथम नाटक है। विवाहित पुरुष के प्रेम संघर्ष और सपत्नी विवाह की समस्या इस नाटक की नींव है। डॉ. वसन्तराव से ब्रह्मदेश से लौटी हुई एक शरणार्थी कुमारी उषा की आँखें चार हुईं। लेकिन पहले ही डॉ. वसंतराव ने किशोरी से विधिवत् विवाह कर लिया था। अतएव इस अभिशप्त तथा अवांछित प्रेम से दोनों को सतर्क करने का प्रयत्न श्रीकांत ने किया। प्रस्तुत प्रसंग में श्रीकांत बेबी से बनावटी गिरस्ती की विवशता एवं विषमता पर प्रकाश डालता है।

दांपत्य जीवन में प्रेम, विश्वास एवं समर्पण की ज़रूरत है। पति के प्रेम और विश्वास से वंचित अर्धांगिनियाँ तिल-तिल जलकर भस्म होनेवाली सुकुमारियाँ हैं। उनके आहत हृदय का चीत्कार भी कोई नहीं सुनेगा। क्योंकि प्यार की करुण वेदना की तड़प को दिल की धड़कन में ही वे दबाये रखती हैं।

'आँचल में दूध और आँखों में पानी' भरनेवाली पत्नियों का मृदु हृदय ही इस प्रसंग में बोल रहा है। बलि जानेवाला जानवर आखिरी बार चीख तो मार सकता है। लेकिन उस अधिकार से भी भारतीय अर्धांगिनियाँ वंचित हैं! उनके सोने का सा जीवन तिल तिल भस्म होते हैं। ये सुकुमारियाँ वेदना और दुख की प्रतिमूर्तियाँ हैं। श्रीकांत का कथन एक ऐतिहासिक सत्य को व्यक्त करता है। श्रीकांत का दृढ विश्वास है कि स्त्री की बलि सिर्फ सौत के आगमन से ही नहीं होती। पतिदेव के साथ गिरस्ती सजानेवालों के निस्पृह बलिदानों पर भी वाग्धारा बहाने की ज़रूरत है। प्रस्तुत प्रसंग में एक तत्व की चर्चा है। फिर भी सरस एवं भावुक हृदय का उन्मन गुंजन यहाँ हम सुन सकते हैं।

3. **धिक्कार ऐसे स्रष्टा को, जो संतान के ग्रास से अपनी काम-ज्वाला बुझाता है।** (विषकन्या—पृष्ठ 220)

श्री गोविन्दवल्लभ पंत जी एक दक्षहस्त नाटककार हैं। 'विषकन्या' एकांकी में उन्होंने एक विजेता राजा के रण और प्रणय के बीच का द्वन्द्व दिखाया है।

राजा चन्द्रविजय तो शत्रु पर विजय प्राप्त कर चुके थे। उस रात अपराजिता नामक एक कोमलांगी उनके शयनकक्ष में आकर उपस्थित हुई। अपराजिता ने अनुनय विनय के साथ अपना हृदय किवाड राजा के सम्मुख खोल दिया। कामी राजा अपने शयन कक्ष में सुन्दर नारी को पाकर मुग्ध एवं कर्तव्यच्युत हो गये। एकाएक शत्रु सेना ने धावा बोल दिया। युद्ध भेरी बज उठी। वीर सैनिक राष्ट्र धर्म की रक्षा के लिए उठ खडे हुए। फिर भी विलासी राजा शयनकक्ष से टस से मस न हुए। दोनों सेनापति राष्ट्रीय संकट को सामने देखकर राजा के कमरे में आकर उपस्थित हुए। विलासी नृप ने अपनी नग्न विलासिता तथा अकर्मण्यता को रणभेरी की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया। राजा ने सेनापतियों से बताया कि रणभेरी मेरी पुकार है। उस आज्ञा का स्रष्टा मैं हूँ। पुकारनेवाला कहीं नहीं जाता। प्रस्तुत प्रसंग कामी राजा से सेनापति का मार्मिक कथन है।

वीर सैनिक अपनी प्यारी मातृभूमि के लिए अपने प्राणों को न्योछावर कर रहे हैं। उन वीर जवानों को जोश, आवेश और आनन्द प्रदान करना राजा का महान कर्तव्य है। राष्ट्रीय संकट के समय जो राजा अपनी सेना का साथ न देता, धिक्कार है ऐसे स्रष्टा को जो संतान के ग्रास से अपनी काम-ज्वाला बुझाता है। इस एकांकी की आत्मा स्वयं इस प्रसंग में बोल रही है।

अकर्मण्य विलासी राजा के हृदय पर चुभनेवाला एक तीर है प्रस्तुत प्रसंग अपनी संतानों को काम-ज्वाला में ग्रास के समान जलानेवाला पिता स्रष्टा नहीं बल्कि घातक है। मनोविज्ञान की कसौटी पर भी प्रस्तुत प्रसंग खरा उतरता है। काम की अति से क्रोध पैदा होता है। क्रोध के कारण अविवेक हो जाता है। अविवेक से बुद्धि भ्रंश हो जाता है। बुद्धि नाश के कारण मानव मृत व्यक्ति की भांति हो जाता है। यहाँ एक विषमना कोमलांगी की तड़क-भड़क के आगे कामी राजा अकर्मण्य एवं देशद्रोही हो जाता है। इस स्थिति में राजा मृत व्यक्ति के समान

8. **उसके आँचल में ममता का मीठा दूध भरा है।**
दृग जल में उसकी करुणा का मधुर रूप निखरा है।
विभु की शीतल छाया ने ही रूप धरा 'माँ' का।
नहीं-नहीं, माँ में उसने ही विविध रूप में झांका। (कोणार्क —पृष्ठ 9)

'कोणार्क' श्री रामेश्वर दयाल दुबे का लोकप्रिय खण्डकाव्य है। उडीसा के गंगकुलोत्पन्न राजा श्री नरसिंह देव आदित्य के बड़े भक्त थे। एक दिन आदित्य देव की आराधना के बाद एकाएक राजा को अपनी ममतामयी माँ की मधुर स्मृति आयी। प्रस्तुत प्रसंग में समर्थ कवि ने माँ की गुरु गरिमा का मार्मिक चित्रण किया है। माँ के मृदु आँचल में ममता का मधुर दूध भरा है। माता के आँसुओं में उसकी करुणा का मधुर रूप दर्शनीय है। परम प्रभु की शीतल छाया ने ही माँ का रूप धरा है। माँ में उसने ही विविध रूप में झांका है।

प्रस्तुत प्रसंग में माता की असीम ममता तथा उसके महिमामय व्यक्तित्व की कितनी मनोहर झांकी है! 'उसके आँचल में ममता का मीठा दूध भरा है। दृग-जल में उसकी करुणा का मधुर रूप निखरा' में 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' भरनेवाली माताओं का कैसा मार्मिक भव्य चित्र है! माँ का मृदु हृदय प्रेम और वात्सल्य का कोमल थाला है। माँ के स्वच्छ स्नेह की मंदाकिनी इस कुटिल जगत् को स्वर्ग बनाती है। माँ ने ही बच्चों के ओठों को हँसी दी, जिह्वा को भाषा दी, और ललाट में आशीर्वाद का चुंबन देकर संसार में पठाया था। संतानों की रक्षा के लिए अपने प्राण तक हँसते हँसते न्योछावर करने के लिए माँ सदैव तैयार रहती है। माँ की अपार शुभ्र करुणा मानव जीवन में प्रभातकालीन सूर्य की भांति मधुर किरणें फैलाती है। जीवन की विभीषिकाओं से ग्रस्त और दग्ध मानव को 'शीतल छाया" प्रदान करनेवाली है माँ!

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **"तुझे क्यों फिक्र है ऐ 'गुण'! दिले सदचाल बुलबुल की।**
तू अपने पैरहन के चाक तो, पहले रफू कर ले॥"

—(पद्यमाला-2 उर्दू-पद्य)

मनुष्य का हृदय स्वभावतः सहानुभूतिपूर्ण होता है; खासकर दुखियों का। अभावग्रस्त मानव ही अन्य अभावग्रस्त मानवों की कठिनाई पहचान सकता है; पर उसकी मदद करने में वह असमर्थ रहता है। ऐसे ही भूखे भूखों पर तरस खाते हैं; पर एक भूखा दूसरे भूखे को दिलासा दे नहीं सकता। अतः जिसका हृदय सहानुभूतिपूर्ण होता है, उसे पहले पहल अपने को सबल बनाना चाहिए।

इस तथ्य की उर्दू के शायर मुहम्मद 'इक़बाल' अपने उपरोक्त पद्यांश के द्वारा पुष्टि देते हैं। कवि का यह उद्देश्य होता है कि एक दुखी मनुष्य अन्य दुखियों पर विलाप करने से उसका कुछ फ़ायदा नहीं होता। उसको चाहिए कि

पहले अपने दुख का निवारण कर ले; बाद को दूसरों के दुखों को दूर करने का यत्न करे।

एक कांटेदार पौधे पर एक बुलबुल आकर बैठती है। कांटों के चुभ जाने से बुलबुल का शरीर चोट खाता है। वह दर्दभरी आवाज़ में चीख उठती है। यह सुनकर उस पौधे में खिले फूल का दिल भर आता है। इसपर कवि प्रश्न करता है कि 'हे फूल, बुलबुल के शरीर में चोट लग जाने से तू क्यों दुखी हो जाता है? तेरी पंखुड़ियाँ तो पहले से काँटों के लगातार चुभ जाने से चोट खाती रहती हैं। पहले तेरी दशा को सुधार, फिर अन्यों की भलाई पर ध्यान रख।

मतलब यह है कि स्वयं दुख भोगनेवाले पहले पहल अपने को सुधार लें, फिर अन्यों को सुधारने का प्रयत्न करें।

२. **"नैना देत बताय सब, हिय को हेत अहेत।**
जैसे निरमल आरसी, भली बुरी कहि देत॥"

—(काव्य कुसुम-2)

मानव का हृदय भावों का आगार है। उन भावों को बताये बिना ही प्रकट करने का एक साधन है चेहरा। इसीलिए कहा करते हैं कि 'मुख हृदय का आइना' है। इस कहावत का कविवर वृंद ने उपरोक्त दोहे के द्वारा समर्थन किया है।

कविवर का कथन है कि मनुष्य के आंतरिक भावों का झलक उसके नयनों द्वारा समझ सकते हैं। जैसे एक निर्मल आइने में हमारा प्रतिरूप, शायद वह सुंदर हो या असुंदर, स्पष्टरूप से दृश्यमान होता है, वैसे ही किसीके आँखों के भावों द्वारा स्पष्ट समझा जा सकता है कि उसके मन में हमारे प्रति प्रेम का भाव है या विरोध का।

३. **"जो पाँयन तर होय, तिनका कबहूँ न निंदिए।**
कबहूँ उडि आँखिन परै, घनेरी पीर होय॥ (पद्यमाला-II)

धन और ओहदे के कारण कुछ लोग दूसरों को हेय समझकर उनका निरादर करते हैं। ऐसे लोगों को संत कबीर का यही उपदेश है कि अपने से हेय समझकर किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ऐसी भावना से उनके मन में बदला लेने की भावना उत्पन्न होती है जिससे अन्यों की बड़ी हानि होती है, जैसे पैरों के नीचे पड़े रहनेवाले तिनके कभी उड़कर आँखों में पड़ें, तो वह दर्द का कारण हो जाता है। अतः संसार में किसी भी चीज़ की निंदा या अनादर नहीं करना चाहिए।

4. **" वर्तमान को भी ठीक से निभा नहीं सकनेवाले आज के अधिक मनुष्यों में भला, भविष्य को चिंता की यह बुद्धिमत्तापूर्ण भावना कहाँ उपलब्ध हो सकती है।'**

हम देखते हैं कि हमारे चारों तरफ़ अनेक प्रकार के अनगिनत पेड़-पौधे तथा लताएँ भरी रहती हैं। पर इन मूक तथा अचर जीवों के बारे में हम इतना ही जानते हैं कि फलाने पेड़ फल देनेवाले हैं, दूसरे छायादार हैं तथा और कुछ रंगविरंगे फूल खिलानेवाले हैं। यह कभी के साबित हो गया है कि पेड़-पौधे अचर होने पर भी चर जीवों से जन्म-मरण और वृद्धि में भी समानता रखते हैं।

लेकिन वनस्पति के महान वैज्ञानिक राडल प्रांचे ने इन मूक और अचर जीवों के बारे में बृहत् गवेषणा करने के बाद ऐसी कई बातों को हमारे सामने प्रस्तुत की हैं जिनसे हम एक दम चकित हो जाते हैं। राडल प्रांचे का कथन है कि पौधों की जीवन-चर्या पर ध्यानपूर्वक निरीक्षण करें, तो समझ सकते हैं कि पौधों में भविष्य की चिंता की भावना का अभूतपूर्व विकास हुआ है।

हम देखते आते हैं कि वसंतऋतु के आने पर पेड़ पौधों पर नये-नये कोंपले फूट निकलते हैं। ये कोंपले कैसे, कहाँ से फूटते हैं—इसका हम केवल अनभिज्ञ हैं। इसपर सूक्ष्म रूप से निरीक्षण करने से आसानी से हम समझ सकते हैं कि पुराने स्थान को ग्रहण करनेवाले पल्लवों की कलियाँ उस स्थान में छिपी रहती हैं। पौधे अपने मोटे खालों से इन कलियों को ढका रखते हैं जिससे जाड़े या गरमी के प्रभाव से उसकी कोई हानि नहीं होवे। बहुत मेहनत करके पौधे उन कलियों में सब सामग्री जमा कर रखते है जिसके कारण उचित मौसम के आने पर पौधों में नयी-नयी पत्तियाँ फूट निकलती हैं।

इस तरह भविष्य की चिंता की भावना इन मूक तथा अचर पेड़-पौधों में जितना अधिक दीख पड़ती है उतना मनुष्यों में नहीं है।

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

इन्दिरा प्रिय दर्शिनी

देव, केरलीय

हे नव भारत ज्योति !
जन-स्नेह-वर्तिका से
अति भासित, पावन
भारत ज्योति !

प्रगति की उज्ज्वल
ज्वाला से भासमान
हे ज्योति !
क्रांत दर्शिनी होकर
प्रकटी,
श्रीयुत तुम
प्रिय दर्शिनी,
कौन मानिनी होगी ऐसी,
जन-जन मन
अनुरंजिनी !

तुम हो
अभिनव भारत रमणी
अमर तुम्हारी वाणी,
हे जन-मानस-मोहक हंसी
हीरक-जल अवगाहिनी !
थिरक थिरक चल-
बढ़ बढ़ के चल !

उठता ज्वार
मनोरम,
हर्षित पुलकित
आज दिशायें
प्रकटा नव युग
स्वर्णिम !
अप्रतिहत है यान तुम्हारा
बना अकंटक पथ सारा
निर्निमेष है नील गगन वह
निर्निमेष ध्रुव तारा !

सुन पड़ता है दूर क्षितिज से
'बढ़े चलो' यह नारा
भारत वासी धन्य हुए हैं
कहता मानों जग सारा
लुप्त हो गयी तन्द्रा जड़-सी
सुप्त-चेतना जागी
विघटन-कारी तमो निशा भी
भागी-भागी-भागी !

फहरे, विजय-पताका नित ही
विश्व देख ले शान,
वीर-जवाहर की पुत्री का
निखरे शाश्वत मान !

जयलक्ष्मी-सी तुम भारत की
धन्य, इन्दिरा गांधी !
ठहर न सकेगी, तेरे सम्मुख
कोई भीषण आंधी !

अबला नहीं, सबला हो तुम
शक्ति रूपिणी दुर्गा
जन-भू भारत पुण्य-प्रभा-सी
प्रकटी वह वर आभा,
श्रीयुत हो सब काम तुम्हारे
तुम हो भारत-वाणी
मुखरित हो भारत-वाणी
कोटि-कोटि जन-वाणी !

भारत-उपवन की शेफाली
फैलाना नित लाली
परिमल वाही मलयानिल भी
पावे, नित खुशहाली !
शत प्रणाम हम करते नत सिर,
पावे जन शुभ जीवन
तरुण-अरुण-किरणों से भासित
झूमे भारत-नंदन !

'जुआ' : एक झाँकी

श्री माणकचन्द नाहर, मद्रास

मूल मराठी भाषा में श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित रचित 'जुआ' एक सामाजिक नाटक है। हिन्दी रूपांतरकार श्री भुपटकर की भाषा में वही गठन और प्रांजलता आयी है जो मूल नाटक में है!

'जुआ' नाटक में कुल मिलाकर आठ पात्र हैं—चार पुरुष पात्र और चार स्त्री पात्र! पुरुष पात्रों में श्रीकांत, बाबा साहब और डॉ. वसंतराव मुख्य हैं, तो स्त्री पात्रों में इंदिराबाई और उषा देवी मुख्य हैं। बाकी पात्र जैसे चैतन्यदेव, जाई, बेबी आदि गौण हैं। इसके कथा संविधान में इनका आवश्यकतानुसार संबंध जुड़ता है! यह कह सकते हैं कि पात्रों की दृष्टि से जुआ सफल नाटक है।

'जुआ' नाटक में कथोपकथन का समुचित प्रयोग हुआ है। इसके पात्रों के भाषण छोटे-छोटे और पाठकों व प्रेक्षकों के हृदय को स्पर्श करनेवाले बन पड़े हैं। हाँ, एकाध स्थल पर अपवाद स्वरूप लंबे-लंबे डाईलॉगों का प्रयोग हुआ है! लेकिन इन लंबे भाषणों के द्वारा नाटक की स्वाभाविकता नष्ट नहीं हुई, बल्कि बढ़ गयी है।

यह नाटक प्राचीन परम्परा के पिटे आदर्शों के अनुसार नहीं लिखा गया है। और इसमें अस्वाभाविक घटनाओं का समावेश बिलकुल नहीं हुआ है। इसमें देश, काल और पात्रों की ओर विशेष दृष्टि रखी गयी है जो कला के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस नाटक में गीत या गाने संभाषण के बीच में नहीं आये हैं। जाई अकेली बैठकर कुछ-कुछ गुन-गुनाती है तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। इन गीतों के द्वारा नाटक की शोभा घटी नहीं, बढ़ गयी है।

'जुआ' नाटक वात्सल्य रस प्रधान नाटक है। इसमें गौण रूप से हास्य, करुणा आदि रसों का भी समावेश हुआ है। रस की निष्पत्ति ही नाटक का सब-कुछ है। इसका दिग्दर्शन हम जुआ में कर सकते हैं।

'जुआ' समस्याप्रधान सामाजिक नाटक है। केवल पाठकों व प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ ही यह नाटक नहीं लिखा गया है; इसके लिखने में लेखिका श्रीमती मुक्ताबाई का अपना एक प्रधान लक्ष्य है! पत्नी के जीवित रहते पुरुष दूसरा विवाह कर ले तो उसका जो दुष्परिणाम होगा उसे दिखाना ही लेखिका का उद्देश्य है।

नाटक के गीत छोटे और रमणीक हैं। गीतों की संख्या भी ज्यादा नहीं है,

चार ही है। कलात्मक और भावात्मक दोनों दृष्टिकोणों से ये गीत उच्चकोटि के बन पड़े हैं। अतः स्पष्ट है कि 'जुआ' नाटक में गीतों का सफल प्रयोग हुआ है।

'जुआ' नाटक के अधिकांश पात्र आदर्श के ही हैं! फिर इन पात्रों का चित्रण बहुत ही सुंदर और हृदय-स्पर्शी बन पड़ा है। इंदिरा बाई के वात्सल्यपूर्ण हृदय का प्रदर्शन, उषा की त्याग-बुद्धि, बाबा साहब की उद्दण्ड आत्मभावना, जाई की परिहास-रसिकता, श्रीकांत की दूर दर्शिता, ये सब इतने मनोहर और सजीव बन पड़े हैं कि वे अपने अमिट निशान पाठकों व प्रेक्षकों के हृत्पटल पर छोड़ चलते हैं।

सर्वश्री वी. स. खाण्डेकर, प्रो. वा. म. जोशी, काका कालेलकर, महामहोपाध्याय दत्तो, दि. के. बेड़ेकर, महादेवी वर्मा, के. क्षीरसागर, आचार्य प्र. के. अत्रे और डॉ. प्रभाकर माचवे आदि विद्वानों ने इसे युग का एक श्रेष्ठ प्रकाशन कहा है। हम मान सकते हैं कि 'जुआ' नाटक श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित की एक अमर कृति है।
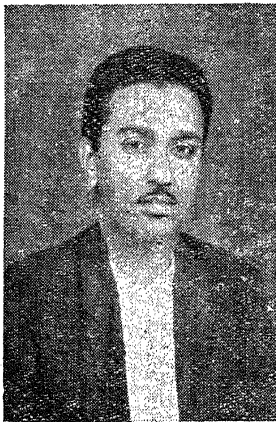
एकवीरा : एक विहंगमावलोकन

श्री बी. एस. केशवमूर्ति, हासन

एकवीरा के लेखक श्री सत्यनारायण आन्ध्र प्रदेश के अत्यंत प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। आन्ध्र साहित्य के श्रेष्ठ कवि तथा आर्य संप्रदाय के प्रबल प्रवर्तक हैं। उनकी प्रसिद्ध-कृतियाँ हैं एकवीरा, वॅय्यिपडगलु, तॅरचिराजु इत्यादि। उपन्यासों में मानव जीवन की सहज स्वाभाविक प्रवृत्तियों का सजीव चित्रण इनकी विशेषता है।

इनकी कथावस्तु सहज, सुंदर और भावपूर्ण है। उपन्यासों में मनोविज्ञान के गहरे अध्ययन के साथ सीधी भाषा में प्रभावोत्पादक रीति से पात्रों को प्रस्तुत करना इनकी विशेषता है।

इनके उपन्यास सिर्फ़ मन बहलाव के लिए नहीं, अपितु मानव जीवन को ऊँचे उठाने के लिए ही हैं। यह उनका सिद्धांत है। "एकवीरा" उसका एक अच्छा उदाहरण है। इसमें प्रेम को ऐसा उज्ज्वल दिखाया गया है कि पाठक अत्यंत प्रभावित हो जाते हैं। चरित्र चित्रण की कला में श्री विश्नाथ सत्यनारायण अद्वितीय हैं। इनके पात्र सजीव मालूम पड़ते हैं।

एकवीरा उनका एक अत्यंत सफल उपन्यास है। इसके पात्र पाठकों के हृदय पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ने में अत्यंत समर्थ बन गये हैं। प्रस्तुत उपन्यास का केन्द्रबिंदु 'प्रेम' है। कुट्टन अपनी शय्या पर एकवीरा को देखकर कहता है—"जिस सुंदरी को इस शय्या पर अलंकृत होना चाहिए था वह इस जन्म में नहीं मिल सकती। इस पिशाचिनी ने मुझे क्यों पकड़ लिया है! हाय रे भगवान! यह मुझे नहीं छोड़ेगी।"

एकवीरा एक चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यास है। अर्थात् इस उपन्यास में कथावस्तु की घटनाओं पर नहीं पात्रों के शील स्वभाव के चित्रण पर अधिक बल दिया गया है। मानव जीवन की समस्याओं पर ही पात्रों के चित्र चित्रित किये गये हैं। ये पात्र कठपुतलियों जैसे निर्जीव नहीं हैं, किन्तु सजीव हैं। एकवीरा एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसके पात्र मनोविज्ञान के आधार पर चित्रित किये गये हैं। यह एक अद्भुत उपन्यास है। उपन्यास के काल में मदुरै में नायक राजा राज्य करते थे। राजा आंध्र होने पर भी उन्होंने तमिल संस्कृति को अपना कर उसकी श्रीवृद्धि के लिए कोशिश की है।

उपन्यास के मुख्य पात्र चार हैं। वे हैं, कुट्टन, वीरभूपति, मीनाक्षी और एकवीरा। उपन्यास की कथावस्तु यह है: कुट्टन को मीनाक्षी से प्रेम होता है। लेकिन उसका विवाह एकवीरा से होता है। वीरभूपति एकवीरा से प्रेम करता है। लकिन उसका विवाह मीनाक्षी से होता है। इन्हीं पात्रों के आंतरिक संघर्षण

विचारात्मक रीति से प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने पात्रों को सजीवता के साथ मनोविज्ञान के पुट पर चित्रित किया है।

"एकवीरा" ऐतिहासिक उपन्यास होने पर भी, पात्र ऐतिहासिक नहीं हैं। वे कल्पित पात्र हैं। शृंगार रस प्रधान उपन्यास है। स्वयं लेखक के कहे अनुसार "सैलास मारनर का कथा निर्माण, कालिदास भवभूतियों का शिल्प विधान, विश्व-कवि रवीन्द्र के नौकाडूबी का अकलुषित प्रेम और तेलुगु रचना-विधान इन चारों को एकत्रित कर मैंने एकवीरा की सृष्टि की है।"

सभी पात्र प्रेम के पुजारी हैं। अकलुषित प्रेम के उपासक हैं। सब एक से बढ़कर एक हैं। किन्तु एकवीरा का प्रेम इन सबसे ऊँचा है। इसीलिए उपन्यास का नाम "एकवीरा" रखा गया है। "एकवीरा" का कथानक सहज सरल और सरस है। घटना क्रम के अंदाज़ में कोई पाठक असमंजस में नहीं पड़ता।

"एकवीरा" मौलिक उपन्यास नहीं है। अनूदित उपन्यास है। लेकिन अनुवादक की कुशलता से यह मौलिक सा भास होता है। इसकी भाषा साहित्यिक है। उदाहरण के लिए ये देखिए,—'बाहर लुहार की भट्टी में तपे हुए लोहे की भाँति सूरज निकल रहा है। जल्दी-जल्दी ढग बढ़ाते हुए कुट्टन अपने महल पहुँचा, इत्यादि।

इसकी शैली सुंदर, सरस और मनोज्ञ है। उचित मुहावरों से युक्त, सरस भाषा स्वाभाविक और सुरुचिपूर्ण बन पड़ी है। उदाहरण के लिए (1) भीड़ को पीछे हटाने में नौकरों को चोटी का पसीना एडी तक आता था। (2) मीनाक्षी तो गगन कुसुम ही मालूम होने लगी। लेखक ने यत्र-तत्र लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए (1) धैर्य ही पुरुष का लक्षण है। (2) दुःख-सुख एवं सुंदरता-असुंदरता मन के अनुसार चलती हैं—इत्यादि।

एकवीरा की भाषा में कहीं कहीं कविता का सा आनंद मिलता है। इसमें अलंकारों की बहुत ही सुंदर योजना है। शब्दचयन की ओर बड़ा ध्यान दिया गया है। इससे बड़ी सजीवता शब्दों में आयी है। देखिये— "वर्षाश्री सर्व रसों की मूर्तिमती होकर अति मोहन हुई। शिशिर चंद्र की ज्योत्स्ना कलहांतरिता की तरह जलदांतरित निगूढ़ वाष्प हो विमुख हुई। केतकी पुटों में जल प्रविष्ट होने से खंडिता सजल दीर्घ सितापांगों की भ्रांति होती थी। राज हंसों ने भीत होकर प्रोषितभर्तृका की तरह कमलातपत्र के नीचे सिर छिपा लिया। पंख फैलाये मोर की बगल में स्वाधीन पतिका की भाँति नृत्य करती हुई मोरनी अतीव

शाभायमान

‘राष्ट्रभाषा प्रवीण’ परीक्षा

1. फूल सा एकान्त में उर खोलने के हेतु,
   शाम को दिन की कमाई तोलने के हेतु।
   ले चुकी सुख-भोग समुचित से अधिक है देह,
   देवता हैं माँगते मन के लिये लघु गेह। (कुरुक्षेत्र)

महाकवि दिनकर का बहुचर्चित विचार प्रधान प्रबन्ध काव्य ‘कुरुक्षेत्र’ के षष्टम सर्ग से उपरोक्त पद्‌य उद्‌धृत है। युग द्रष्टा कवि ने मानव जीवन से संबंधित कतिपय मुख्य समस्याओं का इस काव्य में उल्लेख करते हुए उचित समाधान भी दिया है। यह नये युग की नयी गीता है। निष्प्राण समुदाय में फिर से प्राण फूँकने की शक्ति इस ग्रन्थ में निहित है। सर्वहारा वर्ग का उद्‌घोष इसमें देखते हैं। समुदाय शाश्वत शांति ही की कामना करता है। पर मनुष्य कभी-कभी अपने ही उत्तरदायित्व हीन कर्म से खुद अशांति को फैला देता है। फिर, न्यायार्थ ही सही, युद्‌ध में शरीक होना अनिवार्य हो जाता है। गांधीवाद से थोड़ा बहुत प्रभावित कवि ने यत्र-तत्र अहिंसा के सच्चे स्वरूप का परिचय दिया है। वर्तमान संघर्षमय जीवन से यदि हम आगे बढ़ना चाहते हैं तो मनुष्य मात्र में शारीरिक बल के साथ आत्मबल का भी समुचित विकास होना है।

इस सर्ग में आकर दिनकर ने कथा को न कहकर समस्याओं पर ज़्यादा ध्यान दिया है। आपने सुख-समृद्‌धि की आकांक्षा व्यक्त की है। इन्सानियत के विकास के साथ ही शांतिपूर्ण समुदाय का अविर्भाव संभव है। एक बार मनुष्य अपने समूचे कृत्रिम बुद्‌धि एवं कुटिल मन का परित्याग कर देखेगा तो उसे यहीं स्वर्ग का-सा आनन्द मिलेगा। पर, सो कैसे संभव है! प्रत्येक मनुष्य को आत्म-शोधन व आत्मनिरीक्षण करना चाहिए। यांत्रिक जीवन की चक्की में पिस जानेवाले मनुष्य को आजकल आत्मनिरीक्षणार्थ वक्त नहीं है—ऐसा एक बहाना तो सुनने में आता है। सात्विक मनोभाव को बढ़ाने की तीव्र इच्छा प्रत्येक में पैदा होनी चाहिए। प्रतिदिन की गोधूली में किसी तरु की छाया में बैठकर मनुष्य सोचने लगेगा तो उसे अपने में तथा बाहर अखण्ड शांति का आभास मिलेगा। मनुष्य सांसारिक सुख काफ़ी भोग चुका है। आगे आत्मोन्नति की फ़िक्र उसे करनी है। इस दिशा में कवि ने सहृदय पाठकों को आकृष्ठ किया है।

2. ऊधौ लै चल लै चल।
जहाँ वै सुन्दर स्याम बिहारी, हम कौं वहाँ लै चल।
आवत आवत कहि गये ऊधौ, करि गये हम सौं छल।
हृदय की प्रीति स्यामजू जानत, कितिक दूरि गोकुल।
आपुन जाय मधुपुरी छाए, उहाँ रहे हिल-मिल।
सूरदास स्वामी के बिछुरें नैननी नीर प्रबल॥

(प्राचीन पद्य प्रसून)

भक्त शिरोमणि सूर आँख के अंधे होते हुए भी मानवीय गुणों के चतुर चितेरे थे। राधा-कृष्ण तथा व्रजांगनाओं का जैसा मानवीय चित्रण आपने किया, वह अपने ढंग का अनोखा है। सूरसागर के भ्रमर गीत प्रसंग से यह पद उद्धृत है। विरहाकुलता से पीड़ित गोपिकाओं की दारुण पीड़ा की हृदय-ग्राही अभिव्यक्ति सूर ने भ्रमर गीत प्रसंग में की है। विप्रलंभ शृंगार के इन पदों को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे प्रत्येक पंक्ति में सूर ने वियोग का सागर उंडेल दिया हो। यहाँ सूर ने ज्ञान-पक्ष का आश्रय लेकर सगुण एवं निर्गुण भक्ति का विशद विवेचन करते हुए विरहिणी गोपिकाओं की मनोदशा का वर्णन किया है। गोपिकाएँ उद्धव के सामने अपनी तार्किक बुद्धि के बल पर कुछ अकाट्य दलीलें पेश करती हैं। सरल एवं सीधे शब्दों द्वारा उपरोक्त पद में व्रज वनिताओं ने अपनी मनोभिलाषा को व्यक्त किया है। उनके पास निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने योग्य मन नहीं हैं। 'मन दस बीस नहीं, एक हुतौ सो गयो श्याम संग' सो अब कान्ह को बिसारना उनके लिये असाध्य है। श्याम के दर्शन के बिना वे नीर से निकाली मछलियाँ बन पड़ी हैं। उद्धव से कहती हैं—हे उद्धव! तुम्हारी बातें हमारी समझ में नहीं आतीं। हम तो गाँव की अनपढ़ छोकरियाँ ठहरीं। जरा हमारी बात भी सुनो। जहाँ हमारे चित चोर श्याम रहते हैं वहाँ हमें भी ले चलो। हमारे प्राण उनके दर्शनार्थ व्याकुल होते जा रहे हैं। उन्होंने हमसे कहा था कि जल्दी ही मथुरा से वापस आकर आप लोगों को अपना लूंगा। पर हाय! वे वहीं जमकर बैठ गये हैं। हमसे छल किया है। वहाँ खूब मजे में रहते हैं। हमारी प्रतीक्षा बेकार रही। पर आज तक हम दुःखिनियों को दर्शन नहीं दिये। मथुरा तो पास ही है। क्या एक बार वे यहाँ नहीं आ सकते! अब तुम हमें वहीं ले चलो। हमसे उनका कितना अगाध अनुराग रहा उसे तुम क्या जानोगे? हम दिन-रैन आँसू बहा रही हैं। नेत्र सूखते जा रहे हैं। बहाने से आँसू भी सूख गये। इस पद में सूर ने अत्यंत स्वाभाविक ढंग से विरहावस्था का वर्णन किया है।

3. जिस प्रकार..........................पुरुषार्थ से।

(चिन्तामणि, भय, पृष्ठ 53)

आचार्य शुक्लजी आधुनिक समीक्षा शैली के जन्मदाता माने जाते हैं। आप सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार भी रहे। आपके लेख विषय प्रधान हैं, साथ ही उसमें लेखक के पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों का स्थान ऊँचा है। इस स्थर के निबन्ध न केवल हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं, वरन भारतीय साहित्य में श्रेष्ठ स्थान पाने के अधिकारी हैं। इन्हीं मान्यताओं के अनुरूप "भय" नामक निबन्ध में शुक्लजी के व्यक्तितत्व की गहरी छाप पाते हैं। यह अवतरण "भय" से उद्धृत है।

आचार्य शुक्ल ने इसके पूर्व व्यक्तिगत तथा समष्टिगत भावना पर विचार किया है। इस अवतरण में निर्भयता के लिए आवश्यक बातों पर विचार करते हुए आगे कहते हैं—जिस भांति सुखी होना प्रत्येक प्राणी का अधिकार है, उसी प्रकार निर्भय रहना भी उसका अधिकार है। मगर अधिकार मात्र की गणना से कोई जीव सुखी नहीं होता। जिस भांति सुखी बनने कठोर कर्म क्षेत्र में उसे उतरना आवश्यक है, उसी भांति भय-मुक्त होने के लिए भी मनुष्य को कर्म क्षेत्र के संघर्ष में उतरना पड़ता है। भय से मुक्त होने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। पहली तो यह है कि हम किसी दूसरे के लिए भय या कष्ट का कारण न बने। इसके लिए यह आवश्यक है कि हमारा आचरण उत्कृष्ट शील से समन्वित हो, ताकि हम व्यर्थ किसीको डराये-धमकाये नहीं।

दूसरी बात यह है कि कोई हमें कष्ट या भय पहुँचाने का दुःस्साहस न कर सके। इसके लिए हमें स्वयं अपने में ताक़त उत्पन्न कर लेना चाहिए। यह केवल व्यक्ति के लिए मात्र नहीं, अपितु राष्ट्र के लिए भी आवश्यक गुण है। हमें शक्ति एवं पौरुष का खूब अर्जन करना चाहिए। उपर्युक्त अंश में लेखक ने मानव जीवन में भयमुक्त होने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। आचार्य कलेलकर ने एक जगह पर इस प्रकार की भययुक्त भावना को पंचमहापातक के अंदर लिया है। भय मुक्ति के लिए शुक्लजी ने शील और शक्ति का सम्पादन आवश्यक बताया है। श्रीराम शक्ति एवं शील के आदर्श महापुरुष हैं। अतः लेखक मानसकार की भी बड़ी प्रशंसा की है।

श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्चि

'राष्ट्रभाषा विशारद—उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. धूरि भरे अतिशोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अगना पग पैंजनी बाजति पीरी कछोटी ।
वा छबि को 'रसखान' विलोकत वारत काम-कला निधि कोटी ।
काग के भाग कहा कहिए हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 152)

रसखान मुसलमान होने पर भी भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे गोस्वामी विट्ठलनाथजी के प्रिय शिष्य थे। उनकी प्रसिद्ध कृति 'प्रेमवाटिका' सचमुच प्रेम की ही मधुर वाटिका है। उनके प्रेम के सुन्दर उद्गार ने जनता को रसोन्मत्त किया था।

रसखानजी प्रस्तुत पद में बालक कृष्ण की रूप माधुरी का चित्ताकर्षक वर्णन करते हैं। धूलि में लथ-पथ बालक कृष्ण का रूप अत्यधिक आकर्षक लगता है। उसके सिर पर सुन्दर चोटी शोभित है। जब बालक कृष्ण आँगन में खेलते खाते फिरते हैं तब पैरों के घूंघरू मधुर रव पैदा करते हैं। रसखान कहते हैं कि बालक की छवि पर कोटि चन्द्रमा तथा कामदेव भी न्योछावर किये जा सकते हैं। ऐसे सुन्दर बालक के हाथ से मक्खन और रोटी लेकर उड़नेवाले कौए के अहोभाग्य के बारे में कहना ही क्या!

एक सच्चे भक्त का हृदयोद्गार यहाँ द्रष्टव्य है। बालक कृष्ण का सहज स्वाभाविक सुन्दर चित्र रसखान यहाँ प्रस्तुत करते हैं। 'धूरि भरे अति सोभित' बालक कृष्ण आँगन में खेलते खाते फिरते हैं। उस बालक की अनुपम छवि पर तन मन धन तक न्योछावर करने की रसखान की मधुर लालसा है। वात्सल्य एवं पुनीत भक्ति की धाराओं से युक्त है प्रस्तुत प्रसंग। भगवान के सामीप्य-सुख के लिए लालायित होनेवाले रसखान 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये' की उक्ति सार्थक करते हैं। भाषा चलती सरस एवं शब्दाडंबर मुक्त है। रसखान ने अपने रससिक्त पदों से अपना नाम सार्थक कर लिया है।

2. मुझको न सके ले धन-कुबेर दिखलाकर अपना ठाट-बाट,
मुझको न सके ले नृपति मोल दे माल-खज़ाना, राजपाट
अमरों ने अमृत दिखलाया, दिखलाया अपना अमर लोक ;
ठुकराया मैंने दोनों को रखकर अपना उन्नत ललाट,
बिक, मगर, गया मैं मोल बिना जब आया मानव सरस-हृदय ।

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 58)

श्री हरिवंशराय बच्चन जीवन और यौवन के गायक हैं। वे मस्ती के गीत गाते हुए हिन्दी काव्य क्षेत्र में आये। वे हालावादी काव्यधारा के प्रबल प्रवर्तक थे। बच्चनजी ने व्यापक खिन्नता और अवसाद के युग में मध्यवर्ग के विक्षुब्ध, वेदनाग्रस्त मन को वाणी का वरदान दिया।

बच्चनजी की प्रमुख कृति 'मधुबाला' का एक मार्मिक अंश है प्याला। 'प्याला' में निर्भीक तरुण कवि मानव जाति के प्रतिनिधि के तौर पर सच्ची मानवता की यशोगान करते हैं। धन कुबेर अपना ठाट-बाट दिखलाकर मुझको ले न जा सकेंगे। मुझको माल-खजाना, राजपाट देकर राजा मोल न सकेंगे। कवि का उन्नत ललाट है। अमरों के अमर लोक एवं अमृत को भी कवि ने ठुकराया। लेकिन सरस मानव हृदय के सामने कवि अपने को स्वयं बिना मोल लिये बिक गया।

कवि का अपना विशाल साम्राज्य है। उसका सम्राट स्वयं वही है। अतः राजा एवं धनकुबेर के अर्थ और अमरों के अमर लोक कवि के लिए नगण्य एवं अवांछित हैं। बच्चनजी की भाषा में मधुरता और प्रवाह, छन्द में लय और शब्दों में मोहिनी शक्ति विद्यमान है। बच्चनजी की प्रस्तुत पंक्तियाँ नितांत वैयक्तिक, आत्मस्फूर्त एवं आत्मकेन्द्रित हैं। 'प्याला' के इस आशय को व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लिए वाग्धारा बहानेवाले बच्चनजी ने अपने परवर्ती काव्य 'बुद्ध और नाचघर' में यों अभिव्यक्त किया है—

'चाट कर तलवे हिलाकर पूँछ
मैंने नहीं कमाई अपनी रोटी
रानी रूठेंगी लेंगी अपना सुहाग
राज रूठेंगे लेंगे अपना राज
मेरा कलम रहे बरकरार।'

3. **आकर पूछेंगे जरा-मरण यदि हमसे,**
शैशव-यौवन की बात व्यंग्य-विभ्रम से,
हे नाथ, बात भी मैं न करूँगी यम से,
देखूँगी अपनी परम्परा को क्रम से।
भावी पीढ़ी में आत्मरूप अपनाऊँ।
कह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ?

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 14)

श्री मैथिलीशरणगुप्तजी की यशोधरा प्रेम विह्वला तथा स्वाभिमानी माता थी। वह कभी-कभी चिन्तन एवं मनन में संलग्न रहती थी। उसके विचार में हाथ में आये हुए जीवन की उपेक्षा करके मुक्ति को ढूँढ़ने का प्रयत्न वृथा है। अतः उद्धव से 'निरगुन कौन देस कौ बासी?' पूछनेवाली भोलीभाली ग्वालिनियों की भाँति यशोधरा भी अपनी नादानी में पूछती है 'कह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ?' प्रस्तुत मार्मिक प्रसंग में यशोधरा अपनी युक्ति से मुक्ति की आलोचना करती है।

यदि मृत्यु और बुढ़ापा उसके बचपन तथा यौवन पर व्यंग्य करते हुए बातें करेंगे तो वह जवाब तक न देगी। क्योंकि उनके ये तर्क सर्वथा तथ्य रहित एवं गलत हैं। अतः वह अपनी परंपरा को क्रम से देखेगी। आनेवाली भावी पीढ़ी में वह आत्मरूप को अपनाएगी।

यशोधरा की बातों में अदम्य आत्म विकास एवं असीम साहस की झलक है। उसका कथन एक चिरन्तन सत्य का उद्घाटन करता है। शैशव, यौवन, बुढ़ापा तथा मृत्यु तो जीवन के क्रमिक विकास का द्योतक है। नाश तो तन का ही होता है, आत्मा का नहीं। अतः मृत्यु के बाद भी आत्मा अमर रहती है। अतएव पुनर्जन्म अवश्यंभावी है। इसलिए मृत्यु से डरने की जरूरत नहीं। भावी पीढ़ी में हमें अपना आत्मा का ही रूप द्रष्टव्य है। यशोधरा की इन बातों में वैष्णव सिद्धांतों की मधुर व्यंजना हुई है। 'भावी पीढ़ी में आत्मरूप अपनाऊँ' में 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' आत्मा की ओर इशारा है। 'कह मुक्ति, भला, किसलिए तुझे मैं पाऊँ' में गीता की पंक्तियाँ 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' एवं 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' की ही व्यंजना है।

4. बापू के हम उपासक, बापू के सन्देश को इतनी जल्दी भूले कैसे जा रहे हैं? परिस्थिति का निर्माण करनेवाले हम लोग हैं, परिस्थिति जिसका निर्माण करती है, वह कर्ता नहीं, वह विवश है, अपाहिज है! (बुझता दीपक—पृष्ठ 153)

श्री [भ]गवतीचरण वर्मा एक सफल कवि, उपन्यासकार, कहानीकार एवं नाटककार [हैं।] 'बुझता दीपक' उनका एक प्रसिद्ध एकांकी है।

राधेश्याम शर्मा कांग्रेस कमेटी के सभापति एवं सार्वजनिक कार्यकर्ता थे। सात वर्ष के बाद सुषमा विदेश से अपने प्रेमी शर्माजी से मिलने आयी। सुषमा नवीन आशा, आकांक्षा और उमंग लिए आयी थी। लेकिन शर्माजी में कोई परिवर्तन नहीं आया था। वे गरीबी और अभावों से त्रस्त थे। उन्हें अपने त्याग

और बलिदान का पुरस्कार कभी नहीं मिला था। दोनों के मधुर वार्तालाप के बीच श्री कृष्णकुमार शर्माजी से मिलने आया। चोरबाजारी और रिश्वतखोरी में पकड़े हुए दो कांग्रेस कार्यकर्ताओं की मुक्ति का प्रबन्ध करने वह वहाँ आया था। लेकिन शर्माजी ने इन्साफ़ और न्याय का गला घोंटना नहीं चाहा। वे न्याय और सत्य के संरक्षण में दत्तचित्त थे। लेकिन सुषमा ने भी कृष्णकुमार का समर्थन किया और परिस्थिति के अनुकूल अपने को बना लेने की सलाह दी। प्रस्तुत प्रसंग सुषमा से शर्माजी का मार्मिक कथन है।

अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के लिए पशुता एवं हिंसा की लहरों में बह जाने की आवश्यकता है। हम पूज्य बापू के उपासक हैं। बापू के उपासक हैं। बापू के पवित्र सन्देशों को भुलाना हमारे लिए श्रेयस्कर नहीं है। परिस्थिति का निर्माण करनेवाले हम लोग ही हैं। परिस्थिति जिसका निर्माण करती है वह कर्ता नहीं है, वह विवश है अपाहिज है। परिस्थिति के अनुसार पुनीत उच्च आदर्शों से मुँह मोड़ लेना कायरता तथा आत्म वंचना है। गिरगिट की तरह रंग बदलते रहना वर्तमान राजनीति की विशेषता है। हिंसा एवं पशुता की तरंगों में स्वार्थ की सिद्धि के लिए बहते रहना गाँधीजी के पावन आदर्शों का गला घोंट लेना है।

शर्माजी की निर्भीक वाणी उनके उदात्त उज्वल चरित्र पर प्रकाश डालने योग्य है। युग बदला, परिस्थितियाँ बदल गयीं, मानव समाज की मान्यताएँ भी बदल गयीं। फिर भी त्याग, आदर्श और सेवा भाव को जीवन का चरम लक्ष्य माननेवाले गांधीजी के सच्चे उपासक राधेश्याम शर्माजी औरों को आलोक प्रदान करने के वास्ते स्वयं पिघलकर नष्ट होनेवाली मोमबत्ती की भांति है। हमारे राष्ट्र का उज्वल भविष्य शर्माजी के जैसे निस्वार्थी निर्मम, कर्मठ नेताओं पर निर्भर है। **—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर**

'राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. "तो जैसे बेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसीके समान रोदन करूं या जलते हुए उस स्वर्ण-गोल के सदृश अनन्त जल में डूब कर बुझ जाऊं?"

यह हिन्दी के बहुमुखी कलाकार स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कहानी 'आकाश-दीप' से उद्धृत है। प्रसाद की अन्य उत्कृष्ट कहानियों की भाँति इस कहानी का आधार भी प्रेम है, जो उनके विचार में, विवाह की स्वस्थ कसौटी है। इसकी भाषा परिमार्जित है और शैली में प्रवाह एवं माधुर्य है।

चम्पा बुद्धगुप्त के साथ 'चम्पा-द्वीप' में रहती तो है। किन्तु वह पल पल में बेचैन हो उठती है और किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाती है। ऐसी दशा में वह मानों अपने से यह उद्धरित वाक्य कहती है।

अपने माता-पिता की इकलौती बेटी चम्पा संयोग से अपने पिता के साथ समुद्र को ही अपना घर बनाए हुए है। पिता की मृत्यु के उपरान्त साहसी युवक बुद्धगुप्त के आश्रय में जरूर आयी; किन्तु बंदिनी के रूप में नहीं वरन् स्वच्छन्द प्रेमिका के रूप में। चम्पा सुभग-सुन्दरी और बुद्धगुप्त साहसी युवक! ऐसी अवस्था में दोनों का एक दूसरे के प्रति आकर्षित होना और एक दूसरे के प्रति कामातुर होना बिलकुल स्वाभाविक है। 'काम' शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि में कोई त्याज्य प्रवृति नहीं है। उसकी पूर्ति की व्यावस्था सहज-स्वाभाविक है। किन्तु संयोग और संस्कार के कारण ऐसी नैसर्गिक प्रवृत्ति की पूर्ति की वांछित व्यवस्था में भी अवरोध उपस्थित होते हैं। चम्पा का प्रेमोत्कंठित हृदय अपने प्रियतम का संपूर्ण स्पर्श पाने के प्रयत्न में विफल होकर उसी तरह कराह रहा है जिस तरह अपार सागर बेला के परिरंभण के प्रयत्न में विफल होकर मानों चिल्ला उठता है।

अपने को पूर्णरूप से अपने प्रियतम बुद्धगुप्त को समर्पित करने में चम्पा के लिए कोई विशेष आपत्ति नहीं है। उसके विचार में उसके पिता का घातक बुद्धगुप्त ही है जिसके प्रति वह अनायास आर्काषित है। एक ओर पिता के घातक से प्रतिशोध लेने की भावना उसे चैन नहीं देती है और दूसरी ओर प्रियतम से मिलने की आकांक्षा उसे तड़पाती है। आकांक्षा की अतृप्ति और विरहानल से तप्त उसका हृदय मानों अस्ताचल पर पहुँचा स्वर्णिम सूर्यबिम्ब है। पिता के घातक से बदला लेने उसके हाथ उसके मनोहर पर नहीं उठते और न वह अपने प्रियतम को अपना सर्वस्व समर्पित कर अपने हृदय की प्यास बुझा लेती। अतएव ऐसे अन्तद्वंन्द्व में फँसी चम्पा चीत्कार कर उठी - मेरे जीवन का भी कोई आर-पार नहीं है क्या! अपनी प्रेम विह्वलता में रोदन करती रहूँ या तड़पाती विरह ज़लन को लिए आँसू बहाती बहाती अपना जीवन समाप्त करूँ!

2. **"इसलिए एक को दूसरे के साथ बल प्रयोग करना पड़ता है जिससे वह उस चीज़ को पा सके, चाहे दूसरा उससे महरूम क्यों न हो जाए।"**

यह स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय राजेन्द्र प्रसाद के 'बापू के चरणों में' नामक लेख से उद्धृत है। लेखक ने गांधीजी के सत्य-अहिंसा जैसे सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करते हुए मानव की आवश्यकताएँ परिमित क्यों होनी चाहिए, इसके कारण पर अच्छा प्रकाश डाला है।

एक समय था जब कि आदमी बिलकुल नंगा-धड़ंगा रहकर जंगल-जंगल की खाक छानता रहा था। किन्तु आज का आदमी बिलकुल अलग है—साफ-सुथरा, मिष्ट भाषी और सभ्य। उसके रूप-रंग के इस परिवर्तन के मूल में उसकी सामाजिक प्रवृत्ति एवं संगठन-कुशलता निहित है। मानव का आज जो विकास और उत्थान दिखाई देता है वह मानव और मानव के बीच बढ़ी मैत्री के रेशमी तंतु की बदौलत है। किन्तु आज भी, जब कि मानव इतना संस्कृत और सभ्य बना हुआ है, इस रेशमी तंतु के स्थान पर कई गाँठें पड़ी हुई हैं। सब प्रकार के शिक्षित व्यक्ति नारे पर नारे लगाते नहीं अघाते हैं कि मानव की अमूल्य संपदा मानव और मानव के बीच की सच्ची एकता में निहित है। दुनिया भर के बुद्धिमानों के ऐसे नारों और उपदेशों के बावजूद आए दिन जहाँ देखिए वहाँ, दंगे-फसाद और खुराफात ही खुराफात नजर आती है। इसका एक मात्र कारण मानव की असंतृप्त आवश्यकताओं में खोजा जा सकता है। आवश्यकताओं को यदि बढ़ने दें, कोई अन्त नहीं हो सकता। एक आवश्यकता की पूर्ति हुई, तो दूसरी आ खड़ी होती हैं और दूसरी के बाद तीसरी तुरंत आ डटती है। इस तरह एक के बाद एक आनेवाली आवश्यकताओं की पूर्ति करना किसी भी आदमी की सामर्थ्य के अंदर नहीं है। फलतः आदमी अतृप्ति का शिकार बनकर अशान्त रह जाता। तब भी वह निराश होकर चुप नहीं रहता बल्कि किसी तरह अपनी आवश्यकता की पूर्ति करनेवाले साधनों की प्राप्ति के लिए हाथ बढ़ाता है। इस तरह प्रत्येक आदमी के हाथ बढ़ जाते हैं और बढ़े हुए इन कई हाथों का एक दूसरे से टकराना और संघर्ष करना स्वाभाविक हो जाता है। परिणाम स्वरूप "मैं मैं और तू तू" की बात चलता है और जिसकी लाठी उसकी भैंस हो जाती है। जब तक ऐसा बल-प्रयोग कायम रहता है तब तक संसार में सुख-शांति नहीं है। संतोष और शांति का प्रबल शत्रु आवश्यकता या चाह है। इसीलिए संत कबीरदास को कहना पड़ा:—

चाह गई चिंता मिटी, मनुवाँ बेपरवाह।
जिन को कछू न चाहिए, सोई साहँसाह॥

सभी धर्मों ने शुद्धाचरण संबन्धी जो बातें हमें… सिखायीं उन्हीं को गांधीजी ने फिर से क्रियात्मक रूप से हमें बताया है। उन्होंने दुनियाँ के लोगों को सावधान किया कि वे आवश्यकताओं के पीछे न दौड़ पड़ें बल्कि वे उनको नियन्त्रित करें और परिमित करें जिससे कि दुनिया की खुराफात हमेशा के लिए बंद हो जाएगी और आदमी चैन की बंसी बजाएगा।

3. **"यदि मैं आप से ऋण लेकर अपना विवाह करूँ, तो क्या अन्य मुझसे मेरी नव-विवाहिता वधू छीन लेंगे?"**

यह कहानी-सम्राट स्वर्गीय मुंशी-प्रेमचंद की 'ईश्वरीय न्याय' नामक कहानी से दिया गया है। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के द्वारा सचाई के साथ अन्याय का विरोध किया है। इस कहानी में भी कर्तव्य को ही प्रधानता दी गयी है और साथ-साथ मानव प्रकृति का बड़ा मार्मिक चित्रण पुस्तुत किया गया है।

अदालत में मुकद्दमे के पेश हो जाने के बाद दलीलों के संदर्भ में प्रतिवादी वकील ने यह कहा है। ऋण कोई चोरी का माल नहीं है। चोरी का पता धन या वस्तु के खो जाने के बाद मालिक को लगता है। किन्तु ऋण के संदर्भ में ऋणदाता और ऋणी दोनों सचेत रहते हैं और सावधान रहते हैं। दोनों की जानकारी में इस व्यापार का निपटारा होता है। मुंशी सत्यनारायण ने न ऋण लिया है न भानुकुँवरी ने ऋण दिया है। ऐसी स्थिति में ऋण का सवाल ही नहीं उठ सकता! मुंशीजी ने भानुकुँवरी के धन से खरीदा गाँव चुपचाप हज़म करने की कोशिश की। इस काली कोशिश को सफेदपोशी देने उनके वकील साहब ने यह दलील दी।

सांसारिक लोगों में लेन-देन और खरीद-बिक्री होती ही रहती है। इस व्यापार का माध्यम कभी धन होता है कभी वचन। धन हो या वचन, आदमी की नीयत अच्छी होनी चाहिए। मुंशी सत्यनारायण अपने चाल-चलन और नेक नीयत के लिए काफी प्रसिद्ध रहे। अतएव वे अपने जमींदार पंडित भृगुदत्त के विश्वास-भाजन रहे। उनके देहावसान के बाद भी आठ वर्ष तक मुंशी सत्यनारायण मन, वचन और कर्म से जमींदार के खानदान और उनकी जायदाद के प्रति बिलकुल ईमानदार रहे। किन्तु वे भी आदमी हैं। आदमी हमेशा दूध का धुला नहीं होता; क्योंकि वह परिवेश के असर से हमेशा अछूता नहीं रह सकता। परिणामत: वे बेईमानी का रास्ता अपनाते हैं तो भानुकुँवरी ने उनके खिलाफ मुकद्दमा चलाया। दोनों अपने अपने पक्ष का समर्थन करने लगे। पक्षधर आदमी अपने पक्ष का समर्थन करने, उचित-अनुचित, सब प्रकार के आसरों का अख्तियार करता है। वकील तो वकील जो ठहरे! गांधीजी ने अपनी 'आत्म कथा' में कहा "Lawers are liers" अर्थात् वकील मिथ्या भाषी हैं। मुंशीजी के वकील साहब उक्त दलील के जरिए अपने पक्ष की 'नेक नीयत' दर्शाने लगे। ऋण के धन से खरीदी वस्तु पर ऋणदाता का वाकई कोई हक़ नहीं हो सकता—कानून हो या नैतिक। अतएव यदि कोई आदमी कहीं से कर्ज लेकर विवाह के सिलसिले किये जानेवाले खर्च का निर्वाह करता है, तो कर्ज की रक़म बसूद चुकाना मात्र उसका धर्म होता है। यह नहीं हो सकता कि ऋणदाता अपने ऋण की रक़म के बदले ऋणी की नयी नवेली-पत्नी पर

दावा करे! इसी तरह भानुकुँवरी भी मुंशीजी के गाँव पर दाँवा नहीं कर सकतीं। हाँ, यह गाँव खरीदने में उनकी तीस हज़ार रुपये की जो रक़म लगी, उस के लिए तो वह अलबत्ता दावा कर सकती है। —श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **"इस काम में आप यदि उनका अनुकरण नहीं कर सकते, तो अपने आशीर्वाद दें।"**

श्री जमनालालजी बजाज बापूजी के कट्टर अनुयायी थे। गांधीजी के रचनात्मक कार्यों को अमल करने और सफल बनाने में जमनालालजी ने तन, मन तथा धन लगाकर जो प्रयत्न किया है वह भारत के स्वातंत्र्य संग्राम के इतिहास की एक अमर घटना है। हरिजनोद्धार, खादी प्रचार, स्त्री शिक्षा, गोरक्षा और हिन्दी प्रचार आदि के लिए जो सेवाएँ जमनालालजी ने की हैं वह चिरस्मरणीय हैं।

कांग्रेस ने जब अस्पृश्यता निवारण का प्रस्ताव पास किया, तभी से इस दिशा में जमनालालजी ने अपना कार्य प्रारंभ किया। 'हरिजन बस्तियों में प्रचारक नियुक्त कर दिये तथा हरिजन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ अपनी संपत्ति से देने लगे। पर इन बातों से उनका मन तृप्त नहीं हुआ। उनका विचार था कि समाज के एक तिहाई बंधुओं के साथ जो अस्पृश्यवा की भावना रखी जाती है, वह भाग्य की विडंबना है। अत: जमनालालजी ने पहले पहल हिन्दू समाज की इस बुराई का नाश करने और समाज के अछूत सहचरों को मनुष्य स्वीकार कराने के कार्य को अपने हाथ में लिया। और मनुष्य-मनुष्य के बीच की अस्पृश्यता का जड़ से उन्मूलन करने का निश्चय कर लिया। इसके लिए उन्होंने हिन्दू मंदिरों में हरिजन भाई-बहनों को भी अन्य सवर्ण हिन्दुओं की तरह भगवान के दर्शन करने और सार्वजनिक कुओं से पानी भर लेने की स्वतंत्रता दिलाने का आंदोलन शुरू किया। जमनालालजी ने सोचा कि ये कार्य पहले पहल अपने घर से शुरू करने चाहिए। उन्होंने अपने निजी मंदिरों और धर्मशालाओं के कुओं को हरिजनों के लिए खोल देने का निश्चय किया; परंतु मंदिर और धर्मशाला चलाने का अधिकार ट्रस्टियों के हाथों में था। जमनालालजी ने ट्रस्टियों को अपनी राय दी, पर ट्रस्टी उनकी राय से सहमत नहीं हुए। आखिर जमनालालजी के सतत प्रयत्न के फलस्वरूप धर्मशाला के कुएँ हरिजनों को पानी भरने के लिए खुल गये।

इस कार्य के बाद जमनालालजी मंदिरों के बन्द द्वारों को खुलवाने की ओर प्रवृत्त हुए। अपने अधीन के मंदिरों को हरिजनों के लिए खोल देने के प्रयत्न में

लगे। किन्तु यह कार्य बहुत ही दुष्कर था; क्योंकि ट्रस्टी कट्टर सनातनी थे। उनका विश्वास था कि अस्पृश्यों को मंदिरों का प्रवेश देना पाप है। जमनालालजी का आग्रह था कि यह कार्य ट्रस्टियों द्वारा ही करावें। अतः उन्होंने सावधानी से इस विषय का हल करने का विचार किया। बुद्धिमत्ता तथा युक्ति के साथ यह कार्य भी उन्होंने संपन्न किया—वर्धा के लक्ष्मीनारायण मंदिर हरिजनों के लिए खुलवा दिया।

इस संबंध में गांधीजी ने अपनी एक अपील में कहा—"हमें न्याय के लिए लड़ते हुए तपस्या द्वारा अपने पंचों को पवित्र बनाने की जरूरत है। यही काम जमनालालजी कर रहे हैं। इस काम में आप यदि उनका अनुकरण नहीं कर सकते, तो अपना आशीर्वाद ही दें।"

2. **"राघव बोले देख जानकी के आनन को—**
'स्वर्गंगा का कमल मिला कैसे कानन को?'
'नील मधुप को देख वहीं उस कंज-कलिका ने
'स्वयं आगमन किया—कहा जनक-लली ने॥" (पद्यमाला-II)

अपने पिता की आज्ञा की पूर्ति के लिए श्रीराम सीता और लक्ष्मण समेत चौदह वर्ष के वनवास के लिए अयोध्या के आमोदकारी राजभवन को छोड़कर निकल पड़े। रास्ते में एक रात के लिए चित्रकूट पर्वत की वन-सरिता मंदाकिनी के किनारे उनको ठहरना पड़ा। कविवर जयशंकर प्रसाद उस समय की प्रकृति का वर्णन करते हुए श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी का पाठकों को परिचय दिलाते हैं।

तारकालंकृत नील आकाश के राकेन्दु से बह आनेवाली स्निग्ध शीतल चांदिनी उस पर्वत प्रदेश को अलकापुरी के नन्दनवन के समान पूर्वाधिक हृदयहारी बना रही थी। चित्रकूट पर्वत किसी विदग्ध चित्रकार की तूलिका-चलन से उत्पन्न अति मनोहर चित्र-सा मोहक व आकर्षक दीख पड़ा। पर्वत प्रांत से कलकल करती मंदाकिनी नदी बहती थी। मलय पर्वत के सुमन राशियों को आलिंगन करते सुगंधवाही मलयमारुत मंद मंद चल रहा था। इस मनमोहक वेला में मंदाकिनी के कूल में एक स्फटिक शिला पर आसीन हो श्रीराम और सीता उस वन गरिमा का आलोकन कर रहे थे, मानों किसी स्वच्छ सरोवर में एक नील कमल का फूल खिला हो।

ऐसे मादकतापूर्ण वातावरण में प्रेमी-प्रेमिकाओं के हृदय सरोवरों में अनुराग की शीतल लहरें कल्लोलित होना स्वाभाविक ही है। श्वेत कमल की मृदुल-पंखुड़ी सम चमकते सीताजी के स्निग्ध-निर्मल मुख की कांति ने श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम निर्भर

हृदय में अनुराग की पवित्र भावनाएँ उत्पन्न कीं—वे उस निष्कलंक मुख मंडल की अतुल शोभा से मुग्ध हो गये थे; उन्होंने अपनी प्रेयसी से पूछा—"हे वैदेही, स्वर्ग-सरिता गंगा में खिले इस श्वेत कमल को इस कानन ने कैसे पाया?" इसके समाधान के रूप में सीताजी का भावनापूर्ण कथन है—"इस कानन में कमलों को लुभानेवाले नील वर्ण का एक मधुप मंडरा रहा है। उससे आकर्षित होकर वह स्वर्गंगा का कमल उससे मिलने स्वयं दौड़ आया है।" अर्थात् कमल कली जैसे मुखवाली सीताजी ने नील-मधुप जैसे श्रीरामचंद्रजी से आकर्षित होकर स्वयं उनको वर लिया है।

श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

कालिकट विश्वविद्यालय से सभा की परीक्षाओं को मान्यता!

डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर, सदस्य, उपसमिति, शिक्षा परिषद, कालिकट विश्वविद्यालय से सभा की परीक्षाओं की मान्यता संबन्धी जो विवरण हमें मिला है उसे समाचार के पाठकों के उपयोगार्थ यहाँ दिया जाता है। सभा के राष्ट्रभाषा प्रवीण उपाधिधारियों को कालिकट विश्व-विद्यालय की बी. ए. परीक्षा में बैठने देने के उपलक्ष्य में उपसमिति में विचार विनिमय होने के बाद निम्न प्रकार निर्णय हुआ—

1. जो राष्ट्रभाषा प्रवीण उपाधिधारी विद्वान प्रिलिमनरी तथा फाइनल की अंग्रेज़ी में अलग अलग बैठकर उत्तीर्ण होंगे उनको बी.ए. भाग I में बैठने की अनुमति दी जाती है।
2. इस तरह बी.ए. भाग I में उत्तीर्ण होनेवालों की राष्ट्रभाषा प्रवीण उपाधि बी.ए. भाग II तथा भाग III के समकक्ष मानी जाएगी तथा उनको बी.ए. उपाधि दी जाएगी।
3. प्रचारक सनद को बी. एड. की समकक्ष माना नहीं जा सकता।
4. उपरोक्त प्रकार जो बी.ए. उपाधिपत्र प्राप्त करते हैं तथा जो 'पारंगत' में उत्तीर्ण हों उनको एक साल बाद विश्व-विद्यालय के क्रमबद्ध एम. ए. में बैठने की अनुमति दी जाएगी।

हिन्दी विद्यार्थी संघ, मदुरै

वार्षिकोत्सव—ता. 6-12-70 को हिन्दी विद्यार्थी संघ का प्रथम वार्षिकोत्सव द. भा. हि. प्र. सभा मदुरै व रामनाथपुरम ज़िलों के संगठक श्रीमान ए. सुमतींद्रनजी, बी.ए. की अध्यक्षता में सौराष्ट्र एलिमेंटरी स्कूल में सुसंपन्न हुआ।

वार्षिकोत्सव में मदुरै कालेज के लेक्चरर श्री टी. शेषाद्रि, सौराष्ट्र कालेज के लेक्चरर श्री एम. वी. तुलसीराम, अमेरिकन कालेज के लेक्चरर श्री वी. ए. देवेंद्रन, सेंट्रल स्कूल के अध्यापक श्री एस. जी. वामनमूर्ति, तमिलनाडु शाखा के कार्यकारिणी सदस्य श्री आर. के. हरिगोविन्दराव, सौराष्ट्र हिन्दी विद्यालय के संचालक विद्वान श्री जी. पी. माधवाचारी; श्री जी. आर गोपालराव; श्री टी. आर.कृष्पुस्वामी; शिवाजी हिन्दी महल के संचालक श्री जे. एस. कृष्णमूर्ति; तुलसी हिन्दी विद्या मंदिर के संचालक श्री टी. डी. सुब्रमणियन, श्री एम. आर. राममूर्ति आदि सज्जन तथा अनेक प्रचारकों ने भाग लिया। हिन्दी सीखने की आवश्यकता तथा हिन्दी विद्यार्थी संघ की आवश्यकता पर ज़ोरदार भाषण हुए।

समारोह प्रारंभ होने के पहले सभी अतिथियों को चायपार्टी दी गयी। पश्चात् हिन्दी विद्यार्थिनी श्रीमती के. आर. मीरा ने प्रार्थना गीत गाया। संघ के

मदुरै हिन्दी विद्यार्थी संघ के प्रथम वार्षिकोत्सव के अवसर पर अध्यक्ष श्री ए. सुमतीन्द्र तथा सर्वश्री टी. शेषाद्रि, वी. तुलसीराम, के. हरिगोविन्द राव, जी. पी. माधवाचारी, एस. जी. वामनमूर्ति, जी. आर. गोपालराव, के. के. कृष्णन, टी. आर. कृष्णस्वामी तथा जे. एस. कृष्णमूर्ति के साथ संघ के संचालक दर्शित हैं।
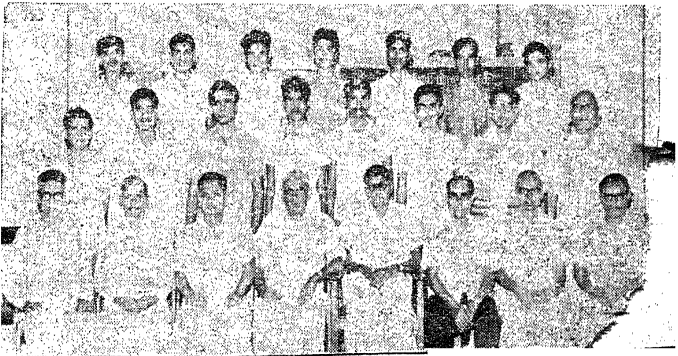
पुरुष जाति की अनियन्त्रित एवं अविवेक-पूर्ण कामुकता के कई कुत्सित और नग्न चित्र तथा पुरुष के प्रति विद्रोह के अनूठे भाव श्री के. सरस्वती अम्मा की लघु-कथाओं में मिलते हैं। असफल प्रेम की चोट खाने से उत्पन्न निराशा और कुंठा की अनुभूति उनकी लघु-कथाओं की जान है। दर्दभरी मार्मिकता और असहिष्णुता की अनुभूति भी उनमें उपलब्ध होती है।

आधुनिक काल के अध्यापकों के सामूहिक और पारिवारिक जीवन के दुःख-दर्दों की सैकड़ों करुण और कलापूर्ण कथाएँ 'कारूर ने" लिखी हैं। इसी प्रकार वेट्टूर, नागवल्ली, मुहम्मद राफ़ी आदि की लघु-कथाएँ केरल की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश डालनेवाली हैं। इन कथाकारों के अलावा सर्वश्री एन. पी. चेल्लप्पन नायर, ई. एम. कोवूर, कैनिक्करा पद्मनाभन पिल्लै, मलयाट्टूर राम-कृष्णन, के. टी. मुहम्मद, एम. टी. वासुदेवन नायर, जोसफ़ मुण्डश्शेरी आदि अनेकों प्रशस्त अन्यान्य साहित्यकारों की लिखी सैकड़ों लघु-कथाएँ अपनी-अपनी विशेषताएँ रखती हैं। श्री के. टी. मुहम्मद की लिखी 'कण्णुकल्' (आँखें) शीर्षक कहानी को अखिल भारतीय कहानी-स्पर्धा में सर्व-प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

आजकल के नवीनतम उदीयमान कथाकारों में सर्वश्री कोविलन, नन्दनार, पारप्पुरत्तु, चेरकाटु, टी. पद्मनाभन, टी. एन. कृष्ण पिल्लै, जी विवेकानन्दन आदि कई लेखकों के नाम लिये जा सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नवीनतम लघु-कथाएँ—पर्वतारोहण, शिकार, खेल-कूद, कारखाना, दफ़्तर, मज़दूरी, युद्ध, खेती-बारी, पुरातत्व, प्रेतान्वेषण, स्फुटनिक, विमान-यात्रा, वैज्ञानिक अनुसंधान, सन्तान-नियन्त्रण, सैनिक-जीवन, आसपताल, पागल खाना आदि मानव-जीवन से सम्बन्धित सभी छोटे-बड़े क्षेत्रों पर आश्रित हैं। कथाकार की निरीक्षण शक्ति, फोटोग्राही करने की क्षमता, कथा के प्रसंग की सत्यता, लेखक के अनुभव की तीव्रता, सुलझे हुए विचार तथा भाषा और शैली का सुन्दर समन्वय, ये सब नवीनतम मलयालम लघु-कथा में हम पाते हैं।

नई दिल्ली में भारती साहित्यकार प्रतिष्ठान की ओर से उपराष्ट्रपति महामहिम श्री गोपाल स्वरूप पाठक ने 'मंकुतिम्मन कग्ग' के अनुवाद के लिए डॉ. सरोजिनी महिषी का अभिनन्दन किया।

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. **"केवल स्त्री के दृष्टिकोण से ही नहीं, वरन् हमारे सामूहिक विकास के लिये भी यह आवश्यक होता है कि स्त्री घर की सीमा के बाहर भी अपना विशेष कार्यक्षेत्र चुनने को स्वतन्त्र हो।"** (गद्य रत्नावली, घर और बाहर)

सुप्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा गद्य साहित्य जगत में भी अत्यंत चमक उठी हैं। उनकी 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' आदि पुस्तकें इसके ज्वलंत साक्षी हैं। प्रस्तुत गद्यांश "घर और बाहर" से लिया गया है। पीडित भारतीय नारी वर्ग की झलक एवं उनका संघर्ष इस लेख में चित्रित हैं। एक ओर नारी सुलभ कोमलता, मातृत्व भाव, असीम त्याग तथा दूसरी ओर बाहर के कठोर संघर्षमय वातावरण की वजह से नारी का कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही सीमित रह गया है। हम ज़रा गौर करें तो इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि नारी अब केवल माँ या भार्या मात्र न होकर गृह के बाहर भी विकासोन्मुख समाज का एक विशिष्ट अंग तथा श्लाघनीय नागरिक बन सकती है।

उनके सामने विशाल कार्य क्षेत्र फैला पड़ा है। वर्तमान भारतीय नारी-समाज के समक्ष अन्यान्य विकसित राष्ट्रों की जागृत महिलाओं की सुलझी तस्वीर भले ही हो, फिर भी यहाँ की नारियों को चाहिए कि राष्ट्रीय परंपरा की सीमा को लांघने की चेष्टा वे कदापि न कर बैठें। आज यहाँ की शिक्षिताओं के बीच में विकसित नारी की तस्वीर हमें देखने को मिलती है। नारी विषयक विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए आप लिखती हैं—"ऐसा होता आया है इसलिये ऐसा होना चाहिए"। इस बात की ओर भी हमें ध्यान देना है। असीम विद्या-बुद्धि का भार लिये हुई नारी किसी के गृह की शोभा मात्र बढ़ाकर संतुष्ट कैसे रह सकती है? शिक्षिताओं के अंतस्तल में आज अंकुरित विद्रोह की भावना को पुरुष समाज समझने की चेष्टा करें। अतः सर्वांगीण सामाजिक विकास के लिये यह ज़रूरी है कि स्त्री वर्ग को घर के भीतर के कर्तव्यों के साथ साथ बाहरी क्षेत्र में भी कार्य करने की सुविधा मिले। अपने कार्य क्षेत्र के चुनाव की आज़ादी पर स्त्री को काफ़ी सावधानी बरतने की भी जरूरत है।

2. **मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं। फिर मैं और कहाँ जाऊंगी यवन!"** —(चन्द्रगुप्त)

महान् कलाकार जयशंकर प्रसाद तो हिन्दी नाटक साहित्य के सम्राट रहे। प्रेमचंद, गुप्तजी जैसे साहित्यकार अपनी प्रतिभा द्वारा सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना को जनता के मन में जिस ढंग से जगाते रहे, उसी भांति प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से तत्कालीन जनमानस को एक बार फिर प्राणवान बनाया है। "चन्द्रगुप्त" नाटक के ज़रिये आपने राष्ट्र की बड़ी सेवा की है। यह प्रसंग उक्त नाटक के प्रथम अंक से उद्धृत है।

वैदेशिक ताक़त के सामने घुटने टेकनेवाली प्रवृत्ति से कलुषित अपने भ्राता से घृणा करके गांधार कुमारी अलका बिना किसी निर्दिष्ट लक्ष्य लिये जंगल के मार्ग से जा रही थी। अचानक सामने अजनबी यवन योद्धा को देख एक बार चौंकती है। छोटी-सी इस मुलाकात के बल पर नाटककार ने अलका की मानसिक दशा का स्पष्ट चित्रण किया है। उसके मन में मातृभूमि के प्रति जो अगाध स्नेह है, उसकी झलक इस प्रसंग में हमें मिलती है। 'सुजलाँ सुफलाँ' भारत के अणु प्रत्यणु में उसकी आत्मा जागृत है। क्या ऐसी कोई ताक़त है जो उसे इन तत्वों से अलग कर सके?

देश-भक्ति के अभाव से उच्छृंखल तत्कालीन भारतीय समाज के लिये अलका का जीवन एवं वचन प्रेरणादायक हैं। अलका का उपरोक्त कथन एक बार फिर सब भारतवासियों के अंतस्तल में गूँज उठे। अलका की बात सुनकर ही उस यवन (सेल्यूकस) को मालूम हुआ होगा कि भारत असल में क्या है!

3. **"ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृत्रिमता से उत्पन्न एक विष है। इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढ़ती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ दुःखी होते हैं। समाज के संघर्ष से जो अवास्थविकता उत्पन्न होती है वह हमपर प्रभाव डालने में वास्तविकता से कम नहीं।"** (चिंतामणि)

हिन्दी गद्य साहित्य के वरिष्ठ-कलाकार श्री रामचन्द्र शुक्लजी से विरचित "चिंतामणि" के 'ईर्ष्या' शीर्षक मनोविकार संबन्धी लेख से यह गद्यांश उद्धृत है। हम अधिकतर समाज के सम्मुख अपने असली रूप को छिपाकर ही रखना चाहते हैं। मतलब है कि जो कुछ हम हैं, उससे अधिक समझा जाय। कहने का मतलब है, जब कभी हम यह देखते हैं या अनुमान करने लगते हैं कि हमारा कोई निकटवर्ती मित्र व संबन्धी तुलनात्मक दृष्टि से हमसे ज्यादा श्रेष्ठ समझा जाता है तो हमारे मन में उसके प्रति एक असद्भाव उत्पन्न हो ही जाता है—हम यह सोचने में तब ज़रा भी विलंब नहीं करते कि उसकी यह साधन संपन्नता व महत्व नष्ट-भ्रष्ट हो जाय या

कम-से कम हमारी अपेक्षा न्यून हो जाय। ईर्ष्या एक ज़हर है। अन्य व्यक्ति की उन्नति अथवा बढ़ती द्वारा यद्यपि हमारी कोई हानि नहीं होती है तथापि हमारे मन का ईर्ष्या नाश कर देती है। अपना लाभ न होने पर भी अन्य की हानि देखने को उत्सुक बना देनेवाली एक तामसी वृत्ति है ईर्ष्या। हमारे स्वस्थ सामाजिक जीवन में अनावश्यक स्थिति पैदा करने में ईर्ष्या सफल होती है।

4. **सुनि सुन्दर बैन सुधारस-साने सयानी हैं जानकी जानी भली।**
तिरछै करि नैन, दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछु मुसुकाई चली॥
'तुलसी' तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकति लोचन लाहु अली।
अनुराग-तडाग में भानु उदै बिगसीं मनों मंजुल कंज-कली॥

(प्राचीन पद्य पारिजात)

भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास मानवी प्रकृति के सूक्ष्म दर्शी थे। कवितावली के अंदर इसके अनेक ज्वलंत उदाहरण हम देख सकते हैं। राम कथा के हृदयग्राही प्रसंगों का भव्य चित्रण स्वाभाविक रूप से कवितावली में तुलसी द्वारा अत्यंत आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के अनन्य भक्त एवं भारतीय परंपरा के अनन्य आराधक रहे। रामायण के मार्मिक स्थलों पर तुलसी की कला पूर्णतः प्रस्फुटित हुई है। तापस वेश में राम-लखन और सीता को देखकर ग्राम-वधुएँ अत्यंत प्रभावित हो जाती हैं। उन्हें लोचन लाभ मिला। उपरोक्त सवैया में गोस्वामी ने सीता के मर्यादित भाव-भंगिमा को बड़ी बारीकी से अभिव्यक्त किया है। ग्रामीण वनिताओं के सवाल का उत्तर सीता भी खूब देती है। ग्राम-वधुओं की अमृत-से सनी, अर्थात भोली और सुन्दर बातें जब सीता ने सुनी कि 'ये सांवला पुरुष कौन है? तो जनक जाया ने बड़ी मर्यादा एवं रस भरे भंगिमाओं द्वारा चमत्कारिक ढ़ंग से उत्तर दिया। सीता ने अपने सुन्दर नेत्रों को तिरछे करके राम की तरफ़ इशारा करके कुछ मुस्कुराकर जता दिया कि सांवले अपने लिये कौन हैं। साकेतकार ने इस प्रसंग में ज़रा आधुनिकता का सहारा लिया है। साकेत की सीता झट कह उठती है 'गोरे जो हैं, देवर हैं मेरे'। तुलसी आगे कहते हैं—उस समय सभी ग्रामीण वनिताएँ इस भाँति शोभायमान हो रही थीं, जैसे सूर्य के उदय होने पर सरोवरों में कमल की कलियाँ खिल उठती हैं, ठीक वैसा ही सूर्य-सा प्रकाशमान रवि-कुल भूषण राम को देखकर उनके हृदय रूपी तालाब में प्रेम रूपी कमल की कलियाँ विकसित हुईं। वे नारियाँ अपने को यहाँ धन्य मानती हैं। उत्प्रेक्षा अलंकार इस पद्य में ठीक उतरा है।

—श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्ची

राष्ट्रभाषा विशारद—'पूर्वार्द्ध परीक्षा'

1. "स्वर्गीय वस्तुएं धरती से मिले बिना मनोहर नहीं होतीं!"

पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के एक प्रतिभा सम्पन्न निबन्धकार एवं समीक्षक हैं। आपकी भाषा प्रांजल तथा शैली अनूठी एवं सरस होती है। भारतीय संस्कृति तथा साहित्य में अशोक के फूल का क्या सम्बन्ध रहा, इसकी सरस झांकी आपने 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध के ज़रिये दी है जिसके अंदर से यह उद्धरण प्रस्तुत किया गया है।

वामन पुराण के साक्ष्य पर यह विदित होती है कि शिवजी के कोपानल में जब मनोजन्मा कामदेव भस्मीभूत हुए तब उनका रत्नमय धनुष टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वी पर बिखर गया। मूठ के स्थान के टुकड़े से चम्पे का फूल बन गया; नाह स्थान का हीरेवाला टुकड़ा मौलसरी के मनोहर फूलों में बदल गया; कोटि-देश का टुकड़ा जो नील मणियों का बना हुआ था पाटल पुष्पों में बदल गया; चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्य देश चमेली पुष्प में बदल गया और निम्नतर कोटि जो विद्रुम की बनी हुई है, बेला बन गया।

स्वर्गवासी कंदर्प देवता का रत्नमय कठोर धनुष टूटकर, भू-स्पर्श मात्र से, कोमल कान्त फूलों में बदल गया। स्वर्ग की अवस्थिति पृथ्वी के ऊपर कहीं गगन या शून्य में मानी जाती है। स्वर्ग, देवताओं अथवा देवत्व प्राप्त प्राणियों का वास-स्थान माना जाता है। निर्जर, अमर, आदि देवता के पर्यायवाची हैं। भूख और प्यास देवताओं को सता नहीं सकतीं अर्थात वे इनसे परे हैं। वे कर्मठ हैं; धर्म-परायण हैं; शीलवान हैं और पवित्र हैं। उनका सारा जीवन नियमबद्ध है। उनके जीवन और आचरण में किसी प्रकार की दुर्बलता (weakness) नहीं मिलनी चाहिए। तभी तो वे भू-वासी मानव के लिए आदर्श हैं। आदर्श अपनी अतिशयता में अत्यन्त कठोर और भयावह लगता है। अतएव मानव देवताओं को दूर से ही प्रणाम करते हैं और अपनी सहज चंचलता के अनुरूप मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

भू-वासी मानव के जीवन में तरह तरह की दुर्बलताएँ पाई जाती हैं। दुर्बलता मानव की प्रकृति में समा गयी है। **To err is human** (पथ-भ्रष्टता मानवता के अनुरूप है।) नियमबद्ध यान्त्रिक जीवन अनाकर्षक होता है। मानव अपने विकास-क्रम में तरह तरह के रास्ते निकालता है, बनाता है और बढ़ता है उनपर। फिर उनसे हटता है जाने-अनजाने और भटकता इधर-उधर। फिर वह अपनी रुचि और लक्ष्य के अनुसार एक नया रास्ता ढूंढ निकाल लेता है। यह क्रम उसके जीवन भर चालू रहता है। रास्ते पर चलना और नियम पालना, जीवन और उसके

विकास के लिए जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक है रास्ते से हटना और नियम का उल्लंघन करना। नियमोल्लंघन में ही मानव का निजी रूप दिखाई देता है; उसकी कोमल वृत्तियों की सरस झाँकी मिलती है। दुर्बलता अत्यन्त मनोहर होती है। अतएव कंदर्प देव के कुलिश कठोर खण्डित धनुष ने ज्यों ही रसवती पृथ्वी का स्पर्श किया त्यों ही सरस मनोहर पुष्पों का रूप धारण किया। इससे विदित होता है कि निर्जर, अमर देवताओं के जीवन में कोई मनोहारिता नहीं है, क्योंकि वे नियमबद्ध शुष्क जीवन व्यतीत करते हैं। तभी तो श्रीमती महादेवी वर्मा चौंक उठीं:—

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
भर मेरा मिटेने का अधिकार!

दुर्बल मानव का जीवन ही जीवन है जो रसवती पृथ्वी की भाँति हरा भरा होता है और उच्च से उच्च गगन भागों के वासी देवताओं का जीवन कठोर अथवा शून्य है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कंदर्प देवता के रत्नमय खण्डित धनुष का, भू-स्पर्श मात्र से सरस मनोहर फूलों में बदल जाना ही है।

2. **'प्रकाश में इधर-उधर की वस्तुओं को देखकर मन विचलित हो सकता है। पर अंधकार में किसका साहस है, जो लीक से जौ भर भी हट सके?**

यह उपन्यास सम्राट तथा यशस्वी कहानीकार स्वर्गीय प्रेमचंद की 'आभूषण' नामक कहानी से उद्धृत है। अपनी पत्नी शीतला के आभूषण-प्रेम की आकांक्षा की पूर्ति करने में असमर्थ होकर और उसके तकाजों व तानों से तंग आकर विमल जब किसीसे कहे बिना चुपचाप घर से भाग जाने लगा तब कहानी के लेखक ने कवित्वपूर्ण शैली में विमल की मनोदशा यों व्यक्त की—

नेत्र वस्तुओं को उसी समय देख सकते हैं जिस समय उनपर प्रकाश प्रसारित होता है। नेत्र देखने भरका काम करते हैं; दृष्टिपथ में आयी वस्तुओं में अपनी रुचि के अनुसार छाँटने का काम मन करता है और पसंद की वस्तुओं की प्राप्ति के लिए शरीर प्रयत्न करता है। देखा-देखी के कारण मन के मोहित होने अथवा विचलित होने की संभावना है। किन्तु अंधकारपूर्ण वातावरण में किसी प्रकार के आकर्षण या प्रलोभन के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। ऐसी स्थिति में हमारी सारी दृष्टि धुंधली लीक या तंग पगडंडी पर ही केन्द्रित रहती है ताकि हम भटककर कहीं ठोकर न खाएँ अथवा फिसलकर किसी गड्ढे में कहीं गिर न पड़ें।

इस उद्धरण में 'प्रकाश और अंधकार' शब्द साधारण वाच्यार्थ में प्रयुक्त नहीं हुए; पर लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त हुए। 'प्रकाश' शब्द यदि ज्ञान अथवा विवेक का प्रतीक है, तो 'अंधकार' शब्द निराशा का। सोच-समझकर ज्ञान के सहारे जो निश्चय किया जाता है उसमें फिर परिवर्तन के लिए गुंजाइश होती है जब कि प्रस्तुत ज्ञान पूर्वज्ञान का संवर्द्धन कर लेता है जिसके बल या प्रकाश में निश्चय किया गया था। असमर्थता निराशा की जननी है। विमल अपनी पत्नी की फ़रमाइशें, ख़ासकर गहनों की माँग पूरी करने में अपने को असमर्थ पाता है; अपने को अपमानित समझता है। उसकी यह तुच्छता उसीके लिए असह्य होती है। अतः वह निराशा में यह निश्चय करके घर से भाग खड़ा होता है कि यदि वापस आऊँ, तो गहनों के साथ आऊँगा; अन्यथा नहीं। अतएव घर से बिछुड़ते समय निराश विमल को किसी भी व्यक्ति अथवा वस्तु का अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रह जाना बिल्कुल स्वाभाविक है। यही नहीं, निराशा कभी-कभी आदमी को आत्म-हत्या करने पर भी मजबूर करती है।

3. **"परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम की प्रथा चल पड़ती है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है।"**

यह उद्धरण 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के संस्थापकों में एक और आधुनिक हिन्दी साहित्य के उन्नायकों में एक स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दर दास के 'भारतीय साहित्य की कुछ विशेषताएँ' नामक निबन्ध से दिया गया है। धर्म और साहित्य के सार-तत्व का विवेचन करते हुए बाबू साहब ने यह वाक्य कहा है।

यदि मानवों का संगठित जीवन समाज है, तो धर्म उसका शील है। किन्तु धर्म का सम्बन्ध अध्यात्म शक्ति से भी जोड़ा जाता है। यह धर्म, जैसे धार्मिक लोगों का विचार है, भगवान का सानिन्ध्य प्राप्त करानेवाला है। यों तो अनन्त शक्तिमान भगवान एक ही हैं; फिर भी कोने-कोने के लोगों ने अपनी-अपनी अनुभूति के अनुसार उस 'एक' की भिन्न-भिन्न रूप-कल्पना की है। फलस्वरूप अनेक धर्मों का आविष्कार ही नहीं किया गया बल्कि एक-एक धर्मविशेष के अन्तर्गत कई एक सम्प्रदाय हो गये। जब एक क्षेत्र के एक से अधिक हक़दार अस्तित्व में आते हैं तब उनका एक दूसरे के प्रति स्पर्द्धा और वैमनस्य का भाव रखना स्वाभाविक हो जाता है। तदनुसार अपनी-अपनी डफली बजाते हैं और अपने को दूसरों के मुक़ाबले में श्रेष्ठ दिखाने के लिए तरह-तरह के ढोंग भी रचते हैं। जब सम्प्रदाय—धार्मिक हों अथवा राजनैतिक या सामाजिक—ढोंग और ढकोसले का आश्रय लेते हैं तब वे सारहीन होकर लक्ष्य-भ्रष्ट होते हैं। ऐसे सम्प्रदाय समाज और संसार

दोनों के लिए निस्संदेह विनाशकारी हैं। जिस प्रकार साम्प्रदायिकता धार्मिकक्षेत्र में अनिष्टकारी है, उसी तरह साहित्य-क्षेत्र में भी।

साहित्य, हृदय की वस्तु है और धर्म, जब उपदेशात्मक रूप लेकर साहित्य में प्रविष्ट होता है, मस्तिष्क की वस्तु है। जो कृति हमारे मन को अपने में रमा देती है वह साहित्य के अन्तर्गत मानी जाती है। 'रमणीयार्थःप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' हमारे सभी प्राच्य साहित्य शास्त्रकारों ने गला फाड़कर घोषित किया है कि साहित्य का जनक और पोषक दोनों हृदय ही है। साहित्यकार और साहित्य-रसिक अथवा प्रेमी दोनों का सहृदय होना अनिवार्य है। अतएव पिंगल शास्त्र के अनुसार लिखे जाने मात्र से पद्य न कविता कहलाता है न साहित्य के अन्तर्गत आता है। शुष्क पद्यों के द्वारा नीरस उपदेशों का प्रचार साहित्यिक व्यभिचार है। ऐसा प्रयोग सचमुच अनर्थकारी है। हिन्दी साहित्य में यह अनर्थ दो दिशाओं में मिलता है। हिन्दी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है जिसके कारण नीतिपरक पद्यों की भरमार अब तक पाई जाती है। ये पद्य साहित्य की भित्ति अथवा सहृदयता की कसौटी पर कसे नहीं जा सकते। ये साहित्य का नाम पाने के अधिकारी ही नहीं हैं। दूसरा अनर्थ रीतिकालीन कविता के संदर्भ में मिलता है। इस युग के कवियों ने भक्तिकाल के राधा-कृष्ण का आलंबन लेकर वासनाजन्य शृंगारी कवितावाहिनी ही बहा दी। भक्तिकालीन भावधारा की उदात्तता और शालीनता एकदम ओझल हो गयी। हाँ, यह कहना समीचीन नहीं है कि समस्त रीतिकालीन कविता उपेक्षणीय है। उसमें कुछ ऊँचे धरातल की कविता है जिसमें कविता के उच्च आदर्श प्रस्तुत हैं और जो सचमुच रमणीय है।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

राष्ट्रभाषा विशारद—'उत्तरार्द्ध परीक्षा'

1. **मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।**
   भोर भयो गैयन के पीछे, मधुबन मोहिं पठायो।
   चार पहर बँसीबट भटक्यो, साँझ परै घर आयो।
   मैं बालक बहियन को छोटो, छीको केहि विधि पायो।
   ग्वालबाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो।
   तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायो।
   यह ले अपनी लकुटि कमरिया, बहुतहि नाच नचायो।
   सूरदास तब बिहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो॥

(पद्य रत्नाकर, पृष्ठ 127)

महाकवि सूरदास अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे। उनकी काव्य वीणा का मधुर स्वर अनुपम है। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य एवं भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। सूरदास बाल मनोविज्ञान के गहरे पारखी थे। बालक कृष्ण को यशोदा माँ ने चोरी के अपराध में पकड़ लिया। प्रस्तुत प्रसंग में बालकृष्ण अपने को निरपराध एवं चरित्रवान साबित करने का प्रयत्न करता है।

माँ, मैंने मक्खन नहीं खाया। चुराने की नौबत मुझे कब मिलती है? तुमने तड़के ही मुझे गायों के पीछे वृन्दावन भेज दिया। दिनभर मैं गायों के पीछे बँसीवट में घूमता फिरता रहा और सन्ध्या होने पर घर लौट आया। मैं छोटा बालक हूँ, अपनी इन छोटी बाहुओं से छीके से मक्खन कैसे निकाल सकता हूँ? ये ग्वाल बालक मेरे शत्रु हो गये हैं। उन्होंने बलपूर्वक मेरे मुँह पर मक्खन लिपटा दिया है। माँ, तुम भोली भाली हो। इसलिए उनकी बातों पर तुमने विश्वास किया है। इसके अतिरिक्त तुम्हारे दिल में यह भेदभाव है कि इसका जन्म किसी दूसरे ने दिया है। यह लो, अपनी लाठी और कंबल। तुमने बहुत ही नाच नचा लिया है। बालक की क्रोध भरी बातें सुनकर यशोदा माँ हँस पड़ी और उन्होंने अपने लाल को छाती से लगा लिया।

इस पद में बालकृष्ण की तोतली वाणी कितनी हृदयहारी है! कृष्ण की शिकायत में बाल सहज युक्तियों के अतिरिक्त कितने अधिक भावों की भरमार है! 'मैं बालक बहियन को छोटो, छीको केहि विधि पायो', यह सवाल माता को विस्मय विमुग्ध करने में समर्थ है। 'तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायो' में कृष्ण अपनी माता की नादानी में सहानुभूति एवं दुख प्रकट करता है। 'यह ले अपनी लकुटि कमरिया, बहुतहिं नाच नचायो' में बालक का किंचित रोष व्यंजित होता है। उत्कृष्ट प्रतिभावान् सूर के वर्णन का ढंग नितांत सुन्दर एवं मौलिक है। उन्होंने इस पद में मनोवैज्ञानिकता के साथ वात्सल्य रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर दिया है।

2. **युगों-युगों से मानव है उठता-गिरता चल रहा,**
यह प्राणों का दीप यहाँ पर बुझ-बुझकर फिर जल रहा,
यहाँ चेतना अमर, भावना अमर, अमर विश्वास है,
इसी अमरता की छाया में प्रेम निरन्तर पल रहा।
किन्तु घृणा से दूषित, हिंसा से सहमी हर साँस है,
और पहन रक्खे हैं हम सब ने जामे शैतान के!

(पद्य रत्नाकर—पृष्ठ-72)

श्री भगवतीचरण वर्मा बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। वे सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानीकार ही नहीं, नाटककार एवं निबंधकार भी हैं। पत्न संपादक, फिल्म आर्टिस्ट एवं आकाशवाणी के कार्यकर्ता के रूप में भी उन्होंने खूब ख्याति अर्जित कर ली है। भगवती बाबू ने मस्ती और बेफिक्री के गीत एक अनुपम कलाकारिता के साथ गाये हैं।

'दोस्त एक भी नहीं जहाँ पर' में वर्माजी ने मोह भंग, कुंठा, घृणा, हिंसा एवं प्रतिशोध की भावनाओं से प्रपीडित एवं प्रताडित मानव की दुरवस्था का मार्मिक चित्नण किया है।

मानव युगों से उठता-गिरता चल रहा है। प्राणों का यह दीया संसार पर बुझ-बुझकर फिर जल रहा है। मानव जीवन यहाँ अमर है। भावना एवं विश्वास भी अनश्वर है। अमरता की छाया में ही प्रेम निरंतर पल रहा है। किन्तु मानव घृणा से दूषित तथा हिंसा से ग्रस्त है। हम सब ने शैतान के पोशाक ही पहन रक्खे हैं।

कवि का कथन एक ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन करता है। मानव का इतिहास उन्नति और अवनति की कथा है। प्राणों का दीपक इस जग से कभी गायब नहीं होगा। बुझ-बुझकर दीया जलता रहेगा। अतः प्राणों का दीपक पुनः जलेगा। घृणा को त्यागकर प्रेम को आत्मसात् करने का आह्वान कवि यहाँ देते हैं। पंतजी ने भी लिखा है—

'बढ़ती घृणा घृणा से तू उसे प्रेम से दे भर।
है दीप दीप से जलता, है प्रेम प्रेम पर निर्भर!'

8. समर्पण लो सेवा का सार,
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार। (पद्य रत्नाकर—पृष्ठ-26)

जयशंकर प्रसादजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी प्रसिद्ध कृति 'कामायनी' अपने ढंग का एक अद्वितीय प्रबंध काव्य है। जल प्रलय से मनु बच गया। लेकिन वह क्लान्त श्रान्त उद्भ्रान्त था। वह हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ जल प्रलय पर विचार कर रहा था। सौभाग्य से श्रद्धा उस पथ में आ गयी। वह मनु के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गयी। यौवन छवि से दीप्त श्रद्धा ने अपना हृदय किवाड़ मनु के लिए खोल दिया। आत्म समर्पण करने के बाद श्रद्धा का मार्मिक कथन है प्रस्तुत प्रसंग।

मैं इस समय अपने आपको तुम्हारे पुनीत चरणों पर समर्पण करती हूँ। यह आत्मसमर्पण स्वीकार कर लो। यह आत्मसमर्पण ही सेवा का सार है। संसार-सागर में पड़ी तुम्हारी जीवन नौका के लिए मेरा यह आत्म समर्पण पतवार सिद्ध होगा। अर्थात् मेरा साहचर्य प्राप्त हो जाने पर तुम सफलतापूर्वक जीवन के अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँच जाओगे। मेरा यह जीवन आज से सब प्रकार के विकारों से रहित होकर इन्हीं चरणों में सादर समर्पित है।

श्रद्धा सेवा को जीवन का परम लक्ष्य और समर्पण को 'सेवा का सार' समझती है। श्रद्धा और मनु के गठ बन्धन का यह चित्रांकन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनु के एकाकीपन को दूर करने और उसको कर्म में प्रवृत्त करने के लिए श्रद्धा केवल उपदेश ही नहीं देती, बल्कि वह अपने जीवन का उत्सर्ग करके उसी साधना में सहायक बनती है।

4. समर्पण के बाद दंपति का नव जीवन प्रारंभ होता है सुधी। तुम्हारी घृणा शास्त्रीय या केवल कुछ प्रमुख परंपरा से पाली हुई है। उसका आधार तर्कमय है। सद्भावना नहीं, उसमें जीवन नहीं है। ('मायोपिया')

श्री उदयशंकर भट्ट एक दक्षहस्त कवि एवं नाटककार हैं। 'मायोपिया' में समर्थ एकांकीकार ने प्रोफ़ेसर सुधी के माध्यम से पुरुष के प्रति नारी के अस्वाभाविक आत्म-प्रवंचनात्मक द्वेष भाव को भली भाँति अभिव्यक्त किया है। सुधी विवाह को बन्धन मानती थी। व्यक्तिगत आज़ादी के पक्ष में वह वाग्धारा बहाती थी। अतः उसके दिल में दांपत्य जीवन बिताने की अभिलाषा नहीं थी। एक दिन उसके घर कई मेहमान आये। उस दिन सुधी ने जीवन के कई दृष्टिकोण देखे। उस सुकुमारी ने अपने आत्म प्रवंचनात्मक द्वेष भाव के कारण तारक को खो दिया। चरित्रवान केशव से भी उसको हाथ धोना पड़ा। सुधी दूसरों का सुखमय दांपत्य जीवन देख खिन्न एवं उदास हो गयी। प्रस्तुत प्रसंग में सुधी के भीतर की छाया-मूर्ति स्वयं प्रश्न करती है।

दंपति का नव जीवन आत्म समर्पण के बाद ही प्रारंभ होता है। पुरुषों से उसकी घृणा उसकी मिथ्या धारणाओं और कुंठाओं की ग्रन्थि मात्र है। यह नारी का सहज स्वभाव नहीं है। तर्क वितर्क में दक्षहस्त नारी अहं की असि से उद्भ्रान्त होती है। अतः उसमें सद्भावना और जीवन नहीं है। विश्वास, प्रेम और आत्मसमर्पण दंपति के लिए परमावश्यक है। विवाह के बाद नव जीवन का प्रारंभ होता है।

सुधी के हृदय के कोमल तथा कठोर भावों का द्वन्द्व यहाँ दर्शनीय है। उसके अभिमान और अहं पुरुषों से घृणा करने की प्रेरणा देते हैं। लेकिन उसका नारीत्व आत्म समर्पण के लिए लालायित है। भिन्न भिन्न भाव तरंगों में बहनेवाली कोमलांगी सुधी एकांकी में संघर्ष का सृजन करती है।

श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर।

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **"और इस प्रकार अपने अंतिम वाक्य द्वारा उन्होंने मेरे हृदय को इस तरह कँपा दिया, जैसे तंबूरे का तार छू लेने से काँप उठते हैं।"** (गद्य कुसुम-2)

भारत के स्वातंत्र्य संग्राम के शुरू होने के पूर्व की घटना है। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों को उनके मूल अधिकारों को दिलवाकर गांधीजी भारत लौट आये थे। उस समय चंपारन के निलहे किसानों पर अंग्रेजों का अत्याचार प्रतिदिन बढ़ता रहा था। यह समाचार पाकर गांधीजी उन निरीह किसानों की मदद के लिए मोतिहारी पहुँचे थे। गांधीजी के मोतिहारी पहुँचते ही जिला कलेक्टर की आज्ञा मिली जिसमें गांधीजी के ज़िले से बाहर निकल जाने की सूचना थी। गांधीजी आज्ञा-भंग कर मोतिहारी में ठहर गये। डा. राजेन्द्रप्रसाद की गांधीजी से पहली मुलाक़ात वहीं पर हुई। इस प्रथम दर्शन के संस्मरण के सिलसिले में अपने अनुभवों का वर्णन राजेन्द्र प्रसाद ने 'प्रथम दर्शन' शीर्षक लेख द्वारा किया है।

गांधीजी आज्ञा-भंग के मुक़द्दमे की प्रतीक्षा में थे। राजेन्द्र प्रसाद को देखते ही उन्होंने कहा—"मैंने आपकी बड़ाई सुनी है। मैं आपके भरोसे पर आया हूँ। क्या, आप मेरे साथ जेल जाने को तैयार हैं?"

गांधीजी के इस प्रश्न से राजेन्द्रप्रसाद असमंजस में पड़ गये। उनके मन में वह प्रश्न एक विकट समस्या बन गयी। उनको एक पुरानी घटना की याद आयी जब प्रथम बार उनकी श्री गोखलेजी से भेंट हुई। गोखले जी अभी कुछ दिनों पहले 'सर्वेन्ट्स आफ़ इण्डिया सोसाइटी' की स्थापना कर चुके थे। देश के कुछ नौजवानों को देश-सेवा के लिए सम्मिलित करना उनका ध्येय था। इसके लिए राजेन्द्र प्रसाद को बुलावा भेजा था। राजेन्द प्रसाद को देखते ही गोखलेजी ने कहा—'धन कमाने और ऐश-आराम से जीवन व्यतीत करने मात्र से मनुष्य का कर्तव्य पूर्ण नहीं होता। नौजवानों का देश के प्रति भी कुछ कर्तव्य है। देश उनसे बहुत कुछ आशा करता है। जब तुम पढ़ने में होशियार हो, तब तुम्हारे लिए यह कर्तव्य और अधिक हो जाता है। शायद आपको यह एक विकट समस्या मालूम पड़ेगी। मेरे जीवन में भी ऐसा एक समय उपस्थित था। मैं तो ग़रीब ख़ानदान का आदमी हूँ। घरवाले

मुझपर असीम भरोसा रखते थे। पर मैंने तो देश-सेवा का व्रत लिया था। इससे घरवाले असंतुष्ट हो, तो स्वाभाविक ही है। पर बाद को सब मुझे प्रेम करने लगे जब देश-सेवा का मूल्य समझ गये। शायद आपका भी यही हाल संभव है। पर भरोसा रखिये—आखिर सब पूजेंगे।"

इन शब्दों ने राजेन्द्र प्रसाद के हृदय को कँपा दिया, जैसे तंबूरे के तार छू लेने से काँप उठते हैं। वही दशा राजेन्द्र प्रसाद की अब की बार हुई जब गांधीजी के मुँह से सुना कि 'क्या आप मेरे साथ जेल जाने को तैयार हैं।'

उपरोक्त प्रसंग उसी समय का है।

2. **"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।**

....

'सूर' स्याम भी गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥" (पद्य माला-2)

सूरदास हिन्दी साहित्य के प्राचीन साहित्य धारा के सरस और प्रतिष्ठाप्राप्त कवि माने जाते हैं। बाल्यकाल-वर्णन तथा वात्सल्य रस के चित्रण में सूरदास के समकक्ष और कोई कवि हिन्दी साहित्य में नहीं है। सूरदास कृष्ण भक्ति साहित्य के प्रमुख कवि हैं।

इस पद में कवि ने कृष्ण के प्रतिनिधित्व में संसार के समूचे बालकों की लीलाओं और प्रवृत्तियों के सुन्दर चित्रण हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

बलराम श्रीकृष्ण के बड़े भाई हैं। दोनों ही रोज़ अन्य बालकों के साथ खेलने जाया करते हैं। एक दिन बलराम कृष्ण की हँसी उड़ाता है। इससे रूठकर कृष्ण यशोदा के पास जाकर बलराम की शिकायत करता है—देखो माँ बलराम भाई कहता है कि मैं तुम्हारा बेटा नहीं हूँ; तुमने मुझे जन्म नहीं दिया है; मुझे मोल लिया है। और कहते हैं कि हमारे पिताजी गोरे हैं, माताजी गोरी हैं; फिर तुम उनका बच्चा हो तो क्यों काले हो गये हो? यह सुन अन्य बालक चुटकी दे देकर मेरा उपहास कर हँसते हैं। तुम तो किसी की बातों में आकर मुझे ही पीटना जानती हो; बलराम से तुम गुस्सा नहीं करती हो।

कृष्ण के क्रोध से लाल हुए सुन्दर मुखमंडल देखकर और उसकी तुतली बातें सुनकर यशोदा मुग्ध हो गयी और श्रीकृष्ण को गोद में लिए पुचकार करती हुई कहती है कि हे कृष्ण! बलराम बड़ा चुगलखोर है। उसकी बातों की परवाह न करो। मैं इस गो संपत्ति पर कसम खाकर कहती हूँ, मैं हूँ तेरी माता और तू है मेरा पुत्र।

इस प्रसंग के द्वारा पुत्र वात्सल्य का एक अनूठा चित्र सूरदास ने हमारे सामने उपस्थित किया है!

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

नये प्रमाणित प्रचारक

निम्नलिखित प्रचारकों की प्रामाणिकता ता. 31-12-1970 तक खतम हो गयी है।

11616 श्री ए. कृष्णन, ईरोड-6 ; 11617 श्री वी. गौरी लक्ष्मी, तिरुच्ची-2 ; 11618 श्री एस. लक्ष्मी, तिरुच्ची-2 ; 11619 श्री कु. मंजू शर्मा, मद्रास-54 ; 11620 श्री श्रीदेवी कुट्टी, मद्रास-54 ; 11621 श्री सि. रामचन्द्र सिंग, नगुवनहल्ली ; 11622 श्री के. एन. शंकरी अम्माल, मारामण ; 11623 श्री ए. वासु, षोरणूर ; 11624 श्री डी. नारायणन नम्पूतिरी, वैक्कम ; 11625 श्री डी. सोहनलाल जैन, मद्रास-20 ; 11626 श्री गंगुलकुर्ति आदिनारायण, राजमन्द्री; 11627 श्री वी. भाग्यलक्ष्मी, अनन्तपूर; 11628 श्री एच. के. गौरम्मा, शिवमोग्गा ; 11629 श्री के. मुहम्मद गौस, आदोनी ; 11630 श्री कवुता लक्ष्मीनारायण, वेल्लटूरु ; 11631 श्री आकोंडि सूर्यनरसिंह मूर्ति, पालचर्ला ; 11632 श्री आकोंडि लक्ष्मी सत्यनारायणम्मा, कात्रेनिकोना ; 11633 श्री नेल्लूर जानकी बाई, श्रीकालहस्ति ; 11634 श्री गुल्लपल्लि लैला, गोडवरू ; 11635 श्री ऐ. पार्वती, कोव्वूर ; 11636 श्री जी. सत्यम्मा, बल्लारी ; 11637 श्री श्रीधर रंगराव कुलकर्णी, धारवाड़ ; 11638 श्री हालप्पा यल्लप्पा महेन्द्रकर, आडूर ; 11639 श्री डवलेश्वर नागप्पा रोणद, होले आलूर ; 11640 श्री ए. नागराज राव, रामगिरि ; 11641 श्री आर. पद्मा, वेलूर-6 ; 11642 शोशाम्म अलकूस, सेलम-6 ; 11643 एस. आर. शान्ता, मद्रास-5।

द. भा. हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास-17 :: ता. 2-12-70

शा. रा. शारंगपाणि
प्रधान मंत्री

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा विशारद पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. "अप्रिय सत्य को सुनना और मान लेना तथा अपने पोषित विचारों को त्याग देना रुचिकर नहीं होता।"

'गद्य-सौरभ—भाग-3' में संग्रहीत श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के लेख 'भारतीय इतिहास में साम्प्रदायिक विष' से प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी के प्रामाणिक इतिहासकारों में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार को अपना विशिष्ट स्थान है। उनका यह लेख जिसके अंदर से यह उद्धरण प्रस्तुत किया गया है, सब लोगों को विशेषकर इतिहास-लेखकों को अवश्य पढ़ना चाहिए। इस लेख के द्वारा श्री विद्यालंकार ने एक सारभूत बात यह कही कि इतिहास-लेखक को सत्य-शोधन की प्रवृत्ति पर सदैव जाग्रत रहनी चाहिए और पाठक इतिहास का विवेकपूर्ण अध्ययन करें।

इतिहास अन्यान्य विषयों की भाँति मानव की ही कृति है, अर्थात् इतिहास-लेखक और इतिहास-अध्येता दोनों आदमी हैं। मानव यद्यपि सामाजिक प्राणी है और समाज का प्रतिनिधित्व करता है, फिर भी समाज के अंदर के सभी मानव सब बातों में बिलकुल समान नहीं होते हैं। अनुभव अपना-अपना होता है, यद्यपि अधिकांश लोग एक-जैसे वातावरण में एक-सा जीवन व्यतीत करते हैं। विचार का आधार अनुभव है। अनुभवगत अन्तर के कारण प्रभाव और प्रतिक्रिया में भी स्वभावतः अन्तर आ जाता है। इस अंतर के परिणाम स्वरूप मानव-समाज के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के संप्रदायों की रचना होती है। जब कोई व्यक्ति किसी सम्प्रदाय विशेष से अनुबद्ध होता है, तब उसकी प्रत्येक चेष्टा उस सम्प्रदाय विशेष के अनुसार होती है। ऐसी स्थिति में लोग अपने सम्प्रदाय की प्रशस्ति पसंद करते हैं और निंदा तो दूर, आलोचना भी सुनने को तैयार नहीं रहते। समय-समय पर राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि क्षेत्रों में जो वाद चल पड़ते हैं, वे भी सम्प्रदाय ही हैं। वह सम्प्रदाय जिस किसी प्रकार का क्यों न हो, किसी न किसी समय अथवा परिस्थिति तथा स्थान से अनुबद्ध होता है। समय और स्थान के बदलते ही वह सम्प्रदाय अपना विशेष मूल्य खो देता है। और ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं बन सकता, जो सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक रहे और उपादेय रहे। अतएव सम्प्रदाय किसी प्रकार का क्यों न हो, आदमी को संकीर्ण बना देता है। ऐसी

स्थिति में वह अपने सम्प्रदाय का अंध भक्त बनता और उसके प्रतिकूल चलना तो दूर, उसमें निहित दोषों एवं त्रुटियों से भी अपनी आँखें मूँद लेता है। मानव की सबसे बड़ी दुर्बलता है अपनी दुर्बलता न मानना और यह दुर्बलता साम्प्रदायिक आदमी में बड़ा ज़ोर पकड़े रहती है; साम्प्रदायिक बात उसके लिए बड़ी वज़नदार होती है।

M. N. Roy का कथन है—"Histroy is nothing more than a record of human activities, failures or achievement of his own making." अर्थात् इतिहास इससे कुछ ज्यादा नहीं है कि वह माननीय कार्यकलापों, उसकी असफलताओं अथवा उसकी उपलब्धियों का अभिलेख मात्र है। ऐसी स्थिति में इतिहास-लेखन का आधार सत्यान्वेषण एवं सत्य की अभिव्यक्ति मात्र है। इतिहास लेखक को निर्लिप्त एवं सम्प्रदाय से विशेष दूर रहना चाहिए। ऐसा अर्थ उसके द्वारा तभी संभव होता है, जब कि इतिहास-लेखक उदार विचारों का पोषक रहे और वह किसी प्रकार की उद्वेगशीलता में न बह जाए। ऐसे मार्ग पर निर्मित इतिहास में सचमुच 'साम्प्रदायिक विष' के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा जिससे कि इतिहास के अध्येताओं के मन-मस्तिष्क की तंगदिली या संकीर्ण हदें ढह जाएँगी, जब कि वे अप्रिय से अप्रिय सत्य को भी, भले ही वह उसके घोषित विचारों के प्रतिकूल ही क्यों न हो, स्वीकारने में रत्ती-भर भी संकोच नहीं करेंगे।

2. **"प्रेम हृदय की सारी कोमल भावनाओं का आकुंचन है, सेवा उनका प्रसार।"**

यह उद्धरण श्री कमलाकान्त वर्मा कृत "पगडंडी" से प्रस्तुत किया गया है। जब "पगड़ंडी" अमराई को, जहाँ पर वह बरगद और कुएँ की संगति में बहुत समय से रहती आयी, छोड़ और कहीं जाने का निश्चय करती है, तब कुएँ ने उससे यह उद्धरित वाक्य कहा है। इस लेख में उल्लिखित 'पगडंडी' और 'कुआँ' क्रमशः स्त्री और पुरुष के प्रतीक हैं। पुरुष प्रतीक कुआँ, स्त्री प्रतीक पगडंडी को अन्ततः ऐसा उपदेश देता दिखाई देता है कि स्त्री का लक्ष्य सेवा करना है और पुरुष का लक्ष्य मानों इसमें भिन्न और कोई है।

Pascal ने कहा—It is the nature of man to believe and to love; if he has not the right objects for his belief and love, he will attach himself to wrong ones." अर्थात्, विश्वास करना और प्रेम करना मानव के स्वभाव में निहित हैं। यदि उसे प्रेम करने और विश्वास रखने उपयुक्त साधन न मिलें, तो वह इसके लिए अनुपयुक्त साधनों के प्रति ही सही,

उन्मुख हो जाएगा। यह ठीक है कि मानव स्वभावतः प्रेम करता है और प्रेम पाना चाहता है। प्रेम यद्यपि प्रेष्य भाव है ; फिर भी उसका स्वरूप एक-सा नहीं होता है। प्रेम प्रधानतः तीन प्रकार का है—(1) समलिंगी प्रेम, (2) विषमलिंगी प्रेम। (3) प्रकृतिसम्बन्धी प्रम। विषमलिंगी प्रेम बाकी दो के मुकाबले में अत्यन्त तीव्र, उद्दाम और संकीर्ण होता है। इस प्रकार के प्रेम का आधार अक्सर रूपाकर्षण होता है। विषमलिंगी व्यक्ति अथवा प्राणी, खासकर युवावस्था में, स्वभावतः एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। और शारीरिक कृत्य क्रमानुसार हो, इस बात की आवश्यकता पर विवाह का संगठन प्रधानतः आधारित है। यह सर्वविदित है कि विषमलिंगी प्रेम शारीरिक कृत्य अथवा शरीर की आवश्यकता पर निर्भर करता है। अतएव इसके संदर्भ में प्रेमी के हृदय की सारी कोमल भावनाओं का आकुंचन ही नहीं होता, बल्कि प्रेमी व्यक्ति अपने प्रेमपात्र पर एकाधिकार भी पाना चाहता है। अतएव वह यह कभी सहन नहीं कर सकता कि कोई दूसरा व्यक्ति उसके प्रेमपात्र के प्रति उसी तरह प्रेम करे, जिस तरह वह करता है।

समलिंगी प्रेम और प्रकृति-सम्बन्धी प्रेम में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं, यदि समलिंगी प्रेम किसी न किसी स्वार्थ पर अवलम्बित नहीं हो। इन दोनों प्रकार के प्रेम अत्यन्त विस्तृत हैं ; क्योंकि इनमें न होड़ के लिए स्थान है, न डाह के लिए। प्रकृतिसम्बन्धी प्रेम प्रायः कवियों और कलाकारों तक ही सीमित होता है। किन्तु समलिंगी प्रेम का क्षेत्र सबसे अधिक विस्तृत एवं उपादेय है। इस प्रकार के प्रेम का भी सच्चा विकास तभी संभव है, जब कि उसमें करुणा का पुल लगा हुआ हो। करुणाकलित व्यक्ति अपने और पराये में कोई भेद नहीं देखता। तभी वह सेवा के मार्ग पर बढ़ता है। सेवावृत्ति के पीछे करुणा की भावना का रहना अनिवार्य है। तभी व्यक्ति स्वार्थ से परे रहकर मानव मात्र अथवा जीव मात्र के दुख की अनुभूति पाता है और अपनी सामर्थ्य के बल लोकदुख को दूर करने सदैव सचेत रहता है। अन्यान्य भावनाएँ—क्रोध, उत्साह, भय आदि भावनाएँ भी करुणा के अधीन संस्कृत अथवा परिष्कृत होकर उसके सेवामार्ग को प्रशस्त बनाती जाती हैं। वास्तव में करुणा नामक प्रवृत्ति अथवा सेवावृत्ति की जागृति में ही मानव का निखार चमक उठता है। यह बात आज से 2500 वर्ष पहले ही क्रान्तदर्शी महात्मा बुद्ध ने पहचान ली थी। अतएव उन्होंने अपने धर्म में करुणा (सेवा) को सर्वोपरि स्थान देकर जगह-जगह पर बौद्ध विहार, आराम, जीव-कारुण्य संघ अथवा लोकसेवी समाज स्थापित किये।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा-विशारद उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. **मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?**
   किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी ।
   तू जो कहत बल यह की बेनी ज्यौं, ह्वै है लांबी मोटी ।
   काढ़त गुहत न्हवावत ओंछत नागिन सी भुइँ लोटी ।
   काचो दूध पियावति पचि पचि, देति न माखन रोटी ।
   सूर स्याम चिर जीवौ दोउ भैया हरि हलधर की को जोटी ।।

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 126)

सूरदास जी विट्ठलनाथजी द्वारा स्थापित अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे। उनकी काव्यवीणा का मधुर स्वर अनुपम है। सूरदास की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना सूरसागर है। कृष्ण की बाल-लीलाओं का आँखों देखा-सा सजीव चित्र अंधे सूर ने प्रस्तुत कर दिया है। बालकों के मृदु हृदय के सूक्ष्म भावों के अंकन में उनको अतिशय सफलता मिली थी। प्रस्तुत पद में बालक कृष्ण यशोदा माता से अपनी शिकायत मधुर एवं स्वाभाविक ढंग से करता है।

माँ, मेरी चोटी कब बढ़ेगी ? मुझे दूध पीते कितने ही दिन हो गये, किन्तु मेरी चोटी अब भी छोटी ही है। तू तो कहती थी कि बड़े भाई बलराम की भाँति मेरी शिखा भी लंबी और मोटी हो जाएगी। कंघी करते, गूँथते, नहलाते-धोते, पोंछते यह नागिन की तरह लहकदार तथा लंबी होकर जमीन पर लोटने लगेगी। लेकिन तू मुझे कच्चा दूध पचा-पचाकर पिला रही है और रोटी और माखन तो देती नहीं। सूरदास कहते हैं, कृष्ण और बलराम की यह जोड़ी चिरंजीवी हो।

प्रस्तुत पद में अंधे सूरदास की भावुकता, सरसता एवं उनके वर्णन की पटुता दर्शनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास- बालक कृष्ण के साथ हँसे, रोये और गाये हैं। "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ? किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ तो छोटो" में बालक कृष्ण का उपालंभ मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है। बालक माँ की करनी की आलोचना तो करता नहीं। किन्तु माँ के दिल में चुभनेवाली अपनी तोतली बोली से माँ की ज़िम्मेदारी की ओर इशारा करके कहता है—"काचौ दूध पियावति पचि पचि, देती न माखन रोटी।" इस पद में कितने कुछ मार्मिक भावों की झलक है ! कुछ स्पर्धा, कुछ आशा, किंचित रोष और उपालंभ आदि इस पद की भावगहता को अधिक आकर्षक एवं मार्मिक बनाते हैं।

2. **म्हाँ सुण्या हरि अधम उधारण ।**
   अधम उधारण भव भय तारण ।

गज बूड़तां अरज सुण धावा भगता कष्ट निवारण ।
द्रुपद सुता को चीर बढ़ायो दुसाशण मद निवारण ।
प्रह्लाद प्रतिज्ञा राखी हरणकुश री उदर विदारण ।

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 149)

मीराबाई केवल गायिका और कवयित्री ही नहीं, श्रीकृष्ण की अनन्य उपासिका भी थीं। उनका प्रत्येक पद अमृत रस से परिपूर्ण है। माधुर्य भाव से अपने आराध्य देव की उपासना करनेवाली मीरा भगवान के सामीप्य-सुख के लिए लालायित है। भगवान कृष्ण ने कई विपत्तियों से उस अनन्य साधिका को बचाया था। मीरा ने प्रस्तुत पद में अपने आराध्य देव की असीम कृपा तथा आश्रित-वत्सलता पर प्रकाश डाला है।

हमने सुना है कि हरि तो पतितों का उद्धार करनेवाले हैं। संसार को भय एवं दुखों से उद्धार करनेवाले हैं। डूबनेवाले हाथी की प्रार्थना सुन उसका कष्ट दूर करने के वास्ते हरि दौड़े आये। दुशासन के घमंड को दूर करने और द्रौपदी की इज़्ज़त को बचाने के वास्ते श्रीकृष्ण ने चीर को बढ़ाया। हिरण्यकशिपु का वध करके प्रह्लाद की प्रतिज्ञा का पालन किया और अपने भक्त को विपत्ति से बचाया।

प्रस्तुत पद में प्रेमयोगिनी मीरा ने हरि के गुणों का बखान किया है 'गज-बूडता अरज सुण धावा भगता कष्ट निवारण' में इन्द्रद्युम्न राजा की कथा की ओर व्यंजना है। इन्द्रद्युम्न राजा अगस्त्य मुनि के शाप से हाथी हो गया। एक दिन एक तालाब में पानी पीते समय एक मगर ने उसको काटकर पानी में डुबोने का प्रयत्न किया। हताश दुखी हाथी ने भगवान से अपने को बचाने की विनम्र विनती की। आर्तत्राणपरायण विष्णु ने मगर की पकड़ से हाथी को बचाया। 'प्रह्लाद-प्रतिज्ञा राखी हरण कुशरी उदर विदारण' में हिरण्यकशिपु के अत्याचार से भक्त प्रह्लाद को बचाने की कथा की मार्मिक अभिव्यक्ति है। हिरण्यकशिपु कश्यप और अदिति का पुत्र और प्रसिद्ध भक्त प्रह्लाद का पिता था। हिरण्यकशिपु को विष्णु ने नरसिंह के रूप में खंभे से प्रकट होकर मारा था। प्रस्तुत पद एक सच्ची साधिका का हृदयोद्गार है। इस पद में मीरा की भावाकुलता और तन्मयता विशेष दर्शनीय है। सहजता ही इसका सौन्दर्य है।

3. **दीपकमय कर डाला जब जलकर पतंग ने जीवन,**
सीखा बालक मेघों ने नभ के आँगन में रोदन;
उजियारी अवगुण्ठन में विधु ने रजनी को देखा,
तब से मैं ढूँढ रही हूँ उनके चरणों की रेखा। (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 34)

श्रीमती महादेवी वर्मा करुणापूर्ण गीतों की श्रेष्ठतम गायिका है। उनका गीत सरस और सुकुमार कल्पनाओं का अजस्र स्रोत है, जो मधुर भावों की पुष्टि करता है। दुख और पीड़ा के साथ प्रकृति के चित्रण में भी कवयित्री ने अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। 'प्रतीक्षा' महादेवी जी का एक सुन्दर गीत है। प्रियतम की प्रतीक्षा में प्रेयसी पलक के पाँवडे बिछाये बैठी हैं। वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए अत्यन्त व्याकुल है। प्रस्तुत सन्दर्भ में कवयित्री ने प्रियतम की प्रतिक्षा में तन्मय होकर रहनेवाली एक प्रेयसी के साथ प्रकृति का भी चित्रण किया है।

पतंग ने दीपक में जलकर अपने जीवन को दीपकमय कर डाला। बालक मेघों ने नभ के आंगन में रोदन करना सीखा। चन्द्रमा ने अपनी उजियारी घूँघट में रजनी को देखा। तब से वह अपने प्रियतम के चरणों की रेखा ढूँढ़ रही है। विराकुला होकर मिलन की आशा में भटक रही है।

प्रियतम के पुनीत चरणों में तन-मन को न्योछावर करने की उत्कट अभिलाषा यहाँ व्यंजित होती है। पतंग ने तो दीपक में जलकर अपने प्रेम को व्यंजित किया। नभ के आँगन में रुदन करनेवाले बालक मेघ अपनी वेदना और व्यथा को व्यक्त करते हैं। उजियारे अवगुण्ठन में चन्द्रमा ने रात की ओर निहारा। प्रियतम की लंबी प्रतीक्षा में तल्लीन रहनेवाली एक प्रेयसी के भावों को उद्‌दीप्त करनेवाले दृश्यों का यह मार्मिक चित्र कितना अनूठा है! कितना अधिक भावोद्‌दीपक है! पीड़ा का यह कोमल विस्तार अत्यन्त हृदयहारी हुआ है।

4. राष्ट्रीय संकट के समय शिष्टाचार भूले जाते हैं। (विषकन्या—पृष्ठ 218)

श्री गोविन्द वल्लभ पंत एक दक्षहस्त नाटककार हैं। 'विषकन्या' एकांकी में उन्होंने एक विजेता राजा के रण और प्रणय के बीच का द्‌वन्द्‌व दिखाया है।

राजा चन्द्रविजय तो शत्रु पर विजय प्राप्त कर चुके थे। उस रात अपराजिता नामक एक कोमलांगी उनके शयनकक्ष में आकर उपस्थित हुई। अपराज़िता ने अनुनय-विनय के साथ अपना हृदय-कपाट राजा के सम्मुख खोल दिया। कामी राज़ा अपने शयनकक्ष में सुन्दर नारी को पाकर मुग्ध एवं कर्तव्यच्युत हो गये। एकाएक शत्रुसेना ने धावा बोल दिया। युद्धभेरी बज उठी। वीर सैनिक राष्ट्र-धर्म की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए! फिर भी विलासी राजा शयनकक्ष से टस से मस न हुए। दोनों सेनापति राष्ट्रीय संकट को सामने देखकर राजा के कमरे में आकर उपस्थित हुए। किन्तु, कामांध राजा ने क्रुद्ध होकर उन सेनापतियों से

पूछा कि तुम बिना आज्ञा के मेरे कक्ष में क्यों चले आये। प्रस्तुत सन्दर्भ में सेनापति ने राजा के दिल में चुभनेवाली बात वतायी है।

राष्ट्रीय संकट के समय शिष्टाचार आदि पर विचार कर समय को बर्बाद करना मूर्खता है। अपनी नग्न विलासिता एवं अकर्मण्यता को रणभेरी की आड़ में छिपानेवाले कामांध राजा की अनुमति की प्रतीक्षा करना भी आपत्ति को गले लगाना है। राष्ट्रीय संकट के ऐसे सन्दर्भ में शिष्टाचार आदि पर विचार न करना काम्य एवं क्षम्य है। अत: कर्तव्यपरायण सेनापति की निर्भीक वाणी 'अशिष्टता की पराकाष्ठा' नहीं, वल्कि राष्ट्र-धर्म की रक्षा के लिए कर्तव्य का भीषण आह्वान है। उसको निभाना होगा।

प्रस्तुत प्रसंग कर्मवीर सेनापति के तेजोमय व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने योग्य है। मृत्यु के प्रांगण में मन्मथ की पूजा करनेवाले विलासी नरेश के दिल में ये बातें चुभेंगी। नाटक में संघर्ष एवं पाठकों को औत्सुक्य प्रदान करने में प्रस्तुत सन्दर्भ सक्षम है।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

प्रवेशिका परीक्षा

1. "तुम हो कौन, कहो जो मुझसे,
सही गलत पथ लो तो जान,
सोच-सोचकर पूछ-पूछकर,
बोलो, कब चलता तूफ़ान,
सत्पथ है वह जिसपर अपनी,
छाती ताने जाते वीर।

मैं हूँ उनके साथ खड़ी जो,
सीधी रखते अपनी रीढ़ !

(पद्यमाला-8)

मनुष्य अकसर स्वार्थी तथा पक्षपाती बनते रहते हैं। न्याय न्याय की विवेचना करके अन्यायी श्री दंड देने की जिम्मेवारी रखनेवाले ऊँचे ओहदे पर विराजमान वरिष्ठ अधिकारी भी अपना कर्तव्य निभाने से कभी-कभी गुमसुम रह जाते हैं। फलतः न्याय पाने योग्य व्यक्तियों को भी दंड दिलाने की संभावना होती है। उन्नत स्थानों पर रहनेवाले लोगों की धमकियों के कारण कई अधिकारी कर्तव्यच्युत हो जाते हैं। ऐसे कायर अधिकारियों को इशारा करके बच्चनजी इस कविता के द्वारा आह्वान करते हैं कि मनुष्य को दुनिया में किस तरह का जीवन व्यतीत करना है।

वे कहते हैं—सब लोगों को उच्च लक्ष्य के लिए धीर के साथ अन्याय और अत्याचार का समना करना चाहिए। अपनी लक्ष्यप्राप्ति के लिए सब प्रकार की बाधाओं से टक्कर लेने का आत्मबल प्रत्येक मनुष्य को धरना चाहिए। अपने स्वार्थ-लाभ के पर्दे के पीछे छिपकर न्याय का गला घोंटना निरा कयरता मात्र है।

कवि का इस कविता द्‌वारा यही उपदेश है कि सब लोगों का यही कर्तव्य है कि अपने कार्यक्षेत्र का ठीक मार्ग को तय करना है। अच्छे-बुरे का विचार करके सबको अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित करना चाहिए। आँधी का आना पहले से ही अनुमानित नहीं है। वीर जहाँ चाहें वहाँ अबाध गति से चलते हैं। उसी पथ पर देश के सभी नर-नारी धीरज बाँधकर, छाती तानकर चलते हैं और उसी मार्ग को श्रेष्ठ मानकर अपनाते हैं।

2. एक बार फिर भरो हमारे
हृदयों में भी वही उमंग।
गाओ माँ फिर एक बार तुम,
वे मरने के मीठे गान
हम मतवाले हों स्वदेश के,
चरणों में हँस-हँस बलिदान। (पद्‌यमाला-2)

भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास में मेवाड़ के राणा प्रताप सिंह और हल्दी घाटी का विशेष स्थान है। मेवाड़ के राणा वीर प्रताप सिंह और मुगल सम्राट अकबर की सेनाओं के बीच में युद्‌ध हुआ इसी स्थान पर। उस युद्‌ध में साहसी राजपूतों ने जिस वीरता से लड़कर शत्रुसेना को भगाया था, वह वृत्तांत भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में ख़ास स्थान पा गया है। वीर सिपाहियों की रक्त-धारा की निशानी आज भी भारत की मिट्‌टी के कण-कण में दिखाई देती है। इस महायज्ञ की कर्मभूमि हल्दी घाटी के महत्व का वर्णन प्रसिद्‌ध हिन्दी साहित्यकार श्री सोहनलाल द्‌विवेदी ने किया है, जो भारतीय साहित्य के लिए अनमोल निधि मानी जाती है।

कवि अनुमान करते हैं कि यह हल्दी घाटी एकांत योगिनी है, जो भयंकर जंगलों से घिरे हुए स्थान पर बैठकर आज भी अपनी साधना में लगी हुई है। प्राचीन काल की मधुर स्मृति में तल्लीन होकर इस स्वतन्त्र भारत के भविष्य पर आशाभरी कल्पनाओं में डूबी रहती है।

यह हल्दी घाटी वास्तव में स्वतन्त्रताप्रेमियों के लिए उत्तम तीर्थस्थान है। क्योंकि लाखों स्वतंत्रताप्रेमी युवकों को यहीं पर शहीद होना पड़ा। इस भूमि के

स्पर्श से हमारा देश पवित्र बन गया है। इन शहीदों की आहों के कारण ही भारतीय युवकों के सोये हुए हृदय में स्वतन्त्रता की लपटें कौंध उठीं।

इसलिए कवि का भारत माता से यही अनुरोध है कि फिर एक बार वैसा रणगान सुनाकर भारतवासियों की स्तम्भित नसों में जोशभरे तप्त रक्त का संचार कराओ, जिससे स्वतन्त्रता की मस्ती में थिरकनेवाले भारतीयों पर अपनी जन्म-भूमि का ख्याल जगने दें और अपने को जन्मभूमि के चरणों पर खुशी-खुशी बलिदान करने की प्रेरणा मिल जाए।

3. "कबिरा गर्व न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौ किन मारि है, क्या घर क्या परदेस॥

किसी भी साहित्य में नीतिग्रंथों की प्रमुख प्रधानता होती है। हिन्दी साहित्य में यह परम्परा सन्त-साहित्य के नाम से ज्ञात होता है। हिन्दी के संत-साहित्य में कबीर के पद सर्वोच्च माने जाते हैं। मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर कबीर ने उपदेश दिये हैं। हिन्दू-मुसलमान की एकता के बारे में उन्होंने जो नीति बतायी, वह सारगर्भित है।

मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि धन, ओहदे और अधिकार के गर्व से दूसरों को नीचा समझना। दूसरों पर अधिकार जमाने पर तुले हुए ऐसे लोगों से कबीर का यह कथन है—"मनुष्य का जीवन नश्वर है। न जाने कब, कहाँ हमारी मृत्यु हो जाती हो। यम तो हमारे साथ-साथ चलता है। अतः धन, ओहदा और अधिकार की प्राप्ति पर गर्व करना, इतराना फ़िज़ूल है, आफ़त भी है।"

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

केन्द्र-सभा की सूचनाएँ

परीक्षा विभाग

पदवीदान-समारम्भ-1971

सभा का छत्तीसवाँ पदवीदान-समारम्भ आगामी जनवरी 1972 के प्रथम सप्ताह में मनाया जाएगा। जो परीक्षार्थी सन् 1971 में सभा की "राष्ट्रभाषा प्रवीण" अथवा "राष्ट्रभाषा विशारद" परीक्षा में पूर्ण रूप से उत्तीर्ण हुए हैं, उनको उक्त समारम्भ में विद्याम्बर के साथ उपाधि-पत्र प्रदान किये जाएँगे।

पदवीदान-समारम्भ में सम्मिलित होकर अपने उपाधि-पत्र प्राप्त करने के इच्छुक स्नातकों से निवेदन है कि वे उसके लिए नियत शुल्क **दस रुपये** (पोस्टल आर्डर) के साथ, **नियत छपे हुए आवेदन-पत्र भरकर ता.** 15-12-1971 **तक परीक्षा-मंत्री के पास पहुँचा दें।** हर आवेदक को अलग-अलग आवेदन-पत्र भेजना चाहिए। नियत आवेदन-पत्र बँगला देश-स्टाँप के साथ कुल **पच्चीस पैसे** का डाकटिकट लगा हुआ, अपना पता लिखा लिफ़ाफ़ा भेजकर परीक्षा विभाग से मँगा सकते हैं।

प्रचारक बन्धुओं से प्रार्थना है कि नियत समय के अन्दर पदवीदान-समारम्भ में भाग लेने के इच्छुक स्नातकों से आवेदन-पत्र भरवाकर सशुल्क भेज दें।

ता. 10-11-1971

परीक्षा मंत्री

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण परीक्षा'

1. बीती बिसारने का अभिप्राय है जीवन की अखण्डता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन, सहृदयता और भावुकता का भंग, केवल अर्थ की निष्ठुर क्रीडा।" —(चिन्तामणी—रसात्मकबोध के विविध रूप)

सुप्रसिद्ध समालोचक व निबन्धकार श्री शुक्ल जी का समीक्षात्मक लेख-संग्रह स्वयं एक ग्रंथालय है। आपने अपने निबन्धों और अपनी आलोचनाओं में सर्वत्र सत्-पक्ष का समर्थन और असत् पक्ष का खण्डन या विरोध किया है। भावों की विवेचना करते समय शुक्लजी का ध्येय उपदेश देना कभी नहीं रहा है। वे किसी भी भाव का विश्लेषण कर रहे हों, वह लोक संग्रह की भावना को एक क्षण के लिये भी नहीं भुला सके हैं। यह सब से बड़ी विशेषता है।

"रसात्मक-बोध के विविध रूपों" पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—"जब हमारी आँखें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं, जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं बाहर-भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही।" शुक्लजी ने मानसिक रूप विधान को संभावना या कल्पना बताया है। कहने का तात्पर्य है कि कल्पना के आधार भी प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए बाहरी रूप विधान ही रहते हैं।

उपरोक्त वाक्य खण्ड में शुक्लजी जीवन की पूर्णता के लिए जीवन की व्यापकता के अतिरिक्त अखण्डता भी आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि अतीत को जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता है। वह जीवन का एक आवश्यक अंग है। हम वर्तमान में इतने लीन रहते हैं कि उसको निर्लिप्त होकर देख ही नहीं सकते हैं। हमारे नफ़ा-नुक्सान उससे जुड़े रहते है और हम उसे केवल स्वार्थ दृष्टि से ही देख सकते हैं। अतः हम अंधे बने रहते हैं। भविष्य अनिश्चित होता है। इसलिए उसके मूल्यांकन का सवाल ही नहीं उठता है। अतीत की हालत इससे भिन्न होती है। भूत काल की घटनाओं पर हम निरपेक्षभाव से विचार कर सकते हैं, क्योंकि उनसे कुछ लेने-देने का सवाल ही समाप्त ही चुकता है। हम अपने कार्यों का सामयिक मूल्यांकन अतीत के अध्ययन द्वारा कर सकते हैं। बीती को बिसारकर और केवल आगे की सुधि लेकर हम अपनो ही हानि करते हैं,

क्योंकि बीती के मूल्यांकन के बिना हमें अपनी त्रुटियों एवं अपने अभावों का उत्तर नहीं मिल पाता है और हमारे मन में अपनी हालत के प्रति हमेशा क्षोभ बना रहता है।

2. **फूलों पर आँसू के मोती और अश्रु में आशा मिट्टी के जीवन की छोटो नपी-तुली परिभाषा।**

"नये युग की नई गीता" के आचार्य दिनकर ने मानव की कर्ममूलभूत समस्याओं पर अपने काव्य में सांगोपांग विचार व्यक्त किये हैं। महाभारत के भैरव युद्ध के बाद समर का रक्त पात तथा बन्धु-विनाश से धर्मपुत्र का मन आत्म-ग्लनि से भर जाता है। उनके मन में युद्ध की आवश्यक्ता के संबन्ध में तरह-तरह की शंकाएँ उठती हैं। शंकाकुल कुन्ती-पुत्र के अस्थिर चित्त को प्रकृतस्थ करते हुए पितामह भीष्य ने उन्हें युद्ध के विभिन्न पहलुओं को समझाया और साथ ही साथ सच्ची एवं स्थाई शांति की स्थापना का मार्ग बताया। काव्य के सोपान में कवि मानव जीवन की व्याख्या इस तरह करते हैं। पुष्पों पर मोती रूपी आँसू रहें और उन अश्रुओं में आशा झलकती रहे। यही इस नश्वर मानव-जीवन की छोटी नपी-तुली परिभाषा है।

दिनकर जी ने संक्षिप्त रूप से जीवन की परिभाषा यहाँ दी है।

इस पद्य में कवि 'दिनकर' की अभिव्यक्ति पटुता ही नहीं, उनकी प्रतिभा एवं उक्ति चमत्कार के दर्शन होते हैं। फूल हृदय का प्रतीक है और आँसू सहानुभूति तथा करुणा के प्रतीक है। मानव का हृदय फूल के सदृश उत्फुल्ल, विकासशील, स्वच्छ, कोमल, स्वार्थरहित एवं सौरभमय हो। उसपर हमदर्दी के आँसू झलकते रहे। ये आँसू मोती के समान आबदार हो। मोती श्रेष्ठता सूचक होने के कारण यह ध्वनि निकलती है कि आँसू स्वार्थ जन्य विलाप के आँसू न हो, बल्कि उनमें वह पानी हो जिसमें दूसरों की पीडा प्रतिबिम्बित हो। करुणा ही संसार-चक्र की संचालक तथा परिपालक है। अतः आँसू करुणा जन्य हो। इतना ही नहीं, वे आँसू निराशामय न हों, किन्तु उनमें आशा झलकती रहे। इसीमें मानव जीवन की सार्थकता है। भाव यह कि मानव-जीवन, स्वच्छ, स्वार्थ रहित, कोमल एवं सहानुभूति पूर्ण हों, इसीमें उसकी श्रेष्टता है।

यहाँ अप्रस्तुत के ज़ोर से प्रस्तुत अर्थ का बोध कराया गया हैं। अतः यहां अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार व्यंजित है।

—श्री एस. राधाकृष्णन, तिरुच्ची

'राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. **"गर्व और अभिमान के सैकड़ों शत्रु हैं; मगर बेबसी और विनय का शत्रु कोई नीच ही हो सकता है।"**

प्रेमचन्द युग के सफल कहानीकारों में स्वर्गीय सुदर्शन एक थे। 'न्याय-मंत्री' 'कवि की स्त्री' आदि आपकी लोकप्रिय कहानियाँ हैं। प्रस्तुत कहानी 'पंथ की प्रतिष्ठा' के द्वारा, जिसके अंदर से यह प्रसंग उद्धृत किया गया है, लेखक ने 'पंथ' या संप्रदाय विशेष की कट्टरता अथवा नियमबद्ध जीवन के घोर आतंक की सरस अभिव्यक्ति दी है।

वीर केसरी महाराज रणजीत सिंह ने अपने 'पंथ' के लोगों के आदेश के खिलाफ एक अपरूप सुंदरी वेश्या मोराँ से ब्याह कर लिया। अतः 'पंथ' के लोग गरम हो गये और 'पंथ' के नेता फूलासिंह बड़े कड़े बन गये। परिणामस्वरूप महाराज 'संगत' के सामने बुलाए गये और वे अपराधी की मुद्रा में दंड भोगने आ खड़े हुए। ऐसे संदर्भ में प्रतापी रणजीतसिंह को विनीत देखकर उपस्थित लोगों में हलचल मच गयी और वे अंदर ही अंदर महाराज की मुक्ति की कामना करने लगे।

साधारणतः असाधारण व्यक्ति ही नियम रचना करते हैं और साधारण लोग नियम-पालन करते हैं। और यह भी असत्य नहीं है कि असाधारण व्यक्ति ही नियम तोड़ते हैं। सम्पन्न व्यक्तियों में जैसी उच्छृंखलता एवं स्वेच्छाचारिता पाई जाती है वैसी असम्पन्न व असुविधाग्रस्त लोगों में नहीं दीखती है। पंजाब के महाराज रणजीतसिंह ने अपने सह पंथी सिक्खों को यह वचन दिया था—"खालाजी! मैं आपका राजा हूँ। अगर मेरे किसी काम से प्रजा का अहित होता हो, तो मैं वह काम कभी नहीं करूँगा।" किन्तु यह वादा तोड़ने में महाराज को ज्यादा समय नहीं लगा। नियम तोड़ने के मूल में महाराज का अभिमान या गर्व ही निहित था। आदमी अतिशय अभिमान के वश दूसरों को निचली दृष्टि से देखता है और लोगों का जैसा आदर और मान करना चाहिए वैसा न कर अपने को अन्यों से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार एक व्यक्ति का अहंकार दूसरों का निरादर करता है, तो इस अहंकार से आहत लोग भी उस अहंकारी व्यक्ति की उन्नति नहीं चाहेंगे और उससे बदला लेने की ताक में बैठे रहते हैं।

लोकप्रिय राजा रणजीतसिंह के प्रतिकूल लोग इसलिए हुए कि राजा ने अभिमानवश नियम का उल्लंघन किया। यदि वे और अभिमानी बनकर 'पंथ' के आदेश का तिरस्कारकर 'संगत' के सामने उपस्थित ही नहीं होते, तो 'पंथ' के अनुयायी

सिक्ख फूलासिंह के नेतृत्व में बग़ावत ही कर डालते और संभवतः रणजीतसिंह का नामोनिशान ही मिट जाता। किन्तु जब महाराज अपने पौरुष और प्रताप को बिलकुल पी गये और भीगी बिल्ली बनकर 'संगत' के सामने उपस्थित हो गये, तो लोगों के भाव में कुछ परिवर्तन हो गया। यह परिवर्तन तब पराकाष्टा को पहुँच गया जबकि वीर केसरी नंगे बदन कोड़े खाने विनीत खड़े हो गये। ऐसी स्थिति में, उद्दीपन के अभाव में, उनके प्रति शत्रुता का व्यवहार कोई क्षुद्र व्यक्ति ही करता है। सहानुभूति मानव के जन्मजात गुणों में एक है, जो करुणा की सहगामिनी है। एक साधारण से साधारण, अपरिचित, असहाय व्यक्ति के दुःख से भी पसीज उठनेवाला मानव अपने परिचित एवं हितैषी महाराज के दुख का अनुभव नहीं करता! ज़रूर करता है। अतएव फूलासिंह जैसे कठोर व्यक्ति के मुँह से निकल पड़ा—"क्या हम इतने नीच हो चुके हैं कि अपने महाराज से, जो हमारी आज्ञा का यहाँ तक सम्मान करते हैं, इस प्रकार का व्यवहार करेंगे!" जो काम अभिमान नहीं कर सका वह विनय ने कर डाला। और महाराज रणजीतसिंह की शालीनता में कोई कमी आने न पाई।

2. **"कोई आदमी अपने विचारों के कारण—धार्मिक विचारों के कारण भी—सताया नहीं जाना चाहिए।"**

यह श्री भगवानदास केला कृत "लोकराज या सच्चा लोकतंत्र" नामक पुस्तक के दूसरे अध्याय से दिया गया है। लोकतंत्र के जन्म और उसके विकास का क्रमिक परिचय देते हुए लेखक ने वाल्टैर, डंटन, रूसो जैसे मनीषियों के नेतृत्व में सम्पन्न फ्रांस की राज-क्रांति के संदर्भ में प्रस्तुत सन् 1791 की मानवीय अधिकारों की घोषणा में उल्लिखित अधिकारों को उद्धृत किया है जिनमें प्रस्तुत उद्धरण है।

प्रत्येक व्यक्ति अपने में विशिष्ट है और अनूठा है। वह अपने वातावरण के अधीन अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपना विकास करता जाता है। सब व्यक्तियों का वातावरण शायद ही एक सा होता है और न सामर्थ्य भी एक समान होती है। अतएव व्यक्ति-व्यक्ति की वैचारिक भिन्नता स्वाभाविक हो जाती है। ऐसी स्थिति में किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ इनेगिने व्यक्तियों का, अपने विचार दूसरों पर बलात् लादना मानव-समाज की उन्नति में अवश्य रोड़े अटकाता है। इस दिशा में पक्षधर धार्मिक विचारों के परिणाम अव्यक्त घातक सिद्ध होते हैं। क्योंकि धार्मिक क्षेत्र में विचार-विनिमय के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं होती। कहा जाता है कि एक मंच पर कई वैज्ञानिक एक साथ दिखाई देते हैं; पर कोई दो महंत या मठाधीश एक मंच पर शायद ही दिखाई देते हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक वाल्टैर ने कहा—

तुम्हारे कथन को नहीं मानता ; किन्तु तुम्हारे इस तरह कहने के अधिकार का समर्थन मैं अपने आख़री दम तक करूँगा। (I disapprove of that you say but I will defend to the death your right to say it—voltaire).

कई धार्मिक, युद्धों से होकर गुजरने के बाद यूरोप के देशों ने यह समझ लिया कि जनता के धार्मिक स्वातंत्र्य में राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। परिणामतः यह सिद्धांत निकाला गया कि राज्य और गिरजाघर (Church) एक दूसरे से अलग रहें। अतएव यह समझौता-सा किया गया कि राज्य प्रजा के लौकिक सुख-साधनों का प्रबन्ध करे और गिरिजाघर के इस अलग्योझे के कारण दोनों का एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना बन्द हो गया, जिसकी बदौलत धर्मनिरपेक्ष राज्य की धारणा को बढ़ावा मिला।

जनतंत्र के मूलगत विचारों में धर्मनिरपेक्ष राज्य का विचार भी एक है। धर्मनिरपेक्ष राज्य (Secular State) का प्रधान लक्षण यह है कि वह सभी व्यक्तियों का आत्म-स्वातंत्र्य सुरक्षित रखे। दूसरे देशों की भाँति हमारे देश में भी भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी हैं और ऐसे लोग भी इस देश में हैं, जो किसी भी धर्म का पालन नहीं करते हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य के अधीन सब लोगों को यह स्वातंत्र्य दिया जाता है कि वे अपने-अपने धर्म का पालन और प्रचार कर सकें। दूसरे, धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धांत के अनुसार किसी भी धर्म के पालन और प्रचार करने का स्वातंत्र्य ही प्रदत्त नहीं है बल्कि विभिन्न धर्मावलम्बियों के बीच 'समता' बर्ती जाए। इस संदर्भ में 'समता से आशय यह है कि धर्म के आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति अलग-अलग अथवा पक्षपातपूर्ण व्यवहार न किया जाय।

राज्य, सच्चे अर्थ में, धर्मनिरपेक्ष तभी कहलाता है जब कि समाज के व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहार में धर्मनिरपेक्षता पाई जाती है। इससे इतना ही आशय लिया जाता है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों से बने समाज में धर्म व्यक्तिगत समझा जाए और प्रत्येक व्यक्ति का मान उसकी व्यक्तिगत प्रतिभा के बल पर किया जाए न कि उसके धर्म, जाति, कुल, सम्प्रदाय इत्यादि के कारण न होवे। ऐसे सार्वभौमिक मानववादी समाज (Cosmopolitan Humanist Society) की व्यवस्था हमारे जैसे देश में, सचमुच, बड़ी दूर की चीज़ है। लेकिन फिर भी ऐसे समाज का विकास करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। जब एक सार्वभौमिक मानववादी मूल्यों पर आधारित समाज नहीं उभरेगा तब तक हमारा राज्य पूर्णरूपेण धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं कहलाएगा। अतएव हमारा राष्ट्र, अपने उत्तम संविधान के बावजूद, पूर्णतः

धर्मनिरपेक्ष नहीं बन सका। इस सम्बन्ध में कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यह ठीक है कि हमारे संसदीय सदस्य ऐसा कोई कानून पारित नहीं कर सकते जिसके अनुसार भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों के प्रति भिन्न-भिन्न व्यवहार किया जाए। किन्तु प्रत्येक चुनाव में, चाहे वह संसद का हो या पंचायत का धर्म का बड़ा ज़ोरदार हाथ पाया जाता है। यह भी देखा जाता है कि राज्य के कई कर्णधार भी धर्मगत, जातिगत या कुलगत वृत्ति से प्रभावित रहते हैं जिससे कि उनके सरकारी कार्यकलाप भी पक्षधर होते हैं। राज्य के ऊँचे पदों पर काम करनेवाले भी धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धांतों के प्रतिकूल व्यवहार करते हैं। प्रादेशिक मंत्री या केन्द्रीय मंत्री जब किसी पुल या सड़क का उद्घाटन करने आमंत्रित किये जाते हैं तब उनका वह कृत्य बिलकुल धार्मिक आचारों के अनुसार होता है—भूमि-पूजा की जाती है, नारियल फोड़े जाते हैं आदि-आदि। और ये आचार किसी एक धर्मविशेष से सम्बन्ध रखते हैं। यह बिलकुल ग़लत है कि शासकीय कृत्य धार्मिक आचार पद्धति के अनुसार मनाये जाएँ। वास्तव में किसी भी सरकारी कृत्य का किसी भी धर्म से सम्बन्ध रखना स्पष्टत: धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रतिकूल है। अतएव भारतीय संविधान का 28-वाँ अधिनियम यह स्पष्टत: कहता है कि किसी भी राजकीय शिक्षालय में धार्मिक शिक्षा बिलकुज न दी जाए। क्योंकि राज्य का धर्म से कोई साबिका नहीं है। यदि सरकारी अनुदान की बदौलत चलनेवाला कोई भी शिक्षालय अपने अंदर किसी धर्मविशेष अथवा सभी धर्मों की शिक्षा देता है, तो वह, कहना ही चाहिए, उक्त 28-वें अधिनियम के प्रतिकूल ही चलता है। हमारे संविधान का यह 28-वाँ अधिनियम यह भी कहता है कि राजकीय शिक्षालयों अथवा सरकारी अनुदानों के आधार पर चलनेवाले शिक्षालयों के शिक्षार्थियों को नैतिक शिक्षा अवश्य दी जाए; किन्तु किसी धर्म का सहारा लिए बिना।

फ्रांस के क्रांतिकारियों ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि विचार मानव का ठोस ज्ञान है, जिसके सहारे वह और और आगे बढ़ता है। अतएव उन्होंने यह चाहा कि मानव सभी दिशाओं में बिलकुल स्वतंत्र रहें और उनके विचार अत्यंत विशाल एवं उदार बनें।

श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा विशारद उत्तरार्द्ध' परीक्षा

(1) **निरगुन कौन देस कौ बासी?**
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच न हाँसी।
को है जनक कौन है जननी, कौन नारि को दासी।
कैसे बरन भेष है कैसो किहिं रस मैं अभिलाषी।

पावैगो पुनि कियौ आपनौ, जो रे करगौ गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो बावरौ, सूर सबै मति नासी ॥

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 128)

सूरदासजी विट्ठलनाथजी द्वारा स्थापित अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे । उनकी काव्य वीणा का मधुर स्वर अनुपम है । सूरदासजी की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना सूरसागर है । 'भ्रमरगीत' सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश है जिसमें भोली-भाली ग्वालियों की वचन वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है ।

उद्धव कृष्णप्रेम में मग्न गोपियों को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाने व्रज में आ पहुँचे । गोपियाँ ध्यान से प्रिय का सन्देश सुनने बठ गयीं । उद्धव ने तो उल्टे उन्हें ज्ञानोपदेश देना आरंभ किया । कुछ देर तक वे अपने अतिथि की अटपटी बातें सुनती रहीं । कारण, वे प्रिय के दूत जो ठहरे, परन्तु फिर उन्होंने उनकी जो गत बनाई, उनकी जैसी खिल्ली उड़ाई, उनको जैसे चुप करा दिया वह आज भी हमारे सामने उनकी चुहल, व्यंजना और निपुणता को उपस्थित करता है । प्रस्तुत प्रसंग उद्धव से गोपियों के मृदु व्यथित हृदय के उद्गार हैं ।

हे उद्धव, वह निर्गुण ब्रह्म किस देश का रहनेवाला है । हे मधुकर (उद्धव) तुम हमें क़सम खाकर यह बात समझा दो । हम हँसी नहीं उड़ा रही हैं । हमारी यह बात बिलकुल सच्ची है । तुम्हारे निर्गुण के जनक और जननी कौन है ? तुम्हारी समझ में कौन पत्नी कहलाने योग्य है और कौन दासी कहलाती है । निर्गुण ब्रह्म का वर्ण और वेष कैसा है और वह किस रस की इच्छा करता है । तुम तो वज्र के समान तीखी बातें कर रहे हो । तुम जैसा काम करते हो वैसा ही फल पाओगे । गोपियों की मार्मिक बातें सुनकर उद्धव ठगा-सा रह गया और उसकी बुद्धि भ्रष्ट-सी हो गयी ।

गोपियों की भावुकता, वचन वक्रता तथा वाग्विदग्धता का कितना सुन्दर सबूत है प्रस्तुत पद ! ग्वालिनियों की आह की ज्वाला, वेदना के आँसू और विदग्धता का कंपन प्रस्तुत पद में विशेष दर्शनीय है । प्रस्तुत पद में गोपियाँ अपनी तर्कनिपुणता एवं व्यंग्योक्तियों से भगवान कृष्ण से अपनी अनन्य भक्ति, चरम प्रेमासक्ति एवं उत्कट आस्था तथा निर्गुण निराकार ब्रह्म पर अविश्वास एवं अनासक्ति को व्यंजित करती हैं । असल में ऊधो और गोपियों का संवाद निर्गुण और सगुण उपासना का खंडन और मंडन है ।

2. **'देना' ही तब सत्य, समर्पण तृप्ति तोष का दाता ।**
ममता-निधि मन में रख मानव बन कृपण दुख पाता ।
व्यर्थ मानता दीन स्वयं को, वह है नहीं अकिंचन ।
उसके अन्तर में ममता का है अपार अक्षय धन ॥ (कोणार्क—पृष्ठ 70)

श्री रामेश्वर दयाल दुबे का लोकप्रिय खंडकाव्य 'कोणार्क' एक प्रौढ कृति है। कोणार्क के सूर्य मंदिर की कला अप्रतिम एवं अद्‍वितीय है। किन्तु, उस परम रमणीय भव्य मंदिर के स्रष्टा शिल्पी विशु की करुण कथा ने मंदिर के परिवेश को आँसुओं से सिक्त कर दिया है। कोणार्क के सूर्य मंदिर के निर्माण में दत्तचित्त शिल्पी विशु मानव सुलभ भावनाओं से युक्त एक सशक्त पात्र है। वह कभी-कभी चिंतन एवं मनन में संलग्न रहता था। प्रस्तुत प्रसंग में विशु ने अपने जीवन दर्शन को अभिव्यक्त किया है।

अपरिग्रह ही सच्चे सुख का दाता है। त्याग में जो सुख है वह स्वार्थ की सिद्‍धि में नहीं है। अतः देना ही सत्य है। समर्पण परितृप्ति एवं परितोष का दाता है। 'ममता-निधि' (प्रेम की संपत्ति) को हृदय में रखकर मानव कृपण होकर खुद दुःख पाता है। दीन व्यक्ति अपने को व्यर्थ मानता है। किन्तु, वह कभी अकिंचन नहीं है। उसके हृदय में प्रेम का अपार अक्षय धन निहित है!

भारतीय संस्कृति में संग्रह की अपेक्षा त्याग पर अधिक ज़ोर दिया गया है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' सुख-संपादन का रहस्य है। सुख की प्राप्ति तभी संभव है जब कि मानव अपने दिल का प्रेम औरों को सहर्ष प्रदान करे।

3. आप की खुशी में किसी तरह बाधा डालने का खयाल हमारे मन में नहीं है। पर हमारे भाग फूटे हैं कि जो बात आपकी खुशी का कारण बनेगी वही हमारी लड़की को मिट्टी में मिला देगी। (जूआ—पृष्ठ 117)

श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित मराठी की प्रसिद्‍ध लेखिका है। 'जुआ' उनका लोकप्रिय नाटक है। विवाहित पुरुष के प्रेम संघर्ष और सपत्नी विवाह की समस्या इस नाटक की नींव है। डा० वसंतराव से ब्रह्म देश से लौटी हुई एक शरणार्थी कुमारी ऊषा की आँखें चार हुईं। किन्तु, पहले ही डा० वसंतराव ने बाबा साहब की बेटी किशोरी से विधिवत् विवाह कर लिया था। अतएव इस अवांछित प्रेम से दोनों को सतर्क करने का प्रयत्न किशोरी के हितैषियों ने किया। एक दिन बाबा साहब और उसकी पत्नी इंदिराबाई ऊषा को वसंतराव के प्रेम से मुक्त करने के वास्ते ऊषा के घर जाकर उससे मिले। प्रस्तुत प्रसंग में बाबा साहब ऊषा से अपनी बेटी की विवशता एवं दुस्थिति का वर्णन करता है।

ऊषा देवी के प्रेम-पथ में कांटे बोना उनका लक्ष्य नहीं है। किन्तु, उनके भाग फूटे हैं! नहीं तो ऊषा वसंतराव के प्रेम जाल में यों नहीं फँसती। जो बात ऊषा की खुशी का कारण बनेगी वही उनकी लाडली लड़की को मिट्टी में मिला देगी।

यहाँ बाबा साहब का पितृहृदय ही बोल रहा है। अपनी बेटी की दयनीय दशा एवं विवशता को व्यक्त कर वह ऊषा की संवेदना एवं सहानुभूति को स्वतः प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। धीरे-धीरे ऊषा का मन परिवर्तन करने का प्रयत्न बाबा साहब करता है। प्रस्तुत प्रसंग नाटकीय व्यंग्य का सुन्दर सबूत है। क्योंकि ऊषा खुद पत्नी त्यागी पिता बाबा साहब की ही बेटी है! यह बात बाबा साहब को उस समय ज्ञात नहीं थी। बाबा साहब अपनी परित्यक्ता अभागिनी बेटी ऊषा की सहानुभूति एवं सद्भावना को जगाने के वास्ते इधर-उधर की बातें बताता है। पात्रों को संघर्षमय वातावरण में खड़ा करके उनके हृद्गत भावों को व्यक्त करने का नाटककार का प्रयास सराहनीय है।

4. तुम्हारी गाली भी मुझे फूलों की वर्षा है, पर उनकी भर्त्सना भयानक वज्रपात! (विषकन्या—पृष्ठ 222)

श्री गोविन्दवल्लभ पंतजी एक दक्षहस्त नाटककार हैं। उन्होंने 'विषकन्या' एकांकी में एक विजेता राजा के रण और प्रणय के बीच का संघर्ष दिखाया है।

राजा चन्द्रविजय तो शत्रु पर विजय प्राप्त कर चुके थे। उस रात को अपराजिता नामक एक कोमलांगी उनके शयनकक्ष में आकर उपस्थित हुई। अपराजिता ने अनुनय विनय के साथ अपना हृदय-किवाड़ कामी राजा के सम्मुख खोल दिया। कामी राजा अपने शयनकक्ष में सुन्दर नारी को पाकर मुग्ध एवं कर्तव्यच्युत हो गये। एकाएक शत्रु सेना ने धावा बोल दिया। युद्ध भेरी बज उठी। वीर सैनिक राष्ट्रधर्म की रक्षा के लिए उठ खड़े हुए। फिर भी विलासी राजा शयनकक्ष से टस से मस न हुए। दोनों सेनापति राष्ट्रीय संकट को सामने देखकर राजा के कमरे में आकर उपस्थित हुए। कामी राजा ने अपनी नग्न विलासिता एवं अकर्मण्यता को रण भेरी की आड़ में छिपाने का प्रयत्न किया। किन्तु, एक सेनापति ने बताया—'धिक्कार है ऐसे स्रष्टा को जो संतान के ग्रास से अपनी काम ज्वाला बुझता है।' सेनापतियों की व्यंग्योक्तियों की नोकों का प्रहार सहकर राजा तिलमिला उठे। आखिर कामांध राजा की आँखें खुल गयीं। उन्होंने विलासिनी कोमलांगी अपराजिता के पेट पर खड्ग भोंक दिया। विषमता कोमलांगी अपराजिता जब धरती पर गिरकर 'ओऽपापी हत्यारे' कहकर राजा को कोसने लगी तब राजा का कथन है प्रस्तुत प्रसंग।

प्रेयसी की गाली भी फूलों की वर्षा की भांति सुखद अनुभूति प्रदान करने में सक्षम है। लेकिन, सेनापतियों की भर्त्सना राजा के लिए भयानक वज्रपात है।

क्योंकि सेनापति तो राजा के आज्ञाकारी व्यक्ति हैं। जब वह राष्ट्रीय संकट के समय शिष्टाचार को भूलकर राजा को भर्त्सना देने लगता है तब कामी अकर्मण्य राजा के लिए सेनापति की भर्त्सना वज्रपात की भांति घातक सिद्ध हो जाती है। अतः राजा का कथन बिलकुल सत्य है।

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. "विचारों की एकता जाति की सबसे बड़ी एकता है। भारतीय जनता की एकता के असली आधार भारतीय दर्शन और साहित्य हैं, जो अनेक भावों में लिखे जाने पर भी अन्त में जाकर एक ही साबित होते हैं।" (गद्य कुसुम—2)

भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् राष्ट्र के विभिन्न देशों के बीच नाना प्रकार की अंदरूनी समस्याएँ उद्भूत होने लगीं जिनसे भारतीय एकता पर आघात पड़ने लगा है। इस विषम समस्या का हल करने का विचार करते हुए रामधारी सिंह 'दिनकर' जी 'भारत एक है' शीर्षक लेख के द्वारा सिद्ध करते हैं कि भारतीय एकता उसकी भावात्मकता के कारण अकाट्य है। उनका कथन है कि भौगोलिक रूप से भारत कई भागों में विभाजित होने पर भी उसकी अंदरूनी भावधारा नितांत अविभाज्य है। देश की सांस्कृतिक समानता ही एक देश की सबसे बड़ी एकता है।

लेखक का कथन है कि भारत की एकता उसकी विभिन्नताओं में ही निहित है। वेष-भूषा और बोली में काफ़ी फरक होने पर भी आचार-विचार तथा संस्कृति में भारतीयों की एकता, समानता दिखाई देती है। फिर भी विचार साम्य ही एक जाति की सबसे बड़ी एकता बताते हैं। भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार भी भारतीय दर्शन व साहित्य हैं। विभिन्न भाषाओं में लिखे जाने पर भी भारतीय दर्शन व साहित्य एक ही विषय पर आधारित हैं। इसका प्रथम प्रमाण है भारतीय भाषाओं की लिपि की एकरूपता। लिपियों की आकृति तथा लिखने के ढंग में शायद फरक संभव है, मगर वर्णमाला एक ही होती है।

दूसरा प्रमाण है कि उत्तर भारत में हो अथवा दक्षिण भारत में हो, एक ही संस्कृति के मंदिर दिखाई पड़ते हैं; एक ही तरह स्नान-पूजा करते हैं और तीर्थ व्रत में समानता है। इन सबके अतिरिक्त भारतीय साहित्य पर विचार करेंगे, तो हम देख सकते हैं कि उसमें भी भारत की एकता दृश्यमान होती है। रामायण, भारत तथा भगवद्गीता का समूचे भारत में एक ही समान मान होता है जो भिन्न भाषाओं में लिखी गयी हैं। इन प्रमाणों से साबित होता है कि भारतीय जनता नाना ज़ाति और संस्कृति के होते हुए भी विचारों की साम्यता के कारण एक ही है।

2. "वह है अकाम, दाम से है उसे काम नहीं,
भाता जिसे जो है उसे देता वही नाम है।
उसकी उपासना में लीन रहता है लोक,
किन्तु वह वासना विहीन अविराम है।
देश-देश ग्राम-ग्राम धाम-धाम में है वह,
उसका प्रभाव सब ठौर वसु-याम है।
प्रगटे उसीके रूप में थे घनश्याम राम,
परम ललाम शिशु ईश अभिराम।" (पद्यमाला—2)

विश्वास करते हैं कि शिशुओं में दैवी भाव का वास है। इसका यही कारण है कि शिशुओं के मन में एक-सा प्रेम-भाव होता है और सबके प्रति शिशुओं की भी सम भावना रहती है। शिशुओं के मन में अच्छे बुरे का भाव नहीं है; वह सबसे प्रेम करता है। किसीके नाम पर उसको घृणा नहीं है और नहीं है किसी पर ममता। इस दुनिया के सभी लोग उसके बंधु हैं। सबके साथ वह रिश्ता रखता है। रोना और हँसना, अलावा इसके उसकी कोई संपत्ति नहीं है।

इस तत्व को केन्द्र बिन्दु बनाकर हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि श्री ठाकुर गोपाल शरणसिंह ने इस कविता की रचना की है। श्री ठाकुरजी मानव मन के कोमल भावों को सहज रूप से चित्रित करने में सिद्धहस्त माने जाते हैं।

इस कविता में कवि बच्चों की निर्ममता और समभावना की ओर संकेत कर रहे हैं। बच्च इच्छा रहित हैं। उनको किसी तरह का आग्रह नहीं होता है; सोना व मिट्टी दोनों को समान दृष्टि से देखते हैं। धन-दौलत की इच्छा भी नहीं है। बच्चों का कोई अलग नाम नहीं है, फिर भी लोग अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम देते हैं जैसे भगवान की भिन्न-भिन्न रूप में पूजा करते हैं। दुनिया भर के लोग बच्चों की आराधना करते हैं, चाहे वे किसी भी जाति या वर्ग के क्यों न हों। सभी बच्चों की आज्ञा के अनुसार चलते हैं; बच्चे सबों पर शासन करते हैं, क्योंकि बच्चों में खुदा का आवास है। देश भर के लोग बच्चों के सौंदर्य पर मुग्ध होकर उसके चारों तरफ़ मंडराते हैं जैसे नव विकसित पुष्प के चारों तरफ़ भौंरें मंडरा रहे हैं।

संसार के सर्वोच्च स्थान में विराजमान महान लोग भी एक समय बच्चे थे। कवि का कहना है कि श्री कृष्ण तथा श्री राम जैसे पुराण पुरुष भी बच्चे के रूप में ही अवतरित हुए थे। समत्व, साहोदर्य तथा सद्भाव आदि ईश्वरीय गुण बच्चों में देख सकते हैं। इसलिए कहा करते हैं कि शिशु वास्तव में ईश्वर का अवतार हैं।

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास।

सभा-समारोह

हिन्दी प्रेमी मण्डल, कुंभकोणम

प्रमाण-पत्र वितरणोत्सव—ता. 15-8-'71 रविवार के दिन, स्थानीय हिन्दी प्रवीण विद्यालय भवन में प्रमाण-पत्र-वितरण समारंभ संपन्न हुआ। स्थानीय बाणादुरै हाई स्कूल के प्रधान-अध्यापक श्री के. जी. कृष्णमूर्ति ने अध्यक्षासन ग्रहण करके परीक्षोत्तीर्ण छात्र-छात्राओं को प्रमाण-पत्र वितरित किया। उन्होंने अपना भाषण हिन्दी में किया जिसमें हिन्दी सीखने और उसका प्रचार अहिन्दी प्रान्तों में, खासकर तमिलनाडु में करने की अत्यावश्यकता बनाते हुए उन्होंने कहा कि हिन्दी राजभाषा बन चुकी है और हिन्दी के ज्ञान के बिना देश की एकता संभव नहीं है। हिन्दी के ज्ञान से वंचित रहे तो हमारे पिछड़ जाने की संभावना है। श्री टी. पी. वीरराघवन, मंत्री, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (तमिलनाडु) तिरुचिरापल्ली ने अपने ज़ोरदार भाषण में हिन्दी सीखने और अपने भविष्य को उज्ज्वल बनाने की ओर लोगों को आकृष्ट किया।

श्री न. सेतुरामन, ज़िला संगठक, द. भा. हिन्दी प्रचार सभा (तमिलनाडु) ने तमिलनाडु में हिन्दी प्रचार का हाल बताते हुए कहा कि इस क्षेत्र में अहिन्दी
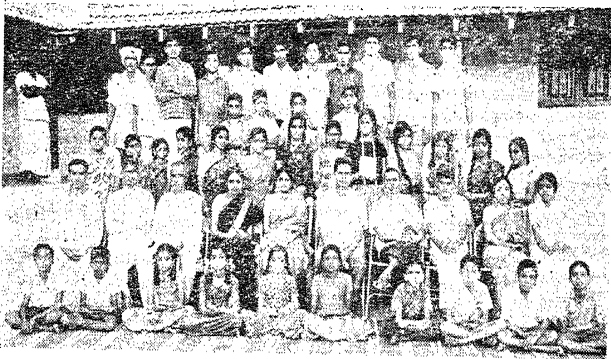
हिन्दी प्रेमी मंडली, रायदुर्ग का सत्रांत समारोह कुमारी ए. अरुंधति की अध्यक्षता में मनाया गया। चित्र में छात्र-छात्राओं के साथ हिन्दी अध्यापक श्री पी. नारायणप्पा चौधरी भी दर्शित हैं।

'राष्ट्रभाषा प्रवीण'—परीक्षा

1. रसवति भूके मनुज का श्रेय, नहीं यह विज्ञान कटु, अग्नेय।
श्रेय उसका, प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु
श्रेय उसका, आँसुओं की धार,
श्रेय उसका, भग्नवीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा की किरण-अभिमान। (कुरुक्षेत्र)

दुष्ट निग्रहार्थ पुनः कलियुग में 'परशुराम की प्रतीक्षा' में लीन राष्ट्रकवि रामधारीसिंह दिनकर का विचार-प्रधान काव्य है 'कुरुक्षेत्र'। छायावादी स्वप्निल वातावरण को नकारते हुए जब कुछ कविगण प्रयोगवादी बनने लगे, तो दिनकर ने सामान्य भावुकता से ज़रा हटकर समाजकल्याणकारी काव्यों के प्रति ध्यान देकर एक नया द्वार ही खोल दिया था। स्वतंत्र भारत के नागरिकों के समक्ष राष्ट्रभक्ति के गीत गाने लगे। कवि ने इस काव्य में एक चिंतक के रूप में समर एवं तत्संबन्धी अन्यान्य समस्याओं पर मौलिक ढंग से विचार करने का सफल प्रयत्न किया है। प्रमुख दोनों पौराणिक पात्र, धर्मपुत्र एवं भीष्म पितामह वस्तुतः कवि के मन की शंका एवं समाधान का प्रतिनिधित्व करते हैं। काव्य का षष्ठ सर्ग ग्रन्थ का प्राण यदि कहें, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस सर्ग में दिनकर आधुनिक वैज्ञानिक-युग के हृदय-स्पर्श से वंचित बौद्धिक उत्कर्ष की कड़ी आलोचना करते हैं। कवि इस भौतिक, वैज्ञानिक प्रगति से मानव को सावधान करता है। क्योंकि, यह मानवता का और स्वयं कला, विद्या तथा विज्ञान का भी अंत कर देगी—ठीक परिचय दिया है:—

"बुद्धि में नभ की सुरभी, तन में रुधिर की कीच,
यह वचन से देवता, पर कर्म से पशु नीच।"

इस दशा का परिवर्तन मानव कल्याणार्थ परमावश्यक है। आखिर मनुष्य का श्रेय क्या है? दिनकर जी अपने विचार इन पंक्तियों से व्यक्त कर रहे हैं—इस रसवती सस्यश्यामला पृथ्वी के मनुष्य का श्रेय, यह विज्ञान नहीं, जो बड़ा भयंकर विश्वदाहक तथा सृष्टि का संताप है। अणुबमों, हैड्रजन बमों जैसे नाशकारी मारक साधनों का आविष्कार करने की प्रेरणा देनेवाला विज्ञान कदापि मनुष्य का

कल्याणकारी नहीं हो सकता। मानव का श्रेय इसी में है कि उसके दिल में अव्याज प्रेम-रस का संचार होता रहे, एक दूसरे के लिये अपना सर्वस्व हँसते हँसते बलि दे दे, दूसरे के दुःख को देख मनुष्य का हृदय सिर्फ़ पिघल उठे, वह सहानुभूति के आँसू बहाए। (बंगलादेश के स्वराज्याभिलाषी जनता पर चलनेवाले अत्याचार को देखकर क्या दुनिया का मन पिघला है?) संसार की विषमता को देख यदि मनुष्य की हृद्तंत्रियाँ बज उठे तो वही मनुष्य का श्रेय है। मनुष्य का श्रेय इसीमें है कि यह दुनिया अलौकिक भावों से पूर्ण रहे तथा मानव हृदय को आत्मज्योति की किरणें चारों ओर से आलोकित करें। वे सदा प्रकाश के उपासक बनें। "स्वर की शुद्ध प्रतिध्वनि जब तक उठे नहीं उर-उर में।" यही कवि की कामना है।

कोरी बुद्धि के बल पर पहुँचने में मानव जीवन की सार्थकता नहीं है, क्योंकि केवल बुद्धि का उत्कर्ष सांघातिक होता है। इसका ज्वलंत प्रमाण आज का विज्ञान-साधनसंपन्न संसार है, जिसमें जीने-जिलाने की नहीं, किन्तु मरने-मारने की होड़ लगी हुई है। अपने को चेंगिसखां व नादिरशाह बना लेने की फ़िक्र बनी रहती है। कुरुक्षेत्रकार के समान कभी हम भी निराशा से गुनगुनाते हैं—

"किन्तु हाय, आधे पथ तक ही पहुँच सका यह जग है;
अभी शांति का स्वप्न दूर-नभ में करता जगमग है।

2. तिन्हहिं विलोकि विलोकित धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचित बरबरनी॥

* * *

खंजन मंजु तिरिले नयननि।
निजपति कहेऊ तिन्हेहि सिय सयननि॥

(अयोध्या कांड)

कविकुलवर भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास की भावना-कृति रामचरित मानस मनुष्य जगत का आलोक-स्तंभ है। पतनोन्मुख मनुष्य जाति इससे त्राण पा चुकी है तथा पाती रहेगी। क्योंकि, वह कोरा धर्मविशेष पुस्तक न होकर नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, महाकाव्य, पुराण आदि सब कुछ है। शक्ति, शील तथा सौन्दर्य के अवतार राम के इस पवित्र चरित्र में भक्ति, ज्ञान, भौतिकता, आध्यात्मिकता का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। 'अयोध्या कांड' से उद्धृत ये पंक्तियाँ वनगमन प्रसंग से ली गयी हैं। अपने अनुज लक्ष्मण एवं भार्या जनकतनया के संग राम वनवासार्थ जा रहे हैं। तीनों के अनुपम सौन्दर्य से ग्रामीण जनता अत्यंत प्रभावित होती है—

"सादर बारहिं बार सुभाय, चितै तुम त्यों हमरो मन मोहैं।
पूछति ग्राम-वधू सिय सों, कहौ सांवरे से सखि रावरे को हैं?"

ग्राम वधुएँ अपनी नारी सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर सीता माता से पूछती हैं कि ये दोनों तुम्हारे कौन हैं? आर्यकुल मर्यादा की उपासिका सीता क्या उत्तर दे पायेगी? प्रिय के सामने कैसे वह कह पाए कि ये मेरे पति हैं। गोस्वामीजी ने अत्यंत स्वाभाविक ढंग से स्थिति का परिचय दिया है। 'कवितावली' में भी इस प्रसंग को महत्वपूर्ण ढँग से प्रस्तुत किया गया है।

सीताजी संकोचवश कभी उनकी तरफ़ देखती हैं, कभी पृथ्वी की तरफ़। ग्राम कन्याओं के लिए उचित उत्तर न देने पर उनके दुःखित हो जाने की परेशानी से सीता स्वयं दुःखी है। जैसे-तैसे मृगनयनी व कोमल कंठी जनक नन्दिनी मधुरवचन से कहने लगी—"जो सरल हृदय, सुन्दर एवं गौरवर्ण के हैं, उनका नाम लक्ष्मण है, और वे मेरे देवर हैं।" आगे कैसे कहा जाए? उन्होंने अपने चन्द्रवदन को अंचल से ढंककर रघुकुल तिलक की ओर तिरछी दृष्टि से देखा फिर, भौहें तथा नेत्र टेढे करके इशारे से ही बताया कि ये मेरे पति हैं।

यहाँ गोस्वामी जी की अभिव्यक्ति की कुशलता की छटा देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं।

8. कर्म में आनंद अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनन्द भरा रहता है कि कर्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप लगते हैं। ('उत्साह'—चिंतामणी)

आधुनिक हिन्दी निबन्ध साहित्य के युगप्रवर्तक पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने मौलिक चिंतन के ज़रिये निबंध में तात्कालिकता का समावेश किया है। निबंध-जगत में इनके प्रवेश होते ही साहित्य-गगन में एक नवजीवन आया था। इनके निबंधों को पढ़ने के बाद मुझे यही मालूम होता है कि शुक्लजी ने अपने निबन्धों व आलोचनाओं में यत्र-तत्र सत् पक्ष का समर्थन एवं असत पक्ष का खण्डन किया है। भावों की विवेचना करते समय शुक्लजी का लक्ष्य नसीहत झाड़ना कभी नहीं रहा। वह किसी भी भाव का विशद-विश्लेषण कर रहे हों, वह लोकसंग्रह की भावना को एक पल के लिए भी नहीं भूल सके हैं।

उपरोक्त गद्यांश 'उत्साह' निबन्ध से लिया गया है। सच्चे उत्साही कर्म-सौन्दर्य के अनन्य उपासक होंगे। कार्य करने में अतीव तत्परता एवं आनन्द का अनुभव उत्साह का प्रथम लक्षण है। स्वरूप के विधान से उत्साह का विभाजन विभिन्न स्तर में क्यों न विभक्त हुआ हो, पर सच्चा उत्साह वही है जो कर्म में प्रेरित

करे। जीवन के कर्म सौन्दर्य के इसी पक्ष को ध्यान में रखते हुए शुक्लजी ने यों लिखा—"साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है।" इस मनोविकार का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। सच्चे उत्साहियों का स्पष्टीकरण आपने नपे-तुले शब्दों से किया है। कर्म और फल को वे अभिन्न मानते हैं। कहने का तात्पर्य है कि उनके विचार से कर्म सौन्दर्य के सच्चे उपासक एक प्रकार से कर्म फल के प्रति अनासक्त ही बने रहते हैं।

जिनको कर्म करने में ही विशेष आनन्द आता है, उन्हींको सच्चे माने में कर्मण्य कहा जा सकता है। सदाचार और शीलयुक्त कर्मों का चिंतन मात्र उन्हें आनन्दप्रद होता है। ऐसे कर्मों में जब कर्ता प्रविष्ट हो जाता है, तब उसे उनके द्वारा प्राप्त फल की आनन्दानुभूति तत्काल होने लगती है। कर्म और उसके फल की प्राप्ति में उसके लिए कोई फ़र्क नहीं रह जाता है। भक्ति भावना में तल्लीन भक्त को प्रत्येक क्षण भगवत् प्राप्ति का आनंदलाभ होता रहता है।

स्वार्थपरता से प्रेरित प्रत्येक कामों के प्रति आसक्ति दिखानेवाले पाखंडी उत्साहियों की नज़र हमेशा कर्म सौंदर्य के प्रति न होकर केवल फल पर ही आश्रित रहेगी।

—श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्ची

'राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. **"साहित्य में अमर होकर उनकी वेदना ही वरदान हो गयी। यदि वे संपन्नता के पालने में सुख की लहरियाँ लहराते आते, तो वे अपना पूर्व नाम 'नवाबराय' ही सार्थक कर पाते।"**

स्वर्गीय शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रसाद-युग के रंगीन निबन्धकार थे। छायावादी कला में पगे रहने के कारण आपके निबन्ध और समीक्षाएँ उतनी स्पष्ट एवं विश्लेषणात्मक नहीं जितनी वे रंगीन एवं संगीतमय हैं। इसका प्रमाण आपका 'कथाकार प्रेमचंद' है जिसके अंदर से उक्त उद्धरण प्रस्तुत किया गया है।

प्रेमचंद का असली नाम धनपतिराय था। वे हिन्दी में आने के पहले उर्दू में 'नवाब राय' नाम से किस्से—कहानियाँ लिखा करते थे। उन्होंने अपना यह नाम शायद 'धनपतिराय' के वजन पर ही रखा होगा। धनपति और नवाब दोनों सम्पन्न ही होते हैं। 'नवाबराय' नाम के जरिए द्विवेदीजी और कुछ सुझाना चाहते हैं। कहते हैं, प्रेमचंद का करीब-करीब सारा जीवन गरीबी में कटा और इसीलिए प्रेमचंद ने अपनी अधिकांश रचनाओं में गरीब लोगों के दुखमय जीवन की झाँकी दी है। किन्तु द्विवेदीजी का यह विचार समीचीन नहीं है।

लेखक की अनुभूति जितनी गहरी होती है, उतनी ही प्रभविष्णु होती है उसकी रचना। यह अनुभूति सदैव आप बीती बातें की ही नहीं होती बल्कि पर-बीती बातों की भी होती है। यह ठीक है कि साहित्य मानव की व्यक्तिगत सृष्टि है यद्यपि तत्सम्बन्धी भाव और विचार सामाजिक होते हैं। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि रचना में वर्णित सारी बातों लेखक के जीवन में घटी हैं। इसके विपरीत वह ऐसी बातों व घटनाओं का सरस वर्णन करता है जो उसके जीवन में घटी ही नहीं। वास्तव में आप-बीती की अभिव्यक्ति सफलता के साथ हो ही नहीं सकती। इसका कारण है। आप बीती की अभिव्यक्ति में कल्पना तत्व का सहारा नहीं मिल सकता जिसके बिना रचना कलात्मक नहीं बन सकती है। कल्पना प्रतिभाओं अथवा बिम्बों की सृष्टि करनेवाली क्रिया है। और बिम्बमय साहित्य ही उत्कृष्ट माना जाता है। आप बीती की अभिव्यक्ति में कल्पना तत्व का समावेश इसलिए नहीं हो सकता कि विषय या अनुभव लेख का अपना होता है। स्वानुभव का इतना निकटतम सम्बन्ध होता है। इतना गहरा परिचय होता है कि तत्सम्बन्धी बातों का क्रमायोजन आवश्यकतानुसार नहीं बदल सकता। सत्य का यथातथ्य प्रतिपादन कलात्मक अथवा रमणीय नहीं बन सकता। कलात्मकता के लिए कल्पना का सहयोग अवश्यंभावी है। और कल्पना पूर्वानुभवों की नयी जोड़ मात्र है।

अनुभूत तथ्यों की अनोखी सजावट रचना को रमणीय बना देती है। ऐसी स्थिति में पर-बीती की अनुभूति ही कला अथवा साहित्य की जननी है। इसीलिए अंग्रेजी के प्रसिद्ध विचारक और कवि टी. एस. इलियट ने कहा—"भोगनेवाली प्राणी और सृजन करनेवाले कलाकार में सदा एक अन्तर रहता है, और जितना बड़ा कलाकार होता है उतना ही भारी यह अन्तर होता है।" (There is always a separation between the man who suffers and the artist who creates; and the greater the artist, the greater the separation—T. S. Elliot) इससे सिद्ध होता है कि कलाकार के लिए आवश्यक चीज स्वदु:ख नहीं वरन् करुणा है, जो रामचंद्रशुक्ल के शब्दों में, मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि संस्थापक मनोविकार है। करुणा का अर्थ है पर-दु:खानुभूति। यह अनुभूति जितनी मात्रा में आश्रय पाती है उतनी ही मात्रा में मानव मानवता से विभूषित रहेगा। यदि करुणाकलित मानव वाग्मी भी हुआ, तो प्रभविष्णु वक्ता अथवा सरस लेखक या कलाकार बनता है।

प्रेमचंद को अभावग्रस्त जीवन बिताना पड़ा हो और ऐसे दरिद्र लोगों की संगति में रहना पड़ा हो, यह कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी और मुख्य बात यह है कि वे करुणा नामक मनोविकार से सने हुए थे, और पगे हुए थे। अतएव वे गरीब लोगों की ज़िंदगी का ख़ाका खींचने में समर्थ हों गये। धनपतिराय नवाबराय रहकर भी प्रेमचंद रह जाते अर्थात् लोकप्रिय रह जाते बशर्ते कि उनका हृदय उसी प्रकार करुणा से सराबोर रहता। अतएव अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति ही कवि या लेखक बनते हैं, यह समझना नितान्त भ्रामक है। ऐसे कितने ही कवि और लोक सेवी व्यक्तियों के नाम लिए जा सकते हैं जो संभ्रांत एवं सम्पन्न परिवारों से आविर्भूत हुए।

2. **"प्रभुत्व-सत्ता निश्चित रूप से जनता में निहित रहती है। किसी संस्था या व्यक्ति को ऐसा इख्तियार नहीं हो सकता जो उसे स्पष्ट रूप से न मिला हो।"**

यह भी भगवानदास केला कृत "लोकराज्य या सच्चा लोकतंत्र" नामक पुस्तक के दूसरे अध्ययन से दिया गया है। लेखक ने, फ्रांस की राज-क्रान्ति के संदर्भ में प्रस्तुत सन् 1791 की मानवीय अधिकारों की घोषणा में उल्लिखित अधिकारों को उद्धृत किया है जिनमें प्रस्तुत उद्धरण एक है।

फ्रांस के क्रांतिकारियों ने यह अनुभव किया कि यदि एक व्यक्ति अथवा कुछ चुने-गिने लोगों के संकेत पर सारा शासन चले, तो यह कोई गारंटी नहीं कि प्रजा

सुख-सविधा से सम्पन्न रहेगी। वास्तव में राजकीय शासन या सत्ता बदलने के लिए आंदोलन समय-समय पर इसलिए चलते हैं कि प्रजा की सुख-सुविधा की कमियाँ दूर की जाएँ। मानव ने अपने विकास-क्रम में, अपने जीवन-यापन को सुसंगठित एवं सुरक्षित करने के हेतु समूह या समाज की व्यवस्था की। उसी तरह उसने मानव-समाज की बढ़ती के लिए एक राजनैतिक व्यवस्था भी कायम की। इस राजनैतिक अथवा राजकीय व्यवस्था की सत्ता यदि बृहत् समाज अर्थात् जनता के द्वारा नियन्त्रित न रहे, तो सत्ता शनैः शनैः सिमिट सिमिट कर किसी एक व्यक्ति अथवा कुछ इनेगिने व्यक्तियों के हाथों पहुँच जाती है जब कि वे उच्छृंखल एवं स्वेच्छाचारी बन जाते हैं; क्योंकि अनियन्त्रित सत्ता आदमी को बिगाड़ देती है। यह बिलकुल ठीक है कि अत्यधिक अधिकार आदमी को अंधा बना देता है। हाँ, यह भी ठीक है कि मानव जन्मतः विवेकी एवं नैतिक प्राणी है; किन्तु इन जन्मजात गुणों के विकास के लिए संस्कार की आवश्यकता है। संस्कार के अभाव में प्रबल प्रतिबन्ध (Check) सत्ताधीश को गुमराह होने नहीं देता। यह प्रतिबन्ध प्रजा ही है। आखिर प्रमुख-सत्ता समग्ररूप में प्रजा के अधीन कैसे रहे?

कहते हैं कि जनतंत्र या लोकतंत्र की व्यवस्था के अधीन ही प्रजा को प्रभुता प्रदत्त है। किन्तु यह लोकतंत्री व्यवस्था भी उतनी कारगर नहीं दिखती है। इसके प्रयोग के द्वारा भी वांछित फल मिलता नहीं दिखता। क्योंकि संसदीय लोकतंत्र में प्रजा के प्रतिनिधि ही राज-सत्ता की बागडोर थामे रहते हैं। प्रजा नियत समयों पर अपने प्रतिनिधियों को चुनकर संसद में भेज देती है और वे निश्चित अवधि तक शासन के कार्य संभाले रहते हैं। यदि इनका शासन प्रजा का हित-साधन न करे, तो भी ये 'प्रतिनिधि' शासक बने ही रहते हैं। सत्ता का स्थानांतरीकरण संसदीय लोकतंत्र (Parliamentary Democracy) का प्रधान अंश है, जो इस सारभूत सिद्धान्त को बिलकुल मिटा देता है कि प्रभुता (Sovereignty) प्रजा की है। अपनी अधकचरी वैज्ञानिक धारणा के बल पर वामपक्षी लोग भी यह कहकर संसदीय लोकतंत्र का विरोध करते हैं कि लोकतंत्र के निर्माण के लिए जनता की जो बौद्धिक एवं नैतिक उन्नति आवश्यक है वह जनता की आर्थिक दशा की उन्नति के अभाव में संभव नहीं है, जो दशा अल्प-संख्यक सत्ताधीशों के द्वारा बदलती है या उन्नति की ओर अग्रसर होती है। ये विचार ऐसी राजनीति का अनुमोदन करते हैं जिस राजनीति के मूल में अधिकार-लालसा भरी है और इसलिए ये विचार उदार नियन्तृत्व (Benevolent Dictatorship) के लिए रास्ता खोल देते हैं। जब कोई तानाशाही एक बार कायम होती है, वह बनी

रहने की ही कोशिश में लगी रहती है। शासक अपने शासन का खातमा करने का यत्न कभी भी नहीं करते हैं।

सच्चा लोकतंत्र अर्थात् जनता का राज्य तभी कायम किया जा सकता है जब कि मानववादी विचार-परंपरा पर ज़ोर पड़ता है। मानव ही अपने संसार की माप है, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिए। प्रजा शासन के कार्य-कलापों में तभी सक्रिय भाग ले सकती है जब कि शासन का विकेन्द्रीकरण होता अर्थात् संगठित स्थानीय जनतंत्रों (Local Democracies) में शासन बँट जाता है। स्थानीय जनतंत्रों के जरिये प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रभु-सत्ता (Sovereign Right) का पूर्णरूपेण अनुभव करे और अपने इस अधिकार को होशियारी और विवेक के साथ कार्यान्वित करने में समर्थ हो। इसका मतलब यह होता है कि जनतंत्रात्मक राज्य समूचे समाज में बँटकर राजनैतिक शिक्षालयों की बदौलत व्यवस्थित रहे। आवश्यकता पड़ने पर अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला लेने (Right of Recall) का अधिकार प्रजा के हाथों में रहे। और निर्वाचकों के मत लेने की पद्धति (Referendum) अमल में रहे। इन दोनों अधिकारों की बदौलत ये स्थानीय जनतंत्र समूचे राज्य के कार्य-कलापों को नियन्त्रित करने में समर्थ होंगे। चुनावों के संदर्भ में प्रतिनिधियों को सुझाने और नामज़द करने का अधिकार ये स्थानीय जनतंत्र अपने अधीन सुरक्षित रखें। पार्टियों या दलबंदियों के मुकाबले जनतंत्र को प्राथमिकता दी जावे। मानव व्यक्तिगत रूप में, अपनी प्रतिभा के अनुपात में, मान पाने का अवसर ग्रहण करें। दलगत सम्बद्धता, दलगत संरक्षता और पक्षपातपूर्ण संरक्षण आदि कुत्सित प्रवृत्तियाँ बौद्धिक स्वातंत्र्य, नैतिक ईमानदारी, और विवेक को दबा न पाएँ। प्रमुख-सत्ता निश्चित रूप से जनता में तभी निहित रहेगी जबकि उक्त बातों पर अमल किया जाएगा और सच्चे अर्थ में लोक-राज्य या सच्चा लोकतंत्र स्थापित होगा। **—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री**

'राष्ट्रभाषा विशारद उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. दिन दस आदर पाइकै, करि लै आपु बखान।
जौ लौं काग सराध पख, तो लौं तो सनमान।
मरत प्यास पिंजरा परयौ, सुवा समय के फेर।
आदर दै दै बोलियत, बायस बलि कै बेर॥ (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 156)

बिहारी रीतिकाल के श्रेष्ठ कवि थे। 'बिहारी सतसई' हिन्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रचना है। बिहारी के दोहे यद्यपि छोटे हैं तो भी उनमें प्रचुर भाव भरे रहते हैं। उनके दोहे रस के छींटे हैं।

प्रथम दोहे का सारांश—हे कौवा! थोड़े दिनों का आदर पाकर तू अपनी बड़ाई कर ले। जब तक श्राद्ध पक्ष है तभी तक तेरा सम्मान है।

अन्योक्ति के द्वारा राजदरबार के पुरोहितों एवं वैतालिकों की मीठी चुभती चुटकी इस दोहे में विशेष दर्शनीय है।

द्वितीय दोहे का सारांश—समय का फेर तो देखो कि सुवा पिंजड़ा में पड़ा हुआ प्यासों मरता है, और बलि के समय (श्राद्ध पक्ष) में कौवे को आदरपूर्वक लोग बुलाते हैं।

स्वार्थी लोभी लोगों का कितना मार्मिक उपहास इस दोहे में व्यंजित हुआ है। समाज में लोगों के गुण और महत्व के अनुसार आदर नहीं होता। समय और माँग के अनुसार ही आदर होता है। इन दोहों में गूढ़ परिहास व्यंजित हुआ है। कविगण अपने आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा में ग्रन्थों का ढेर लगाते वक्त बिहारी ने तत्कालीन समाज के अविचार, अनाचार और अनीतियों पर अपनी लेखनी की नोकों से प्रहार किया था।

९. आगे जीवन की सन्ध्या है, देखें क्या हो आली,
तू कहती है—"चन्द्रोदय ही, काली में उजियाली?
सिर-आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली?
किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली?
'फिर प्रभात होगा' क्या सचमुच? तो कृतार्थ यह चेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 10)

'साकेत' राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त जी का कीर्तिस्तंभ है। 'ऊर्मिला का विरह' नामक प्रस्तुत भाग साकेत के नवम सर्ग का एक हृदयस्पर्शी अंश है। इसमें विरह विधुरा ऊर्मिला की मनोदशा का मनोरम चित्रण हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग अपनी सखी से ऊर्मिला का कथन है।

हे सखी, इस प्रखर मध्याह्न के बाद जीवन का संध्याकाल आयेगा। देखें उसमें क्या होता है? तू कहती है कि चन्द्रमा का उदय होगा। अंधेरे में भी उजाला छा जाएगा। अर्थात् मेरा जीवन भी सुख के प्रकाश से भर जाएगा। इसमें संदेह नहीं कि कुमुदिनी चन्द्र किरणों को सिर माथे लेगी। चन्द्रमा का प्रकाश पाकर वह सन्तुष्ट बन जाएगी। लेकिन मेरे शोक रूपी चक्रवाक की रखवाली तो तारे ही करेंगे। (अर्थात् आँखों की पुतलियाँ मेरे दुख को संभाले रहेंगी।) चक्रवाक का

दुख तो सूर्योदय होने पर ही मिट सकेगा। उसी प्रकार मेरा दुख भी पुनः जीवन का प्रभात होने पर दूर हो सकेगा। सखी ऊर्मिला को आश्वासन देती है कि संध्या के उपरांत तो प्रभात का होना अनिवार्य ही है। ऊर्मिला कहती है—"क्या सचमुच प्रभात होगा? तब तो यह दासी अवश्य ही कृतार्थ हो जाएगी।"

प्रस्तुत प्रसंग में विप्रलंभ शृंगार साँगोपाँग चित्रण है। 'फिर प्रभात होगा क्या सचमुच तो कृतार्थ यह चेरी' में कितनी अधिक व्यंजना है। प्रेमविह्वला, विरह विधुरा ऊर्मिला के मृदु हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति यहाँ हुई है। कुछ आशा, कुछ सन्देह, किंचित् आनन्द आदि कितने अधिक भावों की भरमार है इस पंक्ति में। ऐसा ही भाव-गुरुत्व हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करता है।

४. तब क्या था वह तात 'धर्मपद' मेरा छोटा छौना?
मेरी 'लेखा' के आँगन का शुचिशृंगार सलोना?
वह अज्ञात रहा क्यों? कलश उसीने साधा?
मेरा ही अज्ञान बना तब रहा बीच में बाधा?
सभ्रम उठा, चरण डगमग थे, पूछा—'गया किधर है?
किधर गया है मेरा छौना, बोलो किधर है? (कोणार्क—पृष्ठ 100)

महाशिल्पी विशु अपने कुशल शिल्पी दल के साथ कोणार्क मंदिर के निर्माण में बारह वर्ष तक दत्तचित्त रहे थे। मंदिर लगभग पूर्ण हुआ परन्तु निर्माण में किसी त्रुटि के रह जाने के कारण कलश अम्ल के ऊपर ठीक से बिठाया नहीं जा रहा था। राजा की ओर से यह घोषणा प्रसारित की गयी कि जो कलाकार कोणार्क के सूर्य-मंदिर का कलश ठीक रख देगा, उसे 'महाशिल्पी' का पद तो दिया जाएगा। महाशिल्पी विशु के पुत्र धर्मपद ने यह घोषणा सुनी। वह सूर्यमंदिर के दर्शन करने आया। होनहार बालक धर्मपद ने निर्माण की त्रुटि को समझ लिया और उस प्रस्तर कलश को अम्ल में रख दिया।

महाशिल्पी विशु को छोड़कर अन्य शिल्पी क्रोधाग्नि से जल उठे। क्योंकि उन्होंने समझा कि बालक उनकी कीर्ति को लूटने आया है। अतः उन्होंने धर्मपद को मार डालने का षड्यंत्र रच लिया। यह दुखद समाचार सुनकर विशु बेहोश हो गया। धर्मपद ने विशु के अभिन्न साथी राजीव को कुछ संकेत दिया कि वह कौन है। अन्त में रात के घोर अंधकार में धर्मपद सदा के लिए विलीन हो गया। प्रस्तुत प्रसग राजीव से महाशिल्पी विशु के आहत हृदय का चीत्कार है।

राजीव से विशु को ज्ञात हुआ कि धर्मपद उसका ही छोटा बेटा है। धर्मपद विशु की अर्द्धांगिनी चन्द्रलेखा के आँगन का शुचि शृंगार सलोना है। वह रहस्य

उसको क्यों अब तक अज्ञात रहा? क्या उसीने अपने विलक्षण सामर्थ्य से कलश को साधा था? उसका ही अज्ञान तब बीच में बाधा रहा था? वह घबराहट के साथ उठ गया। उसके पैर डगमगा रहे थे। उसने राजीव से पूछा कि वह किधर गया है। बोलो, मेरा वह छौना किधर गया है।

महाशिल्पी विशु की विवशता, विषमता एवं विषाद की भावना की सशक्त अभिव्यक्ति इस प्रसंग में हुई है। विशु के आश्चर्य सन्देह, आशा, निराशा, उत्सुकता आदि कई भावों की भरमार इस प्रसंग में दर्शनीय है। हृदय को सीधे जाकर स्पर्श करनेवाला ऐसा भावगुरुत्व इस खण्डकाव्य के सौन्दर्य वर्धन में चार चाँद और लगा देता है। बालक धर्मपद का निस्पृह बलिदान इस प्रसंग में करुण गांभीर्य छोड़ देता है।

4. **क्या वास्तव में हमारे देश को स्वतंत्रता मिली है? क्या हम विदेशियों की गुलामी से निकलकर धन के पिशाच की गुलामी में नहीं फँस गये?**

(बुझता दीपक—पृष्ठ 148)

श्री भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के सुकवि एवं प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। 'बुझता दीपक' उनका एक प्रसिद्ध एकाँकी है। श्री राधेश्याम शर्मा कांग्रेस कमेटी के सभापति थे। शर्माजी की प्रेमिका सुषमा सात वर्ष के बाद विदेश से शर्माजी से मिलने आयी। शर्माजी का छोटा-सा सड़ा गला मकान, टूटा-फूटा फ़र्निचर और साधारण वस्त्र देखकर सुषमा दंग रह गयी। स्वतंत्रता की लड़ाई के दिनों में राधेश्याम शर्मा एवं उनकी प्रेमिका सुषमा ने अपने मानवीय प्रेम के उन्माद की अपेक्षा देश-प्रेम के उन्माद में विभोर होकर अपने व्यक्तिगत सुखों का बलिदान किया था। दोनों ने यह प्रतिज्ञा की थी कि देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही वे विवाह करेंगे। उस प्रतिज्ञा को दोनों ने निबाहा था। किन्तु, आज़ादी के बाद जब विदेश से सुषमा अपने देश वापस आयी तब भारत की वर्तमान परिस्थिति देखकर वह खिन्न एवं उदास हो गयी। प्रस्तुत प्रसंग शर्माजी से सुषमा का कथन है।

सुषमा भारत की वर्तमान परिस्थिति से खिन्न होकर अपनी नादानी में पूछती है कि क्या वास्तव में हमारे देश को स्वतंत्रता मिली है। क्या हम विदेशियों की गुलामी से निकलकर धन के पिशाच की गुलामी में नहीं फँस गये? देश की स्वतंत्रता का फल जब तक हर भारतवासी को नहीं मिलता तब तक आज़ादी का कोई मूल्य आम जनता के लिए नहीं महसूस होता। विदेशियों की गुलामी से निकलकर धन के पिशाच की गुलामी में हम फँस गये हैं। अमीर गरीबों के बीच की खाई बढ़ रही है। असल में सरकारों को बनाने या बिगाड़ने में भी अमीरों का हाथ

रहता है। स्वतन्त्रता के दिनों में नेता लोग करते अधिक और कहते कम थे। किन्तु, आज़ादी के बाद हर कहीं हम भाषण ही सुन सकते हैं! आज चरित्रवान और ईमानदार आदमी राजनीति में कम ही दिखाई देते हैं।

सुषमा का कथन सत्य है। राधेश्याम शर्माजी के जैसे सुयोग्य चरित्रवान नेता का भारत के वर्तमान राजनीति के सन्दर्भ में पूछनेवाला ही कौन है? स्वार्थ की सिद्धि में तन्मय नेताओं की कथनी और करनी पर विचार करने पर हमें भी यह संदेह पैदा हो जायगा कि क्या वास्तव में हमारे देश को स्वतंत्रता मिली है? क्या हम विदेशियों की गुलामी में नहीं फँस गये हैं? सुषमा का अन्तर्द्वन्द्व इस प्रसंग से भली भाँति व्यक्त होता है। **—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर**

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **"क्या इसी छोटी-सी महिला ने वह महान युद्ध करा दिया?"**

—(गद्य-कुसुम-2)

गुलामी प्रथा की अति उच्च दशा थी। एक रविवार के दिन संयुक्त राष्ट्र संघ के एक स्थान के गिरिजाघर में धर्मोपदेश को सुनते-सुनते पाँच बच्चों की एक माता ने एक क्रांतिकारी ग्रंथ के प्रथम अध्याय की रचना की जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ की परंपरागत गुलामी प्रथा का जड़ से उन्मूलन हो गया था। उस महान ग्रंथ का नाम है "टाम काका की कुटिया।" और इस विश्वोत्तर उपन्यास की रचयित्रि है श्रीमती हैरियट एलिसबेथ स्टो।

श्रीमती स्टो का जन्म ई. 1811 जून 14 को संयुक्त राष्ट्र संघ के लिचफ़ील्ड नामक स्थान में हुआ था। एक भावुक लेखिका के रूप में श्रीमती स्टो की देश-विदेशों में काफ़ी ख्याति थी। श्रीमती स्टो एक सफल राजनीतिज्ञा भी थीं। संयुक्त राष्ट्र संघ के उस ज़माने की शासन व्यवस्था ने श्रीमती स्टो के मन में घृणा पैदा की थी; मुख्यत: गुलामी प्रथा से उनका घोर विरोध था। मनुष्य को पशुओं से भी हेय समझनेवाली गुलामी प्रथा ने उनके मन में बहुत बड़ा आघात पहुँचाया था। जानवरों की तरह मनुष्यों की खरीदी-बिक्री की जाती थी। माँ बच्चों से अलग हो जाती थी; पति पत्नी से बोल न सकता था और पुत्र वृद्ध माता-पिता की सेवा से वंचित करता था। गुलामों की इस असहनीय दुर्दशा देखकर श्रीमती स्टो का दिल बिलख रहा था। उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि किसी न किसी तरह इस गुलामी प्रथा का उन्मूलन करना ही चाहिए। उन्होंने अपने इस आशय को इस प्रकार व्यक्त किया है कि "अगर मेरे समुद्र में डूब जाने के साथ-साथ गुलामी

प्रथा के तमाम पाप और अत्याचार भी डूब जाए, तो मैं समुद्र में डूबकर प्राण देने को भी तैयार हो जाऊँगी।" इस उद्धरण से समझ सकते हैं कि गुलामी प्रथा का उच्चाटन करने के लिए श्रीमती स्टो कितनी व्यग्र थीं। इन विचारों के फलस्वरूप श्रीमती हैरियट एलिसबेथ स्टो की विद्ग्ध तूलिका ने इस महानग्रंथ "टाम काका की कुटिया" की सृष्टि की।

इस ग्रंथ ने हज़ारों लाखों आदमियों को रुलाया है और हज़ारों लोगों को इस गुलामी प्रथा का घोर विरोधी बना दिया है। कहीं भी देखें इस ग्रंथ की चर्चा ही हाती थी। समूचे देश के लोग इस ग्रंथ को पढ़ने लगे। बोझ ढोनेवाले मजदूरों से लेकर आलीशान महलों में रहनेवाली सुखभोगियों तक को इस ग्रंथ ने रुला दिया और श्रीमती स्टो के इस महान आदर्श के समर्थक बना दिये थे। लोग गुलामी प्रथा से नफरत करने लगे। फलस्वरूप अमेरिका की दक्षिणी और उत्तरी रियासतों में घमासान युद्ध छिड़ गया और इस हेय से हेय गुलामी प्रथा का समूल उच्छेद हो सका। इसका श्रेय श्रीमती हैरियट एलिसबेथ स्टो को ही है।

1863 ई. में जब श्रीमती स्टो अमेरिका के पार्लिमेंट में गयीं तब प्रेसिडेंट लिंकन से उनकी मुलाक़ात हुई। प्रेसिडेंट लिंकन से उनका परिचय करा दिया तो लिंकन ने हाथ मिलाते हुए विस्मित होकर कहा—"क्या इसी छोटी-सी महिला ने वह महान युद्ध करा दिया?" उपरोक्त प्रसंग उस समय का है।

तात्पर्य यह है कि देश हित पर क्रांति पैदा करने के लिए छोटे-बड़े की कुछ बात नहीं है, प्रत्युत आत्मसमर्पण तथा आत्मबल से ही संभव है।

2. **"भूषण तथा कवि चन्द नहीं,**
बिजली भर दे वह छन्द नहीं,
है कलम बंधी स्वच्छंद नहीं,
फिर हमें बतावे कौन हन्त?
वीरों का कैसा हो वसन्त? —(पद्यमाला-2)

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में साहित्यकारों का भी बहुत बड़ा हाथ था। ऐसे लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों में कवयित्री श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का नाम आदर के साथ लिया जाता है। श्रीमती चौहान ने अपनी ओजस्वी और देश-प्रेम-भरी कविताओं से सोये हुए अगणित भारतीयों में तप्त रक्त का संचार कराया और देश सेवा के कर्म-पथ पर उतर आने की प्रेरणा दी है।

उपरोक्त प्रसंग उन्हीं की रची 'वीरों का कैसा हो वसंत" शीर्षक कविता का अंश है। कवयित्री अपना यही उद्देश्य व्यक्त करती है कि देश के वीरों का क्या कर्तव्य है। वसंत ऋतु के आगमन से ही प्रकृति में नव चैतन्य का दृश्य दिखाई पड़ता है। इस मादकतापूर्ण वातावरण में देश के वीर पुरुषों का यही कर्तव्य होना चाहिए कि वसन्तोत्सव जैसे आमोद-प्रमोद से दूर रहे। कवयित्री का उद्बोधन है कि इस उल्लासपूर्ण वातावरण में सारे वीरों के लिए अपने हथियारों से सुसज्जित होकर कर्मपथ पर उतरना लाजिमी होगा।

उनका कहना है कि अब—याने गुलामी के चगुल में पड़े रहनेवाले कविगण आज यथेष्ट अपने जन्म देश पर गीत गा नहीं सकते। देश के वीरों के मन में जोश पैदा करनेवाली कविताएँ रचने में वे असमर्थ रहते हैं। पुराने ज़माने में भूषण और चंदबरदाई जैसे स्वतंत्र व निर्भीक कवियों देश और देशवासियों को अपनी कविताओं से उत्तेजित कर रहे थे। उनकी कविताओं में ऐसा जादू था जिसे सुनते ही लोगों में नयी उमंग व जोश का संचार हुआ था। पर खेद की बात है कि आज का ज़माना गुलामी का है। सारे कवियों को अपनी कलम और अपना मुँह बंद कर लेना पड़ता है। अतः हे वीरो, आप लोग इन आमोद-प्रमोदों से विचलित होकर अपने हथियार लेकर देश की रक्षा के लिए संग्राम मैदान में कूद पड़ो। दूसरा आपको साफ़ रास्ता बतानेवाला और कोई नहीं है। अपना मार्ग स्वयं निर्णय करने का समय है।

विदेशी-शासन के ज़माने के साहित्यकारों की असमर्थता तथा विदेशी शासन-सत्ता की कठोरता का उल्लेख करना और पुराने ज़माने के स्वतंत्र कवियों की सराहना करना ही इस कवितांश का उद्देश्य है।

इस कविता की रचना उसी ज़माने में हुई है जब विदेशी शासन की दमन नीति के कारण भारतीय जनता अपने मूल अधिकारों से वंचित हो रही थी।

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

"जातियों, धर्मों और संप्रदायों में भेदभाव फैलनेवाली विचारधारा ने अब तक देश का बहुत बड़ा नुकसान किया है। उसने देश की रचनात्मक शक्ति और प्रवृत्तियों पर कुठाराघात करके देश को कमज़ोर और खंडित बनाया है।" —इन्दिरा गांधी

" एक अतिरिक्त स्पष्टीकरण " के एक अंश का स्पष्टीकरण

डॉ० चावलि सूर्यनारायण मूर्ति, मद्रास

['सभा की प्रगति' शीर्षक लेख-शृंखला के संबन्ध में कुछ विरोधी-विचार भी प्रकट हो रहे हैं। ऐसे मंतव्यों को प्रकाशित करने की 'हिन्दी प्रचार समाचार' की निष्पक्षता पर भी अंगुली उठायी जा रही है। समाचार' के उन प्रेमी पाठकों के विश्वासार्थ सभा के श्री कोषाध्यक्ष के 'एक अतिरिक्त स्पष्टीकरण' से संबन्धित डॉ० चावलि सूर्यनारायण मूर्ति के विचार प्रस्तुत हैं। —**संपादक**]

" हिन्दी प्रचार समाचार " के अगस्त के अंक में " एक अतिरिक्त स्पष्टीकरण " शीर्षक में जो बातें छपी हैं उनके द्वारा हिन्दी प्रचारकों और हिन्दी हितैषियों में भ्रम फैलने की संभावना है। उस भ्रम को दूर करके वस्तु-स्थिति को समझाना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। क्योंकि उसके एक अंश से मैं भी संबंधित हूँ। यद्यपि सिद्धांतत: ऐसी अवांछनीय बातों के प्रकाशन का मैं विरोधी हूँ, किन्तु फिर भी सभा के संचालकों के द्वारा किये गये अन्याय के शिकार बने कुछ नि:स्वार्थ आजीवन सदस्यों पर जो लांछन लगाया गया है उसने मुझे मजबूर किया है कि इस संबंध में वास्तविकता को हिन्दी हितैषियों के सम्मुख प्रस्तुत कर उनका भ्रम-निवारण करूँ। अत: मैं पाठकों से क्षमा याचना करता हूँ। अस्तु।

"एक अतिरिक्त स्पष्टीकरण" में कहा गया है कि "आपको पिछले विवरण से मालूम पड़ा है कि किस प्रकार सभा के अपने आपको सबसे अधिक हितैषी समझनेवाले कुछ लोगों की कार्रवाई के कारण सभा की व्यवस्थापिका समिति की बैठक यकायक स्थगित करनी पड़ी तथा सभा को बदनामी के साथ-साथ लगभग 6,000/- रुपये का आर्थिक नुक़सान भी उठाना पड़ा। "समाचार" के जुलाईवाले अंक में "केन्द्र सभा की सूचनाएँ" के अंतर्गत कार्याध्यक्ष के नाम से प्रकाशित किया गया है कि "27-6-71 रविवार को जो व्यवस्थापिका समिति संपन्न होनेवाली थी, वह एक व्यक्ति (जो कि असल में सदस्य नहीं थे) के अपनी सदस्यता के संबंध में अदालत में जाकर Injunction लेने की वजह से संपन्न नहीं हो सकी।" दोनों वक्तव्यों में स्पष्टत: अंतर है।

चाहे जो हो, खेद है कि इस प्रकार की अदालती कार्रवाई का सच्चा कारण क्या है; यह बताने में लेखक की क़लम मूक रह गयी। बात यह है कि ता. 27-4-'71 से

लेकर 15-6-'71 तक कोई 46 हिन्दी प्रेमियों ने सभा की आजीवन सदस्यता चाहते हुए नियमानुसार ढाई सौ, ढाई सौ रुपये सभा के अर्थ-विभाग में जमा किये और सदष्यता के आवेदन-पत्र भी ठीक-ठीक भरकर भेज दिये। सभा ने इस मद्दे कुल 11,500/- की रक़म प्राप्त की जिसके लिए प्रत्येक सदस्य को रु. 250 की पक्की रसीद भी दे दी जिसमें स्पष्टत: लिखा है कि "आजीवन सदस्यता शुल्क 250/- प्राप्त।" इसके आधार पर अब तक चली आती प्रथा के अनुसार सदस्यों ने यही समझा कि संविधान के अनुसार उनकी सदस्यता स्वीकृत है और व्यवस्थापक समिति की सदस्यता भी उनको प्राप्त है। किन्तु जब ता. 27-6-'71 की व्यवस्थापिका समिति की बैठक की सूचना उनको नहीं मिली तब उनको आश्चर्य हुआ। उन 46 सदस्यों में जिनको सूचना नहीं भेजी गयी मैं भी एक हूँ। अतः सूचना न भेजने की बात मुझे जब मालूम हुई तब 15-6-'71 को मैंने सभा के प्रधानमंत्री को यह जानने के लिए पत्र लिखा कि व्यवस्थापक समिति के समावेश की सूचना मुझे क्यों नहीं भेजी गयी। 20-6-'71 तक उनसे कोई उत्तर नहीं मिला तो मैंने कार्यकारिणी के अध्यक्ष श्री ए. वी. कौदी के नाम समावेश की सूचना नये सदस्यों को भी भिजवाने तथा समावेश में बुलाकर उनका सहयोग प्राप्त करने की प्रार्थना करते हुए एक पत्र लिखा। उसमें मैंने यह भी लिखा था कि ऐसा न करने से सभा के क़ानूनी कारंवाई की दल-दल में फँसने की संभावना है। किन्तु उन्होंने इसपर कोई ध्यान नहीं दिया।

आख़िर ता. 25-6-'71 को मुझे सभा के विशेषाधिकारी के हस्ताक्षर से एक पत्र मिला कि आपके और अन्य कुछ लोगों के आवेदन-पत्रों का विचार संविधान के द्वारा प्रदत्त अधिकार के आधार पर मुल्तवी कर रखा गया है। संयोग की बात है कि उसी दिन एक सदस्य ने समावेश की सूचना अपने को न मिलने के कारण अदालत में यह प्रार्थना करते हुए मामला दायर कर दिया कि चूँकि कई सदस्यों को व्यवस्थापक समिति की सूचना नहीं भेजी गयी इसलिए उस अवैध समावेश को रोकने की आज्ञा प्रदान की जाय। तदनुसार समावेश रोकने की अदालत ने आज्ञा जारी की और समावेश रुक गया। "एक अतिरिक्त स्पष्टीकरण" के लेखक कहते हैं कि इससे सभा को नुक़सान हुआ। हुआ हो तो इसके ज़िम्मेदार कौन है? यह सोचना भी ज़रूरी है। यदि सभा के संचालक उन 46 सदस्यों को भी यथापूर्व सूचना भेज देते तो इस कानूनी कारंवाई की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। इसलिए इस अनावश्यक आर्थिक हानि और प्रतिष्ठा-भंग का पूरा उत्तरदायित्व सभा की वर्तमान कार्यकारिणी पर ही है। इसको भरने की ज़िम्मेदारी भी कार्यकारिणी की ही है। उस सदस्य ने अपना हक़ मंजूर किये जाने की अदालत से प्रार्थना की और अदालत ने ही

समावेश को रोका। अदालत की आज्ञा के अनुसार व्यवस्थापिका-समिति की बैठक नहीं हो सकी।

इस घटना के बाद भी नये सदस्यों ने कार्याध्यक्ष को एक ज्ञापन भी भेजा कि कम से कम आगे के समावेशों में सब को बुलाने का आश्वासन दिया जाय। किन्तु उसके उत्तर में उन्होंने 24-7-1971 को मुझे पत्र लिखा कि संविधान के नियम 6 के अनुसार कार्यकारिणी समिति के सदस्यों को दाखिला देने का अधिकार है। इसके अलावा 31-7-1968 में हुए व्यवस्थापिका समिति के समावेश में दिये किसी अध्यक्षादेश का भी उन्होंने उल्लेख किया है जिसके अनुसार कार्यकारिणी आगें से आवेदन पत्रों का संपरीक्षण कर (Scrutinise) सदस्यता को स्वीकार करे। एक बात और लिखी उन्होंने कि नये सदस्यों की सदस्यता का मामला एक सदस्य के द्वारा अदालत में दायर किये गये दावे का विषय है, और इसलिए उसके संबंध में कुछ कहना नहीं चाहता हूँ। इन तीनों बातों का स्पष्टीकरण और खंडन करते हुए मैंने ता. 5-8-1971 और 24-8-1971 को विवरणात्मक रूप से दो पत्र और लिखे। किन्तु अब तक किसी का कोई उत्तर मुझे नहीं मिला।

मैंने अपने पत्रों में लिखा कि संविधान के नियम 6 के अनुसार कार्यकारिणी को आवेदन पत्रों का संपरीक्षण करने का अधिकार नहीं है। उसमें स्पष्ट रूप से यही लिखा है कि जो 18 साल को या उससे अधिक उम्रवाले हों, सभा के उद्देश्यों को मानते हों और नियत धनराशि देकर सदस्य बनना चाहते हों उनको कार्यकारिणी समिति सदस्यता के विभिन्न वर्गों में प्रवेश दे सकती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कार्यकारिणी को आवेदन पत्रों का संपरीक्षण करने का कोई अधिकार है। (यदि वह ऐसा करना चाहे भी तो चंदा स्वीकार करने के पहले ही उसे करना चाहिए था।) वास्तव में वह इतना ही कर सकती है कि प्राप्त चंदे की रक़म के अनुसार सदस्यों का वर्गीकरण मात्र करे। मेरे नाम कार्याध्यक्ष के द्वारा भेजे गये पत्र में 31-7-1968 वाले समावेश के अध्यक्षादेश के सम्बन्ध में जो लिखा है उसके विषय में मेरा यही निवेदन है कि उस आदेश का किसी भी नये सदस्य को सदस्यता शुल्क और आवेदन पत्र देते समय कुछ भी ज्ञान नहीं कराया गया था। न तो वह संविधान में लिखा हुआ है और न आवेदन पत्र में शर्त के रूप में छपा हुआ है। इसलिए प्रचलित प्रथा के अनुसार सबकी सदस्यता स्वीकृत हो चुकी है और उसके आधार पर सब सदस्यों को व्यवस्थापक समिति की बैठक की सूचना भेजी जानी चाहिए थी। किसी की सदस्यता तिरस्कृत नहीं की जा सकती है। जिस सज्जन ने इंजंक्शन के द्वारा समावेश रुकवा दिया उनके दावे का आशय यह नहीं है कि सदस्यता स्वीकार की

जाय। उनकी या अन्य लोगों की सदस्यता को लेकर कोई विवाद नहीं है। जब सभा ने बिना किसी शर्त के सबसे आजीवन सदस्यता का शुल्क और आवेदन-पत्र ले लिये और पक्की रसीदें दीं तभी सब के सब बाक़ायदा सदस्य बन चुके हैं।

अब कोई न कोई हीला-हवाला कर उनको व्यवस्थापिका समिति में आने से रोकना नितांत अन्यायपूर्ण है। इससे यही मालूम पड़ता है कि अवश्य ही दाल में कुछ काला है। नहीं तो इधर कार्यकारिणी की तीन-चार बैठकें हुईं, फिर भी इन सदस्यों को व्यवस्थापिका समिति में प्रवेश देने के संबन्ध में नियम और प्रथा के अनुसार अनुकूल निर्णय करने की बात क्यों टाली जाती? इस करतूत से अनुमान करना पड़ता है कि कुछ अधिकारी कहे जानेवाले लोग सभा पर एकाधिकार रखने और अपने पद व स्वार्थ की रक्षा करने के लिए अवैधानिक कार्य करने पर तुले हुए हैं। अब इन वास्तविक बातों के प्रकाश में पाठक स्वयं निर्णय कर लें कि सभा के तथाकथित प्रतिष्ठा-भंग और आर्थिक हानि का उत्तरदायित्व किस पर है?

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के भूतपूर्व प्रधानमंत्री

पद्मभूषण श्री मोटूरि सत्यनारायणजी

इस मास की चौथी तारीख़ (4-9-'71) को अपनी 70-वीं वर्षगाँठ मना चुके

किसने सुना? किसने जाना?

"हिन्दी प्रचार समाचार" के वर्तमान संपादक ने (भूला नहीं जा सकता है कि 25 सालों तक श्री सत्यनारायणजी इस पत्रिका के संपादक रहे हैं) इस सिलसिले में जब उनसे भेंट की तो उन्होंने 70 को 50 बताया। जी हाँ, किसी व्यक्ति के जीवन में 50 सालों की निरंतर विकासमान कर्म-साधना मामूली सिद्धि नहीं है। हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय मंच पर पूज्य बापू और नेहरूजी के व्यक्तित्वों की जो अहमियत रही है सभा की गत अर्द्ध सदी के इतिहास-गठन में क्रमशः सर्वश्री हरिहर शर्माजी और सत्यनारायणजी का वही महत्व आंका जा सकता है। श्री सत्यनारायणजी के अखिल भारतीय व्यक्तित्व का इस संस्था से गठ-बंधन न हुआ होता तो अहिन्दी भारत की एकमात्र प्रतिनिधि हिन्दी संस्था होने की अखिल भारतीय प्रशस्ति सभा को शायद ही हासिल हो पाती।

स्वराज्य के बाद की परिस्थितियों में हिन्दी को आगे ले चलने के लिए मार्गदर्शन पाने जब सत्यनारायणजी बिड़ला भवन, दिल्ली गये और अपने लिए अधिक विशाल कार्यक्षेत्र की माँग की तो गांधीजी ने सत्यनारायणजी से पूछा कि "क्या मिनिस्टर बनना चाहते हो?" सत्यनारायणजी बोले—"अपनी शक्ति के उपयोग के लिए दूसरा कोई कार्यक्षेत्र चाहता हूँ।" गांधीजी का सत्यनारायणजी को मानों "जीवन संदेश" मिला कि "कहीं भी जाओ, मगर हिन्दुस्तानी का काम मैं तुम्हें सौंपता हूँ। इसे तुम अपने जीवन का धर्म समझकर करते जाना।"

श्री सत्यनायणजी ने इस हिन्दी-धर्म का पालन खूब किया। स्वराज्य के पूर्व जितना किया स्वाधीनोत्तर काल में पूर्व से कहीं अधिक किया। हिन्दी-धर्म की

सजग साधना के कारण ही विश्राम की अधिकारिणी अपनी 70-वीं वर्षगाँठ हैदराबाद के किसी हिन्दी सेमिनार में लिपि सुधार पर भाषण देते हुए उन्होंने मनायी थी।

श्री सत्यनारायणजी ने हिन्दी के लिए क्या नहीं किया? भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी मद्रास के विधान मण्डल से सत्यनारायणजी को दिल्ली की राज्य सभा का सदस्य बनाकर भेजने को कहा। वहाँ सत्यनारायणजी संविधान के हिन्दी संबन्धी हर पहलू में सलाहकार रहे, सक्रिय सदस्य रहे। संविधान में राजभाषा की प्रतिष्ठा, 351 धारा, संविधान का हिन्दी अनुवाद, हिन्दी का स्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय अंक की मान्यता, राष्ट्रीय भाषाओं की संख्या-निर्धारण, राजभाषा आयोग, व्याकरण समिति, हिन्दी शीघ्र लिपि व टंकन समिति, हिन्दी शिक्षा समिति, परीक्षा प्रतिमान-प्रामाणिकता समिति, हिन्दी संस्था संघ आदि कौन ऐसी समिति रही जो श्री सत्यनारायणजी के हिन्दी-धर्म का स्पर्श पाकर निखर उठी नहीं? इस 70-वीं वर्ष में भी भारत सरकार ने आगरा के केन्द्रीय शिक्षण मण्डल का उन्हें अध्यक्ष बनाया है। तेलुगू विश्वकोष की पूर्ति के बाद बारह भागों में हिन्दी विश्वकोष का दायित्व जिनका स्कंध संभाल रहा हो उन्हें 70 साल का जवान क्यों न कहा जाय?

श्री सत्यनारायण जी ने अपनी मातृ संस्था दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के चतुर्मुखी विकास के लिए, उसकी आर्थिक सुस्थिरता के लिए भी क्या नहीं किया था? उनकी योजना-कुशल मेध का अगर सभा की रजत जयंती को फेनिल दुग्ध कहा जाय तो स्वर्ण जयंती के लिए उनके द्वारा गठित योजना नवनीत कही जा सकती है। मगर वह नवनीत किस माथानी से निकाला जाय? साभा ने अवकाश ग्रहण की उम्र की मियाद से नापकर श्री सत्यनारायण जी को अगर खोया नहीं तो क्या पाया? यह तो आत्मचिंतन का विषय है। खैर,

भारतीय संविधान सभा में सन् 1949 के इसी मास में (सितंबर 14) हिन्दी विधायक पारित हुआ था और अहिन्दी भारत के हिन्दी मसीहा पद्मभूषण श्री मोटूरि सत्यनारायण जी की जन्म तिथि भी इसी मास में (सितंबर 4) पड़ती है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की शिक्षा-दीक्षा हर हिन्दी प्रचारक का हिन्दी-धर्म है कि इस मंगल मौके पर श्री सत्यनारायण जी की गत 50 वर्षों की हिन्दी-साधना का अभिनंदन करें तथा कम से कम व्यक्तिगत पत्र द्वारा ही सही उनकी दीर्घायु की कामना प्रकट करें। उनका पता है—श्री मोटूरि सत्यनारायण जी, सूर्यकुंज, गांधी नगर, मद्रास-20।

श्री सत्यनारायण जी से दक्षिणापथ के हिन्दी प्रचारकों के लिए जो संदेश मिला है उसे 'समाचार' के पाठकों के लाभार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। अलावा इसके "हिन्दी प्रचारकों के सामने एक चुनौती" शीर्षक श्री सत्यनारायण जी की लेख-माला भी समाचार के अगले अंक (अक्तूबर 71, गांधी जन्म मास) से प्रकाशित होगी जो हिन्दी प्रचारकों को मनन के लिए प्रभूत सामग्रियों से भरी पूरी रहेगी।

पद्मभूषण श्री सत्यनारायण जी का संदेश!

प्रिय श्री नारायण,

मेरे 50 वर्ष की निरंतर सेवा की पूर्ति के सिलसिले में आपने मुझसे संदेश मांगा है। यह सच है कि हिन्दी प्रचार तथा हिन्दी प्रचार सभा को मैंने अपने जीवन का एक अभिन्न अंग माना यद्यपि मैं इन 50 वर्षों की अवधि में कई रंगों में कार्य किया—राजनीति, शिक्षा, संस्कृति, उद्योग, सिंचाई आदि आदि। मैंने अपने तन मन से अपने हज़ारों साथियों से जो सारे हिन्दुस्तान में बिखरे हुए हैं अभिन्नता स्थापित करने की कोशिश की। इसके लिए तीन स्रोत मेरे जीवन में बराबर काम में आते रहे हैं। एक, पूज्य महात्मा गांधी का जीवन स्रोत, पूज्य राजाजी का विवेक स्रोत और असंख्यक साथियों का प्रेम स्रोत। इन तीनों स्रोतों को त्रिवेणी के रूप में मानकर एक अक्षय धन के रूप में संचित करता रहा हूँ। यह संचित धन ही मेरे जीवन का बहुत बड़ा सहारा रहा। इस सहारे से मैं अपने जीवन के पूर्वार्द्ध को समाप्त कर चुका हूँ, उतरार्द्ध में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

मेरे जीवन के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय भावना ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। यद्यपि यह भावना अपने स्थान पर बहुत ही बड़ा महत्व रखती है फिर भी हम यह भूल नहीं सकते कि कोई भावना प्रयोजन का रूप नहीं लेगी और व्यावहारिक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए साधन जुटाने में सक्षम नहीं बनेगी तो ऐसी भावना व्यक्ति के साथ ही समाप्त हो जाती है। अतः मैं चाहता हूँ कि हिन्दी प्रचार का कार्य जो राष्ट्रीय भावना के अनुसार चल रहा है उसको व्यवाहारिक रूप दिया जाय। उस व्यावहारिकता को रूपान्वित करने की योजना बनाना मेरे जीवन के उत्तरार्द्ध का एकमात्र उद्देश्य होगा। मेरा प्रगाढ़ विश्वास है कि इस कार्य में साथियों का सहयोग प्राप्त होगा और सफलता मिलेगी।

आपका,

मो· सत्यनारायण

पुस्तक-परिचय

महाप्राण निराला—प्रकाशक: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली-1; **मूल्य:** 1.00 पृष्ठ 67

हिन्दी साहित्य में मुक्त काव्य-धारा के प्रवर्तक महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की तुलना बंगला के विख्यात विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर से की जा सकती है। महाप्राण निराला का व्यक्तित्व एवं कृतित्व साहित्य जगत में प्रेरणा, श्रद्धा तथा आदर्श का सतत स्रोत बन गया है। गद्य, काव्य, उपन्यास, कहानी, व्यंग्यात्मक तथा दार्शनिक लेखों के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा की धारा अबाध गति से प्रवाहित होती रही। प्रस्तुत पुस्तिका के लेखों के अध्ययन तथा अवलोकन से निराला का भाव-प्रवण एवं भव्य-भास्वर चित्र हमारी आँखों के सम्मुख उभरकर उपस्थित हो जाता है। प्रकाशन विभाग के अन्य प्रकाशनों की भाँति यह पुस्तिका महाप्राण निराला को निकट से लखने, समझने एवं जानने में सहायक सिद्ध होगी।

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. **"यदि अंधकार का घोर प्रहर टूटे तुम पर,**
   तो मुझे स्मरण रखना, यह ज्योति धरोहर लो,
   जब होगी मानस ग्लानि, घिरेगी मोह निशा,
   मैं नव प्रकाश वाह बन आऊँगी,
   संध्या पलनों में झुला सुनहले युग प्रभात ?"

—('संदेश', सुमित्रानन्दन पंथ)

आधुनिक हिन्दी साहित्य जगत की सुकुमार भावना एवं कोमल कल्पना के कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत का कवि-स्वरूप युगानुकूल चेतना को समन्वित करता हुआ तथा एक स्पष्ट मूर्तरूप प्रदान करता हुआ विकसित हो रहा है। प्रकृति के प्रति कुतूहल होकर ललकने वाले पंत 'युगान्त' तक आते-आते यौवन और प्रेम के कवि बने हुए थे। युगवाणी,, ग्राम्या आदि में उनकी समसामयिक विचारधारा का स्पष्टीकरण हुआ है। 'स्वर्ण किरण' और स्वर्ण धूली में आपका सूक्ष्मचेता मन मार्क्स्वादी भौतिक संघर्षों से ऊबकर धीरे-धीरे अध्यात्मवाद की ओर मुड़ा है। उनका प्रतिपादित अध्यात्मवाद न तो किसी सांप्रदायिक धार्मिकता में ही आस्था रखता है और न किसी दर्शन विशेष के सिद्धान्तों का ही प्रचार करता है। उसका आधार घोर विरक्ति न होकर मनुष्य जाति की मानसिक तथा आत्मिक विकास के प्रति मनोवैज्ञानिक अनुरक्ति ही है। आपकी हर रचना में जनमंगल की भावना उमड़ पड़ी है।

यहाँ 'संदेश' शीर्षकवाली कविता का आधार एक कोमल काल्पनिक घटना है। कवि सोचते-सोचते एक दुपहरी में सो गये थे अपने ही कक्ष में। उनकी गहरी नींद संध्या समय धुली तो देखा कि कक्ष के गवाक्ष से होकर सायं सूर्य की स्वर्णिम धूप चारों ओर फैली है। कवि की कोमल-कल्पना एक बार झंकृत हुई। अपने विचार को इस माध्यम से व्यक्त करने लगे। धूप को प्रारंभ में नारी के रूप में

हुए गहन विचारधारा का स्पष्टाकरण

कनक-धूप स्वरूपा सुन्दरी ने कवि को कुछ दुःखस्वप्नों से बचाया है। अंतरमन की चेतना को एक बार जगा दिया है।" कहती है—हे कवि! तुम क्या प्रकृति को भूल गये? उसके आँगन में जो अमूल्य सौन्दर्य बिखरे पड़े हैं उनसे तुम ऊब गये हो क्या? तुम फिर प्रकृति के प्राँगण में विचरण करो, जहाँ चारों ओर प्रसन्नता ही

प्रसन्नता व्याप्त है। नैसर्गिक सुषमा का पान करते हुए अनन्त चेतना में अपने को विलीन करा देने की चेष्टा फिर से करो। आज मैं तुम्हें यही अमर संदेश दे जाऊँगी।" अंधकार गाढ़ा होता गया। धप बिदा लेते हुए कवि को संबोधित करती कह रही है—हे! कविश्रेष्ठ, तेरे जीवन में कभी भी भीषण अंधकारमय पल आ घेरेगा तो कभी निराश न होना। विपत्तियों का पहाड़ टूटकर गिरे या पीड़ा की बाढ़ आ जाय, तो तुम निराशा से कभी विचलित न होना। एक बार उस वक्त मुझे स्मरण कर लो। मेरी स्मृति ही तुम्हारे लिये एक जबरदस्त सम्बल सिद्ध होगी, मैं तुम्हें यह ज्ञान रूपी प्रकाश प्रदान किये बिदा ले रही हूँ तथा अंधकारमय वेला में यही तुम्हें मार्ग प्रदर्शन करेगा। यही नहीं, जब कभी तुम्हारा मन निराशा, कुंठा व असफलता से पीडित होगा तब मैं संध्या के झूले में नवयुग के सुनहले प्रभात को हिंडोलती हुई तुम्हें नवीन ज्योति का अमर संदेश दूंगी। तुम्हारे जीवन में अलोक प्रदान करती रहूँगी। इस पद्य खण्ड में कवि की मनोहारी कल्पना का स्वच्छ परिचय हमें मिलता है।

2. वह अखिल विश्व के बीच सत् की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना

भगवान का सामीप्य लाभ करता चला जाता है।"

सुप्रसिद्ध समालोचक पंडित रामचन्द्र शुक्लजी के निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर विचार करते समय हमें उनके लोकवाद और लोकादर्शवाद पर अवश्य दृष्टि पड़ेगी। उन्होंने प्रत्येक कवि व लेखक का मूल्यांकन इसी कसौटी पर किया है। इस आधार पर ही गोस्वामीजी को वे महान कवि कह गये हैं। अखिल विश्व-स्थिति में ब्रह्म के सत् स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति का आभास प्राप्त करनेवाला प्राणी उसके प्रति आकर्षित होता तो है, वह उसके हित साधन में प्रवृत्त भी हो जाता है। इसी लोक कल्याण भावना का नाम धर्म है। अतः धर्म, भक्ति एवं लोक कल्याणाँकाक्षा सब समानार्थी है। इसी दृष्टिकोण को लेकर शुक्लजी ने "धर्म की रसात्मक अनुभूति को भक्ति" कहा है।

प्रेमयुक्त एवं कल्याण हेतुक व्यवहार का ही नाम धर्म है जो उस लीला धाम के सतत् एवं सर्वांगीण अनुभव का साधन एवं फल होते हैं। प्रत्येक भक्त का पूर्ण विश्वास है कि उसका प्रभु छपो-छपो में व्याप्त है। अपनी इस मान्यता के अनुरूप वह साक्षात्कार या वास्तविक अनुभूति में क्रियाशील होता है। अपनी साधना में सफल होती है, जब अपनी मान्यता के अनुसार लोक व्यवहार में भी लीन होता है, तब उसे एक विचित्र प्रकार के अननुभूत आनन्द की प्राप्ति होती है। हमारी बुद्धि तो यह स्वीकार कर लेती है कि भगवान सर्वव्यापी है। पर, व्यवहार में

हम सब बहुत दूर बने रहते हैं। इस वजह से वास्तविक आनन्द से भी हम वंचित ही रह जाते हैं। इस विषम स्थिति से जरा निकलकर समस्त जीवराशियों में सत्य के दर्शन (परमात्मा) करने लगेंगे तब अवश्य ब्रह्मानन्द की अनुभूति अति सुलभ होती है। इसी वजह से भक्त शिरोमणी लोग आराधना के क्षेत्र में निर्गुण ब्रह्म का परित्याग कर सगुण-लीलामय ब्रह्म स्वरूप में लीन होने में अपने को कृतार्थ समझते हैं। हमारे यहाँ लोकरंजनकारी ब्रह्मस्वरूप के भक्ति विधान के विकास का यही रहस्य है। लोकरंजनकारी स्वरूप को हम अधिक उपयोगी इसलिये मानते हैं। इसी को शुक्लजी ने भीतर के चित् द्वारा बाहर के 'सत्' के साक्षात्कार द्वारा आनन्द का आविर्भाव बताया है। व्यवहार की वास्तविकता में ही 'आनन्द' की सच्ची अनुभूति प्राप्त होगी।

'राष्ट्रभाषा विशारद उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. **जो चाहें पलट दें यही सबकी काया,**
   कि एक-एक ने मुल्कों को है जगाया।
   अकेलों ने है काफ़िलों को बचाया।
   जहाजों को है जोरेकूँ ने तिराया।
   यही काम दुनिया का चलता रहा है।
   दिये से दिया यूँ ही जलता रहा है। (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 93)

ख्वाजा अल्लाफ़ हुसैन अली उर्दू साहित्य के युगनिर्माता कवि थे। पक्के दीनदार मुसलमानों की तरह नेकी, सादगी और पाकीजगी के साथ वे रहते थे। पहले उर्दू शायरी इश्क को दर्द और मुहब्बत की बातों से ओतप्रोत थी। किन्तु, हुसैन हाली जी ने उसमें सामाजिकता का रंग दिया और कौम को जगानेवाले तराने लिखे। उनकी रचनाओं में अकर्मण्य विलासी इनसानों को सच्चे कर्म पथ पर ले चलने की असीम शक्ति रहती है। आदमी में ताक़त है। उस शक्ति का सदुपयोग करना वांछनीय है। कर्मठ व्यक्तियों से ही समाज का उत्कर्ष संभव है। कई सबूतों से कवि ने प्रस्तुत प्रसंग में अपनी राय को पुष्ट किया है।

अगर चाहें तो हम सब की काया पलट दे सकते हैं। अकेले व्यक्तियों ने बड़े-बड़े कौमों को जगाया और उनका उद्धार किया है। बड़े-बड़े काफिलों को अकेले वीरों ने मुसीबतों से बचाया है। प्रबल कर्णधारों ने बड़े-बड़े जहाज़ों को अकेला चलाया और तराया है। एक दीपक से कई दीपक जलते रहते हैं। एक कर्मठ महान व्यक्ति से असंख्य कर्मवीर पैदा होते हैं। तभी पतन के गढ़े में पड़े ए देश और समाज का उद्धार संभव है।

कवि ने हताश दुखी मानव के दिल में नयी आशा का संचार किया है। राष्ट्र-निर्माण के महान यत्न में हाथ बँटाना हर एक व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य है। अकेले व्यक्तियों ने ही अपनी ज़िन्दगी में बड़े-बड़े कार्य कर दिखाये हैं। अत: कर्मक्षेत्र में डटे रहना और इस कर्मभूमि को स्वर्गभूमि बना देना मानव के वश की बात ही है।

2. **सावधान! छिपकर ही उसकी दशा देख पाओगे।**
अश्रु बनेगा हास अधर का, जो सम्मुख पाओगे॥
आस लगाये बैठी कब से पकर प्रीति का धागा।
निरत प्रतीक्षा में वियोगिनी नित्य उडाती कागा॥ (कोणार्क—पृष्ठ 59)

कोणार्क की नायिका चन्द्रलेखा विलक्षण व्यक्तित्व रखनेवाली है। विशु उस सुकुमारी को चढ़ती जवानी में छोड़कर कोणार्क के सूर्य मंदिर का निर्माण करने चले गये। मंजु छोटा छौना धर्मपद उस विरहिणी माँ का एकमात्र सहारा था। पति की लंबी प्रतीक्षा में संलग्न विरह-विताडिता चन्द्रलेखा की दयनीय दशा पर कवि प्रस्तुत प्रसंग में विशु का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

सुधि का दीप जलाकर प्रेमयोगिनी चन्द्रलेखा पति के आगमन की प्रतीक्षा करती थी। छिपकर ही चन्द्रलेखा की दशा देख पाओगे तो होठों की हँसी आँसू में परिणत होगी। अत: विशु को विरह विताडिता चन्द्रलेखा के सम्मुख जाने से कवि सावधान करते हैं। प्रेम का धागा पकड़कर आस लगाये वह बैठी है। वह वियोगिनी प्रतीक्षा में निरत होकर नित्य कागा उड़ाती थी।

प्यार की करुण वेदना की तड़प को दिल की धड़कन में ही दबाये रखनेवाली चन्द्रलेखा के विरह कातर व्यक्तित्व का कितना मार्मिक चित्रण है प्रस्तुत प्रसंग! 'आस लगाये बैठी कब से पकड़ प्रीति का धागा' में कितनी मधुर व्यंजना है! पति परायणा, विरह विधुरा, प्रेमविह्वला चन्द्रलेखा विरह की आग से स्वयं जलनेवाली है औरों को जलानेवाली नहीं। पति के अन्याय और अविचार की आलोचना वह करती नहीं! किन्तु, प्रीति का धागा हाथ से पकड़ 'आस लगाये' वह सुकुमारी बैठती है। किंचित रेखाओं से विरहिणी के हृद्गत भावों को व्यंजित करने की कवि की दक्षता विशेष रूप से यहाँ दर्शनीय है।

3. **अरे यह लड़की तुम्हारा औरत के साथ अच्छा सलूक करेगा। हम उसको कहेगा, "कुरू प्रियसखी वृत्ति सपत्नी जने" अरे, हम तुम्हारा जगह होता तो तिरुपति जाकर शादी करता।** (जूआ—पृष्ठ 72)

श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित ने विवाहित पुरुष के प्रेम-संघर्ष और सपत्नी विवाह की समस्या की नींव पर ही अपने प्रथम सामाजिक नाटक जूआ का भव्य भवन खड़ा कर दिया है। डॉ. वसंतराव से ब्रह्मदेश से लौटी हुई एक शरणार्थी

कुमारी ऊषा की आँखें चार हुईं किन्तु, डा. राव ने उसके पूर्व ही किशोरी से विधिवत् विवाह कर लिया था। अतएव किशोरी के हितैषियों ने इस अवांछित तथा अभिशप्त प्रेम से दोनों को सतर्क करने का प्रयत्न किया। किन्तु, ऊषा का अभिभावक चैतन्यदेव ऊषा के इश्क के दर्द से भली भाँति परिचित था। मातृ-पितृ हीन ऊषा के लिए चैतन्य देव माँ. बाप के समान वंद्य था। चैतन्य ऊषा की दुस्थिति देख खिन्न एवं परेशान हुआ। एक दिन वह डा. वसंतराव के मकान जाकर उससे मिला। प्रस्तुत प्रसंग में चैतन्य वसंतराव से ऊषा की चारित्रिक विभूतियों का बखान कर उससे यथाशीघ्र शादी करने की प्रेरणा देता है।

पहले पत्नी ज़िन्दा होने पर भी बहु-विवाह की प्रथा चलती है। ऊषा तो भोलीभाली तथा बड़ी अच्छी है। अतः तुम्हारी पत्नी के साथ अच्छा सलूक करेगी। इसके अलावा मैं उसे 'कुरुप्रिय सखीवृत्ति सपत्नी जने' का उपदेश दूँगा। तुम्हारी जगह मैं होता तो ज़रूर तिरुपति जाकर शादी करता। तुम्हारे समान यों किंकर्तव्य विमूढ़ नहीं होता।

चैतन्य का पितृहृदय ही यहाँ बोल रहा है। डा. वसंतराव के दिल में ऊषा से शादी होने पर गृह-कलह की संभावना का विचार रहेगा। इस कल्पित संभावना को दूर करने का स्तुत्य प्रयास चैतन्य करता है। मुनि कण्व ने शकुन्तला को बिदा करते समय जो अमूल्य उपदेश दिया था वह ऊषा को भी देने को वह तैयार है। शाकुन्तल के चतुर्थांक में कण्व ने पति-गृह जानेवाली शकुन्तला को यों उपदेश दिया था—

> **"शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,**
> **भर्त्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपंगमः।**
> **भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी**
> **यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः"**

चैतन्य का भोलापन तथा उसका पितृ-हृदय उसकी बातों में विशेष रूप से दर्शनीय है। तिरुपति जाकर भगवान के सान्निद्ध्य में शादी करने की प्रेरणा देकर चैतन्य ने अपनी विलक्षण युक्ति का परिचय दिया है।

4. दूसरा दीपक जलाओ सुषमा, जल्दी करो! उस दीपक की ओर मत देखो, उससे कोई आशा मत करो! उसका स्नेह समाप्त हो चुका है। मैं कहता हूं सुषमा, नया दीपक जलाओ। जल्दी करो मेरा दीपक बुझ रहा है!

भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के सुकवि एवं प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। 'बुझता दीपक' उनका एक प्रसिद्ध एकांकी है। श्री राधेश्याम शर्मा कांग्रेस-कमेटी के

सभापति थे शर्मांजी ी प्रेमिका सुषमा सात वर्ष के बाद विदेश से शर्माजी से मिल आयी। शर्मांजी का छोटा-सा सड़ा गला मकान, टूटा फूटा फर्नीचर और साधारण वस्त्र देखकर सुषमा दंग रह गयी। सुषमा ने अपनी नादानी में अपने प्रेमी शर्माजी से पूछा कि तुम्हारे त्याग और बालिदान का पुरस्कार तुम्हें क्या मिला? बापूजी के महान आदर्शों के प्रहरी एवं पुजारी राधेश्याम शर्मांजी अपने उच्च, पुनीत आदर्शों से टस से मस न हुए। फिर भी मृत्यु के अन्तिम क्षणों में एक अजीब तरह की असफलता जनित निराशा शर्माजी को घेरने लगी। अपने प्राणों के चिराग के बुझने के पूर्व शर्माजी प्रस्तुत प्रसंग में अपनी प्रेमिका सुषमा से नया दीपक जलाने की ज़रूरत पर ज़ोर देते हैं।

शर्माजी के कमरे के चिराग में स्नेह कम था वह बुझने ही वाला था। अतः और एक चिराग जलाने की आवश्यकता थी। उसी प्रकार शर्माजी के प्राणों का दीपक टिम-टिमाकर बुझने ही वाला था। बुझनेवाले शर्माजी पर आशा करने से कोई फायदा नहीं है। इस तथ्य की ओर सुषमा को सावधान कर शर्माजी अपनी ज़िन्दगी को नयी परिस्थितियों के अनुकूल ढालने की ज़रूरत पर इशारा करते हैं।

प्रकाश तो अपने अन्दर से ही उपलब्ध होगा। अपने प्राणों का दीपक जलाकर विश्व के इस अंधकारमय पथ को आलोकित करना आवश्यक है। अतः सुषमा को नया दीपक जलाना है और अपने प्राणों का स्नेह उसमें भरना है। उसके बाद अपने प्राणों का दीप जलानेवालों को इकट्ठा करना है। एकांकी कला के मर्मज्ञ विद्वान लेखक की अद्भुत दक्षता यहाँ दृष्टव्य है। जिस प्रकार कमरे का दीपक स्नेह के अभाव में बुझ रहा था उसी प्रकार शर्माजी के प्राणों का दीपक स्नेह के अभाव में बुझ रहा था। शर्माजी की बातें पाठक के दिल में सीधे जाकर स्पर्श करती हैं। एकांकी की चरम सीमा है प्रस्तुत प्रसंग। नाटक के वातावरण में प्रस्तुत प्रसंग एक करुण गांभीर्य छोड़ देता है।

श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध परीक्षा

(1) **जननी के स्नेह की भाँति जगत की शोभा उनके साथ-साथ चलती रहती है, हृदय का अन्धकार अन्तःपुरसे उनको बाहर बुला लाता है, पीछे की ओर से सामने की तरफ़ उनको आलिंगन करके ले जाता है।"**

यह विश्वविख्यात बहुमुखी कलाकार एवं कवि-मनीषी रविबाबू के 'पथ के छोर पर' नामक भावात्मक निबन्ध से प्रस्तुत किया गया है। इस निबन्ध में लेखक ने जीवनयापन तथा उसके विकास के संबल प्रेम की मर्मस्पर्शी व्याख्या की है।

जन्मधात्री माता का अपनी संतान के प्रति जो स्नेह होता है वह अकृत्रिम होता है। अतएव उसका आकर्षण अमोघ होता है। कृत्रिम वस्तु या तो आश्चर्यान्वित करती है या भयभीत करती हैं, किन्तु अकृत्रिम वस्तु सहज स्वाभाविक होने के कारण, अपने प्रति प्रेम पैदाकर अपने में रमा देती है। प्राकृतिक शोभा तथा जननी की ममता दोनों अपनी स्वाभाविकता में शीतल-सुखद होती हैं। अत: मानव अकृत्रिम प्राकृतिक शोभामय वातावरण के संपर्क में जननी के क्रोड़ का सा आश्वासन पाता है और पाता है स्पूर्ति तथा सहलाती हुई सहानुभूति। जननी के द्वारा ही संतान को पहले पहल सांसारिक अनुभूति होती है और उससे लगाव लगाकर तत्संबंधी ज्ञान, सामर्थ्य भी प्राप्त करता है और अपना विकास करता है।

एक बार प्राकृतिक शोभा के प्रांगण में आते ही मानव अपने अज्ञान का अनुभव करता है जिसकी बदौलत वह कभी भी स्थिर नहीं रह सकता, वरन् पल-पल परिवर्तित एवं वद्र्धमान संसार की जानकारी पाने छटपटाने लगता है। आन्तरिक अंधकार अर्थात अज्ञान उसके अंदर एक प्रकार की टीस पैदा करता है—हीनता का भाव पैदा करता है जिसके कारण यह 'छटपटाहट' अर्थात ज्ञान की पिपासा मानव को हर हमेशा बेचैन किये रहती है। फलस्वरूप मनस्वी मानव क्षुब्धतापूर्ण अज्ञान से छुटकारा पाने खुली प्रकृति के सुखद-शीतल क्रोड़ में अपनी अनन्त यात्रा आजीवन जारी रखता है जिससे कि क्षण-क्षण में उसके सामने उसका अज्ञान उजागर होता जाता है। ऐसी ही स्थिति को ध्यान में रखकर अंग्रेजी के यशश्वी कवि P. B. Shelley "ने कहा The more we study, the more we discover our ingorance." अर्थात हम जितना अधिक अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक हम अपने अज्ञान को उजागर करते हैं। तब मानव सच्चे अर्थ में मनीषी बनता है और मनीषी का निखार समस्त जगत को रमणीय बनाता है।

गतिशीलता में ही जीवन है। जीवन-यापन के संदर्भ में मानव एक से बढ़कर एक दृश्य के संपर्क में आता है जरूर, किन्तु वह किसी के साथ अनुचित प्रेम नहीं करता—पक्षपात नहीं करता? पक्षपात जीवन में स्थिरता लाता है जिसके कारण मानव की मौलिक प्रतिभा ही कुंठित हो सकती है। अतएव जीवन में गति अपेक्षित है। ऐसे ही संदर्भ को दृष्टि में रखकर अंग्रेजी के कवि Long fellow ने कहा—"As the turning of logs will make a dull fire burn, so change of studies will a dull bsain." अर्थात जिस प्रकार ईंधन को उलटने से बुझनेवाली अग्नि प्रज्वलित होती हैं उसी प्रकार अध्ययन की परिवर्तित सामग्री कुंठित प्रतिभा को तेजोदीप्त करती है। अतएव यह कहना अनुचित नहीं है कि

जीवन का संबल—प्रेम तभी स्वस्थ रहता जबकि उसके आलंबन बदलते रहते और रमणीय होते हैं।

(2) **"अपने-आप से उलझना और सुलझाना अथवा निश्चित होकर अपने अतीत की स्मृति से खेलना या भविष्य की आंकाक्षाओं में उड़ चलना, अथति अपने आप जीवित रहने की इस आर्ट का अधिकारी उन्होंने अपने को नहीं बनाया है।"**

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कथाकारों में श्री जैनेन्द्र कुमार अपना एक विशिष्ट स्थान बनाए हुए हैं। प्रेमचन्द कालीन कहानी से लेकर 'नई कहानी' तक कहानी-रचना के जितने भी मोड़ आये उन सब में जैनेन्द्रजी की कहानियाँ मिलती हैं। जो हो, ये यथार्थ में अन्तर्मन के लेखक हैं। इस दिशा में 'चलित चित्त' आपकी एक प्राणवान कहानी है जिसके अंदर से उपर्युक्त उद्धरण प्रस्तुत किया गया है। जैनेन्द्र की यह कहानी 'Edger Allan poe की The Tell Tale Heart' नामक कहानी से तुल जाती है। ये दोनों कहानियाँ एकपात्री हैं और दोनों अपने-अपने पात्र के अन्तर्मन को अत्यन्त कलात्मक शैली में बहिर्गत करती हैं। कहानी के पात्र शेख साहब लखनऊ जाने, देहली स्टेशन के वेटिंग रूम में अकेले बैठे हुए हैं और उनकी गाड़ी के निकलने में अभी दो घंटे का समय बाकी है। ऐसे संदर्भ में कहानीकार ने शेख साहब के स्वभाव के संबन्ध में उक्त उद्धरित वाक्य कहा है।

मानव का प्राणमय लक्षण उसकी क्रियाशलिता के द्वारा अभिव्यक्त होता है। मानव ने यद्यपि अपने को अधिक से अधिक स्वतन्त्र बनाने के प्रयत्न में समाज का निर्माण किया, फिर भी वह सदैव समाज की भीड़ भम्भड़ में रहकर न यन्त्रवत् कार्यशील रहता है न गुलछर्रे उड़ाता रहता है। हाँ, इनके स्वभाव के लोग हमेशा फुदकते रहते हैं और किसी भी बात की तह तक पहुँच नहीं पाते हैं। शेख साहब ऐसी ही श्रेणी के लोगों में एक हैं। ऐसे लोग अपने मन और मस्तिष्क के कच्चेपन के कारण एकान्त और एकान्तवास से घबड़ा उठते हैं। ऐसे लोगों का मानसिक विकास नहीं के बराबर होता है। और मानसिक विकास के बल पर ही भौतिक विकास संभव होता है।

मानसिक विकास मानव की विशिष्ट संपदा है जिसकी बदौलत वह मानव बना रहता है। मननशील प्राणी मानव कहलाता है और मनन मानव के जीवन-विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा—"We cannot be Vision aries Besides, if it is necessary for us to have our feet on the grount, it is

equally necessary for our heads not to be at the gronnd leved." अर्थात हमें स्वप्न-दर्शी या गगन गामी नहीं बनना है। लेकिन फिर भी यदि हमारे लिए ये आवश्यक हो कि हमारे पाँव जमीन पर टिके रहें, तो यह भी बराबर ज़रूरी है कि हमारे मन-मस्तिष्क भू-स्तरीय न हों अर्थात निचले स्तर के न हों।

मनन वही आदमी कर सकता है जिसका विगत जीवन तरह तरह के अनुभवों से पटा हुआ हो। सोचना अथवा मनन करना हमेशा विगत अनुभव के परिवेश में होता है अथवा उसके आधार पर भविष्य के बारे में कल्पना की जाती है। कार्य-शारीरिक हो या मानसिक करते जाना और साथ-साथ उसके बारे में सोचते जाना, उनका मूल्यांकन कारना कदापि संभव नहीं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि मन एक समय दो दिखाओं में गतिशील नहीं रह सकता। यदि हम अपने कार्य-कलापों का मूल्यांकन करना चाहते हों, तो पहली आवश्यकता यह है कि हम उस कार्य से निवृत्त हो जाएँ और उसके संबन्ध में सोच-समझकर, तौल-तौलकर उसका मूल्यांकन करने का प्रयत्न करें। यह काम भीड़-भाड़ में होनेवाला नहीं है। इस के लिए विराम चाहिए और चाहिए एकांत वातावरण। एकांत वातावरण में मानव जब अपने पूर्वानुभवों की 'जुगाली' करने लगता है, तो उसे तत्संबन्धी गुण-दोषों का परिज्ञान हो जाता है। ऐसे विचार-प्रवाह में मानव सचमुच जीवित रहता है। अर्थात अपने विगत अनुभवों के निचोड़ को अपने भावी जीवन का संबल बनाकर अपने को निस्संदेह संपन्न बना लेता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव के विकास के लिए कार्यशीलता जितनी मात्रा में आवश्यक है उससे कम मात्रा में आवश्यक नहीं है निष्क्रियता अथवा विराम बल्कि उससे भी अधिक मात्रा में विश्रान्ति आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मानव का वास्तविक विकास विश्रान्ति के क्षणों में ही संपन्न होता है। इसीलिए तो कविवर दिनकर करते हैं :—

"कार्य-संकुल लोक-जीवन से समय कुछ छीन,
हो जहाँ पर बैठ नर कुछ पल स्वयं में लीन
फूल-सा एकान्त में उर खोलने के हेतु
शाम को दिन की कमाई तोलने के हेतु।" (कुरुक्षेत्र)

(४) **"मैंने तेरे मातापिता और भाई को मारा, तुझे कितना कष्ट दिया! ओफ़! नन्हीं बच्ची, तूने माता की भाँति मुझे पालन किया, मेरे अत्याचार सहे, तू दया और प्रेम की देवी है, धन्य है!"**

स्वर्गीय चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र' हिन्दी के अविस्मरणीय शैलीकार कहानी लेखक हैं। प्रस्तुत उद्धरण स्वर्गीय चतुरसेन शास्त्री की 'पत्थर में अंकुर, नामक कहानी से दिया गया है। इस कहानी में शास्त्री जी ने एक दुर्दान्त डाकू के

हृदय परिवर्तन की सरस झाँकी प्रस्तुत की है। जब कुप्रसिद्ध डाकू बाल्लू, जो कहानी का नायक है, पुलिस की हिरासत में आ गया, तब उसने अपनी पाली-पोसी लड़की से यह उद्धरित वाक्य कहा है।

कठोर पत्थर में भी अंकुर निकल आता है। यह भी देखने में आता है कि मैदानों के मुकाबले पाषाणी पर्वत चट्टानों में बड़े और घने जंगल होते हैं। यह विशेषता आदमी में भी पाई जाती है। ऊपर से वह कितना ही कठोर दीखे, उसका आचरण दूसरों के प्रति कितना ही निर्मम एवं क्रूर क्यों न हो, पर उसका अन्तर कभी न कभी सहज-स्वाभायिक नैसर्गिक कोमल वृत्तियों से आप्लावित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह अपने क्रूर कर्मों का ख्याल करके ग्लानि में गड़ जाता है। पश्चात्ताप और ग्लानि मानव के आचरण में पाई जानेवाली विशेषताएँ हैं जो विशेषताएँ मानवेतर प्राणियों की पहुँच के बाहर हैं।

बल्लू भयंकर लुटेरा जरूर है, पर आदमी भी तो है। लूट के सिलसिले में उसने लड़की के मां-बाप और भाई को मार डाला; पर मासूम लड़की को मारने के लिए उसके हाथ नहीं उठ सके। अतएव वह उसे अपने घर उठा ले गया और अपने साथ रखकर उसका पालन-पोषण किया; यद्यपि वह उस लड़की के प्रति अक्सर कर्कश व्यवहार करता रहा। और पिता कहकर उसका संबोधन करनेवाली उस लड़की को उसने कभी न टोका। ऐसी स्थिति में न रोकने का कारण मनोविज्ञान के अध्येता को आसानी से मिल जाता है। वह अपना मुखौटा उतारकर न अपने को जलील करने को तैयार था, न लड़की को, जो उसे अपना पिता समझती है और पिता कहकर पुकारती है, क्लेश पहुँचाने को तैयार। आखिर मुखौटा तो मुखौटा ही था, असली चाहरा तो नहीं। अतएव वास्तविकता के परिवेश में सत्य उभर आया। जो रहस्य उसने अब तक छिपा रखा है और जो सत्य वह अपने साथी-संगी सहचर डाकुओं के सामने भी मानने को तैयार नहीं हुआ उस सत्य को उसने अपने अन्तिम समय में इकरार किया और उसका उद्घाटन उस लड़की के सामने ही किया जिस लड़की के माता-पिता और भाई को स्वयं मार डाला। हाँ, अंग्रेज़ी के विख्यात आलोचक एवं कवि Matthew Arnold ने ठीक ही कहा—"Truth sits on the lips of dying men." अर्थात् मरणासन्न मानव के ओंठों पर सत्य आसीन रहता है। अत्याचारी डाकू बल्लू अन्ततः आदमी बन गया—पश्चात्ताप की प्रतिमूर्ति बन गया। अपनी कमाई, लाखों रुपये की संपदा का अधिकांश भाग अपनी 'बेटी' के नाम लिखकर उसने मानों अपने पापों का प्रायश्चित्त किया और यह भी साबित किया कि पाषाण कठोर हृदय की तह में एक करुणाधौत हृदय भी होता है जो असल में मानवोचित है। **—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री**

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **"खुदा का दिया हुआ दिल सब आदमियों में एक-सा है, चाहे वह बादशाह हो या मजदूर।"** (गद्य कुसुम-2)

कुशल लेखक श्री 'आरिगपूडी' ने भारत के मुगल सम्राट शाहजहाँ के आखिरी दिनों का विचार कर अपने "बंदी" नामक नाटक की रचना की है। शाहजहाँ के पुत्र औरंगज़ेब शाहजहाँ को बंदी बनाता है और बादशाह बन जाता है। इस विपरीत परिस्थिति में शाहजहाँ अपने विगत दिनों की याद करते हुए अपनी इकसहारा पुत्री जहाँनारा से यह वाक्य कहता है। यह प्रसंग उस समय का है।

शाहजहाँ अपनी पत्नी मुमताज को अत्यधिक प्यार करता था। उसकी स्मृति को क़ायम रखने के लिए ही ताजमहल का निर्माण कराया जो आज भी विश्वोत्तर इमारत माने जाता है। उसका ऐसा विचार था कि अपनी प्रिय प्रेयसी का निशान 'ताजमहल' की बराबरी में विश्वभर में और इमारत का निर्माण न हो। अतः उसने इस अनोखी यादगार के कुशल शिल्पियों की उँगलियों को बेरहम होकर कटवा दिया।

मनुष्य का स्वभाव होता है कि जब अपनी शक्ति का लोप होता है तब वह अपनी अतीत करतूतों पर पश्चात्ताप करता है। शाहजहाँ ने भी अगणित कारीगरों को मौत के घाट पर पहुँचा दिया था जिससे अपना स्वार्थ लाभ का रास्ता बेखटक रहे। असंख्य कर्मचारियों के हाथ तक कटवा दिये थे। अभी उसकी आँखें खुलने लगी हैं। अपनी करनी की कठोरता का ख्याल करते हुए वह कहता है—"शायद उन कारीगरों में भी ऐसी अभिलाषाएँ रही होंगी कि अपनी पत्नियों के लिए भी एक-एक मकबरा कायम रखे। मगर वे बादशाह तो नहीं थे; इसलिए उनकी अभिलाषाएँ पूरी नहीं हुईं। मगर खुदा का दिया हुआ दिल सब आदमियों में बराबर है। उसमें ममता, अभिलाषा और मुहब्बत बराबर ही होती है। पर मैंने स्वार्थवश खुदा के अस्थित्व को न समझकर अपने अधिकार का दुष्प्रयोग किया है। मैंने असंख्य कारीगरों पर बेरहमी से अन्याय किया है जिससे उनके खानदानों को ही हानि पहुँची है। ऐसा करने का मेरा क्या अधिकार था? किसी भी शासक को इसका अधिकार नहीं है। अब मैं पछताता हूँ—पर मारे गये को पुनः जिला सकता हूँ क्या?"

2. **"आज की समाज-रचना मैं एक क्षण के लिए भी नहीं सह सकता। हम तो रामराज्य स्थापित करना चाहते हैं—ऐसा रामराज्य जिसमें राजा राम,** प्रजा **राम—सब राममय हो जाते हैं।'** (गद्य कुसुम-2)

भूदान यज्ञ और सर्वोदय के द्रष्टा श्री विनोबा भावे की वाणी केवल भारतीया के लिए ही नहीं, अपितु सार्वदेशिक रूप से मान्यता प्राप्त है। विनोबाजी की पदयात्रा में संबंधित होने के पश्चात्, उस दल के विदेशियों पर भी सर्वोदय सिद्धांतों को कैसा प्रभाव पड़ा, अपने सहयात्रियों के प्रति विनोबाजी के मन में कैसी सहानुभूति रही और इस शांतिपूर्ण क्रांति की सफलता आदि बातों का वर्णन श्रीमति निर्मला देशपांडे ने इस छोटे-से लेख में अति रोचकता से किया है।

आणविक शक्तियों के इस वैज्ञानिक युग में संत विनोबाजी को वास्तव में एक संपूर्ण कर्मयोगी कहने में आश्चर्य नहीं है। बुढ़ापे की अवस्था में भी नव युवकों के बराबर गाँव-गाँव में घूमनेवाले इस अर्धनग्न संत ने जन-जन के मनमुकुरों में एक प्रबल परिवर्तन अंकित कर दिया है। उनकी प्रत्येक वाणी मनुष्य-हृदय की संकुचित भावनाओं को मिटाने की शक्ति रखती है जिससे मानव मन से अपने-पराये के भाव का जड़ से उन्मूलन कर सकती है। इस प्रभाव का वही कारण है कि आत्मा, आत्मा को पहचान लेती है। आत्म-विस्तार तथा अपनी आत्मा में अन्य आत्माओं का दर्शन करना ही ज्ञान की अंतिम सीढ़ी है। वेदान्त के इस महान तथा गूढ़तम रहस्य को जनसाधारण के नित्य-प्रति जीवन-व्यवहार में कार्यान्वित करने की प्रेरणा देना ही इस महान संत का उद्देश्य रहा है।

वर्तमान समाज-रचना पर असंतोष प्रकट करते हुए विनोबाजी का कहना है कि आज की समाज-रचना देश की बढ़ती हुई आबादी को एक युक्तिसंगत समाधान नहीं है। एक ओर अपार संपत्ति के अंबारों को एकत्रित करके सुखभोगों व विलासिताओं की भरमार होती हैं तो दूसरी ओर कहीं भी देखे अभाव ही अभाव दिखाई पड़ते हैं। समाज के अनेक व्यक्ति का अनुभव ऐसा होता है कि दिन भर के कठिन-श्रम के बाद दिनावसान में ज़रा विश्राम करने के लिए अपना कहने योग्य एक स्थान का अभाव है। इस क्रमरहित सामाजिक व्यवस्थिति का खंडन करते हैं श्रीविनोबाजी। उनका कहना है कि "आज की समाज-रचना असहनीय है। हमें यहाँ राम राज्य की स्थापना करनी है ; राजा-प्रजा का राज नहीं ; नेता-जनता का भी राज नहीं, बल्कि राम का राज्य जिसमें शासक भी राम हो, और शासित भी राम हो।" यही इस प्रसंग का तात्पर्य है।

3. "**यही आसा अटक्यों रहै, अलि गुलाब के मूल।**
ह्वैहैं फेरी बसंत ऋतु, इन डारिन वे फूल॥ (पद्यमाला-2

दुनियाँ में ऐसी नीति विद्यमान है कि किसीके अच्छे दिनों में साथ देते हैं और बुरे दिनों के आते ही छोड़ देते हैं। इस कृतघ्नता पूर्ण व्यवहार का खंडन

(शेष पृष्ठ 52 में)

To Conveyance & T. A.	58	132	193	60
To Stationary	256	389	245	93
To Insurance Premium (Fire)	574	574	574	00
To Water charges	367	363	...	
To Repairs	763	363	1,718	10
To Taxes & Licences	268	568	339	35
To Interest	2,555	2,335	...	
To Depreciation	4,516	3,874	3,493	12
To Miscellaneous	522	700	1,234	61
To Journals & Periodicals	98	84	130	60
To Sales Tax Paid	394	1,223	...	
To Gratuity Paid to retrenched workers		4,028	...	
To Gratuity provided for	...	3,500	3,377	50
	62,016	78,283	76,661	61
By Printing charges Revenue	1,23,824	1,16,683	1,65,753	60
By Binding charges Revenue	50,274	43,460	63,646	15
By Blocks	4,510	1,902	1,601	93
By Paper	1,28,779	99,950	1,22,035	93
By Translation charges	277	...	942	48
By Closing stock	18,101	15,135	23,210	65
By Gross loss C/d	...	6,742		...
	3,25,765	2,83,872	3,77,190	79
By Gross Profit or loss	16,551	67.442	64,759	37
By Net loss				
	45,465	78,283	11,902	24

बंगला देश की विजय निश्चित है

श्री अबीदुर्रहमान

[सर्वोदय सम्मेलन, नासिक, में बंगला देश के प्रतिनिधि श्री अबीदुर्रहमान द्वारा किये गये भाषण का कुछ अंश—सं०]

दुनिया के इतिहास में जो आज तक नहीं हुआ, वह बंगाल में हुआ और हो रहा है। हिटलर भी यहूदियों को मारता था, परन्तु इस तरह सारी जाति को साफ़ कर देने की बात तो वह भी नहीं सोच सका। याह्या खाँ बंगालियों को मारकर उनको अल्पसंख्यक बना देना चाहता है। आज़ादी के आंदोलन के दिनों जो जलियांवाला कांड हुआ उसकी भयंकर प्रतिक्रिया सब तरफ़ हुई। रवीन्द्र बाबू ने उसके विरोध में अपनी 'नाइट' की उपाधि त्याग दी और एक कविता लिखी— 'हे भगवान, क्या तुम भी उसीकी मदद करते हो जो ज़ालिम है?' हमारा मन थोड़े समय निराशा से भर सकता है, पर हमें पूर्ण विश्वास है कि अन्त में धर्म की, सत्य की विजय होगी और सूर्य अवश्य निकलेगा।

आज सारा बंगाल रवीन्द्रनाथ का भक्त है। शेख साहब के कमरे में रवि बाबू का बड़ा चित्र सदैव टंगा रहता था। पाक सरकार ने बहुत चेष्टा की कि बंगाली लोग हिन्दू कवि की कविताएँ न पढ़ें। पर उसने जितना ही रवि बाबू के साहित्य पर प्रतिबन्ध लगाया, उतना ही नवयुवकों में रवीन्द्रनाथ के साहित्य को पढ़ने की जिज्ञासा जागृत हुई और वे उनके भक्त बनने चले गये। जो सत्य है, वही शिव और सुन्दर है।

प्रश्न उठ सकता है कि बंगला देश ने 23 साल के बाद अपनी आज़ादी की मांग क्यों उठायी? जब भारत-पाकिस्तान दो राष्ट्र बनाने की चर्चा चली और क्रिप्स मिशन आया, तभी से बंगालियों ने माँग की कि पाकिस्तान के इन दोनों टुकड़ों को एक युनियन के अन्दर स्वतन्त्र राष्ट्र का दर्जा मिलना चाहिए, पर उस समय हमारी बात को दबा दिया गया। जब पाकिस्तान बन गया, तब हमने स्वायत्तता की अपनी माँग बराबर जारी रखी, पर धर्म और एकता के नाम पर सदैव हमारी माँग को कुचला जाता रहा। बंगालियों पर पश्चिमी पाक का प्रभुत्व रहे, इसलिए बंगला भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा नहीं दिया गया। 1948 में जब जिन्ना ढाका आये तो उनके समक्ष भी बंगला और उर्दू दोनों को ही राष्ट्रभाषा बनाने की बात पेश की गयी। पर जब जिन्ना ने केवल उर्दू को ही राष्ट्रभाषा बनाने घोषणा की तो बंगालियों ने 'ना' कर दिया। उससे जिन्ना को बड़ा धक्का लगा और वे बाद में मर गये।

इन 23 वर्षों में, अंग्रेज़ों के ज़माने में भी बंगालियों को जो खाना, कपड़ा, घर मिलता था, उसमें भी बराबर कमी होती गयी जबकि हमारी ही कीमत पर पश्चिमी पाक फलता-फूलता गया। पश्चिमी और पूर्वी पाक की तुलना उस गाय से की जा सकती है जिसका मुँह तो पूर्व में हो और पूँछ पश्चिम में। गाय को खिलाने की जिम्मेदारी तो हमारी रही और दूध पीया पश्चिमी पाकिस्तान ने। हमारे कच्चे माल से, पाट से 200 करोड़ की विदेशी मुद्रा पाकिस्तान को मिलती रही, पर उसका तिहाई भी हम पर खर्च नहीं किया गया। जबकि पश्चिम की आबादी केवल 5 करोड़ है और हमारी साढ़े सात करोड़। व्यापार, उद्योग-धंधा सब उनके हाथ है। कपड़ा पहनने को पश्चिम की मीलों से बनकर आता है। सीमेन्ट भी वहीं से आता है और दाम? पश्चिमी पाकिस्तान से तिगुने दाम पर हमें यह सब खरीदना पड़ता है।

सच पूछिये तो हमें पाकिस्तान में उपनिवेश से भी बदतर दर्जा मिला। अल्पसंख्यकों का बहुमत पर राज चलता रहा, क्योंकि सेना में सबके सब पश्चिमी पाकिस्तानी भरे गये। पश्चिम से 10 प्रतिशत बंगाली होंगे और उनको भी ओहदों पर कभी नहीं रखा गया। सचिवालय में किसी बंगाली को कभी सचिव तक नहीं बनाया गया। वर्षों की निरंतर माँग के बाद अभी याह्या ख़ाँ ने केवल चार व्यक्तियों को सचिव बनाया। उनको भी "अतिरिक्त" की उपाधि दी गयी और उनके लिये जाने के पहले ही सारे महत्वपूर्ण काग़ज़ात विभागों से गायब कर दिये गये। इससे बंगालियों को स्पष्ट हो गया कि पश्चिमी पाक के साथ उनकी ज़िन्दगी असंभव है।

इसपर जब शेख साहब के नेतृत्व में बंगालियों ने 1965 में 6-सूत्री कार्यक्रम दिया तो शेख साहब पर अगरतल्ला षड्यंत्र का मुकद्दमा चलाया गया। उनको काफ़िर और भारत भक्त बताया गया और कहा गया कि पूर्वी-बंगाल को भारत में मिला देने का षड्यंत्र रच रहे हैं। इसपर बंगालियों में स्वायत्तता की माँग और जोर पकड़ती गयी। मुजीब साहब पर कोई मामला सिद्ध न हो सका। इसपर अयूब ने अंधाधुंध अध्यापकों एवं छात्रों को जेल में भरना शुरू कर दिया। मुनीम ख़ाँ के गवर्नर बनने पर उसने बंगालियों पर जो भीषण अत्याचार किये उसने तो लोगों की चेतना को और भी तीव्र कर दिया। 1968 में बंगाल में जो ज्वालामुखी फूटा उसके फलस्वरूप अयूब को सिंहासन छोड़कर भागना पड़ा। 1969 में याह्या ख़ाँ आया। उनके समक्ष भी बंगालियों ने अपनी तीन माँगें स्पष्ट रखीं। बालिग मताधिकार, आम चु एव चवालय स्थान दिया जाना। याह्या ख़ाँ ने सब बातें स्वीकार कीं। चुनाव भी हुए, पर

चुनावों का जो परिणाम आया, वह उनकी कल्पना से भी परे था। पाकिस्तान का प्रधान मंत्री बंगाली बन जाय, यह पाक फौजियों को एकदम स्वीकार न था। आगे जो नाटक चला वह आप सब जानते हैं।

26 मार्च को बंगला देश आज़ाद हो गया है, अब प्रश्न केवल देश से विदेशी सेना को निकालकर बाहर करने का रहा है। इस काम में चाहे जितनी ही देर हो, पर हमारी स्वतंत्रता को अब कोई नहीं छीन सकता। 711 करोड़ बंगाली एक अभेद्य दीवार बनकर खड़े हो गये हैं। अब तक लाखों की आहुति दी जा चुकी हैं, इसलिए अब उनकी आँखों के आँसू सूख चुके हैं, अब उन्हें मरने का कोई डर नहीं रहा है। मरते तो सब है, पर हम ऐसा मरण चाहते हैं जिसको दुनिया याद रखेगी और बंगाली उसके लिए तैयार हैं।

अपने देश से दुश्मन को हटाने के लिए हम तो यही चाहेंगे कि हमें जितनी जल्दी हो सके सब देशों से मान्यता मिले और शस्त्र सहायता भी। हमें ताज्जुब तो नहीं है कि सारा सभ्य संसार, संयुक्त राष्ट्र संघ, जो दुनिया भर में शांति स्थापित करने का दायित्व मानता है, इस मामले में चुप क्यों है? क्या उनके आँख-कान खुले हैं? खुले हैं तो वे क्या कर रहे हैं? क्या हम सबके खाक हो जाने के बाद वे मरहमपट्टी के लिए आयेंगे।

इस सारी परिस्थिति में हमने अब तय कर लिया है कि अत्याधुनिक साधनों के सामने यह लाठियों की सेना बलिदान तो दे सकती है, हर उससे लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता। अतः हमने अब सीधी लड़ाई का तरीका छोड़कर छापामार युद्ध के लिए अपने को तैयार कर लिया है और जिस बंगाली का जहाँ भी जैसे भी बस चलेगा वह पाकिस्तानी सैनिकों को खतम कर देंगे। हमारे देश से पाकिस्तानियों को रत्ती-भर भी सहयोग नहीं मिलेगा। तब फिर पाकिस्तान हमारे देश के विरुद्ध 2000 मील दूर से आकर कब तक फौजी कार्यवाही चलाता रहेगा? इन सबसे वह दीवालिया बनेगा और आर्थिक दृष्टि से बर्बाद हो जायेगा, क्योंकि बंगाल से हम उसको रत्ती-भर भी माल नहीं ले जाने देंगे। दूसरे मानसून आने पर जब हवाई हमलों की संभावना रहेगी, हम दुश्मन को घेरकर अपने ही घर में समाप्त कर देंगे। पाकिस्तानी सैनिक तैरना नहीं जानते जबकि वर्षा के दिनों सारा बंगाल विशाल जलाशय में परिवर्तित हो जाता है। तब उनके लिए सुरक्षा कठिन होगी। दूसरे वे अन्नाभाव से भी भूखों मर जायेंगे, जबकि बंगाली तो फिर भी मछली खाकर भी जैसे तैसे जीवित रह जायेंगे।

इस व्यूह-रचना से हमें आशा है कि जल्दी ही हम कामयाब होंगे। यह सत्य और असत्य की लड़ाई है, जिसमें सत्य की विजय निश्चित है।

*

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. "हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से............."

'कुरु-क्षेत्र' बीसवीं सदी के चतुर्थ दशक में रचित एक विचार प्रधान काव्य है। महाभारत के एक हल्के प्रसंग पर आधारित होते हुए भी प्रति-पाद्य विषय स्वयं स्वतन्त्र है। युद्ध की विभीषिका से मानव जाति चिरकाल से पीड़ित है। इसकी पाशविक गति-विधि ने प्रत्येक युग के भावुक हृदयों को आन्दोलित किया है। स्वार्थलोलुप एवं महत्वाकांक्षी लोगों की अत्याचारपूर्ण मनोवृत्ति को फली-भूत करने के लिये किसी लघु-कारण वश युद्ध की भूमिका येन-केन प्रकारेण तैयार की जाती रही है। मानवसंहार के इस विनाशकारी पक्ष की सार-शून्यता गत दो विश्व युद्ध के भीकर अनुभवों ने स्वयं प्रकट कर दी है। खास कर अणुबम से जर्जरित नागाशाकी एवं हिरोशिमा ने, मानव इतिहास के युद्ध रूपी रक्त चिन्ह को और भी विकराल रूप से उपस्थित किया है। वर्तमान के प्रति सतत सतर्क क्रांतिकारी कवि 'दिनकर' ने सदाबहार इस समस्या का हल ढूँढ़ने का प्रयास प्रस्तुत काव्य द्वारा किया है।

देशाभिमान, राष्ट्रीय अखण्डता, चिरसंचित धरातल की रक्षा आदि बातों में देश के नौजवान आँखें मूँदकर खून की होली खेलने तैयार होते हैं। इतिहास के भूले उन लाखों वीरों के बल पर युगों से स्वार्थलोलुप अग्रणी पुरुष अपना उल्लू सीधा करते आ रहे हैं। इन नरसंहारी दरिन्दों के पेट में व्यक्तिगत स्वार्थ की अग्नि प्रज्वलित रहती है। लाखों का खून पीकर निःसंकोच अपने को देश-लज्जा के रक्षक घोषित कर लेते हैं। अपनी यश, उन्नति के इन भूखों के कारण मानव की अवनति होती है। वियतनाम की रण-भूमि ज्वलंत साक्षी है। स्वतंत्र बंग समर को देश की लज्जा विषय बनाकर विस्तृत बना रहे हैं। सामान्य जनता कभी भी युद्ध करना नहीं चाहती है। तात्पर्य है कि युद्ध की कालाग्नि का जन्म सर्वसाधारण के हृदय में नहीं होता है। वरन् धूर्त नेताओं के वक्र मस्तिष्क में ही होता है।

युद्ध के शुरू होने के पूर्व मानव यही सोचता है कि अत्याचारों को रोकने युद्ध को छोड़कर अन्य सरल उपाय एक भी नहीं क्या? युद्ध ही एक मात्र हल है! मनुष्य-समुदाय युद्ध की विभीषिका से चिरपरिचित है। पश्चिम के विद्वान

ड्यूक आफ़ विलिंगटन ने लिखा—"अगर तुम युद्ध को एक दिन देख लो, तो तुम सर्वशक्ति संपन्न परमात्मा से प्रार्थना करोगे कि भविष्य में मुझे एक घंटे के लिये भी युद्ध न देखना पड़े।"

प्रत्येक युद्ध के पहले सहृदय मनुष्य के दिल में बड़ी द्विधा होती रहती है। विवश होकर ही वह शस्त्र-धारण करता है। अन्यायी व अत्याचारी आगे-पीछे कुछ भी सोचे बग़ैर युद्ध के लिये वातावरण प्रस्तुत करने में कभी हिचकते नहीं। घोरतम हथियार उठाकर नृत्य करने लगते हैं। एक राष्ट्र युद्ध को छेड़कर दूसरे राष्ट्र को उत्पीड़ित करे और दूसरा राष्ट्र भी उस उत्पीड़न का प्रत्युत्तर युद्ध के रूप में देने के लिए मजबूर होता है तो यही परिणाम निकालता है। नृशंसक याह्या खाँ के खूंख्वार सैनिक सोनार बंगभूमि को, बेकसूर इनसानों की लाशों से पाटते जा रहे हैं। ये लोग इतिहास के जाने माने हत्यारों को अपने प्रतिदिवस के कार्यों से लगाते जा रहे हैं। शांतिप्रिय जनता अब यही सोचती है कि क्या युद्ध ही एक मात्र उपचार है? दुनिया का रवैया भी शायद हमारी उपरोक्त धारणा को पुष्ट कराता जा रहा है।

2. "**सामाजिक महत्व के लिये आवश्यक है कि या तो आकर्षित करो या आकर्षित हो। जैसे इस आकर्षण-विधान के बिना अणुओं द्वारा व्यक्त पिण्डों का आविर्भाव नहीं हो सकता वैसे ही मानव-जीवन की विशद अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।**" (चिन्तामणि)

सुप्रसिद्ध निबन्धकार तथा आलोचक श्री रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में विषय का सर्वांगीण विवेचन, विश्लेषण तथा वैज्ञानिक पद्धति का सिद्धांत-स्थापन पाया जाता है। प्रतिपाद्य विषय का कोई भी कोना अछूता नहीं छोड़ते हैं। **Style is the man himself** के मुताबिक उनकी भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व का उद्घाटन करने में समर्थ रहती है। विवेचनात्मक निबन्ध 'श्रद्धा-भक्ति' में श्रद्धा की विशिष्ट और सामान्य दोनों प्रकार की परिभाषाएँ देते हुए श्रद्धा के अवयवों-दैन्य आत्मनिवेदन, महत्व का स्वीकार, लघुत्व का अनुभव—को स्पष्ट किया गया है। श्रद्धा का वैज्ञानिक श्रेणी-निर्धारण भी शुक्लजी ने किया है।

श्रद्धा में पूज्य भाव रहता है तथा प्रेम में एकाधिकार की भावना। श्रद्धा के गुण बुद्धि के कारण प्रेम भावना की एकाधिकार भावना लुप्त होने लगती है। चूंकि श्रद्धा को हम समाज के प्रतिनिधि रूप में व्यक्त करते हैं—इसी कारण भक्त अपने उपास्य पर एकाधिकार न चाहकर उसपर समाज का अधिकार स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार भक्ति का सामाजिक महत्व स्वयं सिद्ध है। समाज में

विशिष्ट-मान, महत्व प्राप्त करने के लिये यह ज़रूरी है कि या तो हम अपने असाधारण गुणों के द्वारा अन्य लोगों को अपनी ओर आकर्षित करें या अन्य किसीके प्रति आकर्षित होकर उसके असाधारण गुण द्वारा प्रेरित सत् कर्मों में अपना सहयोग प्रदान करें। तात्पर्य यह है कि आकर्षण-विधान ही समाज के निर्माण के मूल में ठहरता है। विज्ञान भी तो इस आकर्षण-विधान को स्वीकार करता है। बिखरे हुए अणु परस्पर आर्काषित होकर ही विभिन्न पदार्थ का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार जब तक सद्गुणों के व्यक्ति आर्काषित होकर पारस्परिक संपर्क में नहीं आएँगे, तब तक न तो कोई उपयोगी संगठन ही न बन सकेगा और न मानव समाज का पूर्ण विकास ही संभव हो सकेगा। सारांश यह है कि मानव का विकास केवल समाज में ही रहकर हो सकता है।

3. **"जिस प्रकार सीधा पौधा कालान्तर में असंख्य शाखा-प्रशाखाओं तथा जड़ों के फैलाव से जटिल और दुरूह हो जाता है, उसी प्रकार हमारा जीवन असंख्य कर्तव्यों तथा संबन्धों का केन्द्र होकर पहले जैसा सरल नहीं रह सका है।"**

(गद्य रत्नावली)

बौद्धिक युग की कलात्मक कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा का गद्य अपूर्व काव्य सौष्ठव लेकर निसृत हुआ है। केवल विचार एवं चिंतनों की बहुलता से उनका गद्य दब नहीं गया है। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', 'शृंखला की कड़ियाँ' तथा 'विवेचनात्मक गद्य' इसके ज्वलंत साक्षी हैं। ये सब गद्य साहित्य को नई दिशा प्रदान करनेवाले ग्रन्थ हैं। प्रस्तुत प्रसंग 'घर और बाहर' से लिया गया है। आज का पुरुष प्राचीन काल के सीमित-कर्तव्य क्षेत्र में नहीं रह पाता है। वेदकाल का गृहस्थ भी नहीं है। वह इस मंत्र युग का एक सबसे अधिक उलझनमय मंत्र हो गया है। इधर नारी भी अब केवल रमणी या भार्या नहीं रहीं, वरन् घर के बाहर भी समाज का एक विशेष अंग तथा महत्वपूर्ण नागरिक है, अतः उसका कर्तव्य भी अनेकाकार का हो गया है। प्रत्येक युग की नई मान्यताएँ तथा कर्तव्य निष्ठा नारी के सामने जब उपस्थित होती गयीं तो अपने को उसमें प्रविष्ट करने में नारी ने देरी नहीं की। आज के युग की अनेक आर्थिक परिस्थितियों ने दास-दासियों को इतना सुलभ कर दिया है कि गृहणी एक प्रकार से अपने उत्तरदायित्व से काफ़ी मात्रा में युक्त हो गयी। आज वह परिस्थितियाँ नहीं रह गयी हैं, जिनमें पुरुष का कर्म क्षेत्र केवल घर के बाहर का रह गया हो और नारी का गृह तक ही सीमित कर दिया था। सभ्यता के विकास क्रम में जीवन संबन्धी बहुत जटिलता का आगमन भी स्वाभाविक है। महादेवीजी ने

एक उदाहरण के माध्यम में यहाँ इस तत्व का स्पष्टीकरण करने का सफल प्रयास किया है। जिस तरह छोटा-सा पौधा हिम-ताप-वर्षा से पोषण ग्रहण कर शाखा-प्रशाखाओं में परिणित होकर एक विस्तृत भाग को छाया रहता है उसी भाँति युग के उष:काल में स्त्री-पुरुष का कर्मक्षेत्र सीमित होते हुए भी कालान्तर में जटिल हो गया है। अगणित कर्तव्य उनके सामने आ अड़े हैं। ऐसी दशा में समझौते के माध्यम से अगर गृहस्थ जीवन चलेगा तो वह दोनों के लिये तथा समुदाय के लिये भी श्रेयस्कर सिद्ध होगा। **—श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्ची**

'राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. **"सिर्फ यह इन्तजार करती हूँ कि आपके मुल्क में अक़लीयत का कोई मजलूम हो, तो याद कर लीजिए। इसलिए नहीं कि वह मुसलमान है, इसलिए कि अन्य इनसान हैं।"**

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानीकारों में श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का विशिष्ट स्थान है। आपकी कहानियों में अक्सर अनुभूति के साथ-साथ कला के प्रति अनुराग की अभिव्यक्ति पाते हैं। प्रस्तुत उद्धरण 'अज्ञेय' की कहानी 'शरणदाता' के अन्तिम भाग से दिया गया है। देविंदरलाल के हिन्दू-मुसलमान-दंगे की वजह से अन्ततः शेख अतादुल्लाह के घर के अहाते में एक छोटे से कमरे में शरण लेनी पड़ी जहाँ पर मेजवान (शरणदाता) अतादुल्लाह के जरिए जहर खिलाकर उनका खातमा करने की कोशिश की गयी तो शेख साहब की ही बेटी जैबी की बदौलत वे बच गये और वहाँ से किसी न किसी तरह भागकर दिल्ली पहुँच गये। वे जब डेढ़ महीने के बाद अपने घर का पता लेने दिल्ली रेडियो से अपील करवा रहे थे तब जैबी की एक चिट्ठी उनके नाम मिली जिसमें उपर्युक्त उद्धरण आया।

शेख अतादुल्लाह की रहमदिल बेटी जैबी अपने एक समय के अतिथि देविंदर लाल से निवेदन करती है कि वे अपने देश के अल्पसंख्यक वर्गों (Minority Classes) की कुशलता का ख्याल करें। नेक जैबी यह इसलिए नहीं कह रही है कि वह अल्पसंख्यक वर्ग मुसलमान है बल्कि वह इसलिए चाहती है कि देविंदरलाल आदमी हैं। यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने लायक़ बात यह है कि देविंदरलाल 'आदमी' हैं। आदमी की आदमियत का विकास उसमें निहित स्मृति एवं कल्पना के द्वारा होता है। मानव इन दोनों की बदौलत ही अपने विगत जीवन की सीख के आधार पर अपने भावी जीवन को सँवारने के प्रयत्न में हर हमेशा लग-

रहता है। देविंदरलाल भुक्तभोगी आदमी हैं। दंगे-प्रसाद का क्या परिणाम निकलता है, क्या फल मिलता है, यह चखने का मौका भी उन्हें भरपूर मिला। ऐसी अवस्था में उनसे मेजबान जैबी का यह उम्मीद रखना बिलकुल ठीक है कि वे अल्पसंख्यक वर्गों के पक्ष में रहें और आततायियों से उनका त्राण करते रहें। किन्तु भुक्तभोगी देविंदरलाल, हिन्दू-मुसलिम-दंगे के कटु अनुभव के बाद भी नहीं चेते। उनके अंदर, आदमियत के बदले संवेदन शीलता के बदले, लगता है, प्रतिशोध की भावना ही जाग्रत हुई। इसीलिए पाकीज़ा जैबी से मिली चिट्ठी की छोटी-सी गोली बनाकर उन्होंने बड़ी उपेक्षा के साथ, चुटकी से उड़ा दी। आखिर ये धार्मिक कलह-मज़हबी फूट, कैसे दूर हो—हमेशा हमेशा के लिए!

गत पचास-साठ वर्षों के भारतीय जीवन के भद्दे लक्षणों में अत्यन्त कुत्सित एवं नशाकारी लक्षण मज़हबी दंगे-फसाद हैं। ये दंगे-फसाद अक्सर विना किसी लायक कारण के फूट पड़ते हैं। किन्तु राष्ट्रीय एकता तथा कल्याण के मार्ग पर ये बड़े ही गहरे एवं दूरगामी कुप्रभाव छोड़ते हैं। कई शान्ति-कामी लोगों ने यह अनुमान लगाया था कि भारतवर्ष के स्वतंत्र होते ही ये दर्दनाक दंगे-फसाद अपने आप मिट जाएँगे। किन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि स्वातंत्र्य-प्राप्ति के चौबीस वर्ष बाद भी ये अनुचित एवं असभ्य घटनाएँ हमारे देश में अक्सर हुआ करती हैं। असल में ये धार्मिक कलह अंग्रेजी शासन काल से ही शुरू नहीं हुए जैसे कुछ लोग समझते हैं। भारत के यशस्वी इतिहासकार R. C. Mujmdar ने अपनी पुस्तक "The History and Culture of Indian People" में लिखा है—"It must be frankly admitted that the roots of the cleavage lay deep in the soil and it was already manifest even early in the nineteenth century. The British did not create it; but mearly exploited the patent fact to serve their own interests." अर्थात् यह स्पष्टतः मानना चाहिए कि विभेदन के बीज भारत भूमि की तह में पहले ही से पड़े हुए थे और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही उनके अंकुर दिखाई दिये। अंग्रेज़ लोगों ने यह फूट नहीं पैदा की; किन्तु उन लोगों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के हेतु इस परम सत्य से फायदा उठाया अवश्य।

धार्मिक कलह समाज में द्वेष भावना ही नहीं पैदा करते बल्कि आर्थिक तथा राजनैतिक हानियाँ भी पहुँचाते हैं और समाज के सदस्यों के अंदर एक प्रकार की 'अरक्षा' की भावना पैदा करते हैं। वे समूचे देश की आर्थिक प्रगति में रोड़े अटकाते हैं और देश की साधन-सम्पत्ति को गुमराह करने में कुमक पहुँचाते हैं जबिक के देश प्रगतिशी लकार्यक्रमों के लिए वह अत्यन्त अपेक्षित है।

दंगा-फसाद असल में किसने शुरू किया, यह जानने का प्रयत्न बिलकुल निरस्सार है, बेकार है। यह तो अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जिस किसीने भी दंगा शुरू किया हो, वह (दंगा) न नीतिसंगत है, न सभ्यतापूर्ण है। अतएव यह बिल्कुल अन्यान्य और असभ्य है कि किसी एक पूरे समाज पर इस कुकृत्य अथवा अपराध की जिम्मेवारी थोपी जाए जबकि वह असल में, एक या इने-गिने व्यक्तियों के द्वारा उसके या उनके संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थों की सिद्धि के हेतु संचालित हुआ था। हिन्दू और मुसलमान दोनों समाजों में, सभ्य जीवन के इस सर्व साधारण सत्य का प्रसार किया जाए। तब बहुत संभव है कि समाज के समाज झुंड बाँधकर एक दूसरे पर टूट न पड़ेंगे और बृहत् समाज अर्थात् राष्ट्र के अस्तित्व को खतरे में नहीं डालेंगे।

2. "**अधिकारों की दृष्टि से सब आदमी जन्म से बराबर हैं और सब बराबर रहते हैं।**"

यह श्री भगवानदास केला कृत "लोकराज्य या सच्चा लोकतंत्र" नामक पुस्तक के दूसरे अध्याय से दिया गया है। लोकतंत्र के जन्म और उसके प्रसार एवं विकास का क्रमिक परिचय देते हुए लेखक ने वाल्टैर, डंटन, रूसो जैसे मनीषियों के नेतृत्व में सम्पन्न फ्रांस की राज-क्रान्ति के संदर्भ में प्रस्तुत सन् 1791 की मानवीय अधिकारों की घोषणा में उल्लिखित अधिकारों को उद्धृत किया है जिनमें प्रस्तुत उद्धरण एक है।

मानव के अधिकार के मुख्यतः पाँच पहलू हैं—जैसे वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक। यह सच है कि अधिकारों की दृष्टि से सब आदमी जन्म से बराबर हैं। किन्तु मानव जन्मतः समान नहीं हैं। वे शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक लक्षणों में एक दूसरे से हूबहू मेल नहीं खाते हैं। अब सवाल यह उठता है कि ऐसी असंदिग्ध असमानताओं के बावजूद मानव-मानव के बीच समानता स्थापित करनेवाले सिद्धान्त का कोई हेतुपूर्ण आधार है जो राजनैतिक तथा सामाजिक प्रजातंत्र के सिद्धांत एवं आचरण को उत्प्रेरित करता है? हाँ, मानवीय समता-सिद्धान्त का एक स्वस्थ एवं हेतु संगत आधार अवश्य है। मानव नामक जीव अपने में पूर्ण हैं और इसलिए अपने आप साध्य हैं न कि किसीके साधन। इससे यह साबित होता है कि सभी मानवों को अपने भिन्न-भिन्न गुणों एवं सामर्थ्यों के बावजूद, जीवन-यापन करने तथा जीवन का स्तर ऊँचा करने का समान अधिकार है।

अस्तित्व के लिए संघर्ष करना भौतिक जगत का प्रधान लक्षण है। मानव-लोक में अस्तित्व के लिए इस संघर्ष में कुछ अधिक विशिष्टता आ जाती है अर्थात् यहाँ स्वातंत्र्य-प्राप्ति की कांक्षा से यह संघर्ष संचालित होता है और प्रवर्द्धमान ज्ञान के सहारे आदमी अपने स्वातंत्र-यान्वेषण में सफल होता है। सभी मानव स्वातंत्र्य-प्राप्ति की प्रेरणा एक समान ही अनुभव नहीं करते हैं बल्कि उसे प्राप्त करने की सामर्थ्य भी एक समान रखते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी मानव थोड़ा-बहुत मानवीय मूल्य रखते हैं। मानव लोग 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' (Straggle for existence) के प्रयास में, सफल होने एक दूसरे के नज़दीक आए होंगे और समाज में व्यवस्थित हुए होंगे। समाज के इस जीवन-क्रम को यदि दृष्टि में रखें, तो ज्ञात होगा कि समाज के प्रत्येक सदस्य को समान स्वातंत्र्य का अधिकार है अर्थात् जीने का अधिकार, अपनी शक्ति-सामर्थ्य की वृद्धि करने का अधिकार, समान रूप से प्रत्येक को है। इतना होते हुए भी वैयक्तिक प्रतिभा सब लोगों की एक-सी नहीं होती। इस कारण यह अवश्यंभावी होता है कि सामाजिक राजनैतिक तथा आर्थिक असमानता थोड़ी-बहुत मात्रा में जारी रहे।

सामाजिक समानता का अर्थ है ओहदे की समानता (Equality of Status) जाति, धर्म, वर्ग, लिंग या स्थान को दृष्टि में रखकर ऊँच-नीच का भेद न बतरा जाए। किन्तु रविबाबू जैसे कवि; रामन जैसे वैज्ञानिक को निस्संदेह ऊँचा स्थान दिया जाता है और ज्यादा मान दिया जाता है। असल में ऐसे व्यक्तियों को जो विशिष्ट मान दिया जाता है उसके कारण दूसरे व्यक्तियों के अधिकार न छिने जाते हैं, न उन अधिकारों का सीमोल्लंघन किया जाता है। इसके विपरीत, वास्तविक प्रतिभा की लोकप्रिय मान्यता समाज के लिए स्वास्थ्यप्रद है, लाभप्रद है। ऐसे संदर्भों में सामाजिक असमानता मूलगत मानवीय समता से बिलकुल मेल खाती है।

राजनैतिक समता के लिए राजनैतिक शक्ति का भरपूर विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। क्योंकि तानाशाही किसी प्रकार की क्यों न हो, अन्यन्त हानिकारक है और राजनैतिक समता के बिल्कुल विपरीत बढ़ती है। लेकिन फिर भी, आदर्श लोकतंत्र में भी, वैयक्तिक प्रतिभा की विशिष्टता के कारण, थोड़ी-बहुत राजनैतिक असमानता के लिए गुंजाइश बेशक रहती।

आर्थिक दिशा में समता की अपेक्षा सब से ज्यादा रखी जाती है। पिछड़े हुए अथवा न्यूनोन्नत देशों में आर्थिक समानता लाना लोहे के चने चबाने के बराबर है। यहाँ भी इतना ही कहा जा सकता है कि सभी मानवों को जीवन-यापन करने का समान अधिकार हैं; लाभप्रद धंधे करने का अधिकार सब लोगों

को समान रूप से है। इसका मतलब यह नहीं है कि सब लोग एक जैसी आय ही पाएँ।

मानवीय अधिकारों में सर्वोच्च स्थान पानेवाला अधिकार है सांस्कृतिक अधिकार। अन्ततः सांस्कृतिक अधिकार मानव की अन्यान्य दिशाओं में पाई जानेवाली असमानताओं को दूर करने की सामर्थ्य रखता है। जनता में शिक्षा एवं ज्ञान के सम्यक् प्रसार के द्वारा तथा स्वावलंबन एवं पारस्परिक सहयोग के द्वारा सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक वैयक्तिक आदि सभी क्षेत्रों की अवरोधात्मक असमानताएँ विनष्ट हो जाएँगी। अतएव समस्त समाज की शिक्षा एवं संस्कृति के उत्थान की बदौलत मानवीय समानता की स्थापना निस्संदेह हो जाएगी और मानव-मानव के बीच चिरस्थाई सौरभमय रेशमी तंतु आबद्ध रहेगा।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा विशारद—उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. ऊधो मन नाहिं दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम संग, को अवराधौ ईस।
इंद्री सिथिल भई केसव बिनु, ज्यौं देही बिनु सीस।
आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहिं कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के, सकल जोग के ईस।
सूर हमारै नंद-नंदन बिनु, और नहीं जगदीस॥

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 127)

सूरदास विट्ठल नाथ जी द्वारा स्थापित अष्टछाप के अग्रणी भक्त कवि थे। उनकी काव्य वीणा का मधुर स्वर अनुपम है। सूरदासजी की सर्वसम्मत प्रामाणिक रचना सूरसागर है। 'भ्रमरगीत' सूरसागर का सब से मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्य-पूर्ण अंश है जिसमें भोली-भाली ग्वालिनियों की वचन-वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है।

उद्धव कृष्ण प्रेम में मग्न गोपिकाओं को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाने व्रज में आ पहुँचे। गोपियाँ ध्यान से प्रिय का सन्देश सुनने बैठ गयीं। उद्धव ने तो उल्टे उन्हें ज्ञानोपदेश देना आरंभ किया। कुछ देर तक वे अपने अतिथि की अटपटी बातें सुनती रहीं। कारण वे प्रिय के दूत जो ठहरे; परन्तु फिर उन्होंने उनकी जो गत बनाई, उनकी जैसी खिल्ली उड़ाई, उनको जैसे चुप करा दिया, वह आज भी हमारे सामने उनकी चुहल, व्यंजना और तर्क निपुणता को उपस्थित करता है। प्रस्तुत प्रसंग उद्धव से गोपियों के मृदु हृदय के उद्गार हैं।

हे उद्धव, हमारे लिए तो दिल एक ही है। हमारे दस बीस दिल नहीं हैं। एक जो था वह कृष्ण के साथ गया है। अब दिल के बिना ईश्वर की आराधना कैसे हों? प्यारे कृष्ण के बिना हमारी सभी इंद्रियाँ शिथिल हो गयीं। सीस के बिना देही की जैसी स्थिति है वैसी हमारी है। मिलन की आशा के कारण ही हमारे तन में साँस चल रही है यों करोड़ों वर्ष हम जीएँगी। तुम तो श्यामसुन्दर के परम मित्र हो और सारे योग सिद्धान्तों के ज्ञाता भी हो। मगर हमारी मान्यता है कि हमारे नंद नंदन कृष्ण के बिना और जगदीश्वर नहीं है।

गोपियों की भावुकता, वचन वक्रता तथा वाग्विदग्धता का कितना सुन्दर सबूत है प्रस्तुत पद! ग्वालिनियों की आह की ज्वाला, वेदना के आँसू और विदग्धता का कंपन प्रस्तुत प्रसंग में विशेष दर्शनीय है। 'ऊधो मन नाहिं दस बीस' में उद्धव के दिल में चुभनेवाला व्यंग्य बाण छिपा हुआ है! दस बीस दिल हैं तो हम तुम्हारे 'निर्गुण' को यों निराश नहीं करतीं। 'आसा लागि रहति तन स्वासा, जीवहि कोटि बरीस'—इसमें विरह विधुरा, कोमल हृदया ग्वालिनियों का हृदय ही बोल रहा है। विरहिणी केवल आशा के बल पर ही अपने प्राणों की रक्षा कर सकती है। क्योंकि 'गुर्वपि विरहदुःखमाशाबन्धस्साहयति।' 'सूर हमारै नंद-नंदन बिनु और नाहिं जगदीस' में श्रीकृष्ण से गोपियों की अनन्य भक्ति, चरम प्रेमासक्ति तथा उत्कट आस्था और निर्गुण निराकार ब्रह्म पर उनका अविश्वास एवं अनासक्ति की मधुर व्यंजना है। वास्तव में ऊधो और गोपियों का संवाद निर्गुण निराकार ब्रह्म पर उनका अविश्वास एवं अनासक्ति की मधुर व्यंजना है। वास्तव में ऊधो और गोपियों का संवाद निर्गुण और सगुण उपासना का खंडन और मंडन है!

2. **देश-काल के साथ बदलती जैसी जीवित भाषा।**
जन के साथ बदलती चलती 'सुन्दर' की परिभाषा॥
नहीं एक-से कोई दो जन, यही भिन्नता भूषण।
फिर विचार-भिन्नता भला क्यों हो सकती है दूषण? (कोणार्क—पृष्ठ 45)

श्री रामेश्वर दयाल दुबे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सुमधुर गायक हैं। प्राचीन के प्रति पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह उनकी काव्यगत विशेषताएँ हैं। श्री दुबे जी ने 'कोणार्क' में अपनी प्रतिभा से अतीत की दुर्भेद्य तहों में दबी संस्कृति का उद्धार किया है। कोणार्क के सूर्य मंदिर की कला अप्रतिम एवं अद्भुत है। इस परम रमणीय मंदिर में तांत्रिक कलाकार ने ऐसी मूर्ति बनायी जिसमें शीलहीन उद्दाम काम का चित्र आंका गया था। जन-जन ने उसे धिक्कारा।

शिल्पियों में भी उग्र विरोध हुआ। प्रस्तुत प्रसंग में महा शिल्पी विशु ने लोगों की विचार-भिन्नता पर प्रकाश डाला है।

जिस प्रकार जीवित भाषा देश काल के साथ बदलती है उसी प्रकार 'सुन्दर' की परिभाषा भी जन के साथ बदलती चलती है। दो व्यक्ति एक-से नहीं हैं। उनमें भिन्नता है। यही भिन्नता भूषण है। अत: विचार-भिन्नता कभी दूषण नहीं, बल्कि भूषण ही सिद्ध होती है।

भाषा परिवर्तन शील है। जो भाषा देना ही जानती है लेना कुछ नहीं, ऐसी भाषाओं का प्रचार और प्रसार सीमित क्षेत्र में ही हो जाता है। देश काल के साथ बदलना जीवित भाषा का लक्षण है। 'सुन्दर' की परिभाषा देश काल के साथ बदलती है। एक ही देश के सौन्दर्य बोध में युग विशेष के कारण अंतर हो सकता है। युग जीवन के विशाल परिपार्श्व में ही हमारा सौन्दर्य बोध विकसित होता है और उसपर युग के जीवन दर्शन और युग की आशा-आकांक्षाओं की छाप अवश्य लग जाती है। जनता की रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। अत: महाकवि कालिदास ने बिलकुल ठीक ही लिखा था—'भिन्नरुचिर्हि लोक:।' महाशिल्पी विशु की उदारता, वाक् पटुता एवं सूक्ष्म निरीक्षण पटुता प्रस्तुत प्रसंग में विशेष दर्शनीय है।

3. **अगर किसी का हृदय-परिवर्तन करना हो, तो डाँट-डपट, धमकाने, कानून बनाने से क्या ह ़गा? उसके लिए तो हृदय में बैठे हुए परमेश्वर को ही जगाना चाहिए।** (जुआ पृष्ठ 47)

श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका है। 'जुआ' प्रथम नाटक है। विवाहित पुरुष के प्रेम संबंध और सपत्नी विवाह की समस्या इस नाटक की नींव है। डा० वसंतराव से ब्रह्मदेश से लौटी हुई एक शरणार्थी कुमारी ऊषा की आँखें चार हुईं। लेकिन पहले ही डा० वसंतराव ने किशोरी से विधिवत् विवाह कर लिया था। अतएव इस अभिशप्त तथा अवांछित प्रेम से दोनों को सतर्क करने का प्रयत्न किशोरी के हितैषियों ने किया। किशोरी की छोटी बहिन बेबी की राय में डा० वसंतराव और ऊशा को समझाने-बुझाने से कोई फायदा नहीं होता। क्योंकि लातों के भूत बातों से थोडे ही मानते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इन्दिराबाई हृदय परिवर्तन के तरीकों पर अपना विचार व्यक्त करती हैं।

किसीका हृदय-परिवर्तन करना सरल कार्य नहीं है। डाँट-डपट तथा धमकी से हृदय परिवर्तन करना कभी संभव नहीं है। क्योंकि डाँट-डपट और धमकी से मनुष्य के कोमल भावों का हनन होता है। उसके स्थान पर क्रोध, घृणा,

प्रतिकार-वांछा आदि पैदा होती हैं। कानून बनाने से भी व्यक्ति की चित्तवृत्ति में वांछित परिवर्तन करना मुश्किल है। जब एक व्यक्ति को यह बात ज्ञात होती है कि कानून से अपने अधिकारों और सुखों की प्राप्ति संभव है तभी वह कानून का अनुसरण करेगा। नहीं तो वह कानून का उल्लंघन करने में कभी आगा-पीछा नहीं करेगा। किसी का हृदय परिवर्तन करने के लिए हृदय में बैठे हुए परमेश्वर को ही जगाना चाहिए। सब लोगों के चित्त में परमेश्वर वास करता है। मनुष्य के दिल में छिपी हुई अच्छाइयों को जगावें तो हम किसी का हृदय परिवर्तन आसानी से कर सकते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में इन्दिराबाई का मृदु मातृ हृदय ही बोल रहा है। इन्दिराबाई के महिमामय व्यक्तित्व की एक झलक हमें इस प्रसंग से उपलब्ध होती है।

4. **मुझे ईश्वर से ही पूछना है, उसका प्रतिनिधित्व अधिक कौन कर सकता है, निर्माण करनेवाला कलाकार या विनाश करनेवाला सम्राट!** (सूर्योदय—पृष्ठ 17)

'सूर्योदय' श्री कमलवर्माजी का एक प्रसिद्ध एकांकी है। प्रसिद्ध कलाकार शशांक ने अपने साथी जलधर के साथ अभी वीणा बजायी थी। वीणा वादन के बाद आचार्य ने अलौकिक आनन्द और शान्ति में तन्मय होकर अपने साथी जलधर से कला एवं कलाकार के महत्व पर कुछ देर तर्क चर्चा की। इतने में सामंत चन्द्रसेन वहाँ आ पहुँचा। उसने शशांक से बताया कि आज से आप राजसभा के रत्नों में से एक निर्वाचित किये गये हैं। लेकिन आचार्य ने राजसभा का रत्न बनना अपना अपमान समझा। अतः उन्होंने राजाज्ञा की अवहेलना की। सामंत चन्द्रसेन ने शशांक को समझाने की कोशिश की। लेकिन निर्भीक तरुण कलाकार शशांक अपनी कला की रक्षा के लिए मृत्यु का आलिंगन करने के लिए भी तैयार था। प्रस्तुत प्रसंग जलधर से आचार्य शशांक का कथन है।

पृथ्वी पर कलाकार ईश्वर का रचनात्मक प्रतिनिधि है। कला की साधना तो ईश्वरत्व की चरम आराधना है। ईश्वर के निर्माण किये विश्व का पुनर्निर्माण करने का भार कलाकार पर निर्भर है। संसार के राजा-महाराजा ईश्वर के जघन्य प्रतिद्वन्द्वी होते हैं। अतः सम्राटों के चरणों पर चढ़ाई सारी भेंट मनुष्य की अपनी उपहासास्पद दुर्बलता का ही द्योतक है। ईश्वर के जघन्य प्रतिद्वन्द्वी सम्राटों को अपदस्थ कर मानवता को वास्तविक ईश्वर-दर्शन के मार्ग पर खींच लानेवाला कलाकार असल में संसार में ईश्वर का रचनात्मक प्रतिनिधि है। अतएव आचार्य शशांक खुद ईश्वर से पूछते हैं कि ईश्वर का अपना

प्रतिनिधित्व अधिक और कौन कर सकता है, निर्माण करनेवाला कलाकार या विनाश करनवाला सम्राट

आचार्य शशांक की निर्भीक वाणी उसके महिमामय व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने योग्य है। आचार्य जी के मुँह से समर्थ एकांकीकार ने कला की दिव्य शक्ति एवं महत्ता की झांकी दिखायी है।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

1. **"कुल तिलक और पुरुषों की कीर्ति उज्वल करनेवालों में ऐसे कितने धर्म-परायण मनुष्य हैं, जो धर्म पर अपना सब कुछ अर्पण कर सके!"** (गद्य कुसुम-2)

हिन्दी साहित्य के उपन्यास सम्राट श्री प्रेमचंदजी की कुशल तूलिका की एक विशिष्ट रोचक रचना है "नमक का दारोगा।" सामाजिक और राजनैतिक कुरीतियों से समाज की सामान्य जनता के जीवन में होनेवाले आघातों को प्रत्यक्ष और स्पष्टता से चित्रित करने में प्रेमचंदजी सिद्धहस्त माने जाते हैं।

एक शिक्षित व्यक्ति की कर्म-परायणता तथा उससे उद्भूत कटु अनुभवों का बर्णन करते हुए लेखक उस ज़माने के राजनैतिक वातावरण का हमें परिचय कराते हैं।

मुंशी वंशीधर को नमक का दारोगा के पद पर नियुक्त किया गया है। अपने कर्तव्य पर अटल रहकर कार्य-निर्वहण करनेवाला एक कर्मठ कर्मचारी था मुंशी वंशीधर। सत्य और न्याय को सिद्धांत मानकर वंशीधर अपना दारोगा का कार्य संभाल रहा था। वह रिश्वत को सरकारी जीवन का एक अभिशाप समझता था।

समाज के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति आलोपीदीन चोर-बाज़ार के व्यवसायी थे जिसका सब लोग सम्मान के साथ आदर करते थे। एक बार वंशीधर ने आलोपीदीन को चोर-बाज़ारी के माल सहित गिरफ़्तार कर लिया। उसके चंगुल से अपने को मुक्त कराने और अपनी ईमानदारी को पुन: प्रतिष्ठित करने के लिए आलोपीदीन ने दारोगा वंशीधर को रिश्वत के प्रलोभन से अपने वश में लाने का प्रयत्न किया। पर उस कर्मनिष्ठ कर्मचारी के सामने आलोपीदीन की अपार संपत्ति फीकी पड़ गयी। आलोपीदीन को आदालत में पेश किया गया। न्याय और धर्म का द्वंद्व-युद्ध शुरू हुआ। न्यायालय में धन ने धर्म को परास्त कर दिया—

आलोपीदीन की जीत हुई; दारोगा वंशीधर की हार हो गयी। वंशीधर को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। वह लज्जा और व्यथा के मारे अपना-सा मुँह लेकर घर लौट गया। घर में भी उसका सुस्वागत नहीं हुआ। गरीबी के चुल्हे में जलनेवाले माता-पिता तथा पत्नी भी वंशीधर पर नाराज़ हो गये। क्योंकि वह उनका एक मात्र सहारा था जिससे आज वंचित हो गये।

लेकिन आलोपीदीन के मन में एक अपूर्व परिवर्तन अवश्य हुआ जिसने सोचा था कि धन-संपत्ति के बल पर एक राष्ट्र की शासनप्रणाली को भी अपनी मुट्ठी में फँसा सकता है। आलोपीदीन का हृदय कुंठित हो गया। न्याय से अपनी जीत तो अवश्य हुई, पर त्याग के सामने उसने अपने को बंदी समझा था। वह उस उपेक्षित कर्मठ दारोगा के पीछे दौड़ा। उस कर्म-परायण व्यक्ति को अपनाने की प्रबल इच्छा उसके मन में हुई। आलोपीदीन वंशीधर के घर पहुँचा। उनको देखकर वंशीधर के पिता ने अनुनय-विनय की और दुखित होकर कहने लगा कि "ईश्वर मुझे निस्संतान चाहे रखे, पर ऐसी संतान न दे!" उस समय आलोपीदीन उसे रोककर उस दुखी पिता को दिलासा देने लगता है। उपरोक्त प्रसंग उसी समय का, आलोपीदीन का वक्तव्य है।

2. **"लोकप्रियता का मार्ग बड़ा कठिन है मंत्रिवर! इसमें फ़िसलन है, कीचड़ है और गढ़े हैं। कर्तव्य को ही अपना पथ-प्रदर्शक बनाकर चलना पड़ता है।"** (जय-पराजय)

श्री उपेन्द्रनाथ "अश्क" जी हिन्दी साहित्य के एक सफल कलाकार माने जाते हैं। समय की गतिविधियों की चर्चा करने में "अश्क" जी की प्रगल्भता अपार है। केवल नाटककार के रूप में ही नहीं, सफल कहानीकार की हैसियत से भी "अश्क" जी ख्यति प्राप्त हैं।

जय-पराजय नाटक श्री "अश्क" जी का एक सफल प्रयास है। इतिवृत्त ऐतिहासिक होने पर भी खंडित भारत के शासकों की विगत विषम घटनाओं को नाटक-रूप में प्रस्तुत करके लेखक एक अखंड भारत की आवश्यकता का प्रबल समर्थन हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

जय-पराजय नाटक में मेवाड और मंडोवर के राज-वंशों के माध्यम से खंडित देशों के आपस की लड़ाई और उसके दुष्परिणामों का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में लेखक ने एक जनप्रिय नेता की कठिनाइयों और कर्तव्यों पर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया है।

मेवाड़ के राजा लक्षसिंह का ज्येष्ठ पुत्र है चंड और द्वितीय पुत्र है कुमार राघव देव। राजा लक्षसिंह ने चंड को युवराजा के पद पर आसीन कराया है। दोनों भाइयों की देखरेख में राज्य की शासन-व्यवस्था सुचारु रूप से चल रही है। कुमार राघव देव जनता के प्रिय नेता बन गये थे। कुमार राज्य की सारी प्रजा को अपने कुटुंबी ही मानते थे। लोगों की शिकायतों पर विचार करके ठीक व्यवस्था कायम करने में वे तुले रहते थे। इसलिए वे अति लोक-प्रिय बन गये थे।

मेवाड़ के मंत्रिमंडल की बैठक बुलाई गयी। देश की आर्थिक स्थिति पर विचार करने के लिए कुमार राघवदेव को बुलावा भेजा था। मगर कुमार को और एक समारोह में शामिल होने का कार्य था। मेवाड़ की प्रसिद्ध गायिका भारमली के संगीत का एक समारंभ था। उसके संगठकों के आग्रहपूर्ण अनुरोधन से कुमार को उसमें भाग लेना पड़ा। लोगों के हित के विरुद्ध चलना एक जन प्रिय-नेता के लिए असंगत कार्य माना जाता है। अत: कुमार को मंत्रिमंडल की बैठक में पहुँचने में देरी हो गयी। इसपर मंत्री के प्रश्न का उत्तर देते हुए कुमार का कथन है उपरोक्त प्रसंग। सारांश है कि स्नेह और प्रेम के वास्तविक महत्व को पाने के लिए कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हें लांघकर जानेवाला ही वास्तव में जन-प्रिय-नेता कहने योग्य होता है।

—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास

गांधी हिन्दी दर्शन

उत्तर-दक्षिण की एकता के लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य है

आपमें से बहुत-से लोग जानते होंगे कि स्व. आदरणीय स्वामी श्रद्धानन्दजी के एक शिष्य ने यहाँ हिन्दी प्रचार कार्य शुरू किया है। जो लोग हिन्दी सीखना चाहते हैं, उन्हें वह हिन्दी सिखायेंगे। मैं आप सबसे, ख़ास तौर पर विद्यार्थियों से प्रार्थना करता हूँ कि आप यह भाषा सीखें। इस भाषा के अध्ययन के बारे में मैं और जगह दिये गये अपने भाषणों में ज़िक्र कर चुका हूँ और कुछ लेख भी लिख चुका हूँ। यदि अब भी आप कुछ और जानने के लिए इच्छुक हों, तो मैं आपसे कुछ शब्द और कहूँगा।

यदि आप समूचे भारत की सेवा करना चाहते हैं, यदि आप इस विशाल देश के उत्तर और दक्षिण भागों में एकता स्थापित करना चाहते हैं, तो आपके लिए हिन्दी सीखना अनिवार्य है। (मंगलूर की सभा में ता. 26-10-1927 को दिये गये भाषण से)

हिन्दी से ही प्रान्तीय भाषाओं का विकास संभव

मैं बड़ी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब कि भारत की भगिनी भाषाओं के बीच चल रही इस हानिकारक स्पर्धा का पूरी तरह अन्त होगा। जिस तरह एक भाई अपनी अनेक बहनों को एक-सा लाड-प्यार देता है, उसी तरह हम इन सभी भाषाओं को लाड़-प्यार क्यों नहीं देते?

इस हानिकारक स्पर्धा का परिणाम यह हो रहा है कि हम अपनी मातृभाषा को भूलते जा रहे हैं और अन्य भाषाओं से ईर्ष्या करते हैं तथा बड़ी आसानी से इस बात में विश्वास कर लेते हैं कि अंग्रेज़ी भारत की आम भाषा का स्थान ले लेगी, यहाँ तक की मातृभाषा का भी।

मैं इसे मातृभूमि की दुहिता भाषा के प्रति प्रेम का अभाव मानता हूँ और विदेशी भाषा के प्रति अस्वस्थ प्रेम मानता हूँ। यह बात नहीं कि मैं अंग्रेज़ी से घृणा करता हूँ। लेकिन यह बात ज़रूर है कि मैं हिन्दी से अधिक प्रेम करता हूँ। यही कारण है कि मैं भारत के शिक्षित वर्ग के लोगों से हिन्दी को अपनी आम भाषा बनाने के लिए निवेदन कर रहा हूँ। हिन्दी के माध्यम से ही हम दूसरे प्रान्तों से संपर्क स्थापित कर सकते हैं और अन्य प्रान्तीय भाषाओं का विकास कर सकते हैं, एक विदेशी भाषा के ज़रिये नहीं। भाषाओं के बीच स्पर्धा के संबंध में मेरी कही गयी बात संकीर्ण प्रान्तीयता की भावना पर भी लागू होती है।

(छत्रपुर में ता. 15-12-1927 को दिये गये भाषण से)

देशरत्न राजेन्द्र बाबू

[भारत के प्रथम राष्ट्रपति, सभा के दीर्घकालीन अध्यक्ष, भारतीय प्रजातंत्र के प्रमुख शिल्पी बाबू राजेन्द्र प्रसाद की 88 वीं जयन्ती इस महीने 3 तारीख़ को है। उस सच्चे गांधीवादी, सेवाव्रती महान नेता के प्रति उनके समकालीन महापुरुषों के उद्‌गारों को इधर श्रद्धांजलि-स्वरूप हम अब याद कर रहे हैं। —संपादक]

"राजेन्द्र बाबू ने प्रेम से मुझे ऐसा अपंग बना लिया था कि उसके बिना मैं एक क़दम भी आगे न रख सकता था। ...कम से कम यह एक व्यक्ति तो ऐसा है, जिसे मैं ज़हर का प्याला दूँ और वह निस्संकोच पी जाए।" —महात्मा गांधी

"देखने में एक किसान के समान, बिहार भूमि के सच्चे सुपुत्र राजेन्द्र बाबू का व्यक्तित्व, जब तक कि कोई उनकी तेज़ और निष्कपट आँखों तथा गंभीर मुखमुद्रा पर गौर न करे, शुरू-शुरू में देखने पर कुछ प्रतिभाशाली नहीं मालूम पड़ता। वह मुद्रा और वे आँखें भुलायी नहीं जा सकतीं; क्योंकि उनमें होकर सचाई आपकी ओर झाँकती है और आप उनपर संदेह नहीं कर सकते। उनकी ज्वलंत योग्यता, उनकी शुद्ध निष्कपटता, उनकी लगन ने उन्हें सारे भारत का प्रेमपात्र बना दिया है।"

—पंडित जवाहरलाल नेहरू

"बहुत समय पहले से, सन् 1920 से मेरा पक्का मत रहा है और मैं अपने आपसी मित्रों से कहता आया हूँ कि राजेन्द्र बाबू निस्संदेह भारत के प्रथम भद्र पुरुष हैं। सन् 1950 में वह भारत के प्रथम भद्र पुरुष बने और सार्वजनिक रूप में उन्हें उस पद पर स्वीकार किया गया।

देशप्रेम की लगन तथा बौद्धिक उपलब्धि में वह भारत में किसीसे कम न थे, बल्कि चरित्र की दृष्टि से तो वह हम बहुतों से कहीं ऊँचे थे। विनम्रता में वह सारे देश के लिए एक मिसाल थे।..." —चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

"हमारे प्रथम राष्ट्रपति एक आदर्श पुरुष थे। सबके प्रति दयालु और उनका उदाहरण इस देश के लोगों के द्वारा चिर काल तक पोषित किया जाएगा।

— सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्

"... राजेन्द्र बाबू एक अठपहलू हीरा थे। उनका यह मत था कि हिन्दी प्रेम से ही बढ़ेगी; द्वेष से या अन्य भाषाओं को दबाने से नहीं। हिन्दी के प्रति हमें पूरी तरह खींचने का उनका रास्ता प्रेम का था। ...यदि हम राजेन्द्र बाबू के जीवन से कुछ सीखना चाहते हैं, तो भाषा के विषय में उनके विचारों का अवश्य स्मरण करते रहें। यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी। —ज़ाकिर हुसैन

[आभार: जीवन साहित्य (राजेन्द्र-संस्मरण-अंक: जुलाई-अगस्त, 1963), सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली]

राजाजी तिरानबे

श्री मोटूरी सत्यनारायण
(भूतपूर्व प्रधान मंत्री, द. भा. हिन्दी प्रचार सभा)

1927 में मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। देश के अन्यान्य प्रान्तों से हज़ारों की तादाद में प्रतिनिधियों और दर्शकों के मद्रास पहुँचने के कारण कांग्रेस का राष्ट्रीय स्वरूप ही उभर नहीं आया, बल्कि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता का भी अत्यधिक अनुभव हुआ। 1928 में हिन्दी प्रचार कार्य को दक्षिण में आगे बढ़ाने के लिए योजनाएँ बनने लगीं और उन्हें कार्यान्वित करने के लिए धन की आवश्यकता थी। महात्माजी का सिद्धान्त था कि इस कार्य के लिए आवश्यक धन दक्षिण भारत से ही इकट्ठा होना चाहिए स्वर्गीय पूज्य जमनालालजी ने दक्षिण भारत में घूमने और धन इकट्ठा करने का भार अपने ऊपर ले लिया। पूज्य राजाजी तथा जमनालालजी ने धन-संग्रह के लिए करीब डेढ़ महीने तक दक्षिण भारत में भ्रमण किया। काफ़ी मात्रा में धन इकट्ठा होने के बाद जमनालालजी ने निश्चय किया कि हिन्दी प्रचार का सारा भार राजाजी के कंधों पर रखा जाना चाहिए। तदनुसार दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के राजाजी पहली बार निदेशक बने। उस समय से लेकर क़रीब दस साल अर्थात् 1938 तक हिन्दी प्रचार सभा की वृद्धि तथा समृद्धि में राजाजी का अमूल्य योगदान रहा। अगर यह योगदान नहीं रहता, तो सभा की गति-विधियाँ कुछ और ही होतीं।

वास्तव में सभा पर महात्माजी का वरद हस्त था तो सही; लेकिन कहा तो यही जाना चाहिए कि हिन्दी प्रचार सभा को पितृवत् राजाजी ने सम्हाला। जब-जब धन की आवश्यकता होती थी या कार्यकर्ताओं के बीच में कोई संघर्ष होता था या कोई पेचीदा मामला होता था या किसी स्थान या व्यक्ति की मदद की आवश्यकता पड़ती थी, तो राजाजी का आश्रय मिल जाता था।

नमक सत्याग्रह के समय सभा का कोष बिलकुल खाली हो गया था। श्री जमनालालजी ने राजाजी के आश्वासन पर भरपूर मदद दी। हिन्दी प्रचार प्रेस की वर्तमान वृद्धि और खुशहाली की बुनियाद में यह मदद पड़ी हुई है। 1934 में कार्यकर्ताओं को वेतन देने के लिए भी सभा के पास पैसा नहीं था। कितने ही अपने धनी, मान्य मित्रों को लिखकर पैसा माँगाकर दिया और सभा को बचाया। 1936 में सभा के भवन-निर्माण के लिए राजाजी ने धन-संचय में काफ़ी हाथ बँटाया। 1937 में राजाजी मद्रास के मुख्य मंत्री बने। सबसे पहले आपने मद्रास के स्कूलों में हिन्दी शिक्षा अनिवार्य बनायी और हिन्दी अध्यापकों को तैयार करने का काम सभा को दिया। सभा ने कोयम्बत्तूर में इसके लिए विशेष विद्यालय चलाया

और सैकड़ों प्रचारकों को तैयार किया और इन हिन्दी प्रचारकों ने स्कूल-कालेजों में जाकर सभा का कार्य बढ़ाया। सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण सहायता यह थी, जिससे सभा का भाग्य खुल गया था, सभी स्कूलों में सभा की पुस्तकों को पाठ्य-पुस्तकों के रूप में लगवाया जिससे सभा के आँगन में चार चांद लग गये। इस तरह इन दस सालों में राजाजी की जो मदद मिलती रही, उससे सभा का पाया मज़बूत हुआ। उसका कार्य व्यापक हुआ, उसका कोष भरता रहा। उसकी आमदनी के ज़रिये निकल आये, लोकप्रियता बढ़ती रही और एक तरह से इन दस-बारह वर्षों में राजाजी की छत्रछाया में सभा एक संपन्न, सुस्थिर तथा यशस्वी संस्था बन गयी और दक्षिण भारत की सभी राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का अड्डा बनी और मूर्तिमान राष्ट्रीयता का पर्यायी बना। दूसरे प्रान्तों से तथा दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से मद्रास पहुँचनेवाले व्यक्ति सभा को एक तीर्थस्थान-सा मानने लगे। हज़ारों की तादाद में उसके संदर्शन के लिए सभा में पहुँचते रहे। राजाजी की इन महान सेवाओं की स्मृति में त्यागरायनगर के निवासियों ने हज़ारों रुपया इकट्ठा किया (याद रहे कि किसी भी दानी से एक रुपये से ज्यादा वसूला नहीं गया) और सभा में उनके पूरी क़द का तैल चित्र बनाकर सभा को भेंट किया। इस तैल चित्र का अनावरण सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर ने किया। इस समय (1941) राजाजी तिरुचिरापल्ली जेल में थे।

निदेशक बन जाने के बाद 15, 16 वर्ष तक राजाजी सभा के निधिपालक रहे। 1946 में सभा की रजत जयंती हुई। इस रजत जयंती की सफलता के लिए राजाजी की अमूल्य सहायता मिली। इस जयंती के सारे वैभव के पीछे महात्माजी का व्यक्तित्व तो था, साथ ही राजाजी का कृतित्व कम नहीं था। मद्रास के गवर्नर तथा उनके सलाहकारों पर राजाजी की बड़ी धाक थी। उन्होंने मद्रास सरकार से तथा धनी-मानी सज्जनों से मदद दिलायी। अगर यह रजत जयंती न मनायी जाती, तो सभा कंगाल हो जाती। इस रजत जयंती के उत्सव के द्वारा सभा की जिस मात्रा में यश बढ़ा, उसी मात्रा में उसका कोष भी भरा। निधिपालक की हैसियत से उन्होंने दूसरों के साथ मिलकर रुपया इकट्ठा किया और करवाया। कुल ढाई लाख ठोस कोष सभा में जमा किया जिसके सहारे सभा ने अगले वर्षों में पच्चीस लाख तक अपनी संपत्ति बढ़ायी।

1947 में राजाजी केन्द्र में मंत्री बने। उसके बाद बंगाल के राज्यपाल बने, तदनन्तर गवर्नर जनरल बने। उस समय भी वे सभा को नहीं भूले और बराबर मदद देते रहे। संयोग की बात है कि राजाजी 1952 में फिर से मद्रास के मुख्य मंत्री बने। उस समय भी राजाजी ने सभा की बड़ी मदद की। अपने शिक्षा मंत्री

श्री एम. वी. कृष्णराव को आदेश दिया कि सभा की भरसक मदद करें। उन्होंने राजाजी के आज्ञानुसार मद्रास राज्य के सभी स्कूलों में सभा की पुस्तकें लगवायीं। पुस्तकों की बिक्री जो सालाना तीन लाख की थी, वह सात लाख तक पहुंची। फलतः प्रेस, परीक्षा विभाग तथा प्रकाशन विभाग के कार्य आशातीत मात्रा में बढ़ गये। राजाजी की इन अमूल्य सेवाओं के स्मरण में अपनी कृतज्ञता के प्रतीक के तौर पर सभा ने एक बहुत बड़ा छात्रावास उनके नाम पर बनाया और मद्रास राज्य के मुख्य न्यायाधीश श्री पी. वी. राजमन्नार के द्वारा नामकरण तथा उद्घाटन करवाया। छात्रावास का यह भव्य भवन आज त्यागरायनगर की शोभा बढ़ा रहा है।

1955 में भारत सरकार के द्वारा नियुक्त राजभाषा-आयोग मद्रास पहुँचा। इस आयोग की नियुक्ति भारत के संविधान के 344 सूत्र के अनुसार—जिसमें यह कहा गया है कि संविधान के अमल में आने के पाँच वर्ष के बाद भारत सरकार एक ऐसा आयोग नियुक्त करेगी जो समूचे देश में घूमकर राजकीय प्रयोजनों के लिए हिन्दी की स्थिति, प्रगति आदि का परिशीलन कर अपनी रिपोर्ट देगी। उसके आधार पर भारतीय संसद हिन्दी के कार्य को आगे बढ़ाने के लिए योजना बनाएगी और सरकार उसपर अमल करेगी। राजाजी ने इस आयोग के सामने जो वक्तव्य दिया उसे सुनकर आयोग चौंका और सारा हिन्दी संसार चौंक गया। उनके वक्तव्य की रेखा उस समय के मद्रास सरकार की रेखा बन गयी। पीछे भारत सरकार ने भी उसका हू-ब-हू अनुकरण किया। इस रेखा का एक मात्र उद्देश्य यही था कि हिन्दी राजभाषा के लिए सक्षम नहीं; सक्षम अंग्रेज़ी को छोड़ना देश के लिए हितकर नहीं। याद रहे कि राजाजी ने अपने वक्तव्य में देश की आवश्यकताओं का मूल्यांकन किया और कहा, एकता को बनाये रखने पर ज़ोर दिया और कहा उस एकता की रक्षा ही सार्वदेशिक भाषा का उद्देश्य होना चाहिए। जिस दूरदर्शिता के साथ राजाजी ने सलाह दी—उसका कहीं-कहीं विरोध भले ही होता हो ; लेकिन उनकी विचार-सरणि आज भी अनुल्लंघनीय मानी जा रही है। अन्यथा अहिन्दी प्रान्तों में नहीं सही, हिन्दी प्रांतों से तो अंग्रेज़ी हट सकती थी। क्यों नहीं हटी ? इसके लिए राजाजी जिम्मेवार कहाँ हैं ? अगर कोई जिम्मेवार है, तो उन राज्यों में हिन्दी की क्षमता के प्रति विश्वास की कमी। यह कमी जब वहाँ दूर होगी, तब अहिन्दी राज्य भी होड़ लगाने में कसर नहीं रखेंगे।

राजाजी ने बारंबार कहा कि वे हिन्दी प्रचार के विरुद्ध नहीं। अगर विरुद्ध हैं तो हिन्दी को राजभाषा के बनाये जाने की जल्दबाज़ी के खिलाफ़। यह मानना पड़ेगा कि संविधान में पन्द्रह वर्ष की कालावधि का विचार करते समय इस

समस्या की गंभीरता तथा महानता पर समुचित विचार नहीं किया गया। जब विचार किया जाने लगा, तब मालूम हुआ कि दो सौ साल की अंग्रेज़ी पन्द्रह साल के अंदर बेकार साबित नहीं हो सकती। पन्द्रह की समयावधि की हिन्दी दो सौ साल की अंग्रेजी की स्थानापन्न नहीं हो सकती है। अंग्रेजी को बनाये रखने के सम्बन्ध में राजाजी की दलील एक चुनौती के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए और हिन्दी को सक्षम बनाने की दिशा में प्रोत्साहन और कार्य करनेवालों के लिए चेतावनी के रूप में उसे समझा जाना चाहिए।

पूज्य राजाजी दूरदर्शी हैं और भविष्य के द्रष्टा भी हैं। उनकी चौरानबी वर्षगाँठ के इस अवसर पर सभी हिन्दी प्रचारकों तथा कार्यकर्ताओं को नतमस्तक होकर ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि पूज्य राजाजी चिरायु रहें।

पाठकों से—श्री सत्यनारायणजी की लेखमाला ('हिन्दी प्रचारकों के सामने एक चुनौती') की तीसरी किश्त अगले अंक में प्रकाशित होगी। —संपादक

राजाजी की साहित्यिक उपलब्धियाँ

श्री रा. वीलिनाथन, मद्रास

साहित्य क्या है ?

इसकी परिभाषा कई तरह से की जाती है। जो स-हित है, याने हितसहित है, साहित्य है। साहित्य समाज का दर्पण है—इस उक्ति को ध्यान में रखकर देखा जाए तो यही परिभाषा खरी उतर सकती है। हित-अहित को पृथक कर दिखाने से दोनों का समावेश साहित्य में होने से साहित्य 'साहित्य' कहलाने का अधिकारी है। समाज की भलाई-बुराई को अपने में 'रिजिस्टर' कर साहित्य समाज का दर्पण बनता है। इन सबके मूल में समाज का हित ही है। समाज न हो तो साहित्य कहाँ ?

पर नव लेखन में अभिरुचि रखनेवाले साहित्य को नया मोड़ देने के प्रयत्न में, साहित्य की नयी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि हित-चिंतन करना ही साहित्य का काम है, तो उसे साहित्य की उपाधि से विभूषित न कीजिये ; समाज-शास्त्र के आसन पर बिठाकर गर्व अनुभव कीजिये।

वे चाहते हैं कि जैसा देखा या अनुभव किया, उसका वैसा ही यथार्थ चित्रण किया जाना चाहिए। अतः आज का साहित्य आदर्शोन्मुख न होकर यथार्थ और यथार्थ-यथार्थ (रियलिज़म और सररियलिज़म) की ओर क़दम बढ़ा रहा है। सिग्मंड फ्रायड़ के सिद्धांतों के अनुसार अपूर्ण इच्छाओं को लिपिबद्ध कर उससे खुश होने का असफल प्रयत्न कर रहा है।

प्राचीन साहित्य 'वाङ्मय' के नाम से विश्रुत हुआ था। याने लोगों की ज़बानी उसका प्रचार होता था। उस समय भी लोगों की जबान पर ऐसी कुछ बातें थिरकती थीं, जिससे क्षणिक आनन्द ज़रूर प्राप्त होता था। पर समाज की उतनी बुराई नहीं होती थी, जितनी आज हो रही है। प्रेमचन्द-जैसे महान लेखक यथार्थवाद को प्रश्रय देते थे। उनका यथार्थवाद आदर्शोन्मुख था ; अधोमुख न था।

समाज के ही आश्रय में जब साहित्य को पनपना है, तो यह कहाँ का न्याय है कि समाज के लिए गड्ढा खोदे ?

भले-बुरे सबका मन ऐसा तटस्थ है कि सबमें भलाई का पलड़ा ही भारी रहता है। चोरी, जुए-जैसे दुर्व्यसनों में पड़नेवाले भी अपनी संतान के लिए वह रास्ता अख्तियार करना नहीं चाहते हैं ; मोरूसी पेशे की दुहाई देकर अपनी पीढ़ी को सिखाना नहीं चाहते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि वह हितकारी नहीं है। अतः समाज को ठीक रास्ते पर चलाने के लिए साहित्य का उत्तरदायित्व अग्रगण्य है।

ऐसे उत्तम साहित्य-सृजन के द्वारा स्वनामधन्य राजाजी विश्व-साहित्य में आदरणीय स्थान पाते हैं। तमिल प्रदेश का यह अहोभाग्य है कि पूज्य राजाजी जैसे महान साहित्यकार मूल रूपेण तमिल को मिले।

इन तिरानवे वर्षों में श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य महान राष्ट्रनायक, हित-अहित के पारदर्शी, विश्वव्यापी राजनीतिज्ञ के साथ महान साहित्यकार के रूप में भी उभर आये हैं। देखकर दिल विस्मय-चकित होता है कि ढेर सारे कार्य-कलापों के बीच वे साहित्य-सृजन के लिए समय कहाँ से निकाल पाते!

समाजसेवी के रूप में श्री राजाजी ने तिरुचेंकोडु में एक आश्रम की स्थापना की और खादी का प्रचार करना शुरू किया। उसके साथ मद्य-निषेध का काम भी हाथ में लिया। उस समय उन्होंने यह अनुभव किया कि अपना सन्देश जन साधारण तक पहुँचाने के लिए लेखनी से बढ़कर उत्तम साधन कोई नहीं है। उन्होंने ऐसा एक लेखक चाहा, जो मातृभाषा में अपने विचार बखूबी व्यक्त कर सके।

उस ज़माने तो लोग अंग्रेजी के पीछे पड़े थे और चिन्तन-मनन भी अंग्रेज़ी ही में करने के आदी थे। विरले लेखक ही ऐसे मिले, जो अबोध जनता तक पहुँच सकें और उसके जीवन में मोड़ दे सकें।

त्रिचिरापल्ली में उस समय स्कूली शिक्षा पा रहे थे स्वर्गीय रा. कृष्णमूर्ति, 'कल्कि'। अपने स्कूली जीवन में ही वे कांग्रेस की छोटी-मोटी प्रचार-सामग्रियाँ बोलचाल की तमिल में लिखकर जनता तक पहुँचाने के कार्य-भार सँभालते थे। श्री राजाजी को त्रिचिरापल्ली के डाक्टर टी. एस. एस. राजन ने उनका नाम सुझाया। डाक्टर राजन कांग्रेस के नामी नेता थे।

राजाजी श्री कल्कि को अपने यहाँ आश्रम में बुला लिया व खादी प्रचार और मद्य-निषेध के वास्ते 'विमोचनम्' नाम की एक पत्रिका चलाना शुरू किया। 'कल्कि' कृष्णमूर्ति उसका संपादन-कार्य संभालने लगे। इससे 'एक पंथ दो काज' हो गया। श्री कल्कि को राजाजी-जैसे महान राजनीति के गुरु मिले और राजाजी को कल्कि-जैसे महान साहित्य के गुरु मिले। दोनों के इस सम्मिलित रूप से तमिल साहित्य के नये युग में चार चाँद लग गये।

राजाजी को तमिल में लिखने का अभ्यास यहीं से प्रारंभ हुआ और कल्कि ने उनकी भाषा-शैली सुधारने-सँवारने में सहयोग दिया। ऐसे प्रत्यक्ष-परोक्ष गुरुओं के संगम से तमिल के साहित्य-जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ।

दिसंबर का यह महीना राजाजी के जन्म दिवस का महीना है। जहाँ वह अपने इस भाग्य पर अठखेलियाँ करता है; वहाँ स्वर्गीय कल्कि की पुण्यस्मृति में ठंडी आहें भी भरता है! काश, इस समय श्री कल्कि जीवंत होते!

साहित्य को सही माने में प्रयोग करनेवाले श्री राजाजी ने 'विमोचनम्' में छोटी-छोटी लघु कथाएँ लिखकर जन-मन को मोड़ देने का अत्यन्त स्तुत्य प्रयास किया है। जीवनद्रष्टा राजाजी स्वभाव से ही मितव्ययी हैं—एक पैसा भी व्यर्थ का ख़र्च नहीं करनेवाले। शब्दों के विषय में भी उन्होंने अपने जीवन को उतारा है। हाँ, सोच-समझकर शब्दों का बड़ी किफ़ायत से प्रयोग करते हैं। नपे-तुले शब्दों में अपना भाव उतारना राजाजी की अपनी खास विशेषता है। जैसे पूज्य महात्मा गांधी सूत्र-रूप में कुछ कह-लिख देते और उसकी व्याख्या में पंडित सुन्दरलाल, काका कालेलकर-जैसे महान आचार्य सारगर्भित भाषण देते, वैसे कई बार स्वर्गीय कल्कि को राजाजी की सूक्तियों व रचनाओं की व्याख्या खुलासा करना पड़ा है। राजाजी-जैसे सूत्रकार भी महात्मा गांधी के लिए तमिलनाडु में व्याख्याकार रहे हैं, सो बात अलग। राजाजी और कल्कि के बीच जो अन्योन्याश्रय संबन्ध था, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

राजाजी तो चतुर्मुखी नहीं, प्रखर, बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति हैं। उन्होंने साहित्य के किसी भी अंग को अछूता न छोड़ा। बीसों ग्रन्थ इसके प्रमाण में हमें मिलते हैं। राजाजी की लेखनी बिना 'पर्पस' (मतलब) के नहीं उठी है। इससे यह समझ लेना नहीं चाहिए कि उनकी रचनओं में प्रचार की बू ज़्यादा आती होगी। प्रचार-साहित्य में भी प्रचार को गौण दिखाने और कला को मुख्य उभारने का काम ही उन्होंने किया है।

राजाजी ने प्राचीन काल के मार्क अरेलियर, साक्रटीस जैसे महान चिन्तकों को तमिलसेवियों के सामने रखा है। श्री शंकराचार्य के भज गोविन्दम्, तिरुवल्लुवर के तिरुक्कुरळ्, नम्माळ्वार के तिरुवाय्मॉळि, वाल्मीकि की रामायण और व्यास के महाभारत को अपनी अनुपम व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है। 'कण्णन काट्टिय वळि' में गीता के उपदेशों का सार-सार निचोड़कर रखते हैं और 'उपनिषद पलकणि' में उपनिषदों की सुन्दर व्याख्या करते हैं।

केमिस्ट्री, बाटनी जैसे शास्त्रों को अंग्रेज़ी में पढ़नेवालों के मन में इस शंका का उठना स्वाभाविक है कि यह सब क्या तमिल में संभव है? राजाजी ने उनकी उस समस्या को संभव कर दिखलाया है। 'तिण्णै रसायनम्' केमिस्ट्री की बातें सामान्य जनता को पढ़ाता है। 'तावरंगळिन् इल्लरम्' वनस्पति-शास्त्र की बात करता है और 'शिशु पालनम्' बच्चों के स्वस्थ पालन-पोषण की सीख देता है। वैद्यकी में तो बी. सी. जी. पर इन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे सारे विश्व पर तहलका मचा चुके हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजाजी साहित्य में असंभव को संभव कर दिखाने में अगुआ रहते हैं। अध्यात्म-जैसे महान गहन विषय से लेकर जीवन के छोटे-मोटे उपयोगी विषयों तक में इनकी पैनी दृष्टि गयी है, लेखनी चली है।

श्री राजाजी ने सैंकड़ों कहानियाँ लिखी हैं। कूनि सुन्दरी, देवानै, तिक्कट्ट पार्वती, जगदीश शास्त्रिगळिन् कनवु जैसी कहानियाँ अत्यन्त समादृत कहानियों में से हैं। 'कर्पनैक् काडु' बालोपयोगी लघु-कथा-संग्रह है, जिसकी थाह में पहुँचकर मोती निकालने के लिए पाठक को बार-बार मनन करना पड़ता है।

आधुनिक युग को ध्यान में रखते हुए राजाजी ने रामायण और महाभारत को सार-सार ग्रहण कर ऐसे अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया है, मानों कोई मौलिक ग्रन्थ रचा हो। भारत की कई भाषाओं में अनूदित होकर ये ग्रन्थ खूब प्रशंसित हुए हैं।

राजाजी ने तमिल में 'अभेदवादम्' नाम से समाजवाद पर अरसे पहले एक पुस्तक लिखी थी। इसके मूल में हम उनकी बहुमुखी प्रतिभा का हाथ देख सकते हैं। समाजवाद से संभावित बुराइयों का ऐसा खाक़ा खींचा है कि समाजवादी आज भी उससे उदाहरण और दृष्टान्त लेकर अपने पक्ष के लिए बल ढूँढ़ते हैं। पूँजीवाद पर उन्होंने ऐसे अकाट्य तर्क पेश किये हैं कि पूँजीवादी उन्हें अपने पक्ष में मानते हैं। वैसे ही उन्होंने हिन्दी के पक्ष में ऐसी दलीलें पेश की हैं कि वे हिन्दी के हिमायती मालूम होते हैं। हिन्दी के विरोध में उनके विचार पढ़कर लोग उन्हें हिन्दी के कट्टर विरोधी मानते हैं। कहने का मतलब है कि अब तक किसीने राजाजी को पूर्ण रूप से नहीं समझा। सच पूछा जाए, तो वे अपनी साहित्यिक रचनाओं द्वारा एक सफल शिक्षक का काम निभा रहे हैं। हर बात की भलाई-बुराई निरपेक्ष भाव से पेश कर, उसके निर्णय का अधिकार समाज पर छोड़ देते हैं। पर उनके स्पष्ट विचारों की गहराई में कोई गोता लगाते, तो उनके मन की जानकर मोती निकाल सकता है और उन मोतियों का हार समाज को पहनाकर आनन्द अनुभव कर सकता है।

श्री राजाजी का कलाकार पुराने ख़्यालात में पलने पर भी आधुनिक और अधुनातन विचार भी रखता है। वालि-वध और नवीन उत्तरकांड नाम के अपने एकांकियों द्वारा वे एक नवीन युगबोधक, क्रांतिकारी मोड़ भी देते हैं।

'उपमा कालिदासस्य' कहनेवाले श्री राजाजी को पढ़ेंगे, तो उनमें एक नवीन कालिदास को पायेंगे। राजाजी के दृष्टान्त (Parables) इतनी मशहूर हैं कि उनकी मौलिकता पर दुनिया मोहित हो जाये!

राजाजी ऐसे व्यंग्यकार हैं कि स्वयं नहीं हँसते, पर दूसरों को हँसाते हैं। वह भी कैसे? ऐसे कि हँसी के थमते-थमते लोग विचार में डूब जावें और भला-बुरा सोचने लगें। राजाजी को 'कार्टूनिस्ट' के रूप में देखनेवाले नाकों पर उंगली रखकर आश्चर्य करते हैं कि इतनी कम लकीरों में वे इतना भाव कैसे उतार पाते हैं!

काव्यदृष्टि न हो, तो कोई सफल साहित्यकार कैसे बन सकता है? कविता के क्षेत्र में भी उनकी लेखनी चली है। तमिलनाडु की सरकार ने मद्यनिषेध मुलतवी कर दिया, तो कुछ ऐसी चुभती कविताएँ लिखीं कि विपक्षी हथियार डालकर उनके प्रयास की बेतुकी खिल्ली उड़ाने में आनन्द पाता है।

पर हाँ, यद्यपि तमिल साहित्य को उनकी अतुल देन है, फिर भी, जैसा अंग्रेजी लेखन में उनका अधिकार है, वैसा तमिल में नहीं है। जो स्पष्टता व सुलझाव (Clarity) अंग्रेजी-शैली में पाते हैं, वह तमिल में कम है। पर सूक्ष्म दर्शन हावी होकर पाठक को मोहित कर लेता है और चिन्तनशील बना देता है।

राजाजी की लेखनी सिर्फ़ तमिलनाडु या भारत मात्र के लिए नहीं चलती; समूचे विश्व के लिए चलती है। इस भरी उम्र में भी उनका मस्तिष्क ऐसा सुलझा हुआ और क्रियाशील है कि समाज को मार्ग प्रदर्शन कर सके। बस, उन्हें और उनकी लेखनी को समझने की शक्ति—वही शक्ति जो प्रबुद्ध पारखी पाठकों की है—संसार में अधिक होनी चाहिए!

निबंध प्रतियोगिता

अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिए शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, द्वारा संस्थापित केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट आफ़ हिन्दी) आगरा की ओर से अखिल भारतीय हिन्दी निबंध प्रतियोगिता का आयोजन किया जा रहा है। प्रतियोगिता का विषय—"बंगला देश और भारत"—निश्चित किया गया है। प्रतियोगिता में बी.ए. अथवा भारत सरकार द्वारा बी.ए. समक्ष मान्यता प्राप्त हिन्दी साहित्य की योग्यतावाले व्यक्ति सम्मिलित हो सकते हैं। प्रतियोगिता में रु. 250, 200 और 150 के क्रमशः प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय तीन पुरस्कार होंगे। इनके अतिरिक्त प्रत्येक भाषावर्ग में रु. 75 का एक-एक भाषावार पुरस्कार भी दिया जाएगा। निबंध प्राप्त करने की अंतिम तारीख़ 14-2-72 है।

विशेष विवरण—निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा-5 को लिखकर प्राप्त किया जा सकता है।

हिन्दी पढ़ना ज़रूरी है

[पूज्य राजाजी का यह लेख, सभा के प्रकाशन अंग्रेजी स्वयं-शिक्षक के प्रथम संस्करण की प्रस्तावना के रूप में ता. 12-2-1928 को लिखा गया और तब से उक्त पुस्तक का महत्व बढ़ाता आ रहा है। उस समय राजाजी 'गांधी आश्रम' तिरुच्चेंगोडु में रहकर बापूजी के रचनात्मक कार्यों की लोकप्रियता बढा रहे थे।

राजाजी-जैसे प्रखर प्रतिभाधनी मनीषी के लिए मन और मस्तिष्क का विरोधाभास या मुखौटा-दिखावा बिलकुल असंभव है। इसलिए उनकी दृष्टि में तब का हिन्दी समर्थन और अब का हिन्दी विरोध दोनों ही प्रामाणिक, तर्कसंगत हो सकते हैं। उनके मतभेद की खूबियों-खामियों पर विचार करना इधर अप्रासंगिक है। किन्तु यह मानना असंगत नहीं होगा कि उनका मतभेद वर्तमान राजनैतिक स्थिति से प्रेरित है, हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' (भारतीय जनता की संपर्क-भाषा) के रूप में अपनाने के पक्ष में पूज्य राजाजी अब भी हैं।

—संपादक]

भारतीयों की कुल तीस करोड़ संख्या में, लगभग आधे लोग हिन्दी या उसकी निकटवर्ती भाषाएँ बोलते हैं। बँगला, असमिया, उडिया-जैसी समान कुल की भाषाएँ क्रमशः छः करोड़, मराठी-गुजराती तीन करोड़ और द्राविड़-भाषा-समुदाय—अर्थात् तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम छः करोड़ लोगों की भाषाएँ हैं। 'टाइम्स आफ़ इण्डिया ईयर बुक' में कहा गया है कि उत्तर और मध्य भारत के निवासियों की भाषाओं की निकटता के कारण देश के एक बड़े भाग की एक जन-भाषा का रूप स्वयं द्रष्टव्य होता है और बंगाली तथा पश्चिम भारतीय भाषा समुदाय के लोगों के लिए हिन्दी में काम-काज करने का ज्ञान प्राप्त करना भी सरल है। समस्या केवल दक्षिण के लोगों के साथ है, जिन्हें भी राजनैतिक, सांस्कृतिक और व्यावसायिक दृष्टियों से हिन्दी सीखनी ज़रूरी है।

यदि हमें लोकतंत्र को सही अर्थों में सफल बनाना है और शिक्षित लोगों को जनसाधारण तथा मतदाताओं से दूर रहकर अपने काम नहीं करने देना है, तो केन्द्रीय परिषद्, राज्य के बड़े अफ़सरों और अन्य केन्द्रीय अधिकारियों को अंग्रेजी में अपना कार्य करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। नियंत्रण की वास्तविकता के लिए लोगों को बड़ी संख्या में राज्य भाषाओं को बोलना और समझना चाहिए। हिन्दी को

केन्द्रीय सरकार एवं परिषद् की और प्रान्तीय सरकारों के बीच के आपसी काम-काज की भाषा मानना है।

यदि दक्षिण भारतीय क्रियात्मक रूप से पूरे देश के साथ एक सूत्र में बँधकर रहना चाहते हैं और वे अखिल भारतीय मामलों से तथा तत्संबंधी निर्णयों के प्रभाव से अपने को दूर नहीं रखना चाहते, तो उन्हें हिन्दी पढ़ना ज़रूरी है। यह संभव और वांछित नहीं है कि अंग्रेजी को बनाये रखकर पूरे भारत में जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों पर नियंत्रण को कमजोर किया जाए। नेहरूजी के संवैधनिक विवरण में हिन्दी को भारत की राजभाषा स्वीकार किया गया है। भारत की अपनी सरकार का यह तर्कसंगत परिणाम है।

भारत की सांस्कृतिक एकता के लिए भी एक सर्वमान्य भारतीय भाषा को ग्रहण करना पड़ेगा। दक्षिण भारतीयों को पूरे भारत में सरकारी तथा व्यावसायिक नौकरियाँ पाने के लिए भी हिन्दी बोलने, समझने और लिखने का ज्ञान प्राप्त करना जरूरी होगा।

हिन्दी के ग्रहण का अर्थ मातृभाषा के महत्व को कम करना नहीं है। हिन्दी का महत्व केवल उसे भारत की संभाव्व राजभाषा बनाने के संबंध में ही है; इसलिए दक्षिण के लोगों को इसे पढ़ना चाहिए। हाँ, उन्हें अपनी मातृभाषा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जब हिन्दी अखिल भारत की सरकारी नौकरियों की भाषा और मातृभाषा प्रान्त (राज्य) विशेष की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक कार्यों की भाषा बन जाएगी, तो अंग्रेजी पढ़ने में लगनेवाला समय इस सीमा तक बचेगा कि उससे मातृभाषा को पूरा विकास करने का प्रोत्साहन और अवसर प्राप्त होगा।

सप्रसंग व्याख्याएँ

राष्ट्रभाषा विशारद 'उत्तरार्द्ध'—परीक्षा

1. करत बतकही अनुजसन मन सिय रूपलुभान ।
   मुख सरोज मकरंद छवि करै मधुप इव पान ।।

   चितवति चकित चहूँ दिसि सीता ।
   कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता ।।

   जहँ बिलोकि मृगसावक नयनी ।
   जनु तहँ बरिस कमल सित सेनी ।

   लता ओट तब सखिन लखाए ।
   स्यामल गौर किसोर सुहाए ।।

   देखि रूप लोचन ललचाने ।
   हरषे जनु निज निधि पहिचाने ।।   (पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 137)

गोस्वामी तुलसीदासजी रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि थे । भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि के अतिरिक्त, वे भक्त, पंडित, सुधारक, लोकनायक एवं भविष्यद्रष्टा थे । रामचरितमानस उनका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है । जीवन के चिरन्तन आदर्शों के अनमोल मोती 'मानस' में बिखेर पड़े हैं । 'वाटिका-प्रसंग' मानस के बालकांड का एक मार्मिक अंश है । श्री रामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण के साथ फूल लेने राजा जनक के सुन्दर बाग में गये । उसी समय सीताजी माताजी की आज्ञा पाकर पार्वती की पूजा करने गयीं । लता की ओट में सीताजी ने रामचन्द्रजी को देखा । प्रस्तुत सन्दर्भ में कवि ने मधुर दर्शन के पश्चात् सीताजी और रामजी के कोमल हृदय के प्रेमभाव को व्यंजित किया है ।

यों श्री रामचन्द्र छोटे भाई से बातें कर रहे हैं, पर मन सीताजी के रूप में लुभाया हुआ उनके मुखरूपी कमल के छबि-रूपी मकरन्द-रस को भौंरे की तरह पी रहा है । सीताजी चकित होकर चारों ओर देख रही है । मन इस बात की चिन्ता कर रहा है कि राजकुमार कहाँ चले गये । बाल मृगनयनी (मृग के छौने की-सी आँखोंवाली) सीताजी जहाँ दृष्टि डालती हैं, वहाँ मानों श्वेत कमलों की कतार बरस जाती है । तब सखियों ने लता की ओर सुन्दर श्याम और गौर कुमारों को दिखलाया । उनके रूप को देखकर नेत्र ललचा उठे, वे बहुत प्रसन्न हुए ।

तुलसीदासजी की पैनी दृष्टि ने यहाँ श्री रामजी के अनुपम सौन्दर्य के साथ सीताजी के मृदुल हृदय के प्रेम को भी व्यंजित किया है । सीताजी और रामचन्द्रजी के सात्विक प्रेम की यह मधुर व्यंजना भव्य एवं भासुर है ।

2. **गया यही कहकर कि—'तात को धैर्य-सांत्वना देना।**
उन्हें अभी है मृत पुत्र की जीवन-नैया खेना।
मेरा साश्रु प्रणाम निवेदन उस जननी से करना।
जिसे जन्म-भर दृगजल से करुणा-सागर भरना। (कोणार्क—पृष्ठ-99)

कोणार्क के सूर्यमंदिर की कला तो अप्रतिम एवं अद्‌भुत है। किन्तु, मंदिर के निर्माता महाशिल्पी विशु और उसके होनहार पुत्र धर्मपद की करुण कथा ने मंदिर और उसके परिवेश को आँसुओं से सिक्त कर दिया है।

महाशिल्पी विशु अपने कुशल शिल्पी दल के साथ कोणार्क मंदिर के निर्माण में बारह वर्ष तक दत्तचित्त रहे थे। मंदिर लगभग पूर्ण हुआ, परन्तु निर्माण में किसी त्रुटि के रह जाने के कारण कलश अम्ल के ऊपर ठीक से बिठाया नहीं जा रहा था। राजा की ओर से यह घोषणा प्रसारित की गयी कि जो कलाकार कोणार्क के सूर्य-मंदिर का कलश ठीक रख देगा, उसे 'महाशिल्पी' का ऊँचा पद दिया जाएगा। महाशिल्पी विशु के पुत्र धर्मपद ने यह घोषणा सुनी। वह सूर्यमंदिर के दर्शन करने आया। होनहार बालक धर्मपद ने निर्माण की त्रुटि को समझ लिया और उस प्रस्तर कलश को अम्ल में रख दिया। विशु को छोड़कर अन्य शिल्पी क्रोधाग्नि से जल उठे। क्योंकि उन्होंने समझा कि बालक उनकी कीर्ति को लूटने आया है। अत: उन्होंने धर्मपद को मार डालने का षड्‌यंत्र रच लिया। प्रस्तुत संदर्भ में राजीव महाशिल्पी विशु से धर्मपद का अंतिम सन्देश सुनाते हैं—

"राजीव तुम मेरे पिता को धैर्य-सांत्वना दे दो। उन्हें अभी अपने मृत पुत्र की जीवन-नैया को खेना है। मेरी माँ को तुम मेरा अश्रुपूर्ण प्रणाम निवेदन करो जिसे अपनी ज़िन्दगी-भर अपने आँसुओं से करुणा-सागर भरना है।"

धर्मपद के उद्‌गार उसके आहत हृदय का चीत्कार है। अपने माँ-बाप से धर्मपद का अटूट प्रेम यहाँ व्यंजित होता है। साथ ही साथ माँ-बाप की विवशता, विषमता एवं विषाद की भावना की भी झलक इस संदर्भ में विशेष दर्शनीय है। 'उन्हें अभी है मृत पुत्र की जीवन-नैया खेना' में पिता की विवशता की अभिव्यक्ति हुई है। 'जिसे जन्म-भर दृगजल से करुणा-सागर भरना' में 'आँचल में दूध और आँखों में पानी' भरनेवाली धर्मपद की माँ के करुण-कातर व्यक्तित्व की कोमल झलक है। धर्मपद के ये उद्‌गार सीधे हृदय को स्पर्श करते हैं।

3. **क्या ही अजीब धोखा हुआ मुझे! मुझे लगता है, मैंने आपको पहले कभी देखा हो।—हाँ, यह तो है ही कि आदमी की सूरतें अक्सर मिला करती हैं।**

(जुआ—पृष्ठ 116)

श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका हैं। 'जूआ' उनका प्रथम नाटक है। विवाहित पुरुष के प्रेम-संघर्ष और सपत्नी-विवाह की समस्या इस नाटक की नींव है। डा० वसंतराव से ब्रह्मदेश से लौटी हुई शरणार्थी कुमारी ऊषा की आँखें चार हुईं। किन्तु पहले ही डा० वसंतराव ने किशोरी से विधिवत् विवाह कर लिया था। अतएव इस अभिशप्त तथा अवांछित प्रेम से दोनों को सतर्क करने का प्रयत्न किशोरी के हितैषियों ने किया। एक दिन किशोरी के माँ-बाप ऊषा के घर आये। श्रीकांत ने बाबा साहब से ऊषा का परिचय कराया। बाबा साहब को मातृ-पितृहीन ऊषा को देखकर भ्रम हुआ। प्रस्तुत सन्दर्भ में वह अपने सन्देह को प्रकट करता है।

बाबा साहब को अजीब धोखा हुआ। उसको ऐसा ज्ञात हुआ कि उसने ऊषा को कहीं पहले देखा है। किन्तु इस बात में वह अपनी नादानी को छिपाकर कहता है कि आदमी की सूरतें अक्सर मिलती हैं।

प्रस्तुत सन्दर्भ नाटकीय व्यंग्य का सुन्दर सबूत है। असल में ऊषा पत्नी-त्यागी पिता बाबा साहब की ही बेटी है। लेकिन यह बात बाबा साहब को उस समय ज्ञात नहीं थी। असल में यह 'अजीब धोखा' बाबा साहब की करनी का ही नतीजा है। अतः बाबा साहब को भ्रम हुआ। पाठक को औत्सुक्य एवं नाटक में संघर्ष की सृष्टि करने में यह प्रसंग सहायक सिद्ध हुआ है।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

'राष्ट्रभाषा विशारद—पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. **"पूँजीवाद ने यूरोपीय देशों की सरकारों को एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए साधन प्रदान किये।"**

यह श्री रामनारायण यादवेन्दु के 'युद्ध के मौलिक कारण' नामक लेख से उद्धृत है। यह उद्धरण उस संदर्भ से प्रस्तुत किया गया है जिस संदर्भ में लेखक ने यह कहा कि युद्ध के मौलिक कारणों में पूँजीवाद एक है। पूँजीवाद पर आधारित सामाजिक व्यवस्था खतरे से खाली नहीं है; क्योंकि वह युद्ध को जन्म देती है और युद्ध जघन्य कृत्य है। असल में पूँजीवाद मानव के अंदर युयुत्सा को जगाकर उसे विनाश के मार्ग पर खड़ा करता है, अथवा वह भी उसे कुछ हद तक प्रगतिशील मार्ग पर खड़ा करने में समर्थ रहा है? यह समझने के लिए पूँजीवाद के स्वरूप की जानकारी पाना ज़रूरी है।

घटना हो या कार्य, प्रत्येक के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य रहता है। युद्ध तो इसका अपवाद नहीं हो सकता। युद्ध नामक घटना के पीछे कभी बल-प्रदर्शन भी महत्वाकांक्षा रही, तो कभी औद्योगिक क्रांति रही; इसी तरह कभी आर्थिक उन्नति की कांक्षा रही, तो कभी साम्राज्य-विस्तार की लालसा।

सम्पत्ति पूँजी नहीं है। सम्पत्ति पूँजी तब बनती है, जब वह सम्पत्ति उत्पादन में लगायी जाती है; जब वह प्राकृतिक सम्पदाओं में श्रम लगाने का आधारभूत साधन बनती है जिससे कि नया मूल्य पैदा किया जाता है। प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति पूँजीपाति नहीं है। दूसरों पर सवार होकर विलासपूर्ण जीवन बितानेवाला अपूँजीपति (Non-capitalist) सम्पन्न व्यक्ति परावलम्बी है जो राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि में हाथ नहीं बँटाता अथवा सामान्यत: किसी उपयोगी सामाजिक मूल्य की बढ़ती में हाथ नहीं बँटाता। पूँजीपति मूलत: समाज का एक उपयोगी सदस्य है। हो सकता है कि वह प्रारंभ में सम्पन्न भी न रहे, यद्यपि अन्तत: अनन्त सम्पदाएँ उसकी पहुँच के अंदर रहेंगी। मज़दूर को उसके उत्पन्न मूल्य के न्यायसंगत हिस्से से वंचित कर पूँजी अपनी वृद्धि करती है। दस्तकार जो अपने काम के सिलसिले एक मज़दूर को अपने अधीन तैनात करता है, प्रारंभिक पूँजीपति है, यद्यपि वह अमीर आदमी नहीं है। जब वह शनैः शनैः अपने अधीन बहुत-से मज़दूरों को नियुक्त करने में समर्थ हो जाता है और उत्पादन के वास्तविक संदर्भ में स्वयं श्रम नहीं करता है, तब वह पूँजीपति कहलाता है। फिर भी कुछ समय तक वह अधीक्षक या व्यवस्थापक की हैसियत से समाज का थोड़ा-बहुत हित-साधन करता ही रहता है। अन्तत: अधीक्षण अथवा व्यवस्था सम्बन्धी कार्य भी भाड़े पर लिये जाते हैं या कराये जाते हैं। आज की स्थिति में भी पूँजीपति सामाजिक स्तर पर बड़ा ही दबदबा दीखता है, यद्यपि वह असल में अपना ऐतिहासिक प्रगतिशील मूल्य खो चुका है।

मज़दूरी (श्रम) मज़दूर की कीमत है। जब मज़दूरी किसी वस्तु की तरह बाज़ार में बिकती है, तब वह माँग और पूर्तिवाले सिद्धान्त के (Theory of Demand and Supply) अनुसार चलती है। पूर्ति जितनी ज़्यादा होती है, उतनी ही घटती है माँग। और कीमतें स्वभावत: घट जाती हैं। अतएव नई-नई वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले यन्त्रों के मालिक-पूँजीपति किसानों को सामंती बंधन से मुक्त करने में आतुर रहते हैं। क्योंकि तब श्रम की पूर्ति बढ़ती है और वह घटिया कीमत पर खरीदा जा सकता है। कम क़ीमत पर ख़रीदे जानेवाले श्रम की बदौलत अतिरिक्त उत्पादन की बचत होती है और यह बचत ही पूँजीवाद की

आर्थिक बुनियाद है। अतिरिक्त बचत की खपत के लिए ही पूँजीपति को नये-नये बाज़ार की खोज करनी पड़ती है। यहीं पर पूँजीवाद युद्ध का सूत्रधर बनता है।

पूँजीवाद के अधीन मानव का श्रम विनिमय की वस्तु है जिससे कि उत्पादन के साधनों के अधिपति—अर्थात् पूँजीपति लाभ प्राप्त करे, जिस लाभ का थोड़ा-सा अंश उन लोगों के हाथों तक पहुँचता है, जो वितरण-कार्य में लगे रहते हैं। धीरे-धीरे उत्पादन अपना मूलगत उद्देश्य खो देता है। असली उत्पादक अपने को लाभान्वित नहीं कर पाता। उत्पादन का प्रधान उद्देश्य, जिसमें समाज का समूचा श्रम लगा रहता है, कुछ चुने-गिने लोगों को लाभ पहुँचाया ही जाता है, जो लोग असल में उत्पादन-कार्य से कोसों दूर रहते हैं। यह पूँजीवाद की परा काष्ठा है।

अपने विकास-क्रम में पूँजीवाद समूचे समाज के स्तर को ऊँचा उठाता है—आर्थिक स्तर को ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्तर को भी। सभ्यता पूँजीवाद की सहोदरी है, न कि उससे तादात्म्य। आधुनिक यन्त्रों की वृद्धि के सहारे सभ्यता की बढ़ती होती है। सभ्यता को बढ़ावा देनेवाला मूलगत साधन है यन्त्र; क्योंकि वह बड़ा ही शक्ति-सम्पन्न मुक्तिदाता है। किन्तु पूँजीवाद वास्तविक सभ्य समाज की नींव डालता है। यन्त्र मानव की सृष्टि है। मशीन के वैयक्तिक स्वामित्व के कारण पूँजीवाद के अधीन मानव मशीन के द्वारा दास नहीं बनाया गया। अब भी सभ्यता का स्तर ऊँचे से ऊँचा होगा, यदि मानव अपनी सृष्टि अर्थात् यन्त्र का अधिपति बने। जब मानव मशीन का मालिक बनता है, तब मशीन और मानव का सम्बन्ध भी बदल जाता है। मशीन की मुक्तिदायिनी शक्तियों के छूटते ही मानव की अनन्त प्रगति दृष्टिगत होगी—आर्थिक प्रगति ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अथवा भावात्मक प्रगति भी फूट निकलेगी।

2. "साहित्य में ही हमें मनुष्य का सच्चा परिचय मिलता है और मानवात्मा की यथार्थ उपलब्धि होती है।"

यह श्री जगन्नाथ प्रसाद मिश्र कृत "कर्म और वाणी" नामक लेख से उद्धृत है। लेखक के अनुसार 'कर्म' महात्मा गांधी का प्रतीक और 'वाणी' कवीन्द्र रवीन्द्र का। ये दोनों समकालीन युगपुरुष मानव के श्रेयोभिलाषी थे। रविबाबू के साहित्य में मानव मात्र को क्या मिला, यह दिखाने लेखक ने रविबाबू के उक्त उद्धृत 'साहित्यादर्श' को अपने इस लेख में प्रस्तुत किया है। भारतरत्न स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू का कथन है—"भारत की यह युग-युग से चली आनेवाली सांस्कृतिक प्रतिभा इतनी समृद्ध है कि उसने एक ही पीढ़ी में इन दो महापुरुषों को उत्पन्न किया है, जो उसके बहुमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व अपने-अपने ढंग से करते हैं।"

साहित्य मानवीय अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब है। साहित्य उसी तरह मानवता का मन-मस्तिष्क है, जिस तरह व्यक्तिगत मस्तिष्क पूर्वानुभवों का अभिलेख तैयार रखता है और आवश्यक ज्ञान को सुरक्षित रखता है और इसी अभिलेख के आधार पर व्यक्ति अपने प्रत्येक नये अनुभव की व्याख्या करता है। इसी तरह समूची मानव-जाति अपने पूर्वानुभवों का लेखा-जोखा साहित्य में पाती है जिसके सहारे वह अपने प्रस्तुत सन्दर्भों एवं स्थितियों को समझ लेती है। इन्द्रियजन्य ज्ञान मन-मस्तिष्क के सहयोग के बिना निरर्थक है और पूर्वानुभवों के संगृहीत भंडारों के बिना मानव-जाति का जीवन-स्तर पतित होकर पाशविक अस्तित्व मात्र रह जाता। पूर्वार्जित भंडार को साहित्य अपने अन्दर सुरक्षित रखकर उसे समूची मानवजाति को देता है।

साहित्य अपने बृहत् अर्थ में उन दबावों एवं प्रभावों का लेखा-जोखा मात्र है जिन्हें वस्तुस्थिति हर तरह के महामानवों पर छोड़ जाती है और जिनके प्रति ये महामानव अपनी मननपूर्ण प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत करते हैं। वस्तुस्थिति वैयक्तिक जीवन को प्रभावित करती है। इन्द्रियों के द्वारा तथा साहित्य के द्वारा प्राप्त ज्ञान प्रस्तुत वस्तुस्थिति को समझने में ही सहायता नहीं पहुँचाता, बल्कि कलाकृतियों की बदौलत अथवा प्राकृतिक दृश्यों से उत्पन्न हमारे ज्ञान को भी लहराता है। वैयक्तिक अथवा मानवीय पहलू के द्वारा ही वस्तुस्थिति को हम सही तौर से समझ सकते हैं और उसका मूल्य आँक सकते हैं। इसके लिए यह बहुत ज़रूरी है कि हम कलाकृतियों से आनन्द उठा सकें और उन बाह्य वस्तुस्थितियों को भली भाँति समझ सकें, जिनका प्रतिनिधित्व ये कलाकृतियाँ करती हैं।

यह प्रमाणित तथ्य है कि साहित्य उसी तरह मानव का है और मानव के लिए है जिस तरह सार्थक भाषा मानवी की है और मानव के लिए है। किन्तु मानव की प्रत्येक रचना साहित्य के प्रांगण में स्थान नहीं पा सकती है। रचना तभी साहित्यिक हो सकती है, जब कि वह सौंदर्य से सनी हो। यह सौंदर्य रचना-विधान में पाया जाता है। सौंदर्य के प्रधान गुण है, आकर्षित करना। कला में निस्सन्देह आकर्षण है। अतएव साहित्य कला है और कला चिर सुन्दर है, नित नूतन है और स्पृहणीय है।

साहित्य में क्षुद्र संकीर्णताओं के लिए कोई स्थान नहीं है, चाहे वे जातिगत हों या देशगत अथवा कालगत हों। साहित्य का भावपक्ष अत्यन्त उर्वर एवं उदार होता है; अत्यन्त स्वस्थ एवं उदात्त होता है। मानव और मानव के बीच स्वस्थ सम्बन्ध बिठाने और समूचे मानवसमाज के भाव-स्वास्थ्य का दायित्व साहित्य पर ही निर्भर करता है; क्योंकि साहित्य की आधार-शिला मनोराग है, सौजन्य है।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. "इस वाक्यहीन प्राणिलोक में सिर्फ़ यही एक जीव अच्छा-बुरा सबको भेदकर संपूर्ण मनुष्य को देख सकता है, उस आनन्द को देख सकता है, जिसकी चेतना असीम चैतन्यलोक में राह दिखा सकती है।" (गद्य-कुसुम-2)

विशेष बुद्धिवाले मनुष्य अपनी वाक्पटुता से एक दूसरे को आकर्षित करने या अपना आदर-भाव दिखाने की चेष्टा करता है। बाहरी हाव-भाव से मुग्ध होकर कई ऐसे लोगों के चंगुल में पड़ जाते हैं—पर उनका आंतरिक भाव? कौन अनुमान कर सकता है कि उसके मानसिक व्यापार कैसे हैं? इन बातों पर विचार करते समय हमारे जीवनसंगी कई ऐसे पालतू जानवरों का चित्र सामने स्पष्ट दिखाई पड़ता है, जो मनुष्य को और मनुष्यता को आत्मसमर्पण के साथ प्यार करता है।

अपनी चारों तरफ़ दिखाई पड़नेवाले जीव-जन्तुओं के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विचारों को प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदीजी रोचकता के साथ उपस्थित करते हैं। अपने अनुभवों के आधार पर लिखे "एक कुत्ता और मैना" शीर्षक लेख में इसका सुंदर वर्णन है।

उस दिन विश्राम के लिए गुरुदेव शांतिनिकेतन से कुछ दूर स्थित श्रीनिकेतन में रहते थे। शांतिनिकेतन के सारे विद्यार्थी व आचार्य अपने स्थान गये थे। गुरुदेव का श्रीनिकेतन में आकर बहुत दिन नहीं हुआ था। एक दिन प्रातःकाल उनका एक कुत्ता उनकी खोज करते-करते श्रीनिकेतन के तिमंजिले में आ पहुँचा। वह गुरुदेव के पैरों के पास आ खड़ा होकर पूँछ हिलाने लगा। गुरुदेव ने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। कुत्ता आँख मूँदकर खड़ा हो गया। उसके रोम-रोम से उस स्नेह-रस का अनुभव पाने लगा। अपने स्वामी के संग से उस मूक जन्तु को एक तरह की निवृत्ति पाने का अनुभव हुआ था।

यह देखकर गुरुदेव ने आश्चर्य से कहा—"देखो, इस प्राणी को कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ हूँ। यहाँ आकर इसके मुँह पर कितनी परितृप्ति दिखाई दे रही है। प्रति दिन प्रातःकाल यह भक्त कुत्ता मेरे आसन के पास आकर बैठा रहेगा जब तक मेरे हाथों के स्पर्श से इसका संग न स्वीकार करता। मेरा स्पर्श पाते ही उसके अंग-अंग में आनन्द का संचार होता है।"

उद्देश्य यह है, ऐसे मूक प्राणी पर होनेवाली यह कृतज्ञता-बोध विशेष बुद्धिवाले मानव पर बहुत कम दिखाई पड़ता है। गुरुदेव को इसपर विचार होता है कि केवल यही एक स्नेहातुर जीव अच्छे-बुरे को भूलकर विपरीत परिस्थितियों में भी

मनुष्यता का वास्तविक ज्ञान रखता है। इस सचेतन जगत में मनुष्य को ईश्वरीय का यथार्थ मार्ग यह बखूबी दिखा सकता है।

2. **"जहाँ कौम का आराम ज्यादा हुआ, वहाँ काम कमज़ोर हुआ। हिम्मत के बजाय सुस्ती आ गयी, तो कौम कमज़ोर हुई।"** (गद्य-कुसुम-2)

भारत के हृदयसम्राट पं. जवाहरलाल नेहरू जैसे राजनीतिक क्षेत्र में एक अनिषेध्य नेता थे, वैसे ही साहित्य-जगत के ध्रुव तारा भी थे। साहित्यिक और राजनैतिक सामंजस्य नेहरूजी में पा सकते हैं। उनके त्यागमय जीवन का पूरा समय देशहित के लिए अर्पित है, सो भारतीय जनता के लिए अज्ञात नहीं है। उनकी साहित्यिक रुचि का ज्वलंत उदाहरण है "पुत्री को पिता का पत्र", जो हिन्दी साहित्य भंडार को पूर्णता प्रदान किया है। नेहरूजी का देश के प्रति कितनी लगन थी, वह इस लेख के द्वारा हम समझ सकते हैं, जो कि उनका लिखा "हमारी ताकत और जिम्मेदारियाँ।"

प्राचीन काल से ही भारत की आत्मिक शक्ति दुनिया-भर मशहूर है। स्वतंत्रता-संग्राम के समय में राष्ट्रपिता के नेतृत्व में यह शक्ति पूर्वाधिक वद्र्धमान दशा पर पहुँच गयी थी। लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के अनंतर कार्यों पर विचार करें, तो समझ सकते हैं कि भारतीयों में आज वह आत्मिक शक्ति का और एकता का लोप हो रहा है। उस समय का आवेग या जोश नाममात्र भी दिखाई नहीं देते। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थपरता में पड़कर अपनी-अपनी सुख-सुविधाएँ बढ़ाने में तत्पर रहते हैं। पारस्परिक बंधुत्व या भाईचारे का भाव छोड़कर एक दूसरे से लड़ रहे हैं। अभावग्रस्त जनता और भी गरीबी के गर्त में धँस रहे हैं। जाति-पाँति का भेदभाव, आभिजात्य का गर्व आदि विचारों के चंगुल में पड़कर साधारण जनता दिन प्रति दिन कई तरह की यातनाओं का अनुभव कर रहे हैं।

यह दशा देखकर नेहरूजी के हृदय में अपार खेद उत्पन्न हुआ, जिसने इस स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण के लिए अपना सर्वस्व अर्पण किया है। उनकी कुशल लेखनी भड़क उठी; उनकी ओजस्वी वाणी गूंज उठी जिससे भारतीयों पर फिर से खोई हुई आत्मिक शक्ति का प्रवेश हो सके।

नेहरूजी ने लिखा—"सुस्ती की यह हालत हमें कहीं पस्ती की ओर ले जाएगी। जीवन कर्मक्षेत्र है। प्राप्त आज़ादी को श्रीसंपन्न बनाने के लिए हमारे सपनों को साकार बनाने के लिए समूचे भारतवासियों को कटिबद्ध होने चाहिए। देश के प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति जुटाकर कर्मक्षेत्र में फिर भी कूदना है जैसे स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए हम एक होकर कटिबद्ध रहे। हमारा अब आराम

करने का समय नहीं है। हमने एक विदेशी शासन के साथ लड़ाई की, उसपर सफल बने। मनुष्य को मनुष्यता से अलग कर रखनेवाली अँधरूढियाँ ही हमारे दुश्मन हैं। इनसे हमें लड़ने की ज़रूरत है। शोषक वर्गों के प्रबल बाँहों से शोषितों की रक्षा करनी है। अमीरों से कुचले गये गरीबों को ऊपर उठा लाना है। इन बातों की सफलता के लिए हमें लड़ना है। अतः हमें सुस्त नहीं रहना चाहिए। हमारा कर्तव्य अब भी अधूरा है।"

उपरोक्त प्रसंग इस उद्बोधन के सिलसिले में श्री नेहरूजी का उद्‌गार है। उनका कथन है कि जिस देश के लोग ज़्यादा आरामतलब होते हैं। वहाँ की उन्नति रुक जाएगी, जिस देश की जनता धीरज के साथ कर्मक्षेत्र में नहीं उतरती, उस देश और कौम की प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। अतः भारत की जनता को चाहिए कि देश की भलाई के लिए सबको कर्मक्षेत्र में उतर जाना है और कडी मेहनत करनी है।

—श्री पी. एम· दयानन्दन, मद्रास.

महात्मा गांधी पदवीदान मंडप

(दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास)

'महात्मा गांधी पदवीदान मंडप' के निर्माण के लिए आर्थिक सहायता करनेवाले सहृदय दाताओं के नाम और रक़म का विवरण 'समाचार' में क्रमशः प्रकाशित किये जाएँगे। विशेष रूप से, रु. 1000 (एक हज़ार) तथा उससे अधिक राशि दान देनेवाले महानुभावों के नाम-पते सम्मान-फलक पर अंकित किये जाएँगे, जो उक्त मंडप में शोभित होगा। हिन्दी-सेवियों तथा अन्य सहयोगियों से, जो दानी या संग्रहकर्ता हैं, विनीत प्रार्थना है कि वे दानराशि को, तत्संबंधी विवरणों के साथ (रसीद नं, तारीख़, दाता का नाम-पता आदि) यथाशीघ्र सभा को भेज दें। संग्रहकर्ताओं के नाम भी 'समाचार' में प्रकाशित किये जाएँगे।

आपकी सेवा में,

गिरिधारीलाल चांडक

कोषाध्यक्ष

श्री नास्ति कुमार, पालक्काट

"तमिलनाडु सरकार की शिक्षा नीति में मातृभाषा का बड़ा गुणगान सुनायी देता है। मगर हिन्दी विरोध में सफल वह नीति मातृभाषा को लोक प्रिय बनाने में असफल क्यों दिखायी दे रही है?"

इसलिए कि राज्यों में प्रदेश भाषाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए समूचे राष्ट्र में हिन्दी की सुरक्षा के महासत्य से इनकार किया जा रहा है।
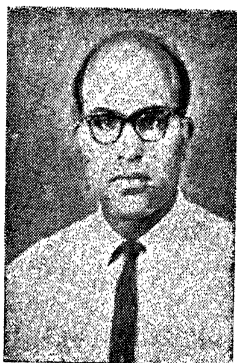
डॉ० पी. जयरामन को बधाइयाँ!

हर्ष की बात है कि डॉ० पी. जयरामन को 'भारत सरकार की अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखक पुरस्कार योजना' के अंतर्गत उनकी कृति 'कविश्री सुब्रह्मण्य भारती' पर प्रथम पुरस्कार की रासि रु. 1000 मिली है। डाक्टर साहब आजकल रिज़र्व बैंक आफ इंडिया के सेंट्रल आफ़ीस, बंबई में हिन्दी अधिकारी के पद पर कार्य करते हैं। हम डॉक्टर साहब को हार्दिक बधाइयाँ देते हैं।

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. **"मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का संस्थापक यही मनो-विकार है। मनुष्य की सज्जनता व दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबन्ध व संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आयेगा।"** (चिंतामणी)

हिन्दी के वरिष्ठ गद्यकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'चिंतामणी' पुस्तक अपने में एक महत्व अवश्य रखती है। भारतीय भाषाओं में शायद ही ऐसी वज़न-दार (गंभीर विषयिक) किताब मिलती होगी। उपरोक्त उद्धरण 'करुणा' में से लिया गया है। 'करुणा' किस अवस्था में उत्पन्न होकर मनुष्य में क्या परिवर्तन लाती है, इसका वर्णन करते हुए आगे बताते हैं—मनुष्य के दिल में जो स्वाभाविक सुशीलता एवं शुद्ध भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी प्रेरणा मनुष्य के हृदय में स्थित 'करुणा' नामक मनोविकार से ही होती है, क्योंकि क्रोधी व्यक्ति में शील नहीं होता और करुणा आ जाने पर उसका क्रोध नष्ट होता है। तब हृदय में शील भाव का जन्म होता है।

अतः करुणा ही शील एवं सात्विकता की स्थापना करनेवाली है। कोई व्यक्ति सज्जन है या दुर्जन यह तभी जान पड़ता है जब उसका अन्य प्राणियों से मेल-जोल या संबन्ध होता है। यदि अन्य प्राणियों के प्रति उसका संबन्ध करुणा और मैत्रीपूर्ण होगा तो वह सज्जन कहलाएगा। परन्तु यदि कोई ऐसा मनुष्य किसी ऐसे निर्जन एकान्त स्थान में अपना जीवन व्यतीत कर रहा हो जहाँ कोई प्राणी न हो तो उसका कोई भी कार्य सज्जनता अथवा दुजनता पूर्ण नहीं कहलाएगा। जब वहाँ कोई जीव ही ऐसा नहीं होगा जिसपर वह कृपा या अन्याय कर सके तो उसके कार्यों में सज्जनता या दुर्जनता का आरोप ही भला कैसे हो सकेगा? ऐसी स्थिति में तो उसके कर्म सचमुच केवल उसीसे संबन्ध रखनेवाले होंगे, न किसी अन्य प्राणी से तो उसका ताल्लुक नहीं होगा।

2. **विपुल वासना विकच विश्व मानस शतदल**
   तुम्हारा ही समाधि स्थल.................. (नवीन पद्य रत्नाकर)

महाकवि सुमित्रानन्दन पंत का हिन्दी काव्य साहित्य की समृद्धि में सबसे महत्वमय योगदान यह है कि खड़ीबोली को उन्होंने सूक्ष्म भावों की व्यंजना के योग्य

बना दिया। आपकी रचनाओं में भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, विरोध चमत्कार, कोमल पदविन्यास इत्यादि के होने के कारण भावों की सूक्ष्म पहचान हमें हो जाती है। निष्ठुर परिवर्तन शीर्षक कविता में आप परिवर्तन की निष्ठुरता का बयान करते हुए कहते हैं कि संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं है। परिवर्तन इतना शक्तिशाली है कि उसके समक्ष किसीकी कुछ नहीं चलती। जिस भाँति रंगमंच पर कोई नाटक सूत्रधार के इशारों पर चलता है, उसीके आदेश व निर्देश पर दृश्य परिवर्तन व अभिनय-संवाद होते हैं, उसी प्रकार विश्व के इस महा रंगमंच पर परिवर्तन ही सूत्रधार का काम करता है। कवि ने अनेक प्रकार से इस अमूर्त सत्य को मूर्तरूप प्रदान करके उसके कार्य कौशल को इस कविता में प्रदर्शित किया है।

परिवर्तन के विनाशकारी स्वरूप का विस्तृत वर्णन इसमें किया गया है। परिवर्तन के ही कारण सुख-समृद्धि और हर्षोल्लास आता है। यह भी हमें मानना है कि इसी वजह से संसार में संतुलन बना रहता है। परिवर्तन में विगत वास्तविकता के प्रति असंतोष एवं आग्रह की भावना विद्यमान है। कुछ अनित्य सत्य के भीतर से नित्य एवं शाश्वत सत्य को खोजने का प्रयत्न भी कवि ने किया है। नव्य सत्य के निर्माणार्थ यह सहायक हो सकता है।

यहाँ कवि कहते हैं—तुम अखिल विश्व के मनुष्यों के हृदय रूपी शतदल कमल में घुसे हुए कुटिल व विलक्षण काल-रूपी कीड़े के समान हो। जिस तरह कीड़ा कमल का अविकसित दशा में ही चुपके से नाश कर देता है उसी तरह तुम इनसानों की अभिलाषाओं को उनके पूर्ण होने के पहले ही कुचल देते हो। मानव के नाम अप्रतीक्षित-रूप से प्रहार करनेवाले निष्ठुर तुम हो। कर्मठ किसानों के श्रम-कण से सिंची हुई सुनहली फसल को ओले बरसाकर तुम पल में ध्वंस करते हो। वे अपने वांछित फल को भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं। तुम्हारी ही कठोर ध्वनि से संसार की दिशाएँ ग्रस्त होकर काँपती रहती हैं। रात्रि का गहन अंधकार व विस्तृत शून्य अंतरिक्ष ही तुम्हारा समाधि स्थल है। इस पद्य में कवि ने परिवर्तन को विराट रूप में कल्पित किया है।

8. नूतन प्रभात में अक्षय गति का वर दे,

……………………………………

मृत्यु जननी ने अंक लगाया! (नवीन पद्य रत्नाकर)

वर्तमान युग की हिन्दी कवयित्रियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का प्रमुख स्थान है। छायावाद का उन्नयन करनेवाले कवियों में आपका उल्लेखनीय स्थान है। अपनी कविताओं में कल्पना, प्रकृति सौन्दर्य, सूक्ष्म अभिव्यंजना आदि छायावादी

तत्वों को समुचित रूप में वर्माजी ने ग्रहण किया है। किन्तु आपका विशेष झुकाव छायावादी-रहस्य दर्शन के प्रति ज़्यादा है। भावना का अविच्छिन्न प्रवाह तथा लयात्मक समृद्धि उनके गीतों की बड़ी खूबी है। यह कहना उचित होगा कि आपकी कविताओं में भावना और कला का मणि-कांचन योग मिलता है। दुःखवाद का प्रभाव भी यत्र-तत्र मिलेगा। उनकी पीड़ा का एक अलग ही संसार है। यह पीड़ा लौकिक न होकर पारलौकिक ज़्यादा होती है। वे आँसुओं के जल से सींच-सींचकर मानों वेदना की बेल बढ़ाना चाहती हैं। उनकी कामना है कि जीवन-दिया सिहर-सिहर जलता ही रहे।

'तू धूल भरा ही आया' नामक इस छोटे गीत में एक तरह की नैराश्य भावना को पाते हैं। जीवन की क्षण भंगुरता का विशदीकरण आपने किया है। नीर पर तैरनेवाले क्षीणायु बुलबुलों के सदृश है मानव जीवन। कबीर के शब्दों में "पल में परलय होयगा बहुरि करौगे कब"। तमिल प्रदेश के एक सिद्ध कह गये "कायमे इतु पोय्यडा काट्रडैत्त पैयडा" अर्थात् यह मृण्मय शरीर झूठा है। यह हवा भरी थैली मात्र है। हवा के निकलते ही थैली बेकार पड़ जाती है। मगर मानव की आत्मा स्थिर है। शरीर त्याग का ताँता मात्र चलता रहता है। यह हिन्दुओं की प्रबल धारणा है।

कवयित्री जीवन को संबोधित कर कहती हैं—"हे जीव! तू धूल से भरा ही आया। तुझे तो मृत्यु रूपी माँ ने अपने अंक में लगाया है। मरण की शरण में ही तुझे एक दिन जाना है। एक सुनहले प्रभात में मृत्यु-माता तुझे जगाकर अभय गति का वरदान देकर नीर भरे बादलों के सदृश सुन्दर शरीर देकर एवं बिजली के प्रकाश के समान हृदय देकर शिशुवत तुझे क्रीड़ा करने के लिये पुनः जगतीतल में चुपके से पहुँचा देती है। मरण तो नवजीवन का नाँदि-प्रस्तावना मात्र है। जीवन की प्रभाती के लिये मरण निशा-मात्र है। अरे चंचल बालक! तू तो धूल भरा ही आया था। विभिन्न इच्छाओं एवं संस्कारों को अपनाकर इस रहस्यमयी सृष्टि में आया था। मरण रूपी जननी ही अंत में अपनी गोद में लेगी। कवयित्री ने जन्म-मरण की विराट धारा का सरल परिचय प्रस्तुत किया है। अचर आत्मा का भव्य दिग्दर्शन यहाँ मिलता है।

4. श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ सकता है। श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है, जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि रूप में प्रकट करते हैं।

('श्रद्धा-भक्ति'—चिंतामणी)

अर्वाचीन हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ गद्यकार, निबन्धकार व समालोचक रामचन्द्र शुक्ल की बहुचर्चित 'चिन्तामणी' के टक्कर की पुस्तक अन्यतम भारतीय भाषाओं में मिलना कठिन है। आपकी प्रतिभासंपन्न लेखनी हिन्दी का अपना गौरव मात्र है। मनोविकार संबन्धी उनके निबन्ध यद्यपि आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान से प्रभावित हैं तथापि सब मौलिक-से जान पड़ते है। आपने मनोविज्ञान के सूत्रों तथा निष्कर्षों को व्यावहारिक जीवन की कसौटी पर कसकर देखा है, फिर जीवन में उनका विनियोग करते हुए निबन्ध लिखे।

'श्रद्धा-भक्ति' विवेचनात्मक मनोविकार संबन्धी उत्कृष्ट निबन्ध है! इसमें श्रद्धा की सामान्य व विशिष्ट दोनों प्रकार की परिभाषाएँ देते हुए श्रद्धा के अवयवों, दैन्य, आत्म निवेदन आदि के महत्व को स्वीकारते हुए लघुत्व का अनुभव-को स्पष्ट किया है। यही नहीं, श्रद्धा का वैज्ञानिक श्रेणी का निर्धारण भी किया गया है। श्रद्धा का मूल पारमार्थिक है तथा प्रेम स्वार्थ परक।

ऐसे सज्जन के प्रति हमें श्रद्धा होती है, जिसके शुभकार्य का प्रभाव उस स्थान पर पड़ता है जिसके स्वयं हम अंग हैं। शुभ कार्य का प्रभाव हमारे ऊपर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में पड़ या न पड़े। अनेक ऐसे व्यक्तियों के प्रति भी हम श्रद्धा दिखाते हैं जिन्होंने हमारे प्रति कोई भी उपकार नहीं किया है। हमने उन्हें देखा तक नहीं, हम उनके जाति-विशेष के भी नहीं रहे। फिर भी हम ऐसे लोक-रंजनकारी मनुष्य के प्रति आनन्द-पूर्ण पूज्य भाव रखते हैं। समाज के प्रति किये गये उपकार को अपने प्रति किया गया उपकार हम मानते हैं। पवित्र श्रद्धा का धारण करके हम मानों समाज के प्रतिनिधि के रूप में उनके प्रति अपनी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करना चाहते हैं। समाज के प्रतिनिधि के रूप में व्यक्त की गयी उक्त कृतज्ञता को ही श्रद्धा कहा जाता है। श्रद्धा में पहले आचरण आकर्षित करता है और तब उसके कारणकर्ता का व्यक्तित्व भी अच्छे लगने लगता है।

5. "**जिस प्रकार भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अखण्डता में उभरता आ रहा है उसी प्रकार एक सम्मार्जित इकाई के रूप में भारतीय साहित्य का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है।**" (गद्य-रत्नावली)

'भारत मानवमहासागर है जहाँ अनेकानेक सभ्यता रूपी सरिताएँ आकर संगम हो चुकी हैं।" यह कवीन्द्र रवीन्द्र बाबू ने ठीक कहा है। प्रसिद्ध आलोचक नगेन्द्र रचित 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' नामक विश्लेषणात्मक निबन्ध से यह स्पष्ट मालूम हो रहा है कि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के मनोहारी आवरण लेकर समुन्नत भारतीय साहित्य विकासोन्मुख दशा में दर्शित है। यह

सिद्धि अचानक नहीं मिल रही है। कई शताब्दियों से भारतीय जनजीवन के प्रतीक बनकर पनपनेवाले प्रादेशिक भाषाओं की देन है। आर्य एवं अनार्य भाषा-परंपरा से निस्तृत आधुनिक भारतीय भाषाएँ इस शताब्दी के उष:काल से ही करवटें लेने लगीं तथा विदेशी मोह निद्रा को एक बार त्यागने की प्रबल चेष्टा भी की। स्वराज्य आन्दोलन की पृष्ठभूमि में प्रादेशिक भाषाएँ आगे बढ़ीं।

गांधीजी की प्रेरणा से यहाँ की भाषाएँ आत्मगौरव का अनुभव करने लगीं। साहित्य में नये दौर आने लगे। मलयालम ने वल्लत्तोल, तमिल ने भारती, हिन्दी ने मैथिलीशरण गुप्त, तेलुगु ने श्री श्री, बंगला ने रवीन्द्र व नज़रुल इस्लाम जैसे साहित्यकारों को पाकर नया क़दम उठाया। इन लोगों ने राष्ट्रीय संकल्प लेकर भारतीय साहित्य की नींव डाली। इन महारथियों के अनुगामी बनकर प्रत्येक भाषा में नई पीढ़ी आगे आयी। स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारतीय भाषाओं के विकास का बृहत स्वप्न हमने देखना चाहा। परन्तु दुर्भाग्य से आज तक अंग्रेज़ी मोह माया से बाहर आने यहाँ के बुद्धि जीवी समुदाय तैयार नहीं है। उनका भारतीय प्रेम ओष्ठ तक ही है। प्रान्तीय भावना यहाँ विष ज्वर के रूप में फैलता आ रहा है। भारतीय का भाव लुप्त-सा होता जा रहा है।

दुर्भाग्य की बात है इस दिशा में तमिल प्रदेश आगे है। यहाँ तो आज के बहुमत प्राप्त शासक तथाकथित भारतीयता के समुख नहीं हैं। भारती के बाद विशाल दृष्टिकोण रखनेवाले तमिल साहित्यकार यहाँ नहीं हैं। खैर, यह सबकुछ होने पर भी हम कामना करते हैं कि धीरे से ही सही राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसरण के साथ ही अपनी प्राचीन परंपरा से आवश्यक पौष्ठिकता को पाकर एक समुन्नत भारतीय साहित्य का निर्माण अवश्य यहाँ होता आ रहा है। "भारतीय ज्ञानपीठ" द्वारा भारतीय भाषाओं के लिये जो साहित्यिक सम्मान मिलता आ रहा है, यह सब इनके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अर्थमूल सभ्यता की ओर अग्रसर होने की चेष्टा यत्र-तत्र दिखाई पड़ रही है। इस वातावरण में राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा शुद्ध राष्ट्रीय साहित्य की श्रीवृद्धि को हम धीरे धीरे ही पा सकते हैं।

—श्री वी. एस. राधाकृष्णन, तिरुच्ची

'राष्ट्रभाषा विशारद पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. "शेखर, टाट में रेशम का पैबन्द क्यों लगाते हो? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।"

यह अवतरण श्री जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' नामक एकांकी से दिया गया है। इस एकांकी में कल्पनालोक में बिचरनेवाले एक कवि के जीवन की

झाँकी की गयी है। कवि शेखर ने जब सम्राट के भवन के पास राज-पथ के किनारे भीख माँगनेवाली एक अंधी भिखमंगी का कवित्वपूर्ण शैली में वर्णन किया, तो कवि के मित्र माधव ने यह उद्धरित वाक्य कहा है।

शेखर का कथन है कि राज-पथ के किनारेवाली अंधी भिखमँगी की हर चेष्टा में उसे कविता दिखाई देती है। उसका झुर्रियोंदार चेहरा, उसके काँपते हुए हाथ, उसकी धँसी हुई आँखों की बेकस नज़र आदि सब में कविता ही कविता भरी हुई है। इसीलिए वह उसे भीख देता है—दिये बिना उससे रहा नहीं जाता। किन्तु माधव के विचार में शेखर का उद्गार वाचालता मात्र है। ऐसी कविता किसी अच्छी, सुन्दर देवी के योग्य है। अतएव माधव का कहना है कि भिखमँगी जैसी नाचीज़ का काव्योपम वर्णन 'टाट में लगा रेशम का पैबंद'—है अर्थात् अनमेल साज़ है। यदि माधव ने अपने इस कथन के द्वारा शेखर की प्रेयसी छाया को लक्ष्य करके शेखर से मज़ाक किया हो, तो ठीक है, संगत है। किन्तु यदि यह सच्ची शुद्ध कविता के प्रति उसका वक्तव्य है, तो बिल्कुल बेतुका है।

वास्तव में कविता किसी भी विषय पर लिखी जा सकती है। उसके विषय इनेगिने नहीं हैं बल्कि बेशुमार हैं। सच्ची कविता की पहली शर्त यह है कि वह सहज स्वाभाविक संवेग को प्रेषित करने का प्रयास करे। हाँ, कभी कभी हम संवेग का अनुभव किये बिना भी कविता के प्रभाव में आ जाते हैं। इसलिए संवेग सदैव हमारा मार्गदर्शक नहीं हो सकता। किन्तु ऊँची उदात्त कविता तो संवेग की अपेक्षा जरूर रखती है। किन्तु संवेग कविता नहीं है। वह कविता का आधार है। रमणीय शैली में अभिव्यक्त संवेग कविता है। कला और कविता के विषय न निश्चित हैं न नियत। संसार में अस्तित्व रखनेवाली प्रत्येक वस्तु में कला सौंदर्य के दर्शन कराती है और उसकी व्यंजना भी कर सकती है।

हमें प्रभावित करनेवाली चीज़ विषय नहीं है बल्कि वह साज-सज्जा या शैली है जिसमें वह प्रतिपादित है। कविता किसी वस्तु का एक पहलू प्रदर्शित करती है न कि वस्तु को जिसे हम अनादि काल से जानते हैं। हम उसे उस तरह देख नहीं पाते जिस तरह वह असल में है। विज्ञान एक पहलू दिखाता है, तो धर्म और एक पहलू और सामान्य ज्ञान संभवत: और कोई पहलू दर्शाता है। अत: कला विषादपूर्ण वस्तुओं को सुन्दर एवं रमणीय तथा अधम व मलिन वस्तुओं को आश्चर्यपूर्ण चकाचौंध से भर देता है जैसे अंग्रेज़ी के यशस्वी लेखक थामस हार्डी (Thomas Hordy) के उपन्यासों में हम देखते हैं। ऐसी स्थिति में माधव का, शेखर के कथन के प्रति उक्त आक्षेप बिलकुल असंगत है, अनुपयुक्त है। कवि, अपने नाम के

अनुसार स्रष्टा है ; वह संगीत और चित्रों का स्रष्टा है और बहुत हद तक साधन अर्थात् भाषा का भी स्रष्टा है। क्योंकि कुशल कवि किसी भी विषय को माध्यम बनाकर अपनी भावाभिव्यक्ति को सरस एवं रमणीय बना लेता है।

2. **"राजनैतिक समाज का उद्देश्य यह है कि मनुष्य के स्वाभाविक अधिकार की रक्षा करे। ये अधिकार हैं—सम्पत्ति, सुरक्षा और अत्याचार का विरोध।"**

यह श्री भगवानदास केला कृत "लोकराज्य या सच्चा लोकतंत्र" नामक पुस्तक के दूसरे अध्याय से दिया गया है। लोकतंत्र के प्रसार एवं विकास का क्रमिक परिचय देते हुए लेखक ने फ्रांस की राजक्रांति के संदर्भ में प्रस्तुत सन् 1791 की मानवीय अधिकारों की घोषणा में उल्लिखित अधिकारों को उद्धृत किया है जिनमें प्रस्तुत अवतरण एक है।

स्वातंत्र्य-प्राप्ति के प्रचार के सिलसिले मानव ने समाज का सृजन किया है। समाज के अन्यान्य संगठन राजनैतिक समाज के अधीन चलते हैं। संगठन किसी प्रकार का क्यों न हो, उसका मौलिक उद्देश्य मानव का हित-साधन है। किन्तु राजनैतिक सत्ता बहुत बड़ी सत्ता है जिसे पाकर आदमी कभी-कभी अंधा बनता है, स्वेच्छाचारी बनता है। न्यायाधीश फ्रांक फार्टर के शब्दों में—"Man being what he cannot be safely trusted with complete power in depriving others of their rights"—Justice Frank furter. अर्थात् मानव जैसा है वैसा विश्वसनीय नहीं है जब कि वह सर्वशक्तिमान बनकर दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करता है। स्वेच्छाचारिता और स्वतंत्रता ये दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। अतएव अंधाधुंध व्यवहार करनेवाले राजनैतिक समाज के प्रतिकूल स्वातंत्र्य-प्रिय जनता—प्रगतिशील जनता विद्रोह करती है और अपहृत स्वातंत्र्य का उद्धार करती है। ऐसे ही संदर्भ में अठारहवीं शती के अंत में फ्रांस में महान क्रांति हुई जिसने समस्त यूरोप में तहलका मचा दिया और परिणामस्वरूप सारे यूरोप की राजनैतिक व्यवस्था की कायापलट हुई।

मानव की प्रगति प्रधानतः तीन बातों पर निर्भर करती है। ये तीन हैं सम्पत्ति, सुरक्षा और अत्याचार का विरोध। इन तीनों दिशाओं में मानव को वैयक्तिक अधिकार मिलने चाहिए ; क्योंकि ये मानव के मूल अधिकार हैं जिनका अपहरण होने पर मानव मानव नहीं रह पाता।

सम्पत्ति संबन्धी मूल अधिकार को रद्द करनेवाला कानून कोई भी क्यों न हो, बिलकुल गलत है ; क्योंकि वह मानव-स्वभाव के शाश्वत सत्वों के प्रतिकूल

चलता है। मानव या तो अपने लिए श्रम करता है या अपने सगे-सम्बन्धियों के हितार्थ। अथक परिश्रम कर मानव इसलिए सम्पत्ति बटोरता है कि उसका उपयोग या तो अन्य करे या उसके परिवार के लोग। यदि अपनी कमाई का उपयोग करने की गुंजाइश नहीं है, तो वह सम्पत्ति का संग्रह ही क्यों करे! यदि प्रत्येक आदमी अपने भर के लिए ही श्रम करता जाए, तो समाज में कहीं भी अतिरिक्त बचत मूल्य (Surplus Value) ही न रहे जिसके कारण समाज की प्रगति ही हमेशा के लिए बंद हो जाएगी। अतएव आजकल के हमारे अधकचरे राजनीतिज्ञ लोगों के कहे अनुसार सम्पत्ति सम्बन्धी मानव का मूल अधिकार रद्द न किया जाए। यह अधिकार तब तक रद्द नहीं किया जा सकता जब तक मानव के स्वभाव का वह कानून बदला नहीं जाता जिसके अनुसार वह अपने और अपने लोगों की सुख-सुविधा के लिए पसीना बहाता-बहाता संपत्ति का संग्रह करता है।

सम्पत्ति का मूल अधिकार जितना मुख्य है उससे कम मुख्य नहीं हैं सुरक्षा का अधिकार और अत्याचार का विरोध करने का अधिकार। मानव स्वातंत्र्य-प्रिय प्राणी है। स्वातंत्र्य उसे कहते हैं जिसके संदर्भ में मानव की बौद्धिक, नैतिक एवं रचनात्मक शक्तियों की अभिव्यक्ति के मार्ग पर रोड़े अटकानेवाले तत्वों का, चाहे वे भौतिक हों अथवा सामाजिक या मानसिक, प्रगतिशीलता के साथ निरोध किया जाता है। सम्पत्ति का अधिकार, सुरक्षा का अधिकार और अत्याचार का विरोध करने का अधिकार इनका यदि निषेध किया जाता है तो मानव के प्रगतिशील मार्ग पर विघ्न उपस्थित होते हैं। कोई भी तत्व क्यों न हो, यदि मानव पर आक्रमण करता है और अत्याचार करता है और उसकी रक्षा की व्यवस्था, उसकी सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था राजनैतिक समाज की ओर से यदि न हो, तो वह बेकार है। अतः फ्रान्स के क्रान्तिकारियों ने अपने राष्ट्र के राजनैतिक समाज के द्वारा उपर्युक्त मानवीय मूल अधिकारों की घोषणा कराई ताकि जनता सुरक्षित रहे, प्रताड़ित न रहे और अपनी कमाई का उपभोग अन्य करे।

3. **"हम भूल जाते हैं कि जिसे हम प्रकृति पर विजय समझते हैं वह प्रकृति के नियमों को जान-मान कर उनके अनुसार चलना मात्र ही है, अथवा प्रकृति के अनुसार अपने को बनाना मात्र विजय नहीं।"**

यह अवतरण स्वर्गीय बाबू राजेन्द्र प्रसाद के 'बापू के चरणों में' नामक लेख से दिया गया है। इस लेख में बाबूजी ने गांधीजी के सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों की सार-गर्भिता एवं चरितार्थता पर अच्छा प्रकाश डाला है। अलावा इसके उन्होंने मानव की शक्ति की परिमिति तथा प्रकृति की अजेयता का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत उद्धरण का आशय व्यक्त किया है।

भौतिक जगत के विकास-क्रम के अनुसार मानव अस्तित्व में आया। मानव उच्चतम प्राणी ही नहीं बल्कि सृष्टि का शृंगार भी समझा जाता है। इसका कारण यह है कि वह अपनी प्रगतिशील बुद्धिमत्ता के सहारे सृष्टि अथवा प्रकृति के अनेकानेक रहस्यों का उद्घाटन करता आया है और करता रहेगा भी। ज्यों-ज्यों प्रकृति की आश्चर्यकारी शक्तियों की जानकारी वह पाने लगा ज्यों-ज्यों वह ऐसे साधनों का आविष्कार भी करने लगा जिनके सहारे वह या तो प्राकृतिक शक्तियों से फायदा उठाता है या अपने को उन शक्तियों के अनुरूप बनाकर अपना बचाव कर लेता है।

ये साधन भी कभी-कभी इतने अद्भुत एवं अलौकिक प्रतीत होते हैं कि कुछ अदूरदर्शी लोग भरम जाते हैं और समझ बैठते हैं कि मानव ने प्रकृति को अपनी मुट्ठी में कर लिया है। वास्तव में यह प्रकृति पर मानव की विजय नहीं है। अब भी प्रकृति मानव के संकेत पर नहीं चलती है और न चलेगी। जिस तरह आदमी अपने अड़ोस-पड़ोस के लोगों के अधिकारों तथा सुख-सुविधाओं का खयाल करके अपने अधिकारों को भी जमा सकता है और स्वयं को सुखी बना सकता है उसी तरह प्राकृतिक शक्तियों का खयाल करके और उनके अनुरूप अपने को बनाकर प्रगतिशील मनुष्य अपने को सुख-सुविधा सम्पन्न बनाने में समर्थ होता है। मानव अब तक ऐसा कोई काम नहीं कर सका जिसके कारण प्रकृति उसकी मुष्टिगत हुई हो। वह प्रकृति के अंदर कोई नयी शक्ति भी भर नहीं सका। समय-समय पर वह ऐसे भड़कीले साधनों का निर्माण करने में समर्थ होता है जिनके सहारे उसे प्रकृति की एकाध निक्षिप्त शक्ति की झाँकी मात्र मिल जाती है। ये भड़कीले साधन मानव की शक्ति-सामर्थ्य को असीम नहीं बना सकते। प्रकृति की शक्ति के मुकाबले में मानव की शक्ति निस्संदेह ससीम ही है और प्रकृति अजेय ही है यद्यपि यह कहा जाता है "Man is the master of his destiny" अर्थात् अपने भाग्य का नियंता मानव आप है। अतएव कविवर जयशंकर प्रसाद ने चिंता-कातर, पर पौरुषमय युवा मनु से कहवाया —

> "प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित
> हम सब थे भूले मद में;
> भोले थे, हाँ तिरते केवल
> सब विलासिता के नद में।" (कामायनी)

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'राष्ट्रभाषा विशारद—उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. परबस सखिन्ह लखी जब सीता । भई गहरु सब कहहिं समीता ।।
पुनि आउब एहि बिरियां काली । अस कहि मन बिहंसी एक आली ।।
गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी । भयउ बिलंबु मातु भय मानी ।।
धरि बड़ि धीर रामु उर आने । फिरि आपनपौ पितु बस जाने ।
देखन मिस मृग बिहंग तरु फिरइ बहोरि बहोरि ।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़ै प्रीति न थोरि ।।

(पद्य-रत्नाकर—पृष्ठ 139)

गोस्वामी तुलसीदासजी रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि थे। 'रामचरितमानस' तुलसीदासजी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। जीवन के चिरन्तन आदर्शों के अनमोल मोती मानस में बिखरे पड़े हैं।

'वाटिका प्रसंग' मानस के बालकांड का एक हृदयहारी अंश है। तुलसीदासजी की नवीन प्रसंगोद्भावना का परिचायक है यह प्रसंग। श्रीरामचन्द्रजी भाई लक्ष्मण के साथ फूल लेने जनक राजा के सुन्दर बाग में गये। उस समय सीताजी पार्वतीजी की आराधना के लिए गयीं। सखियों ने सीताजी को लता की ओट में सुन्दर राजकुमारों को दिखलाया। प्रस्तुत प्रसंग में सुन्दर श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन से सीताजी के कोमल हृदय के पवित्र सात्विक प्रेम को मनोरम ढंग से अभिव्यक्त किया है।

जब सखियों ने सीता जी को प्रेम के वश देखा, तब सब भयभीत होकर कहने लगीं—बड़ी देर हो गयी। अब राजभवन को लौटना चाहिए। कल इसी समय फिर आएँगी, ऐसा कहकर एक सखी मन में हँसी। सखी की यह रहस्य भरी वाणी सुनकर सीता जी सकुचा गयीं। देर हो गयी जान उन्हें माता का भय लगा। बहुत धीरज धरकर वे श्रीरामचन्द्र जी को हृदय में ले आयीं और अपने को पिता के अधीन जानकर लौट चलीं। मृग, पक्षी और वृक्षों को देखने के बहाने सीताजी बार-बार घूम जाती हैं और श्रीरामचन्द्र जी की छवि देख-देखकर उनका प्रेम कम नहीं बढ़ रहा है। (अर्थात् बहुत ही बढ़ता जाता है)

तुलसीदास जी की पैनी दृष्टि ने यहाँ श्रीरामचन्द्र जी के अनुपम सौन्दर्य के साथ सीता जी के प्रेम भाव को भी व्यंजित किया है। सीताजी के प्रेम भाव को जानकर सखियाँ पहले घबराती हैं। कल इसी समय फिर आएँगी कहकर एक सखी के हँसने में कितनी मधुर व्यंजना है! सखी की रहस्यभरी वाणी सुन सीताजी का लज्जित होना कितना अधिक स्वाभाविक है! 'देखन मिस मृग बिहँग तरु

फिरइ बहोरि बहोरी। निरखि निरखि रघु वीर छवि' की पंक्ति सयानी जानकी के सात्विक प्रेम को व्यक्त करने में समर्थ है। प्रस्तुत पंक्ति 'शाकुन्तलम्' के प्रसिद्ध श्लोक—

"दर्भांकुरेण चरण: क्षतइत्यकाण्डे
तन्वी स्थिताकतिचिदेव पदानिगत्वा
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपिद्रुमाणाम्।" की याद दिलाने में समर्थ है!

2. **भले न लौटे पत्नी का पति, वह जितना भी रोवे।
किन्तु पिता के सहज स्नेह से वंचित पुत्र न होवे।।
न सही मेरे लिए, पुत्र के लिए किन्तु तो आते।
कलाकार! निज एक उपेक्षित कृति को तो अपनाते।।**

(कोणार्क—पृष्ठ 62)

श्री रामेश्वर दयाल दुबे भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के सुमधुर गायक हैं। उन्होंने अपनी प्रतिभा से अतीत की दुर्भेद्य तहों में दबी संस्कृति का उद्धार किया है। 'कोणार्क' उनका लोकप्रिय खण्डकाव्य है। नारी समस्या की पृष्ठभूमि पर देखें तो गुप्त जी की 'यशोधरा' की भांति कोणार्क भी एक प्रौढ़ कृति है। कोणार्क के सूर्य मन्दिर की कला अप्रतिम तथा अद्भुत है। लेकिन उस परम रमणीय भव्य मन्दिर के स्रष्टा शिल्पी विशु तथा उसकी अर्धांगिनी चन्द्रलेखा की करुण कथा ने मन्दिर और उसके परिवेश को आँसुओं से सिक्त कर दिया है। विशु कोणार्क के सूर्य मन्दिर के निर्माण में दत्तचित्त होकर अपनी कला को सार्थक बना रहे थे। पतिपरायणा, कोमल हृदया चन्द्रलेखा आँसू पीकर दिन बिताती थी। उसके मन में ग्रीष्म, दृगों में पावस, तन में कंप-शिशिर था। सुधि का दीप जलाकर वह प्रेम-योगिनी पति के आगमन की प्रतीक्षा करती थी। प्रतीक्षा करते बारह साल व्यतीत हुए। फिर भी कलाकार विशु वापस नहीं आये। प्रस्तुत प्रसंग में चन्द्रलेखा पिता के सहज स्नेह से वंचित अपने पुत्र की दुस्थिति पर विचार करती है।

पत्नी जितना भी रोवे पत्नी का पति भले ही न लौटे, किन्तु पिता के सहज स्नेह से वंचित पुत्र की स्थिति उससे भी दयनीय है। मेरे लिए भला, वे न आए, लेकिन कम से कम मुन्ने के वास्ते उन्हें आना चाहिए था। कलाकार! अपनी एक उपेक्षित कृति को अपनाते तो कितना अच्छा होता!

कलाकार विशु की अर्धांगिनी चन्द्रलेखा का यह कथन कितना मार्मिक एवं स्वाभाविक है! एक परित्यक्ता पत्नी प्यार की करुण वेदना की तड़प को दिल की

धड़कन में ही दबाये रखेगी। क्योंकि वह दुखिया नारी सहने के लिए ही बनी है। लेकिन पिता के सहज स्नेह और वात्सल्य से वंचित पुत्र की सघन व्यथा माँ के हृदय को कुठाराघात करेगी। इसलिए माँ चन्द्रलेखा अनुरोध करती है—"न सही मेरे लिए, पुत्र के लिए किन्तु तो आते।" 'कलाकार! निज एक उपेक्षित कृति को तो अपनाते' में कितनी अधिक व्यंजना है! विशु का आत्मज यहाँ 'एक उपेक्षित कृति' है। इस विरह वर्णन में स्वाभाविकता और मार्मिकता है। विवश होकर जीवित वैधव्य झेलनेवाली माताओं की विवशता, विषमता एवं विषाद की भावना को चन्द्र-लेखा के माध्यम से समर्थ कवि ने इस प्रसंग में अभिव्यक्त किया।

8. **जहाँ देखो वहाँ प्रेम विवाह! हम भी कहते हैं प्रेम जरूर करें, मगर ब्याह किसलिए? और तिसपर भी जहाँ पहली स्त्री जिन्दा है वहाँ प्रेम-विवाह हमारी राय में एकदम नाजायज है।** (जुआ—पृष्ठ 62)

श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित मराठी की सुप्रसिद्ध लेखिका है। 'जुआ' उनका एक स्वतंत्र सामाजिक नाटक है। विवाहित पुरुष के प्रेम-संघर्ष और सपत्नी विवाह की समस्या की नींव पर ही श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित ने अपने नाटक 'जुआ' का भव्य भवन खड़ा कर दिया है। डॉ० वसंतराव से ब्रह्मदेश से लौटी हुई एक शरणार्थी कुमारी उषा की आँखें चार हुईं। लेकिन डॉ० वसंतराव ने पहले ही किशोरी से विधिवत् विवाह कर लिया था। अतएव इस अभिशप्त तथा अवांछित प्रेम से दोनों को सतर्क करने का प्रयत्न किशोरी के हितैषियों ने किया। बाबा साहब अपनी बेटी किशोरी की दर्दनाक दशा देखकर खिन्न एवं उदास था। बाबा साहब का भतीजा श्रीकांत भी अपने शुभ चिन्तकों पर विपत्ति आते देखकर दु:खी था। डॉ० वसंतराव के अवांछित प्रेम की चर्चा दोनों ने बड़ी देर तक की। प्रस्तुत प्रसंग में बाबा साहब अपने तर्कों से प्रेम विवाह की आलोचना करता है।

आजकल जहाँ देखो वहाँ प्रेमविवाह होते रहते हैं। लेकिन बाबा साहब को नर नारी के प्रेम से विशेष आपत्ति नहीं है। लेकिन वह प्रेम-विवाह के पक्ष में नहीं है। उसका विचार है कि प्रेम जरूर करें, मगर ब्याह किसलिए? और तिसपर भी जहाँ पहली पत्नी जिन्दा है वहाँ प्रेम विवाह एकदम नाजायज है।

बाबा साहब की राय में आंशिक सत्य अवश्य है। रंग बिरंगे मंजु फूलों के पीछे जानेवाले लंपट भ्रमर की भाँति कामी लोभी पुरुष यौवन छवि से दीप्त सुकुमारियों से प्रेम विवाह करता है। उन कोमलांगियों के यौवन और तड़क-भड़क से ही उसका अनुराग रहता है। उनके मृदु हृदय की कसक-मसक से नहीं। पत्नी के

जीवित रहते वह बिना संकोच के अन्य ललनाओं से प्रेम-विवाह करने में भी आगा-पीछा नहीं करता है।

छद्मवेश धारण करनेवाले ऐसे लंपट पुरुषों से समाज का पतन हो जाएगा। प्रस्तुत प्रसंग नाटकीय व्यंग्य का सुन्दर उदाहरण है। क्योंकि बाबा साहब स्वयं पत्नी त्यागी पिता है! डॉ० वसंतराव की प्रेमिका ऊषा असल में बाबा साहब की ही परित्यक्ता अभागिनी बेटी थी! बाबा साहब की कथनी और करनी में तादात्म्य नहीं है। पात्रों को संघर्षमय वातावरण में खड़ा करके उनके हृद्गत भावों को भली-भाँति यहाँ नाटककार ने अभिव्यक्त किया है। **—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर**

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. **वह तरसते हैं मुझे और मैं तरसता हूँ उन्हें?**
   जिनके हाथों की हरारत ने उगाया मुझको।
   क्या हुए आज मेरे नाज उठानेवाले?
   हैं कहाँ क़ैद गुलामी से बचानेवाले? (पद्यमाला-II)

खाना, कपड़ा और घर मनुष्य जाति के आन, मान और जान के लिए नितांत आवश्यक वस्तु हैं; खासकर खाना अत्यंतापेक्षित भी। बिना खाये मनुष्य या अन्य किसी जीव का जीवित रहना दुसाध्य है। इस खाने के उत्पादन का प्रमुख भार किसानों पर निर्भर रहता है। इसीलिए कहा करते हैं कि "किसान देश की रीढ़ है।" किसानों के अथक परिश्रम के कारण ही देश की करोड़ों जनता भूखमरी से बची रहती है। और कहें, तो शासन चक्र भी इसी अन्न-समस्या के आधार पर घूम रहा है।

पर इन किसानों की दशा ही क्या है? अहोरात्र के अविराम परिश्रम के फलस्वरूप जो धान उत्पन्न होता है उससे उनका कुछ संबंध नहीं है; उसका स्वामी अलग है। कच्ची भूमि को खेती के योग्य बनाकर उसमें बीज बोकर सालों भर, आठों पहर उसकी सेवा-शुश्रूषा कर, कई प्रकार के प्राकृतिक प्रकोपनों से उसकी रक्षा करके किसान खेतों में कनक से भी मूल्यवान दानों को जमाकर देते हैं। पर उसका भोग करते हैं कुछ कामचोर आलसी धनी लोग।

इस प्रसंग में उर्दू के प्रगतिशील शायर सरदार जाफरी ने इस परंपरागत नीति का घोर विरोध किया है। उनका यही मत सिद्ध होता है कि परिश्रम का फल भोगने का अधिकारी वही है जो परिश्रम में तल्लीन रहता है और खेती का फल खासकर किसानों को ही भोगने का मौका दिलावें।

पूँजीपतियों के भंडारों में बंदी होकर दम घुटनेवाले दानों के विचारों के रूप में इस अन्यायपूर्ण व्यवहार पर उन्होंने अपनी राय प्रकट की है। उनका कथन है कि एक तरफ़ किसान लोग उन दानों के कण कण के लिए तड़पते रहते हैं जिनको अपने शरीर के खारे पसीने की बूंदों से सींचकर पैदा किया हो और दूसरी तरफ़ वह दाने उन किसानों के संग के लिए तड़पते रहते हैं जिनके स्नेहपूर्ण सेवा-शुश्रूषा का सौभाग्य पाया हो। मतलब यह है कि जिनके प्रयत्न से इन दानों का ढेर जमा हुए हैं उनका ही इनपर पूर्ण अधिकार होता है। इससे अनुमान कर सकते हैं कि सरदार जाफरी "कृषिभूमि कृषकों को" और "जो बोया जाता है, वही काटा जाए" सिद्धांत का समर्थन करते हैं।

2. **"यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्ष्या करनेवाली,**
तरस न खाओ कोई उसपर, आओ भोली भाली!
तुम्हें न सहना पड़ा दुख यह, मुझे यही दुख आली!
वधू वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली। (पद्यमाला-II)

अपने सौंदर्य तथा सौभाग्य पर अभिमान करनेवाली है नारी। वैसे ही अन्य नारियों के खुशहाल में वे ईर्ष्या भी करती हैं। फिर भी परस्पर दुखों में समवेदना करने का स्वभाव भी नारी में लक्षित है। इस स्त्री सुलभ स्वभाव विशेष का राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्तजी अपने यशोधरा काव्य के द्वारा प्रकट करते हैं। पौराणिक काव्यों के उपेक्षित पात्रों के उज्ज्वल महत्ता को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की कला कुशलता गुप्त जी की अपनी विशेषता है जिसका अन्य साहित्यकारों में अभाव है। पंचवटी, साकेत और यशोधरा इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। यहाँ गुप्तजी ने यशोधरा काव्य की रचना करके विरहिणी यशोधरा के मानसिक व्यथा का अति दयनीय चित्र उपस्थित किया है। ज्ञान-पिपासा बुझाने के हेतु पतिव्रता पत्नी तथा नवजात शिशु की उपेक्षा कर अर्धरात्रि के समय चुपके से खिसक जानेवाले सिद्धार्थ का वर्णन बुद्ध चरित से संबंधित समस्त ग्रंथों में पाया जाता है। पर खेद की बात है कि पति के द्वारा अकारण उपेक्षित निरपराधी यशोधरा के विरह दुख का मूल्य आँकनेवाला प्रसंग प्रस्तुत करने में समस्त साहित्यकारों की तूलिकाएँ निष्क्रिय हो गयी हैं जिसकी पूर्ति श्री गुप्त जी ने "यशोधरा" काव्य सृजन के द्वारा की है, यही गुप्तजी की असामान्य काव्य-कुशलता है।

पुत्र-जन्म के दिन रात को राजमहल के सभी लोगों की निद्रित वेला में सिद्धार्थ अपनी ज्ञान-पिपासा बुझाने के लिए घर छोड़ देता है। सारा राजमहल अपार दुख में पड़ गया। सिद्धार्थ की धर्म पत्नी यशोधरा विरह वेदना से जल रही है। उसके विकल चित्त में पूर्वकाल की चिंताएं जाग उठी हैं।

यशोधरा विश्वास कर रही थी कि सिद्धार्थ उसके सौंदर्य पर मुग्ध है। इस कारण यशोधरा अपने को अन्यों से अति भाग्यशालिनी समझती थी; इसका उसपर गर्व भी था। पर आज उस सौंदर्य का मूल्य एक दम लुप्त हो गया। अपने पतिदेव को रोक रखने में यशोधरा का मादकतापूर्ण सौंदर्य असमर्थ हो गया। सिद्धार्थ ने उसके अनुपम लावण्य का तिरस्कार कर दिया। इस प्रसंग में अपनी सखियों के सम्मुख विरहिणी यशोधरा के प्रलापों का वर्णन है।

यशोधरा कहती है—"हे सखियो, ऐसा एक समय था, जब मैं अपने भाग्य और सौंदर्य पर गर्व कर रही थी जिससे तुम लोग ईर्ष्या करती थीं। पर आज मेरी हालत अतीव दयनीय है। तुम मुझे माफ़ मत करो; क्योंकि मेरा गर्व चूर-चूर हो जाए। फिर भी मुझे खुशी है जिससे तुम लोगों को ऐसी वेदना का अनुभव करने की दुर्दशा नहीं मिलो। मेरा विचार है कि मैं आज समस्त लोक की वधूवंश की प्रतिनिधि हूँ। मैं जानती हूँ कि हमारी वंशपरंपरा का अभिमान मुझपर निर्भर है। मैं सदैव उसकी यथोचित पालन करूँगी।" अर्थात्—विरहिणी की दशा में अपने पातिव्रत्य की रक्षा अवश्य कर लूँगी जिससे अन्यों को उंगली उठाने का मौका न मिले।

पति देव मेरी परीक्षा ले रहे हैं। इस परीक्षा में मैं स्वयं विजयी बन जाऊँगी और समस्त नारी वर्ग को भी विजयी बना दूंगी। अब वह मौक़ा आ गया है। मेरी तुम लोगों से केवल यही प्रार्थना है कि मुझपर स्त्री-सुलभ सहानुभूति दिखावें—बस मैं कृतज्ञ बनूंगी। **—श्री पी. एम. दयानन्दन, मद्रास**

*

कर्मठ हिन्दी सेवक कामाक्षिराव

ता. 27-5-71 को मैं जीवन भर भूल नहीं सकता। नेहरूजी का वह अमर दिन! उसी दिन एकाएक श्री कामाक्षिरावजी का निधन हुआ। श्री साईबाबा के इस परम-भक्त की मृत्यु गुरुवार को हुई! श्री कामाक्षिरावजी मूक सेवक थे। सेवा करना ही उनका ध्येय रहा। विज्ञापनबाज़ी उन्हें बिलकुल पसंद नहीं थी। परीक्षा समिति के सदस्य जबसे बने तबसे वे परीक्षक या जाँच का काम करते ही नहीं थे। मजबूर करके जब उनको स्नातकोत्तर विभाग का परीक्षक बनाया गया था, तब उन्होंने काम तो किया लेकिन पारिश्रमिक नहीं लिया।

कामाक्षिरावजी से मैंने कई बातें सीखीं। मद्रास क्रिश्चियन कालेज में वे हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। मैं उनके अधीन काम करता था। श्री कामाक्षिरावजी रुपये-पैसे के लोभ में कभी नहीं पड़ते थे। ट्यूशन कभी नहीं लेते थे। ध्यान रखें कि ट्यूशन कामाक्षिरावजी लेते तो मालामाल हो जाते। ट्यूशन नियमानुसार मुझे और अन्यान्य लोगों को दिलाते थे। वे अध्ययनशील थे। सदा सर्वदा कोई न कोई पुस्तक उनके हाथ में रहती थी।

गत चार पाँच वर्षों से सभा के कोषाध्यक्ष की हैसियत से वे हमेशा संस्था की भलाई ही चाहते थे। असल में सभा की सेवा करते-करते वे शहीद हो गये। हिन्दी प्रचार सभा की स्वर्णजयन्ती को मनाने में उन्होंने जो निष्ठा और श्रद्धा दिखायी, जो अथक परिश्रम किया वह अविस्मरणीय है।

कामाक्षिरावजी बड़े साहित्यक थे। तेलुगु की श्री रंगनाथ रामायण का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया। श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदीजी की बाणभट्ट की आत्मकथा का उन्होंने तेलुगु में अनुवाद किया। उनको आंध्र सरकार ने एक हज़ार रुपये का पुरस्कार दिया था। अलावा इसके वे केंद्रीय गृहमन्त्रालय की हिन्दी सलाहकार समिति और आकाशवाणी की सूचना और प्रसार समिति के सक्रिय सदस्य थे। भारती साहित्यकार प्रतिष्ठान की स्थापना में उनका प्रबल हाथ रहा। कामाक्षिरावजी मानवतावादी थे। घोर अर्थसंकट के समय में भी उन्होंने सभा के सब कर्मचारियों को खासकर हिन्दी प्रचार प्रेस के लोगों को विशेष वेतन वृद्धि दिलायी थी। सहानुभूति व सहृदयता उनके स्वभाव में कूट-कूटकर भरी पड़ी थी।

मद्रास में हिन्दी प्रचार सभा की उन्नति व सुधार के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया। एक आडिटोरियम बनाना और अच्छी धनराशि सभा के लिए जमा करना उनका उद्देश्य था। ये दोनों कार्य संपन्न करना अब हमारा कर्तव्य हो गया है। सभा की स्वर्णजयन्ती के सिलसिले में उन्होंने जो सेवाएँ की है वे स्वर्णाक्षरों में अमिट रूप में लिखी रहेंगी।

—श्री पी. के. बालसुब्रह्मण्यम

ओंगोल ज़िला हिन्दी प्रचारक समारोह, ओंगोल

प्रचारक सम्मेलन— गत दिसंबर तारीख़ 31, तथा 1971 जनवरी 1 को नवनिर्मित ओंगोल ज़िला के हिन्दी प्रचारक सम्मेलन मनाया गया। उसमें महाकवि दिनकर, बाबू गंगाशरण सिंह आदि प्रमुख नेताओं ने भाग लिया। ज़िला-भर के नौ तालुकाओं से 137 प्रचारक बन्धु प्रतिनिधि के रूप में आ गये। अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रम चलाये गये। आंध्र सभा के प्रमुख कार्यकर्ताओं ने भी इसमें भाग लिया।

हिन्दी प्रेमी मण्डली, विजयनगरम

वार्षिकोत्सव—हिन्दी प्रेमी मंडली का सोलहवाँ वार्षिकोत्सव स्थानीय हिन्दी विद्यालय में ता. 11-2-'71 को सम्पन्न हुआ। विद्यालय का वार्षिक विवरण श्री पी. अप्पलराजु ने सुनाया। प्रेमी मंडली के मंत्री श्री वी वेंकटराव ने मंडली के क्रमिक-विकास और कार्यक्रम का परिचय दिया। मुख्य अतिथि श्री एस. के. जगन्नाथराव रहे। फ़रवरी और अगस्त 1970 की सभा की परीक्षाओं में उत्तीर्ण विद्यार्थियों में उन्होंने प्रमाण-पत्र वितरित किये। विद्यालय की प्रगति की प्रशंसा

---

1. ओंगोल हिन्दी महाविद्यालय के उन्नतवर्गीय छात्र-छात्राओं के साथ अध्यक्ष डा. जी. राघवाचार्युलु, उपाध्यक्ष श्री डो. कामेश्वर राव आदि दर्शित हैं।

2. प्रो. सुन्दर राम अय्यर हिन्दी विद्यालय, कुंभकोणम की स्नेह सभा ता. 14-2-'71
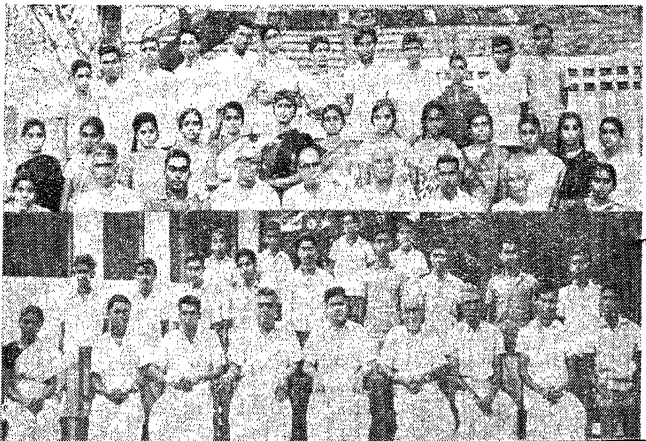
विकसे मधुमय जीवन-कलिका

श्री देव, 'केरलीय'

सुंदरता का समारोह नित
होता प्रकृति के शुभ प्रांगण
मधुरिम भावों का शुभ-नर्तन
प्रतिबिंबित जन-मानस-दर्पण ।

जग-उपवन है कांत मनोहर
मानवता से बनता सुरभिल
अग-जग पूरित ज्योति चिरंतन
उससे दीपित जीवन स्वप्निल ।

कर्मोऽदधि का करके मंथन
भरले जीवन का अमृत घट
आना जाना कर्म यहाँ का
भरता झरता नित ही यह घट ।

कंधों पर गुरु भार हमारे
दीप्त इसीसे यह जग-जीवन
त्याग-तपस्या से ही होगा
ताप-तप्त यह स्वर्णिम जीवन ।

विश्व-विटपि की अमर शाख पर
झूमे अविरत नव वय लतिका
मधुरिम मनु हारों से नित ही
विकसे मधुमय जीवन-कलिका ।

द्वापर के पात्रों की झाँकी

श्री पेन्मेत्स अप्पलराजु, एम.ए.

मैथिलीशरण गुप्तजी द्विवेदी काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। आपकी रचनाओं में भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशुद्ध वर्णन मिलता है। आप वैयक्तिक जीवन में शील को तथा राष्ट्रीय जीवन में बल-पौरुष को बड़ा महत्व देते थे।

आपकी रचनाओं का प्रभाव पाठक के हृदय तथा बुद्धि दोनों पर एक समान पड़ता है। आपके काव्य के पात्रों में धार्मिक निष्ठा के साथ राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक जीवन की स्पृहा दारुगत अग्नि की भांति सुलगती रहती है। परिस्थितियों के संदर्भ में उपयुक्त बातें सोने में सुगंधि का समावेश करती हैं, और ये स्थापनायें आपके कृष्ण-काव्य 'द्वापर' के विषय में और भी अधिक सच हैं। क्योंकि इसके पात्र स्वयं बोलते हैं। कवि की या कथानक कड़ियों के हस्तक्षेप से वे बिलकुल मुक्त हैं। काव्य के रंगमच में वे सीधे प्रवेश कर अपने जीवन तथा ध्येय का उद्घाटन कर देते।

'द्वापर' का कथानक कृष्ण के जीवन तथा लीलाओं से सम्बंधित व्यक्तियों का चित्रण है। ये समस्त पात्र यदि मोती-मनके हैं तो कन्हैये की कहानी उनको जोड़नेवाला रेशमी धागा है।

कथानक एवं पात्रों की संख्या की दृष्टि से इस काव्य को रचने के लिये बहुत विशाल पट की आवश्यकता थी। परन्तु कवि का कहना है कि इसे रचते समय आपके जीवन की परिस्थिति बहुत ही संकल्प-विकल्प पूर्ण रही। अंत में काव्य का नाम भी 'द्वापर' (सन्देह की बात) रखा गया है। काव्य को पढ़ते समय यत्र-तत्र कवि के उपर्युक्त कथन की पुष्टि भी हो जाती है।

इस रचना का आरंभ मंगलाचरण से ही होता है। इसके बाद कृष्ण का स्तवन है। फिर व्रज से सम्बन्धित पात्रों—राधा, यशोदा, विधृता, बलराम, ग्वाल-बाल, गोपी-आदि का चित्रण मिलता है। पश्चात् मथुरा वासी देवकी, उग्रसेन, कंस, अक्रूर, कृष्ण तथा उद्धव का वर्णन है। उपर्युक्त पात्रों के बीच की मानों कड़ी हो, शांति में क्रांति, प्रवाह में तरंग के रूप में विनोद-विशारद नारद का प्रवेश किया जाता है। अंत में कृष्ण का मित्र, दीन-दरिद्रों का प्रतिनिधि तथा ज्ञान धनी सुदामा का चित्रण है।

इस प्रकार द्वापर में वर्णित चरित्रों में कुछ कृष्ण के बन्धु-भाई हैं; कुछ मित्र हैं। बाकी भक्तकोटि के हैं। बीच में वर्णित नारद का कथानक से सीधा सम्बन्ध नहीं है। तो भी उसका समावेश काव्य में न असंगत है और न असम्बद्ध।

इस पात्र के द्वारा जीवन तथा समाज की प्रवृत्तियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और उन बातों में संतुलन, सार्थकता और पूर्णता लाने के लिये भगवान को अवतरित करना आवश्यक ध्वनित होता है। इसके, अपने को नारद कर्ता-धर्ता मानता है। और ब्रज-बालाओं में भूला भटका नटनागर कृष्ण को अत्याचारों का बदला मथुरा आने का इंतजाम करने फूला-फला वह कंस के पास जाता है।

'द्वापर' का कथानक प्राचीन है; पात्र पौराणिक हैं; तो भी पुराने ढांचे में दबे दबाये नहीं लगते। सजीव तथा स्वतंत्र प्रत्यक्ष होते हैं। प्रत्येक पात्र अपना पृथक व्यक्तित्व बनाये रखता है और पाठकों के दिल-दिमाग में अपना-अपना स्थान बना लेता है। क्रमशः उनका परिचय इस प्रकार है।

काव्य का प्रारंभ मंगलाचरण से होता है। इसके बाद कृष्ण तथा राधा का स्तवन है। इन दोनों का विस्तार वर्णन नहीं है। कृष्ण अपने वेणु के द्वारा सब को तारने का संकल्प कर लेता है। राधा ऐसे कृष्ण के कर्तव्य-पथ में बाधक न बनकर केवल उसकी सुधि-सुधा से तृप्त हो जाती है।

यशोदा अपने को पूर्णकाम मानती है। यह सब कृष्ण का कृपा-फल मानती है, और बदले में यही बार-बार मनाती है—

"तेरा दिया राम सब पावें
जैसे मैंने पाया— "

अपने विभव-वैभव के मद में अन्यों को गुप्तजी की यशोदा कैसे भूल सकती?

विधृता के वर्णन में कवि का मन कुछ अधिक रम जाता है। इस के विस्तार से काव्य का मूल्य तथा सौंदर्य भी बढ़ गया है। कृष्ण की मंडली की भूख मिटा कर पुण्य-लाभ प्राप्त करनेवाली ब्राह्मणी को याज्ञिक ब्राह्मण कामांध होकर उस अपनी पत्नी ब्राह्मणी को रोक देता है। इस प्रकार वह ब्राह्मणी विधृता कृष्ण-कृपा से वञ्चित हो जाती है। कवि की दृष्टि में ब्राह्मण का यह कुकृत्य समस्त नारी-समाज के प्रति पुरुषों से किये जानेवाले अत्याचार हैं। इसको भर्त्सना भी कवि खुलकर करते हैं; अंत में 'द्वापर' की विधृता पुरुष को यों ललकारती है—

'जाती हूँ पर अन्याय-समक्ष
झुककर नहीं, मरकर—'

इस ललकार में भारतीय नारी का तेज, आत्म सम्मान की भावना शील-चरित्र पर उसका आग्रह ध्वनित होते हैं।

इस के बाद हलधर बलराम का चित्रण है। अर्थहीन आचार, अंधविश्वासों के प्रति आक्रोश, निरीह कर्षक-जन का समर्थन बलराम सशक्त वाणी में करता है।

उसका यह भी कहना है—'गतानुगतिकता पर उद्योगी निर्भर नहीं रह सकता; जीर्ण वस्तुओं से जैसे घर घूरा हो जाता है वैसे ही प्राचीन आचार-विचारों से समाज। अतः वर्तमान के लिए आवश्यक युग-धर्म स्थापना करने के लिए गोप-बालकों को प्रेरित भी करता है। संगठित होने की अनिवार्यता पर जोर भी देता है। कवि की दृष्टि में गतानुगतिकता तथा जीर्ण आदर्शों के लिये कंस प्रतिनिधि है, तो चेतना तथा नवीन युग-धर्म के लिए कृष्ण। बलराम के ये वचन आज भी पीड़ित जनता के लिये राम-बाण के समान काम आते हैं—

'न्याय-धर्म के लिए लड़ो तुम
अनय राजा, निर्दय समाज से जूझो तुम—॥"

ग्वाल-बालों पर बलराम के इन वचनों का अचूक प्रभाव पड़ता है। वे चेत जाते हैं। गिरिधारी गोपाल की शक्तियों एवं जीवन लक्ष्यों से परिचित हो जाते हैं। समाज के नव-निर्माण के हेतु कृष्ण के लिए साधन के रूप में, अपने को अर्पण करने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं।

इधर मथुरा के कारागृह में देवकी तथा वसुदेव बंदी हैं। देवकी स्वेच्छाचारी, अविचारी, पशु-बल धारी अपने भाई कंस के प्रति अपना धिक्कार प्रकट करती है। यहाँ तक कि प्रभु से भी प्रश्न करती है—

"प्रभो यही तेरा प्रतिनिधि है?"

तब तो तुझे तथा तेरे प्रतिनिधि को भी धिक है—कवि की इस भर्त्सना के सामने प्रगतिवादी कवियों के सौ नारे भी मात हैं।

कंस के पिता उग्रसेन के चित्रण में कवि वृद्ध व्यक्तियों के सामने बड़ा सुन्दर आदर्श कलात्मक ढंग से स्थापित करते हैं। उग्रसेन तथा पत्नी दोनों पुत्र कंस की आज्ञा से बंदीगृह में बंद हैं। इसपर माता पुत्र कंस को भयंकर अभिशाप देने लगती हैं। लेकिन तब उग्रसेन दूसरे प्रकार के किन्तु मनोवैज्ञानिक विचार प्रस्तुत करते हैं—

"योग्य वयस्क व्यक्ति की थाती
कोई उसे न देवे तो वह क्यों न लेवे?
राज्य सौंपकर वन जाते
तो क्यों हम कारागृह में आते?"

उग्रसेन के वचनों में आज के उम्र के ढले-ढीले पिताओं एवं नेताओं के लिए काफ़ी चेतावनी छिपी हुई है।

कंस अपने को स्वयं नियंता घोषित करता है। अग्नि-धर्म को एकमात्र राजा का धर्म मानता है, मत्स्य-न्याय को ही जगत में एक अटल न्याय मानता है। पुण्य-पाप क्या है? पौरुष ही राजा के लिए एकमात्र सार है। लेकिन वह अपने मन को भय से मुक्त नहीं रख सकता। क्योंकि उसमें नैतिक तथा आत्मिक बल अणु मात्र भी नहीं है। परिणाम स्वरूप उसके चारों ओर द्वापर ही द्वापर है। आखिर उसकी वही गति होती है जो किसी भी नियंता को बदा होता है।

कंस की आज्ञा के अनुसार अक्रूर मधुबन जाता है। वहाँ के वातावरण पर मंत्रमुग्ध हो जाता है। बाद में बड़ी चिंता में पड़ जाता है कि यहाँ से कृष्ण को छीन ले जाने का पाप मुझे सौंपा गया। लेकिन कंस की आज्ञा है। और नियति का तकाजा है जो किसी के टाले थोड़े ही टल जाता है।

नंद माखनचोर को ले जाकर देवकी का 'वह कोष उसीको लौटाकर' खोया-खोया वापस आ जाता है। समस्त बृन्दावन नंद को 'ऊना-सूना' ही लगता; घर की शर्करा चींटे खाते हैं, मक्खन तो सड़ता ही जा रहा है; क्योंकि गोपाल यहाँ नहीं है।

उधर कुब्जा का भाग्य फलता है। उसका कूबड अदृश्य हो गया है। वह अपने भाग्य पर आनंदविभोर हो जाती है। बदले में अपना सर्वस्व माधव को अर्पित कर उसके हृदय में राधा के साथ चेरी के समान रहने के लिए थोड़ी जगह भर चाहती है।

फिर उद्धव आकर यशोदा तथा गोपिकाओं को ढाढस बांधता है। गुप्तजी के उद्धव के वचनों में ज्ञान के उद्गार नहीं हैं। वह परिस्थिति तथा औचित्य पर ही प्रकाश डालता है। यशोदा से कहता है—

> अब शिशु नहीं सयाना है वह,
> उसे बांधना तुझे रुचेगा क्या
> अब भी ऊखल से?

और उसकी विजय के लिए मंगल मनाने की प्रार्थना कर गोपिकाओं के पास जाता है।

द्वापर की गोपिकाएँ अपने लिए नहीं, राधा के लिए अधिक चिंतित हैं। वे कहती हैं—

> राधा हरि बन गयी, हाय यदि
> हरि राधा बन पाते
> तो उद्धव, मधुवन से उल्टे
> तुम मधुपुर ही जाते!

ये पंक्तियाँ गोपिकाओं के मुंह से निस्तृत होने के कारण बड़ी मार्मिक तथा कलात्मक बन पड़ी हैं। और कुब्जा के सौभाग्य पर ईर्ष्यालु न होकर वे इतना ही कहती हैं—

वह जहाँ रहे सुखी रहे, कुब्जा उसे देखती रहे।

अंत में सुदामा का चरित्र-चित्रण है। सुदामा अपनी स्थिति पर चिंतित नहीं। भाग्यवान बनने की लालसा भी नहीं। उसका विश्वास है—

धनी स्वादु से, दीन क्षुधा से जो कुछ खाते हैं,
किन्तु अंत में तृप्ति एक ही वे दोनों पाते हैं।

कवि का यह कथन बिलकुल सच है। धनी खाते हैं भूख के लिए कम, जीभ के लिए ज्यादा जो तन्दुरुस्ती के लिए हानिकारक ही नहीं, सामाजिक चौर्य भी है। अतः सुदामा को धनी न होने की लज्जा नहीं है। वह अपने मित्र कृष्ण को अपने से अधिक चितावान मानता है। सुदामा को अपने परिवार की ही सोच है पर कृष्ण को समस्त भू-भार की चिंता है। इसलिए वह उसके पास स्वार्थ-सिद्धि के लिए जाना नहीं चाहता। अपनी दरिद्रता को प्रभु की दया-भागिनी मानता है। तुच्छ विषयों की भिक्षा मांगने के लिए लज्जित होता है। लेकिन पत्नी के अनुरोध पर अपने बाल्य-मित्र के पास मित्रवत जाता है। साथ में 'चार चावल ही ले जाता' है।

सुदामा की इस यात्रा के साथ "द्वापर" की इति हो जाती है।

* * *

यूरोप का महानतम प्रकाशन संगठन सार्वजनिक सम्पत्ति

"स्प्रिंगर हाउस" नामक यूरोप की सबसे बड़ी प्रकाशन कम्पनी को व्यक्तिगत सम्पत्ति से सार्वजनिक सम्पत्ति में परिणत करने का निश्चय कर लिया गया है।

स्प्रिंगर हाउस का जन्म गत महायुद्ध की समाप्ति पर हुआ था। इसके जन्म और संगठन का श्रेय श्री अक्सेल स्प्रिंगर को है। पश्चिम जर्मनी में सारे दैनिक पत्रों की दो करोड़ दस लाख प्रतियाँ बिकती हैं। इसमें से 80 लाख केवल श्री स्प्रिंगर के पत्रों की हैं। स्प्रिंगर हाउस प्रति वर्ष लगभग पौने दो अरब रुपये की आय करता है।

श्री स्प्रिंगर ने कहा है कि उनका प्रकाशन संगठन अब इस स्तर पर पहुँच गया है कि उसके संचालन के दायित्व को अधिक विस्तृत किया जाना आवश्यक है। इसीलिए उन्होंने अपनी व्यक्तिगत कम्पनी को सार्वजनिक कम्पनी में बदलने का निश्चय किया है। इस कम्पनी के शेयर अब साधारण नागरिकों को उपलब्ध हैं।

के लिए जीता है और अपना सर्वस्व अर्पण करके पीड़ित मानव समुदाय के उद्धार में अपनी शक्ति, अपना त्याग एवं अपनी तपस्या द्वारा सहायक होता है।

स्वार्थ और परार्थ का द्वन्द्व हम यहाँ देखते हैं। गौतम का कथन इसके आदर्श चरित्र की झाँकी प्रस्तुत करता है।

(5) बिना बंधन के, मनुष्य समाज में रह नहीं सकता। सब से बड़ा बंधन तो समाज ही है—फिर, जिन परिस्थितियों में हम रहते हैं, क्या वे स्वयं एक बंधन नहीं हैं? (सूर्योदय—पृष्ठ 116)

श्री उदयशंकर भट्ट जी एक सुकवि एवं समर्थ नाटककार हैं। 'मायोपिया' में उन्होंने शिक्षित नारी की अंह की अति और पुरुष के प्रति उसके अस्वाभाविक आत्मप्रवंचनात्मक द्वेषभाव को सुधी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

चन्द्रिका सुधी की शिष्या थी। वह विवाह के संबंध में प्रोफ़ेसर सुधी की सलाह लेने आयी। सुधी के विचार में विवाह की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शादी जीवन को बांध लेती है। उसके विचार में जीवन बंधन के लिए नहीं है। लेकिन चन्द्रिका सुधी की बात से सहमत नहीं हुई। प्रस्तुत उद्धरण में चन्द्रिका सुधी के कथन की आलोचना करती है।

समाज मानव के लिए जरूर एक बंधन है। फिर भी व्यक्ति का कल्याण समाज के उत्कर्ष पर निर्भर है। समाज के बन्धन को मानने पर ही मनुष्य की उन्नति संभव है। जिन परिस्थितियों पर हम रहते हैं, वे स्वयं भी एक बन्धन हैं। समाज का बंधन मानव के लिए एक अभिशाप नहीं, बल्कि एक बड़ा वरदान है। प्रेम के बंधन में आबद्ध होने पर मानव देव और यह संसार स्वर्ग बन जाएगा।

—श्री पी. कृष्णन, एम. ए. कण्णनूर

'राष्ट्रभाषा विशारद'—पूर्वार्द्ध परीक्षा

(1) "मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए कर सकती हूँ।"

युगप्रवर्तक, यशस्वी कवि, कहानीकार स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कहानी 'आकाश-दीप' से यह वाक्य उद्धृत है। कहानी का मूल उद्देश्य—प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व इस उद्धरण में अच्छी तरह ध्वनित है। यह बुद्धगुप्त के प्रति चम्पा का कथन है।

चम्पा समझती है कि उसके पिता की मृत्यु का कारण बुद्धगुप्त हैं जिससे कि वह उससे घृणा ही नहीं करती है, बल्कि उससे बदला लेने की तरफ़ में भी रही

है। पर साथ ही साथ यौवन की उमंग से भरे हुए उसके हृदय में बुद्धगुप्त स्थान पाये हुए हैं। फलतः उसका हृदय परस्पर विरोधी भावों—घृणा और प्रेम का अड्डा बन गया है जहाँ पर पल-पल में प्रतीकार और प्रेम का संघर्ष चलता है। प्रेम करना मानव के स्वभाव में है। जवानी के प्रेम में वासना का पुट अवश्य रहता है। वासना या काम शरीर की आवश्यकता है; शरीर की भूख है जो बिलकुल नैसर्गिक है। इसी शरीर की भूख से प्रेरित होकर जवानी के उभार से पगी हुई चम्पा और साहसी जलदस्यु, युवक-बुद्धगुप्त एक दूसरे के प्रति आकर्षित हुए हैं और सहज प्रेम की तृष्णा की तुष्टि के लिए आतुर हैं। किन्तु चम्पा पल-पल में कर्तव्य के कशाघात से तिलमिला उठती है और मानसिक द्वन्द्व की शिकार बन जाती है और प्रेममार्ग से विरत-सी होती है। किन्तु अन्ततः उसकी 'घृणा' पर उसका 'प्रेम' ही हावी होता है; अर्थात् चम्पा के मस्तिष्क और हृदय—कर्तव्य और प्रेम के बीच में जो संघर्ष छिड़ा, जिसमें उसका हृदय ही जो बुद्धगुप्त के प्रति प्रेम से सना हुआ है, विजयी निकलता है। अतएव बुद्धगुप्त से प्रतिशोध लेने के विचार से अब तक अपनी कंचुकी में छिपाकर रखी छुरी वह समुद्र में फेंक देती है। इसके बाद भी वह अपने को अपने प्रियतम प्रेमी बुद्धगुप्त को पूर्णतः समर्पित करने में अपने को असमर्थ ही पाती है। यहाँ पर उसके अंदर प्रतिशोध का विचार सिर उठाता थोड़ा अटकाता रहता है, जिसका अनुमोदन उसका हृदय कभी नहीं करता और जिसको वह कार्यान्वित नहीं कर सकती। अतएव उसके हृदय में अन्त तक अंतरद्वद्व चलता ही रहा और वह न घर की रही, न घाट की रही।

(2) "पंडिताई भी एक बोझ है—जितनी ही भारी होती है उतनी ही तेजी से डुबोती है।"

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी आधुनिक युग के प्रसिद्ध आलोचक और यशस्वी निबन्धकार हैं। उनके निबन्धों की विशेषता यह है कि उनमें शुक्ल जीके युग की आलोचनात्मकता तथा हरिश्चन्द्र-युग की स्वछंद मनोरंजकता का रमणीय योग है।

प्रस्तुत उद्धरण आचार्य द्विवेदी के 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध से दिया गया है। भारतीय साहित्य में अशोक के फूल के नाटकीय प्रवेश और प्रस्थान का ऐतिहासिक परिचय देते हुए उन्होंने पांड़ित्य की उपादेयता की ओर भी संकेत किया है। पंड़िताई या पांडित्य का अर्थ है बहुज्ञता अथवा बहुत-सी बातों का संग्रह मात्र। ऐसे पांड़ित्य का कोई मूल्य नहीं है जिसका सार्थक उपयोग पंड़ित नहीं कर सकता। अपने पूर्वकालीन या समकालीन विधानों के कथनों को कंठस्थ करना और उनको उद्धरित करना मात्र सच्ची विद्वतता का लक्षण नहीं है। ऐसी

विद्वत्तता विद्वान के लिए भारस्वरूप ही है। किस संदर्भ में किस विद्वान ने कौन बात कही इसको पचाकर ही विद्वत्तता काम में आती है और पनपती है। काल अनन्त है और गतिशील है। काल की गति में कुछ चीज़ें पुरानी पड़ जाती है; कुछ तिरहित होती हैं और कुछ नयी आ जाती हैं, जो आगे चलकर रास्ते से हट जाती हैं, जिनके स्थान पर फिर नयी आती जाती हैं। यही बात अशोक के फूल के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। आखिर अशोक के फूल की क्या हस्ती है! इससे भी कई बेहतर चीजें दिखीं और चल बसीं। अतएव कुछ विद्वान विवेकी होकर इस सत्य को पहचान लेते हैं और समय की गति से गति मिलाते हुए अपने पांडित्य या ज्ञान-संग्रह को अपने जीवन का अंग बना लेते हैं अर्थात् कुछ अपना भी परंपरा प्राप्त ज्ञान से जोड़ देते हैं। तभी वे अपनी पंडिताई के खोखले भार से मुक्ति प्राप्त कर पाते हैं और लेन-देन के मार्ग पर चलते हुए अपना उत्थान करते हैं और संसार के अभ्युदय में हाथ बढ़ाते हैं। जो तथाकथित पंडित ऐसा नहीं कर पाते हैं वे काल के गर्त में विलीन हो जाते हैं उनका नामोनिशान तक नहीं रहता।

(3) "लेकिन आणविक युग में किसी देश को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौक़े नहीं दिये जाएँगे; और इस युग में मौक़ा चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।"

यह स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू के प्रसिद्ध लेख 'हम और हमारी संस्कृति' से जो मूलतः श्री रामधारी सिंह, 'दिनकर' के 'चार अध्याय' नामक ग्रन्थ की भूमिका के तौर पर लिखा गया है, उद्धृत है। हमारी सांस्कृतिक परंपरा और उसकी कमियों और खाइयों की झाँकी देने के बाद पंडितजी ने हम भारतीयों को चेतावनी दी है। समय गतिशील है। वह न कहीं रुक सकता, न आराम लेता। यदि वह ऐसा करे, तो संसार का दम घुट जाएगा और निस्संदेह मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा: आज की दुनिया की प्रगति, उसके ज्ञान की बढ़ती इतनी तेजी के साथ हो रही है कि हर दस साल में मानव का ज्ञान-कोश एक प्रकार से दुगुना होता जाता है। यदि पल-पल में परिवर्तित नवनवोन्मेषकारी ज्ञान से कोई जाति या राष्ट्र फायदा नहीं उठा पता, तो वह हमेशा के लिए पिछड़ा रह जाता है और बहुत संभव है कि उसका अस्तित्व ही मिट जाए। यों तो भारतवर्ष—भारत जाति मौक़े से चूक गयी। इसीलिए उसकी कथनी और करनी में कोई मेल नहीं है। सिद्धान्त ही ऊँचे-ऊँचे बघारते हैं; किन्तु आचरण का स्तर अत्यन्त हेय है। फलतः भारत जाति का व्यक्तित्व विभक्त है अर्थात् बिखरा हुआ है, संगठित नहीं है। विभक्त व्यक्तित्व के बल पर किसी भी व्यक्ति या जाति का उत्थान संभव नहीं है। यह युग आणविक है जिसकी प्रत्येक दिशा

के डग बड़े लेने भी हैं और अपनी गतिशीलता के कारण अत्यन्त सूक्ष्म भी हैं जिनकी अनुगति बड़ी सावधानी से ही की जा सकती है। ऐसी स्थिति में मौक़े भी बड़ी तादाद में मिलते हैं। विवेकी मनुष्य मौक़े की ताक़ में बैठा रहता है और हाथ लगे मौके से फायदा उठाता है। आणविक युग की यह विशेषता है कि कोई एक मौक़ा दुबारा नहीं दिखता और हमेशा नया-नया मौक़ा ही नज़र आता है। मौके पर मौके जो आते हैं, उनमें एक क्रम होता है। अतएव हर एक व्यक्ति या जाति को हर हमेशा कमर कसे रहना चाहिए, जिससे कि वह मौके से चूक न जाए और अपने को सर्वनाश के गर्त में गिरने से बचाया।

(4) "आदमी सिर्फ चारा या दाना खानेवाला जानवर नहीं है। गेहूँ तक आदमी और जानवर में फर्क नहीं था—आदमी को आदमी बनाया गुलाब ने।"

स्वर्गीय रामवृक्ष बेनीपुरी आधुनिक हिन्दी की विभूतियों में एक हैं। आपकी प्रतिभा बहुमुखी है और शैली आसानी है। आपके लेख 'नई संस्कृति की ओर' से प्रस्तुत अंश उद्धृत है। मानव और संस्कृति के संबन्ध पर इस लेख में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

जीवित रहने के लिए मानव को भी पेट भरना है। इसके लिए गेहूँ जैसी चीज़ों की अपेक्षा उसे है। मानवेतर प्राणी भी कुक्षि-पूर्ति करने की ताक में हर हमेशा रहते हैं। कुक्षि-पूर्ति करना मात्र उनका लक्ष्य है; पर मानव विलक्षण प्राणी ही नहीं वरन् सर्वोत्कृष्ट प्राणी भी है। उसकी यह सर्वोत्कृष्टता उसकी मानसिक तृषा और उसकी संतुष्टि के प्रयास में निहित है। मानसिक तुष्टि के कारण उसके प्रयास में व्यावहारिकता अथवा उपयोगिता का अंश कम होता जाता है। उसके अंदर जितनी मात्रा में सौंदर्यप्रियता ज़ोर पकड़ती है, उतनी ही मात्रा में मानव का कार्य 'निष्टप्रयोजकता' की दिशा में बढ़ता है और उतनी ही मात्रा में उसका स्तर इतर प्राणियों से ऊँचा होता है। अतएव मानव के विकास से तात्पर्य उसके शरीर और मन का विकास है। मानव अनुभव से सीखता है। सीखने की यह प्रक्रिया मानवेतर प्राणियों में नहीं है। इसीलिए वे सदियों पहले जैसे थे, वैसे ही हैं। किन्तु मानव का संस्कार होता जाता है। संस्कार या—संस्कृति मन से सम्बन्ध रखनेवाली चीज़ है और मन कर्म प्रेरक है। कर्म या कार्य के द्वारा ही मानव अपनी तरह-तरह की प्यास—शारीरिक और मानसिक प्यास बुझाता हुआ उत्कृष्टतर बनता जाता है। उत्कृष्टता की प्राप्ति नैतिकता के द्वारा होती है और नैतिकता बुद्धिमत्ता में निहित है ('Man by nature is

moral ; for he is by nature is rational.') यहीं पर मानव पशु से अलग होकर विशिष्ट बनता और उत्कृष्ट बनता है। अतएव मानव के प्रत्येक कर्म का नैतिक पहलू होता है; सांस्कृतिक महत्व होता है। संस्कृति एक दिन में बनने या मिलनेवाली चीज़ नहीं है, न उसका बनना कभी पूरा होता है; बल्कि वह सदैव बनने में ही रहता है। संस्कृति मानव की ही विशिष्ट संपदा है, जो मानव को मानव बनाए हुए है और जिसके बनने में मानव का ही हाथ है। संस्कृति की बढ़ती के लिए जितना ही किया जाए, थोड़ा ही है; क्योंकि मानव का सच्चा विकास उसके मानसिक संस्कार उसकी गुलाब-जैसी संस्कृति के उन्नयन और विस्तार पर निर्भर करता है। इसीलिए मानव के लिए शरीर की अपेक्षा मन गेहूँ की अपेक्षा गुलाब जैसे अधिक महत्व रखता है।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

'प्रवेशिका' परीक्षा

1. "अगर मेरे समुद्र में डूबने के साथ-साथ गुलामी की प्रथा के तमाम पाप और अत्याचार भी डूब जाएँ, तो मैं समुद्र में डूबकर प्राण देने को भी तैयार हो जाऊँगी।" (गद्य-कुसुम)

ये पंक्तियाँ 'अमर लेखिका स्टो' शीर्षक पाठ से ली गयी हैं। इस पाठ के लेखक हैं श्री बनारसीदास चतुर्वेदी। वर्ण्य विषय के साथ सहज आत्मीयता स्थापित करते हुए रोचक शैली में रुचिर रचना को प्रस्तुत करने में आप सिद्धहस्त हैं। प्रस्तुत लेख में लेखक विश्व प्रसिद्ध एक रचना की प्रसिद्ध के बारे में हमें बताते हैं। "टाम काका की कुटिया" के बारे में कहा जाता है कि संसार के इतिहास क्रम को परिवर्तित करनेवाले दस महान ग्रंथों में यह एक है। इसकी लेखिका हैं हेरियट एलिज़बेथ स्टो। अमेरिका में उन दिनों गुलामी की प्रथा ज़ोरों पर थी। निर्दय अमानुषिकता का नग्न ताण्डव हो रहा था। वस्तुओं के व्यापारिक विनिमय के समान नीग्रो लोगों की बिक्री और खरीदी हो रही थी। अत्याचार और अनाचार के असह्य भार से इन्सानियत लडखड़ा रही थी। दिल में गहरी पीर और आंखों में छलकते नीर लिये स्टो उस पाशविक सामाजिक व्यवस्था का वर्णन अपने उपन्यास में करती हैं। इसी प्रसंग पर उन्होंने उपरोक्त पंक्तियों को लिखा था। यदि उसकी मृत्यु की आधार शिला पर शील और विवेक स्थापित हो सके तो वह मरने को भी तैयार है। अर्थात् गुलामी प्रथा को हटाने के लिए, गुलामों की व्यथा को मिटाने के लिए समुद्र में डूबकर प्राण देने के लिए भी वह तैयार है।

2. "मनुष्यों से कहीं अधिक चिन्तनशील और बुद्धिमान तो वे हैं ही; हम मनुष्यों से कहीं अधिक उनका नियमित जीवन है, इस बात से भला, कैसे इनकार किया जा सकता है?" (गद्य-कुसुम)

ये पंक्तियाँ 'पौधे हमसे अधिक बुद्धिमान हैं' शीर्षक पाठ से उद्धृत हैं। इसके लेखक हैं श्री पी. लक्ष्मीकांत सिंहय्या। चौरासी लाख योनियों की इस विशाल सृष्टि का सिरमौर मनुष्य माना जाता है। मनुष्य की प्रतिभा का प्रकाश पृथ्वी भर में प्रतिभासित होता है। मगर खेद की बात है कि मनुष्य की तथाकथित महानता को पराभूत करनेवाली कई विशेषताएं पौधों में विद्यमान हैं। अपनी स्वाभाविक स्थावरता जन्य असुविधाओं के बावजूद भी उनकी चिन्तन शीलता के कई प्रमाण हमें प्राप्त होते हैं। आनेवाले कल की चिन्ता पौधों को जितनी है उतनी मनुष्यों को नहीं। खतरों से बचकर चलने की सहज बुद्धि भी पौधों में पर्याप्त मात्रा में है। मनुष्य अनियमित और अनियंत्रित जीवन की ओर अधिक आकृष्ट रहता है मगर पौधों के जीवन की नियमितता हमें आश्चर्यचकित कर देती है। अतएव लेखक उपरोक्त विार प्रकट करते हैं जिसकी सत्यता अकाट्य है।

3. "न्याय और विद्वत्ता, लम्बी चौडी उपाधियाँ, बड़ी-बड़ी दाढियाँ और ढीले चोगे एक भी सच्चे आदर का पात्र नहीं है।" —(गद्य-कुसुम)

ये पंक्तियाँ मुन्शी प्रेमचन्द की कहानी 'नमक का दारोग़ा' से उद्धृत हैं। प्रेमचन्द हिन्दी के सर्वाधिक ख्यात कहानीकार हैं। सामाजिक जीवन की कुरीतियों और बुराइयों का हू-ब-हू चित्रण करने में आपकी लेखनी बड़ी सफल है। धन के आगे ईमान झुक जाता है। पैसों के जाल में बड़े-बड़े फ़रिश्ते फंस जाते हैं। नमक का दारोगा मुंशी वंशीधर आदर्श के अन्धे पथ पर अकेले चलनेवाले युवक थे। उनका चित्त शुद्ध और आचारण पवित्र था। इसलिए उनकी मुठ्ठी को कोई गरम नहीं कर सकते था। मगर चारों ओर के सभी लोगों के चित्त जब दोलायमान हैं तब अकेलों की नेकी पराभूत हो जाती है। न्यायालय ने अलोपीदीन को बाइज़्ज़त रिहा कर दिया। न्यायालय के निर्णय को सुनकर वंशीधर को मालूम हुआ कि धन के आगे दुनियाँ धंस जाती है। तभी उनके मन में विश्वास होता है कि संसार में सच्चे आदर के पात्र को पद या वेश भूषा से आंकना नहीं चाहिए। बड़ी-बड़ी उपाधियों को अर्जित करने के उपरान्त भी साधु सन्त के जैसे वेष धारण करने पर भी, मनुष्य अपने धर्म और ईमान को बेच देता है। इसी सत्य को उपरोक्त पंक्तियों में प्रेमचन्द बताते हैं।

—श्री बिष्णुप्रिया, मद्रास

मध्यमा परीक्षा

'राखी' एकांकी की कथा अपने शब्दों में लिखिये :—

चित्तौड़ के राणा सांगा की मृत्यु के बाद उनका पुत्र विक्रम गद्दी पर बैठा। वह अभी छोटा बालक था, इसलिए उसकी माता ने ही पूरा राजकाज संभाला। इसी समय गुजरात के शाह का भाई चाँदखाँ अपने भाई से झगड़कर चित्तौड़ आया। उसने चित्तौड़ में शरण मांगी और रानी कर्मवती ने उसे शरण दे दी।

गुजरात का शाह इससे नाराज हुआ। उसने चित्तौड को खबर भेजी कि चाँदखाँ को मेरे पास सौंप दें, नहीं तो हम चित्तौड पर चढ़ाई करेंगे। कर्मवती ने जवाब भेज दिया कि राजपूत लोग शरणागत को छोड़ते नहीं, आप युद्ध कर सकते हैं।

गुजरात का शाह सेना सहित आ गया। उसके पास बहुत बड़ी सेना थी। चित्तौड़ की सेना बहुत कम थी। अब रानी ने राखी के दिन हुमायूँ के पास एक पुरोहित के द्वारा राखी भेजी और सहायता मांगी। हुमायूँ दो बार सांगा से हार चुका था, फिर भी एक हिन्दू स्त्री उसे राखी भेजकर भाई बना रही है, इसको उसने बहुत आदर से देखा। वह कर्मवती की सहायता के लिए तैयार हो गया।

हुमायूँ सेना लेकर चल पड़ा। लेकिन उसके पहले ही शाह की सेना चित्तौड़ पहुँच गयी थी। बरसात के कारण हुमायूँ की सेना शीघ्र नहीं आ सकी।

कर्मवती को विश्वास था कि हुमायूँ अवश्य आएंगे और विक्रम को बचाएँगे। उसने विक्रम और चांदखाँ को एक गुप्त स्थान पर भेज दिया। किले की सब स्त्रियाँ जलकर मर गयीं। कर्मवती युद्ध क्षेत्र में जाकर लड़कर मर गयी।

हुमायूँ आया, और सारा समाचार जानकर बहुत दुखी हुआ। उसने शाह को हराकर वापस भेज दिया और विक्रम को उसका राज्य दिला दिया। इस तरह हुमायूँ ने राखी का गौरव बचाया। —सुन्दरी

नागार्जुन-सागर में हिन्दीतर प्रदेशों के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी

अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ के तत्वावधान में—हिन्दीतर प्रदेशों के हिन्दी लेखकों की संगोष्ठी, आन्ध्रप्रदेश के नागार्जुन सागर—उत्तर विजयपुरी के प्राजेक्ट हाउस भवन में दि. 12-1-'70 से 18-1-'70 तक चलायी गयी। श्री वे. आंजनेय शर्मा (मंत्री, द. भा. हिन्दी प्रचार सभा, दिल्ली शाखा) इसके संयोजक रहे और श्री गोपालराव (कार्यपालक इंजीनियर, नागार्जुन सागर बाँध प्राजेक्ट) स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे। आपके उत्तम हिन्दी प्रेम और स्नेह-सौजन्य के कारण ही यह संगोष्ठी सुस्वाद और सफल सम्पन्न हो सकी। संगोष्ठी का उद्घाटन माननीय डाक्टर सरोजिनी महिषी (मंत्री, नागरिक उड्डयन एवं पर्यटन विभाग, भारत सरकार ने माननीय पी. वी. नरसिंह राव (शिक्षामंत्री, आन्ध्रप्रदेश सरकार) की अध्यक्षता में किया। दोनों अपनी मातृभाषा के साथ हिन्दी के भी नामी साहित्यकार हैं। दोनों ने अपने भाषण में इस संगोष्ठी की उपादेयता, भारत की समन्वयात्मक राष्ट्रीय भावना को फैलाने में इस संगोष्ठी की उपयोगिता, आगत लेखकों की देन जो राष्ट्रभाषा की संकल्प-साधना के लिए मूल शक्ति है, लेखकों की समस्याओं को सुलझाने के सुझाव आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला।

हिन्दीतर प्रदेशों से 35 हिन्दी लेखक इस संगोष्ठी में भाग लेने आये थे। आगत लेखकों ने अपनी-अपनी भाषा की आधुनिक साहित्यिक प्रवृत्तियों पर, मुख्यतया स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के विकास पर लेख पढ़े; बाद को उनपर चर्चा-परिचर्चाएँ हुईं। एक कविसम्मेलन हुआ। इसमें तेलुगु के लोकप्रिय युवा कवि श्री शशांक, श्री विश्वम् आदि विशेष रूप से आमंत्रित थे। हिन्दी जगत् के प्रतिनिधि के रूप में, वरिष्ठ साहित्यकार श्री क्षेमचंद्र सुमन (प्रधान सम्पादक, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली) ने इस संगोष्ठी में भाग लिया। उनके उपादेय विचार और रोचक कविता-पाठ सुनने का सौभाग्य मिला। संगोष्ठी के समापन दिन में सर्वसम्मति से हिन्दी तथा हिन्दीतर लेखकों के आपसी योगदान, संस्था-संघ द्वारा आगे के कार्यक्रमों की योजना आदि कई उपयोगी मंतव्य स्वीकृत हुए।

श्री नेहरूजी हिन्दुस्तानी विद्यालय, मद्रास-1

वार्षिकोत्सव—श्री नेहरूजी हिन्दुस्तानी विद्यालय में 1-1-'70 को वार्षिकोत्सव तथा 'हिन्दी प्रेमी संघ' की ओर से "ज्ञानदीप" नामक हिन्दी हस्तलिखित पत्रिका का तीसरा संस्करण निकाला गया।

वार्षिकोत्सव के अध्यक्ष श्री मा. तिरुमलै शर्मा (संचालक, राष्ट्रभाषा हिन्दी विद्यालय, मद्रास-1) थे। इन्हींके करकमलों से 'ज्ञानदीप' हस्तलिखित पत्रिका का प्रमोचना किया गया। आपने अपने भाषण में विद्यालय की सेवाओं की प्रशंसा की।

विद्यालय के प्रचारक श्री वी. महालिंगम ने आगन्तुकों का स्वागत किया। नेहरूजी के जीवन संबन्धी चित्रों की प्रदर्शिनी का भी आयोजन किया गया।

विद्यालय के विद्यार्थियों की ओर से चिरंजीवी बी. रामकुमार ने धन्यवाद समर्पण किया। राष्ट्रगीत के बाद मिठाइयाँ बाँटी गयीं।

हिन्दी साहित्य परिषद्, सेलम

वाग्वर्धिनी सभा—1-2-'70 रविवार प्रात: दस बजे स्थानीय सिंधी हिन्दी प्रारंभिक पाठशाला-भवन में वाग्वर्धिनी सभा हुई। हिन्दी प्रचारक श्री माधवन ने अध्यक्षासन ग्रहण किया। श्री एस. नागराजन के प्रार्थना-गायन के उपरान्त सभा प्रारंभ हुई। परिषद की कार्यकारिणी के सदस्य श्री एम. एस. तुलसीराम ने आगन्तुकों का स्वागत किया।

अध्यक्ष ने अपने प्रारंभिक भाषण में बताया कि मानव जाति के कल्याण एवं विकास के लिए "प्रजातंत्र से न कि तानाशाही" से कहाँ तक सहायता मिल सकती है। उसके बाद सर्वश्री टी. श्रीनिवासन, ए. तिरुनावुक्करसु, एन. पद्मनाभन, आर. मणि, कल्याण सुन्दरम और अन्य विद्यार्थियों ने 'प्रजातंत्र बनाम तनाशाही' शीर्षक पर भाषण दिये।

अध्यक्ष के उपसंहार-भाषण के पश्चात परिषद के मंत्री एम. आर. रंगनाथन ने धन्यवाद-समर्पित किया। राष्ट्रगीत के साथ सभा विसर्जित हुई।

कर्नाटक हिन्दी हाईस्कूल, बेंगलूर

गणतंत्र दिवस समारोह—कर्नाटक प्रांतीय हिन्दी प्रचार सभा, राजधानी कार्यालय, बेंगलूर के शाखा-कार्यालय एवं कर्नाटक हिन्दी हाईस्कूल ने सम्मिलित रूप से गणतंत्र दिवस मनाया। हाईस्कूल के प्रधानाध्यापिका श्रीमती मालतीशर्माजी ने अध्यक्षासन ग्रहण किया और शाखा-कार्यालय के व्यवस्थापक एवं सभा के संगठक श्री के. सदाशिवजी ने राष्ट्रीय झंण्डा फहराया। बाद स्कूल के छात्रों द्वारा मनोरंजन कार्य संपन्न हुआ। श्री के. सदाशिव ने अपने भाषण में गणतंत्र दिवस के बीस वर्षों के इतिहास पर प्रकाश डाला।

श्रीमती मालती शर्माजी ने छात्रों को हित-वचन सुनाये। राष्ट्रगीत के साथ सभा विसर्जित हुई। बच्चों को मिठाई बांटी गयी।

मैसूर हिन्दी प्रचार सभा, मैसूर

प्रो० डी. जवरे गौड़ को सम्मान-पत्र—ता. 3-2-'70 को मैसूर हिन्दी प्रचार सभा के द्वारा मैसूर विश्वविद्यालय के उप-कुलपति श्री डी. जवरे गौड़ को उनके द्वारा कन्नड साहित्य क्षेत्र की सेवाओं की प्रशंसा में कृतज्ञता प्रकट करते हुए एक सम्मान-पत्र प्रदान किया गया था। सम्मान-पत्र में श्री जवरे गौड़ ने कन्नड भाषा में जो अनेक पुस्तकें, कोश आदि प्रकाशित किये गये हैं उनकी प्रशंसा की। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा के स्नातकोत्तर विभाग की अध्ययन-मंडली के सदस्य के नाते सभा के साथ आपके संपर्क की प्रशंसा भी उस सम्मान-पत्र में की गयी।

उक्त अवसर पर श्री कुवेंपु शिक्षण समिति के लिए मैसूर हिन्दी प्रचार सभा के कोषाध्यक्ष श्री मे. राजेश्वरय्या द्वारा निधि समर्पित करने का कार्यक्रम भी रहा।

मैसूर हिन्दी प्रचार सभा की ओर से ता. 3-2-'70 को मैसूर विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री डी. जवरे गौड को सम्मान-पत्र प्रदान किया गया था। उसी अवसर का यह चित्र है। चित्र में श्री जवरेगौड़ सम्मान-पत्र का जवाब देते हुए दर्शित हैं।

हिन्दी प्रचारक विद्यालय, बैंगलोर

समारोह—गुरुवार ता. 8-1-'70 को हिन्दी प्रचारक वि यालय, बेंगलोर में श्री एस. चन्द्रमौली, विशेष अधिकारी, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, की अध्यक्षता में विशेष समारोह मनाया गया। श्रीमती एन. एल. लीला ने प्रार्थना गीत गया। प्रचारक विद्यालय के प्रधानाध्यापक श्री याकूब शरीफ़ ने अतिथि का हार्दिक स्वागत किया। श्री एस. चन्द्रमौली ने शिक्षण संबंधी भाषण दिया और विद्यालय की व्यवस्था, प्रधानाध्यापक और छात्राध्यापकों के उत्साह की सराहना की। विद्यालय के सहायक अध्यापक श्री हेच. आर. पाटील ने धन्यवाद अर्पण किया।

हिन्दी प्रेमी मंडली, जनगाँव

प्रमाण-पत्र वितरणोत्सव—ता. 25-1-'70 को स्थानीय एल. पी. हाईस्कूल में श्री चंदा यादगिरीजी की अध्यक्षता में प्रमाण-पत्र वितरणोत्सव संपन्न हुआ। श्री रागि नरसिंहुलुजी ने प्रमुख अतिथियों का परिचय दिया और उनका स्वागत किया। मंडली की ओर से श्री एन. एस. रामाराव ने श्री वी. पी. राघवाचारी को, श्री रागि नरसिंहुलु ने श्री के. रामचन्द्रा रेड्डि को तथा श्री चंदा यादगिरि ने श्री वेमूरि राधाकृष्णमूर्ति को नये कपड़े देकर सम्मान किया।

श्री एम. श्रीहरि, जनगाँव, श्री बी. एस. एन. शास्त्री, लिंगाल घनपूर, श्री एम. नरसिंहुलु, निडिगोंडा तथा श्री के. मल्लय्या, हन्मकोंडा, ने प्रेमी मंडली के कार्य की प्रशंसा की तथा सन्मानितों की सेवाओं का उल्लेख किया।

श्री रागि नरसिंहुलु, श्री जी. मुत्तारेड्डि, श्री अप्पाराव आदि ने भाषण दिये। श्री मुत्तारेड्डि ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की परीक्षाओं में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र देकर विद्यार्थियों को अशीष दी। श्री के. रामचन्द्रा रेड्डि ने भारतीय विद्या भवन की संस्कृत परीक्षाओं में उत्तीर्ण विद्यार्थियों को विजय पत्र प्रदान कर विद्यार्थियों को आशीष दी। श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्तिजी ने जनगाँव केन्द्र में सर्व-प्रथम व द्वितीय उत्तीर्ण विद्यार्थियों को मंडली की तरफ से पुरस्कार प्रदान किया। "रुद्रश्री" व चिट्टिमल्लि शंकरय्या ने सम्मानितों को "पद्य रत्न" प्रदान किये।

श्री वी. पी. राघवाचारी जी ने "राष्ट्रभाषा", श्री वेमूरि राधाकृष्ण मूर्तिजी ने "तुलनात्मक अध्ययन", श्री के. रामचन्द्रारेड्डजी ने "हिन्दी" के बारे में भाषण दिये तथा सम्मान के लिए अपनी कृतज्ञता प्रकट की।

श्री गौरिपेद्दि रामकृष्णा राव के धन्यवाद समर्पण के साथ सभा समाप्त हुई।

हिन्दी प्रचारक विद्यालय, मावेलिक्करा

गणतंत्र दिवस—सभा के तत्वावधान में उदयवर्मा हिन्दी प्रशिक्षण विद्यालय के अहाते में विविध कार्यक्रमों के साथ तारीख 26 जनवरी को गणतंत्र दिवस मनाया गया। नौ बजे प्रोफ़ेसर श्री एम. के. चेरियान ने पताका वंदन किया। सम्मेलन का श्रीमती षण्मुखम् अम्माल, डिस्ट्रिक्ट एज्यूकेशनल आफीसर ने अध्यक्षासन ग्रहण किया। अध्यक्षा ने भारत की स्वतंत्रता में हिन्दी का स्थान पर प्रकाश डालते हुए भाषण दिया। डॉ० एस. कृष्णय्यर एवं श्री रामवर्मा तंपान आदि ने गणतंत्र दिवस की प्रधानता पर जोरदार भाषण दिये। प्रचारक विद्यालय के प्राचार्य श्री एम. कृष्णन नायर ने आगंतुकों का स्वागत किया और प्रचार सभा के कार्यकलापों एवं हिन्दी के प्रति सरकार की उपेक्षा की आलोचना की। अध्यापिका श्रीमती बी. कमलम्मा ने कृतज्ञता प्रकट की। देशीय गान के बाद सभा विसर्जित हुई।

महाकवि राघवांक

श्री रामसुब्रह्मण्यम, 'प्रेमसंबंधर', कुन्नूर

कर्नाटक प्रान्त महान कवियों की जन्मभूमि रही है। आदिकवि 'पंप' से लेकर 'कुवेंपु' तक एक महान कवि-परंपरा चली आयी है। ऐसी कवि-परंपरा में 'राघवांक' भी एक महाकवि हैं। आप—'राघव', 'राघवांक', 'राघवांक पंडित' आदि विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं।

कन्नड साहित्य के "कविचक्रवर्ती" महामहिम श्री हरिहरदेव के भानजे थे महाकवि राघवांक। हरिहरदेव राघव पण्डित के मामा ही नहीं, अपितु शिक्षा दीक्षा के भी गुरु थे। राघवांक ने अपने मातुल गुरुदेव हरिहर के गुरुकुल में रहकर कर्नाटक के तुंगभद्रा नदी के तट हंपी (पंपाक्षेत्र) नामक पुण्य क्षेत्र में विद्यार्जन का श्रीगणेश किया। वीरशैव धर्म के होने के कारण बाल्यावस्था में अपने गुरुदेव हरिहर से वीरशैव धर्म संबंधी-लिंग-धारण, शिव-दीक्षा आदि संस्कार प्राप्त किये। अतएव वीरशैव धर्मानुसार हरिहर ही महाकवि के क्रमशः शिक्षा, दीक्षा व मोक्ष के गुरु थे।

महाकवि राघवांक की कुल छः ही कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। वे हैं—(1) हरिश्चन्द्र काव्य, (2) सिद्धराम पुराण, (3) सोमनाथ चरिते, (4) वीरेश चरिते, (5) शरभ चरित्र और (6) हरिहर महत्व। उपर्युक्त छः कृतियों में प्रथम चार प्राप्त तथा प्रकाशित हैं। अंतिम दो अब तक अप्राप्त और अप्रकाशित हैं।

राघवांक कवि कन्नड़ भाषा के जितने बड़े विद्वान थे, उतने ही बड़े विद्वान संस्कृत के भी थे। संस्कृत भाषा में भी आपकी रचनाएँ रही होंगी। अतः आपका नाम—'उभय कवि कमल रवि' सार्थक हुआ।

"रवि के लिए अगोचर, कवि के लिए गोचर" वाली उक्ति को सार्थक करनेवाले महाकवि राघवांक ने अपनी प्रतिभा तथा विद्वत्ता से "हरिश्चन्द्र काव्य", "सिद्धराम पुराण" व "सोमनाथ चरिते" को वार्धक षट्पदी (कन्नड़ का एक छन्द) में तथा "वीरेश चरिते" को उद्दण्ड षट्पदी में रचा है। पर, अब तक अप्राप्त "शरभ चरित्र" और "हरिहर महत्व" में से कोई एक शर-षट्पदी (षट्पदी का एक और भेद) में होगा—ऐसा अनुमान किया जाता है। जो कुछ भी हो राघवांक का षट्पदी-प्रयोग स्तुत्य ही नहीं, स्पृहणीय भी है। इस कारण से ही महाकवि राघवांक—"षट्पदी स्थापनाचार्य" नाम से प्रसिद्धि पाकर "षट्पदी युग" के मूल-पुरुष माने गये।

कवि राघवांक पण्डित बड़े रसज्ञ कवि थे। उनकी रचनाओं में नवरस को स्थान दिया गया है। "एको रसः करुण एव"—महाकवि भवभूति की इस उक्ति के अनुसार राघवांक का "हरिश्चन्द्र काव्य" करुण-रस प्रधान है। "सिद्धराम पुराण" भक्ति-रस प्रधान, "सोमनाथ चरिते" शृंगार व करुण-रस प्रधान तथा "वीरेश चरिते" वीर-रस प्रधान हैं। प्रत्येक कृति में राघवांक की भाषा, शैली अद्भुत व सुन्दर बन पड़ी है।

राघवांक की कन्नड व संस्कृत मिश्रित शैली बहुत सुन्दर व मधुर बनी है। लोकोक्तियों का समावेश भी उचित मात्रा में हुआ है। अलंकारों में उत्प्रेक्षा, श्लेष आदि का कम, पर स्वभावोक्ति, उपमा आदि का अधिक प्रयोग हुआ है।

महाकवि राघवांक जनता के प्रिय कवि थे। 'जनता जनार्दन' ही राघवांक का सिद्धान्त रहा। राजाओं से बढ़कर, जनता के प्रति उनका प्रेम अपार था। जनता का कल्याण ही इस कवि का अंतिम लक्ष्य रहा। जनता का उत्थान भी उनका एक महान उद्देश्य था। उनकी षट्पदी-शैली इसका प्रमाण है।

पण्डित राघवांक कन्नड साहित्य में नूतन सिद्धान्त के आविष्कर्ता व क्रान्तिकारी कवि माने जाते हैं। "जनता सुखी रहे, जनता का उत्थान हो, जन-जीवन सुसंपन्न बने" यही कवि राघवांक का महानतम लक्ष्य रहा। महाकवि राघवांक बड़े देश भक्त थे ही। कन्नड़ भाषा व कर्नाटक की महिमा का गान करने में वे बेसुध हो जाते थे। महापुरुषों की प्रशंसा में काव्य रचकर गाने का श्रीगणेश प्रथमतः हरिहरदेव, पश्चात् राघवांक से हुआ। इस दिशा में हरिहरदेव राघवांक के मार्गदर्शक रहे। राघवांक ने गुरुदेव का अनुकरण करते हुए "सिद्धराम, आदिसेट्टी और हरिहर" के बारे में सुन्दर पुराणों की रचना कर कन्नड़ साहित्य में बड़े मार्के का काम किया।

"यथा गुरु तथा शिष्य" के अनुसार राघवांक ने अपने को कविसम्राट हरिहर का योग्य शिष्य प्रमाणित किया। अपने गुरुदेव के अनुरूप ही राघवांक कन्नड़ देश के बड़े हितचिंतक थे। राघवांक कन्नड भाषा के बड़े भक्त थे, प्रेमी थे और सदा-सर्वदा कन्नड़ जनता की भलाई चाहनेवाले थे। कन्नड़ की ममता कवि की नस-नस में व्याप्त थी।

कन्नड साहित्य में महाकवि राघवांक का एक युग हो गया है। इस युग को "षट्पदी युग" कहते हैं। अतः कर्नाटक का जन-समाज आदर व प्रेम के साथ कवि का स्मरण करता है। ऐसे महान कवि को पाकर कन्नड साहित्य व कन्नड भाषा-भाषी धन्य हो गये हैं।

तेलुगु कविता

साहसी

मूल : "श्री श्री"　　　　　　　　　　　　　　　　　　अनु० : श्री एम. रंगय्या

[कवि 'श्री श्री' की षष्ठिपूर्ति के उपलक्ष्य में]

उड़ाना मत लौह विहंगों को
हिलाना मत सुप्त भुजंगों को
　　रहने दो
मस्तिष्क कुहर में
मनो वल्मीक में
अंतराल के भयंकर
प्रान्तरों में क्या विहार ?
कंटक पथ में क्या संचार ?

छेड़ना मत मौन मृदंगों को
खिजाना मत शांत तरंगों को ।
हृदय में दीप जलाना मत
माया नगर सीमा छूना मत ॥

टेलीफोन पर कविता

कार्डिफ़ नामक ब्रिटिश नगर की कला परिषद ने कविताओं को लोकप्रिय बनाने की एक नई विधि निकाली है।

इसके अनुसार, जब कोई व्यक्ति एक निश्चित नम्बर पर टेलीफ़ोन करता है तो उसे कम से कम पांच पंक्तियों की एक कविता सुनने को मिल सकती है। कार्डिफ़ कला परिषद् ने अपने कार्यालय में टेलीफ़ोन के साथ एक टेप रेकार्डर लगा दिया है। उसी से ये कवितायें सुनाई जाती हैं। यह सेवा दिन-रात प्राप्य है।

इसपर उक्त कला परिषद् को सात हज़ार रुपये से अधिक ख़र्च करना पड़ा, क्योंकि जिन 52 कवियों से कविता वाचन का प्रबंध किया गया है, उनको इसके लिए पारिश्रमिक दिया गया।

'एक भारतीय आत्मा' की काव्य कला

श्रीमती एन. प्रेमा राधाकृष्णन

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय-भावना का उद्घोष एवं हुँकार भरनेवाले कवियों में श्री माखनलालजी का नाम सर्वोपरि है। वे आखिर तक एक सिपाही बनकर रहे। भले ही आरंभ में उन्हें ख्याति न मिली हो, पर महात्माजी के असहयोग आंदोलन की पृष्ठ-भूमि में आपकी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत वाणी को मुखरित होने का सुयोग मिला। प्रेम तथा रहस्य के साथ राष्ट्रीय भावों को व्यंजित करने में वे अग्रणी रहे। उन्होंने भावुक कवि-हृदय पाया था। वे प्रेम और सौंदर्य के मार्मिक चित्रकार थे। जिस युग में प्रसाद, पंत और निराला काव्य शिल्प की सूक्ष्मता प्रस्तुत करते रहे, तब आपने काव्य-शिल्प के मनोरम उपकरणों से देश की हालत और परतंत्रता से मुक्ति के आशाभरी गीत लिखे।

विदेशी सत्ता के खिलाफ़ हृदय का आक्रोष व्यक्त करने उस ज़माने में कई कवि सामने आये। पर उनकी रचनाओं में विचारों की तेज़ी भले ही हो, अभिव्यक्ति की छटा कम थी। माखनलाल चतुर्वेदीजी अपनी रचनाओं की अभिव्यक्ति-कुशलता एवं भावों की तीव्रता के कारण अत्यंत लोकप्रिय बने। उन दिनों इन पंक्तियों को न गुनगुनानेवाला कंठ ही नहीं रहा होगा—

"मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक !
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।"

आपका जन्म सन् 1888 में हुआ। शिक्षाग्रहण के बाद आपने ज़िलाबोर्ड के स्कूल में अध्यापन कार्य किया। उन्होंने समय निकालकर हिन्दी के उच्चकोटि के ज्ञान के अलावा बंगला, मराठी, गुजराती, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। शैशव से ही कविता के प्रति उनका नैसर्गिक आकर्षण रहा। प्रारंभिक रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं। आगे चलकर 'प्रभा' पत्रिका के संपादन का कार्य भी किया। आपकी पत्रकार-वृत्ति को उत्तरोत्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। फिर जबलपुर से प्रकाशित प्रसिद्ध 'कर्मवीर' में चले गये। वहाँ से फिर असहयोग आंदोलन में भाग लेकर जेल पहुँचे। जेल से छूटते ही शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी के बुलाने पर कानपूर गये। वहाँ 'प्रभा' एवं 'प्रताप' के संपादन कार्य में लगे। फिर खुद खंडवा में आकर उन्होंने 'कर्मवीर' को चलाया। वास्तव में 'कर्मवीर' उनकी अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बना था। आपका जीवन एक समर्पित जीवन रहा, जिसमें आत्म-लाभ का स्थान लेश-मात्र भी नहीं था। आत्म-निरपेक्ष भाव से राष्ट्र-हित एवं राष्ट्र-कल्याण के लिए जीना ही आखिर तक उनका ध्येय रहा।

आज़ादी के बाद के व्यावसायिक राजनीति से वे कोसों दूर थे। सिपाही थे—

"गिनो न मेरी श्वास छुएँ क्यों मुझे विपुल सम्मान?

* * *

बन्धन दूर, कठिन सौदा है, मैं हूँ, एक सिपाही।"

कवि, लेखक, पत्रकार तथा राजनीतिज्ञ के रूप में वे रहे। निर्भीकता आपका सबसे बड़ा संबल रहा है। गांधावादी विचारधारा के प्रबल समर्थक होने के नाते सत्य और अहिंसा से आप डिगे नहीं, परन्तु उन्हीं शस्त्रों से उन्होंने साम्राज्यवादी सत्ता का सामना किया।

अब हम उनकी रचनाओं पर विचार करें। प्रारंभकाल की रचनाओं का मूल्यांकन विशेष रूप से आज तक नहीं हुआ है। हिमकिरीटिनी, हिमतरंगिणी, माता, युगचरण, समर्पण आदि आपके बहुचर्चित काव्य-संग्रह हैं। हिमकिरीटिनी को साहित्य अकादमी की ओर से पुरस्कार भी मिला है। समस्त कृतियों की विशिष्ट शैली स्वयं आपका परिचय देनेवाली है। गद्य के क्षेत्र में भी आपने अपनी शैली के अलग व्यक्तित्व का परिचय दिया है।

'एक भारतीय आत्मा' के नाम से जिस वक्त कविता भूमि पर आपने पदार्पण किया उस समय एक उत्साही युवा हृदय उनके भीतर था। समकालीन राजनीतिक चेतना से प्रभावित होकर उन्होंने अपने को सक्रिय राजनीति में झोंक दिया था। जीवन में वैभव-विलास का आनन्द क्या है? —कभी उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। देश की बलिवेदी पर बलि हो जाना ही उनका एकमात्र ध्येय था। आपकी प्रसिद्ध लघु कविता 'फूल की चाह' में यह भाव है—

"चाह नहीं सुर बालाओं के गहनों में गुंथा जाऊँ;
चाह नहीं प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,

* * *

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथपर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।"

कवि की संपूर्ण भाव-साधना का इन पंक्तियों में स्पष्ट संकेत हुआ है। "पर्वत की अभिलाषा" में भी यही भाव व्यक्त है। माखनलालजी की काव्य-साधना का विकास विभिन्न रूप में हुआ है। राष्ट्रीयता आपके जीवन का सक्रिय पक्ष रहा है। यही भावना प्रायः अधिकांश कविताओं में प्रस्फुटित है। ऐसा मानना अनुचित नहीं होगा कि आपकी कविताओं की मूल आत्मा राष्ट्रीयता के

स्वरों में ही रही। उनकी रचनाओं में राष्ट्रीय भावना के अलावा प्रेमानुभूति की मार्मिक अभिव्यंजना और रहस्यानुभूति को व्यक्त करनेवाले स्वर आदि प्रधान रहे। कम शब्दों में कहें तो राष्ट्रीयता, प्रेम और रहस्य की त्रिवेणी आपने बहायी।

बीसवीं शताब्दी के शुरूआत में राष्ट्रीयता की भावना ने इस देश में करवट ली। बापूजी ने अंग्रेजी के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध का शान्तिमय उपाय खोज निकाला। देश में अत्याचार के खिलाफ़ भड़क उठने के साहस की नई लहर दौड़ गयी। हमारे माखनलालजी का प्रवेश ठीक इसी समय कविता-क्षेत्र में हुआ। गांधीजी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए वे गा उठे—

"वीर-सा गंभीर-सा यह है खड़ा,
धीर होकर यों अड़ा मैदान में,
देखता हूँ मैं जिसे तन दान में,
धन दान में, सानंद जीवन-दान में।"

आपकी कविताओं में सत्याग्रह एवं अहिंसा की भावना का पक्ष ज्यादा रहा है। गाँधीजी ने सत्य के आग्रह को जिस दृढ़ता के साथ ग्रहण किया था, कवि ने भी उसे उतनी ही दृढ़ता के साथ अपनाया। कवि यह समझ रहा था कि देशोन्नति के लिए सामाजिक विषमता को हटाना होगा। गरीबी का आँचल पकड़कर आजादी के पथ पर बढ़ने में ही कल्याण है।

"महलों पर कुटियों की वारी,
पकवानों पर दूध-दही,
राजपथों पर कुंजें वारो,
मंचों पर गोलोक मही,
बीनूंगी निधि नहीं किसी
सौभागिनि पुण्य प्रमोदा की,
लाल वारना नहीं क्यों तू
गोद गरीब जसोदा की।

ऐसी रचनाओं में 'वीर पूजा' 'बन्धनसुख' 'निश्शस्त्रसेनानी', 'बलिपन्थी'— आदि उल्लेखनीय हैं। हिन्दी कविता में गांधीवादी विचार धारा का सबसे अधिक और प्रबल समर्थन भारतीय आत्मा ने ही किया है। लोकमान्य के निधन पर आपने लिखा—

बलि होने की परवाह नहीं;
मैं हूँ कष्टों का राज्य रहे,

मैं जीता, जीता, जीता हूँ,
माता के हाथ स्वराज्य रहे।"

देश के नवनिर्माण की ओर उस समय भी उनका ध्यान रहा है। कवि ने कई पद्यों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचार का परिचय दिया है। आपने स्वयं अनेक बार अंग्रेजी हुकूमत के समय जेल की विशेष यातनाएँ सही हैं। मरण त्योहार, कैदी और कोकिला, सिपाही, सिपाहिनी, जवानी, जालियनवाला बाग, शीर्षक कविताओं को पढ़ते ही मन में राष्ट्र-प्रेम की भावना उद्वेलित होती है। हर पंक्ति में उत्साह लहरें मारता-सा है। श्री दिनकर को छोड़कर और किसी की भी रचनाओं में यह विशिष्टता नहीं है। "सिपाहिनी" में लिखते हैं।

"चूड़ियाँ बहुत हुईं बहुत कलाइयों पर,
प्यारे! भुज-दण्ड सजा दो।
तीर कमानों से सिंगार दो,
जरा जिरह बखतर पहना दो॥"

"कैदी और कोकिला" शीर्षक कविता आपकी निर्भीकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। संतरी के पहरे की आवाज़ और कैदियों की साँसों की ध्वनि के सिवा कैद-खाने की काली दीवारों के घेरे में कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा है—ऐसी हालत में कोकिला की वाणी सुनकर कवि का मानस सवालों से आन्दोलित होता है। देखिये—

"क्या देख न सकती जंजीरों का गहना?
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश राज्य का गहना;
कोल्हू का चरंक चूं? यह ब्रिटिश राज्य का गहना,
मिट्टी पर अंगुलियों ने लिखे गान?"

आपकी कविताओं में रहस्य भरी भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रारंभ से ही रही है। रहस्यवाद का आधार निर्गुण-धारा न होकर वैष्णव-भक्ति धारा है। शब्दों के चयन एवं उनके विन्यास की शैली मनोरम है।

इनकी रहस्यवादी कविताएँ कभी-कभी कबीर की उलट बासियों का आभास देनेवाली बन पड़ी हैं। "वरदान या अभिशाप", 'मेरा उपास्य,' 'खोज' 'उपालंभ' आदि रचनाए रहस्यवादी भावों से भरी हैं।

माखनलालजी राष्ट्रवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक होते हुए भी सौंदर्य एवं प्रेम की मार्मिक व्यंजना में सिद्ध-हस्त रहे हैं। प्रेमानुभूति के चित्रण में कवि केवल कल्पना मात्र को ग्रहणकर नहीं चला है, अनुभूति ही उनकी अभिव्यक्ति का आधार है। अपनी धर्मपत्नी के निधन पर वे लिखते हैं—

"पूजा के ये पुष्प गिरे जाते हैं नीचे
यह आँसू का श्रोत यह किसके पद सींचे ?

"आँसू" शीर्षक कविता में प्रेम की व्यंजना मार्मिक ढ़ंग से हुई है।

आपकी कविता का मूल-स्वर वीर रस है। ओजस्वी भाषा में, उत्साह की पूर्ण व्यंजना में आपको पूरी सफलता मिली है। श्रृंगार की भावना को भी वे सदा अपनाते आए थे। भाषा-विन्यास में आप व्याकरण के अनुयायी नहीं रहे। आवश्यकतानुसार शब्दों में हेर-फेर करने हिचकते नहीं थे। जहाँ अच्छे शब्द मिले उसे यों अपना लेते थे। कहीं-कहीं सरल शब्दों में गूढ़ अर्थ व्यंजित हैं। समझने में थोड़ी कठिनाई अवश्य होती है। उर्दू-फारसी के ज्ञाता होने की वजह से ऐसे शब्दों का प्रयोग भी वे करते थे। आवश्यकतानुसार मुहावरों के प्रयोग भी आप करते थे।

"जहाँ से जो खुद को जुदा देखते हैं,
खुदी को मिटाकर खुदा देखते हैं,
फटी चिन्धियाँ पहिने भूखे भिखारी,
फ़कत जानते हैं तेरी इन्तजारी।"

छायावादी शैली में लिखी हुई आपकी अनेक कविताओं में कहीं पर भी अनुकरण का आभास नहीं मिलता है। यह सच है कि उनके कहने का ढ़ंग अनूठा है और वे उसे नित्य नूतनता प्रदान करना चाहते हैं, जो प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि की आन्तरिक साधना होती है।

आप हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावों के अमर गायक कवि हैं। अब तक उनकी कविताओं का पूर्ण रूप से मूल्यांकन नहीं हुआ है। आशा है कि भविष्य में इस ओर हमारी कामना की पूर्ति होगी।

हिन्दी प्रचार समाचार' का चंदा-विवरण

एक साल का	—	रु. 6-00
छः महीने का	—	रु. 3-50
एक प्रति (साधारण) का	—	रु. 0-75
प्रश्नपत्रोंवाले अंक की एक प्रति का		रु. 1-25

सभा की स्वर्ण-जयंती के उपलक्ष्य में एक मौखिक परीक्षा चलाने का निश्चय हुआ है।

1. इस परीक्षा का नाम "सरल हिन्दी परीक्षा" रहेगा।
2. यह बोलचाल की (मौखिक) परीक्षा है। लिखने पढ़ने की जानकारी की आवश्यकता नहीं है।
3. इस परीक्षा का उद्देश्य छात्रों में रोज़मर्रे के व्यवहार से संबन्धित—जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, बाज़ार, स्कूल और तत्संबन्धी बातें, यात्रा आदि बातों को छोटे-छोटे वाक्यों में व्यक्त करने की शक्ति पैदा करना है।
4. इसके लिए मौखिक शिक्षण-वर्ग कम से कम 20 दिन चलेंगे। परीक्षार्थी को कम से कम 15 दिन की हाज़िरी पाना आवश्यक है।
5. इस परीक्षा का शुल्क रु. 2/-(दो रुपये) मात्र होगा।
6. वर्ग समाप्त होने पर परीक्षा चलायी जायगी। कम से कम 35 अंक पानेवाले परीक्षार्थी उत्तीर्ण समझे जायेंगे और 60 या उससे अधिक अंक पानेवालों को पहली श्रेणी दी जायगी।
7. उत्तीर्ण छात्रों को प्रमाण-पत्र दिया जायगा।
8. परीक्षा, प्रांतों में प्रांतीय सभा द्वारा तथा केन्द्र सभा में नगर कार्यालय, द्वारा चलायी जायगी।
9. अधिक संख्या में छात्रों को प्रेषित करनेवाले प्रचारकों को प्रोत्साहित किया जायगा।
10. इस परीक्षा के लिए एक अलग पुस्तक तैयार की गयी है जिसमें आवेदन-पत्र भी है। परीक्षार्थी उस आवेदन-पत्र को भरकर भेज सकते हैं। पुस्तक का अलग मूल्य नहीं ।
11. इस संबंध में विवरण चाहनेवाले नगर-मंत्री या प्रांतीय मंत्री से संपर्क स्थापित कर लें।

द. भा. हिन्दी प्रचार सभा
मद्रास

परीक्षा-मंत्री

सप्रसंग व्याख्याएँ

'राष्ट्रभाषा प्रवीण' परीक्षा

1. साजि चतुरंग........पारावार यों लहत है। (प्राचीन पद्य प्रसून)

भूषण को दरबारी कवि न कहकर राष्ट्र-कवि कहना अधिक उपयुक्त होगा। उस समय का भारत संगठित नहीं था। भूषण ने सामयिक राजनीति को देखते हुए, शिवाजी को हिन्दू राष्ट्र का प्रतिनिधि माना। अन्याय और अत्याचारों का सामना करने की शक्ति जन-जन में पैदा की तथा भारतीयता का संदेश दिया। भूषण ने अपने काव्य में वीर रस को साकार किया है। जब शिवाजी शत्रुओं से युद्ध करने जाते थे, तब उनकी सेना कैसी थी, इसका वर्णन इस पद्य में किया है। यह मनहरण छंद भूषण लिखित शिवा बावनी से लिया गया है।

भूषण की वर्णन शैली देखिये—जब शिवाजी अपनी चतुरंगिनी सेना को सजाकर युद्ध जीतने के लिए जाते थे, तो बेहद नगाड़ों की आवाज़ें एक साथ होने लगतीं। सेना में इतने हाथी थे कि उनका मद जब झरता था तो उस मद की नदी बहने लगती। सेना के चारों ओर फैल जाने से संसार के प्राणियों में, गली गली में खलबली मच जाती। हाथियों के धक्के से बड़े-बड़े पहाड़ हिलकर उखड़ आते। शिवाजी की सेना जब चलती थी, तो उसके पैरों की धूल आकाश में भर जाती और सूर्य भी उस धूल में से तारे के समान छोटा और प्रभाहीन दिखाई देता था। इतना ही नहीं थाली में रखे हिलते हुए पारे के समान सागर भी ऊँची-ऊँची हिलोरें भरता हुआ, कांपता-सा दिखाई देता था।

2. आह, बुद्धि कहती......बोर नहाते हैं।

यह 'दिनकरजी' के रश्मिरथी काव्य के द्वितीय सर्ग से लिया गया है। प्राचीन काल में कर्म ही जाति का निर्माण करते थे। स्वयं विश्वामित्र राजर्षि होकर ब्रह्मर्षि बनने का निरंतर प्रयत्न करते रहे। उस समय यह भेदभाव अवश्य था कि गरीब और नीच कुल में उत्पन्न बालक राजकुल के बालकों के साथ शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता था। यही कारण था कि कर्ण छद्मवेश में परशुराम के पास शिक्षा प्राप्त करने गया। क्योंकि परशुराम क्षत्रियों के शत्रु थे, फिर कर्ण क्षत्रिय बनकर भला उनसे कैसे शिक्षा प्राप्त कर सकता था! जब परशुराम ने उसे अपना शिष्य बना लिया तथा उससे पुत्रवत् व्यवहार करने लगे। कर्ण को परशुराम से पिता का प्रेम और गुरु का ज्ञान मिलता रहा। जब कर्ण के क्षत्रिय होने के रहस्य का ज्ञान परशुराम

को हो जाता है, तो उसे कपट व्यवहार करने के कारण दंड का भागी होना पड़ता है, लेकिन शिक्षा बुद्धि का काम है। गुरु में शिक्षक के नाते बुद्धि होती है और गुरु के नाते शिष्य के प्रति वात्सल्यपूर्ण हृदय होता है। शाप देकर भी परशुराम का हृदय दुखी होने लगता है—वे कर्ण से कहते हैं—बुद्धि की कसौटी पर जब तुम्हारे कर्मों को कसा गया तो बुद्धि कहती है—तुम्हारे साथ जो कुछ व्यवहार किया गया है, वह उचित है। लेकिन मेरा वात्सल्य से भरा हृदय बुद्धि के इस कार्य के प्रति विद्रोह कर रहा है। बार-बार यह हृदय तुम्हारी जय मना रहा है। अचानक तुम्हारे गुण और शील मेरे हृदय में उभरते आ रहे हैं। मेरा अंतर बुद्धि के द्वारा किये गये इस कर्म पर रो रहा है। कितना स्नेह है परशुराम गुरु का अपने शिष्य कर्ण के ऊपर! कर्ण आज के शिष्यों की तरह गुरु के प्रति विद्रोह नहीं करता। शाप देने पर भी गुरु के प्रति उसकी अपार श्रद्धा में कोई अंतर नहीं पड़ता है। इस अपराध का कारण स्वयं को मानता है। क्योंकि उसने ही गुरु को धोखा दिया। लेकिन जब शिष्य इतना विनीत हो जाता है तो गुरु भी अपने किये हुए कर्म पर परशुराम की तरह भीतर ही भीतर दुखी होता है और यही चाहता है कि उसके शिष्य की सब जगह विजय हो। आदर्श गुरु और शिष्य का ज्वलंत चित्र श्री दिनकरजी ने इसमें प्रस्तुत किया है। आज के गुरु और शिष्य इससे शिक्षा प्राप्त कर देश के भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं।

—**श्री पन्नालाल त्रिपाठी**

'राष्ट्रभाषा विशारद' उत्तरार्द्ध

1. **मुरलिया बाजे जमना तीर।**
   मुरली म्हारो मन हर लीन्हो चित धरे ना धीर।
   श्याम कन्हैया श्याम कमरिया श्याम जमना नीर।
   धुन मुरली सुण सुधबुध बिसरी जर-जर म्हारो शरीर।
   मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर वेग हरो म्हारी पीर॥

(पद्य रत्नाकर—पृष्ठ 150)

मीराबाई केवल गायिका और कवयित्री ही नहीं, भगवान की अनन्य उपासिका भी थीं। उनका प्रत्येक पद अमृत रस से परिपूर्ण है। जीवन की घटनाओं के अनुकूल उनके अन्तर की भावधारा उमड़ पड़ी थी।

माधुर्य भाव से श्रीकृष्ण की उपासना करनेवाली मीरा भगवान के सामीप्य-सुख के लिए लालायित हैं। नन्द नन्दन जमना तीर पर मुरली बजा रहे हैं। मधुर मुरली रावने हमारा हृदय हर लिया। हमारा चित्त भी अधीर हो गया।

कृष्ण तो श्याम रंग का है। उसकी कमली काली है। जमुना का जल भी काला है। मुरली की मधुर आवाज़ सुनकर हमारे शरीर का कण-कण सुध-बुध भूलकर रहता है। मीरा गिरिधारी श्री कृष्ण से प्रार्थना करती हैं कि वे हमारी पीड़ा को जल्दी ही दूर करें।

मीराबाई व्रज के बाल गोपाल की उपासिका थीं। वे पहले उच्चकोटि की साधिका थीं, पीछे कवयित्री। वस्तुतः कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था। फिर भी प्रेमावेश में पड़कर उनके हृदय से जो उद्गार निकले हैं, उनमें हृदय कलिका को खिलाने की शक्ति है।

2. हीन हो गया काल कौन-सा? क्या धन-मन्त्र नहीं अब?
सायंप्रात, रात-दिन, ऋतुएँ या रविचन्द्र नहीं अब?
सावधान! युग के अधर्म को हम युगधर्म न समझें;
कर्म नहीं, हम पतित आप, यदि उनका मर्म न समझें।

(द्वापर—पृष्ठ 52)

गुप्तजी भारतीय संस्कृति के प्रस्तोता कवि हैं। वे आशावादी कवि हैं। वे कभी भी अपने युग को हीन एवं दीन नहीं समझते। 'द्वापर' के बलराम के मुँह से गुप्तजी ने 'युग धर्म' को निभाने का उपदेश दिया है।

कोई भी काल हीन नहीं है। क्या अब धन-मंत्र नहीं है? क्या अब सुबह-शाम, रात-दिन, ऋतुएँ, सूरज आदि नहीं है? युग पर दोषारोपण कर अधर्म के पथ पर जानेवालों को हलधर बलराम सावधान करते हैं। हमें युग के अधर्म को कभी युग-धर्म नहीं समझना चाहिए। यदि युग धर्म के मर्म को न समझें तो हम स्वयं पतित हो जाएँगे।

बलराम की वीर वाणी अकर्मण्य लोगों को कर्तव्य पथ पर लाने में समर्थ है। उसके विचार में श्रम और कर्तव्य की बड़ी महत्ता है। युग की हीनता एवं दीनता को दूर करने का स्तुत्य यत्न करना हर एक व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य है।

3. मनुष्य का विकास राष्ट्रीय स्वरूप में हुआ है। आज राष्ट्र का मान-अपमान, मनुष्य के व्यक्तिगत मान-अपमान से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है। यदि हमें संसार में सुख तथा सम्मान का जीवन बिताना है तो इसके लिए आवश्यक है कि हमारा राष्ट्र संसार का सम्मानित तथा प्रतिष्ठित राष्ट्र हो।

(विक्रमादित्य—पृष्ठ 79)

श्री विराज अपने नाटक 'सम्राट विक्रमादित्य' में भारत के इतिहास की एक गौरवपूर्ण झांकी प्रस्तुत करते हैं। श्री विक्रमादित्य भारतीय इतिहास के अत्यधिक

प्रतापी एवं लोकप्रिय सम्राट थे। सम्राट विक्रमादित्य के शासनकाल में देश में हूणों और शकों का नृशंस आक्रमण हुआ। अतः जनता पीड़ित एवं विवश थी। सम्राट ने आततायियों को मातृभूमि से भगा देने का प्रण किया। महाकवि कालिदास ने अपनी हुँकारमयी वाणी से जन्मभूमि के वीर लालों को जगाने का स्तुत्य यत्न किया। कालिदास ने देश के कोने-कोने में यात्रा की। उन्होंने अपने जोशीले भाषण से अकर्मण्य जनता को जगाया। प्रस्तुत प्रसंग में कविकुल गुरु कालिदास हमारे राष्ट्र को संसार का सम्मानित तथा प्रतिष्ठित देश बनाने की आवश्यकता पर ज़ोर देते हैं।

मनुष्य का विकास राष्ट्रीय स्वरूप में हुआ है। करोड़ों नर-नारियों की दृढ़ संकल्पयुक्त इच्छा राष्ट्र के निर्माण में कार्य करती है। जनता के उत्कर्ष एवं सुख के लिए ही राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ है। लेकिन राष्ट्र का मान-अपमान व्यक्ति के मान-अपमान से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है। हमारे राष्ट्र को संसार का सम्मानित तथा प्रतिष्ठित राष्ट्र बनाना हर एक नागरिक का पवित्र कर्तव्य है। भारतीयों के सुख तथा सम्मान भारत के उत्कर्ष, सुख और सम्मान पर निर्भर है। अतः कवि कालिदास अपने जोशीले भाषण में शकों के आक्रमण से पददलित वीर-प्रसवनी मातृभूमि की स्वतंत्रता को बनाये रखने का आह्वान करते हैं। महाकवि कालिदास को नाटककार ने एक सच्चे देशभक्त और कर्मवीर के रूप में यहाँ चित्रित किया है।

4. देश के स्वतंत्रता संग्राम में लोगों ने जितना त्याग और बलिदान किया, आज पशुता और दानवता के विरुद्ध संग्राम में उससे कहीं अधिक त्याग और बलिदान की आवश्यकता है। (बुझता दीपक—पृष्ठ 149)

श्री भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के सुकवि एवं प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। बुझता-दीपक, उनकी एक प्रसिद्ध एकांकी है। श्री राधेश्याम शर्मा कांग्रेस कमेटी के सभापति थे। वे गांधीजी के उच्च आदर्शों को किसी भी हालत में छोड़ने को तैयार नहीं होते। शर्माजी की प्रेमिका सुषमा सात वर्ष के बाद विदेश से शर्माजी से मिलने आयी। बेचारी प्रेमिका सुषमा शर्माजी की ग़रीबी और लाचारी देखकर निराश हुई। छोटा-सा सड़ा-गला मकान, टूटा-फूटा फर्नीचर और साधारण वस्त्र ही उसको प्राप्त था। सुषमा ने अपनी नादानी में अपने प्रेमी शर्माजी से पूछा कि तुम्हारे त्याग और बलिदान का पुरस्कार तुम्हें क्या मिला? प्रस्तुत प्रसंग शर्माजी का मार्मिक जवाब है।

हर एक व्यक्ति पुरस्कार चाहता है। त्याग और बलिदान के रास्ते में चलनेवाले बहुत ही कम हैं। स्वतंत्रता संग्राम में लोगों ने त्याग और बलिदान किया। इस कारण देश स्वतंत्र हो गया। लेकिन आज पशुता और दानवता चारों ओर छा गयी है। उसके विरुद्ध संग्राम करने की ज़रूरत है। उसके लिए त्याग और बलिदान की अधिक आवश्यकता है।

यहाँ हम एक चरित्रवान और ईमानदार व्यक्ति की आवाज़ ही सुनते हैं। युग बदला, परिस्थितियाँ बदलीं, समुदाय की मान्यताएँ बदलीं। फिर भी शर्माजी अपने उच्च पुनीत आदर्शों से टस से मस न हुए। शर्माजी का कथन कितना यथार्थ एवं मार्मिक है !

5. **क्या यह मेरा भ्रम ही है? मेरे विश्वासों की नीवों पर खड़ा कल्पना का प्रासाद क्या धोखा है? क्या सचमुच पुरुष स्त्री के प्रति इतना उदार है इतना उपयोगी, इतना आसक्त? तो क्या यह मेरी भ्रांति थी?** ('मायोपिया'—पृष्ठ 135)

श्री उदयशंकर भट्ट जी एक सुदक्ष कवि एवं नाटककार हैं। 'मायोपिया' में उन्होंने शिक्षित नारी की अहं की अति और पुरुष के प्रति उसके अस्वाभाविक आत्मप्रवंचनात्मक द्वेष भाव को सुधी के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।

प्रोफ़ेसर सुधी पुरुषों से घृणा करती थी। विवाह को वह बंधन मानती थी। एक दिन उसके यहाँ कई अतिथि आये। उनके बीच वैवाहिक जीवन के बारे में चर्चाएँ हुईं। सुधी ने उस दिन जीवन के कई दृष्टिकोण देखे। उसको उस दिन ज्ञात हुआ कि मायोपिया बुद्धि का मानसिक रोग ही है। प्रस्तुत प्रसंग केशव के जाने के बाद प्रोफ़ेसर सुधी का स्वगत कथन है।

क्या मेरे विचार भ्रम ही हैं? मेरे विश्वास का कोई आधार नहीं है? पुरुष स्त्री के प्रति इतना उदार और आसक्त हैं ! यहाँ हम प्रोफ़ेसर सुधी के आहत हृदय का चीत्कार ही सुनते हैं। उसके अन्तर्द्वन्द्व से नाटकाकार ने सुधी के भिन्न-भिन्न विचारों को भली-भांति अभिव्यक्त किया है। पुरुष के प्रति आत्मप्रवंचनात्मक द्वेष के कारण सुधी ने तारक को खो दिया। चरित्रवान केशव से भी उसको वंचित होना पड़ा। लेकिन प्रोफ़ेसर सुधी को ज्ञात हुआ कि उसके विचार भ्रम पूर्ण हैं। पुरुष स्त्री के प्रति उदार एवं आसक्त हैं।

—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

'राष्ट्रभाषा विशारद पूर्वार्द्ध' परीक्षा

1. **"चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नहीं है।"**

यह 'गद्यकुसुम' में संग्रहीत स्व. राहुल सांस्कृत्यायन के 'घुमक्कड़-जिज्ञासा' नामक लेख से लिया गया है। कविर दिनकर ने अपने एक लेख में लिखा है कि रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांस्कृत्यायन और डॉ. रघुवीर, ये तीन ऐसे व्यक्ति हिन्दी साहित्य में हुए जिनके जोड़के व्यक्ति फिर शायद ही मिलेंगे।

'घुमक्कड़ जिज्ञासा' नामक इस लेख में लेखक ने मानव की भ्रमण-वृत्ति की उपादेयता पर अच्छा प्रकाश डाला है। मानव चेतन प्राणी है। चेतनता चलने में अथवा गति में दिखती है। इस तरह जीवन का लक्षण प्रवाह में पाया जाता है; धारावाही जीवन-प्रवाह अर्थात् जीव नदी अन्यान्य जलाशयों के मुकाबले में अत्यन्त पवित्र मानी जाती है और नदी-स्नान पुण्य-प्रद तथा नदी जल सेवन स्वास्थ्यकर माना जाता है। इससे विदित होता है कि अस्थिरता एवं चंचलता में मानव-जीवन की प्रगति निहित है। इस संदर्भ में लेखक ने दो प्रसिद्ध व्यक्तियों को शंकराचार्य और बुद्ध उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया, जिनमें से एक ने अपनी ज्ञान-गरिमा की धाक कन्याकुमारी से कश्मीर तक जमाई, तो दूसरे ने अपने करुणाकलित हृदय को अधिकांश भूभाग में प्रतिध्वनित किया।

राहुल जी यात्रा करने पर ज़ोर ज़रूर देते हैं; पर यात्रा यात्रा के लिए नहीं है। चिट्ठी-पत्री भी यात्रा करती है! बैरंग पत्र का घूम आना कोई घुमक्कड़ी नहीं है। राहुल जी इस बात का बोध कराना चाहते हैं कि अनुभूत ज्ञान कोरे पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक विश्वसनीय है और इसलिए महत्वपूर्ण है। पुस्तकों के ज़रिये प्राप्त ज्ञान अनुभूत अथवा परिणत ज्ञान के बल पर ही विकास को प्राप्त करता है। पुस्तक युग-विशेष की उपज होती है। युग के बदलते ही उसकी उपज का मान थोड़ा-बहुत घटता है। यह ज़रूरी भी है। यात्रा अथवा भ्रमण के संदर्भ में व्यक्ति न जाने कितनी प्रवृत्ति-विशेषों और प्रतिभाओं के संपर्क में आता है। इस प्रकार घुमक्कड़ व्यक्ति जितने लोगों के संपर्क में आता है उनमें से कुछ पर अपना कुछ छोड़ जाता है और कुछ से थोड़ा बहुत अपने साथ ले जाता है, जिससे कि उसका मनोफलक कहीं विपुल विस्तार बनता है, तो कहीं गहन-गंभीर बन जाता है। यदि उसमें भ्रमण-वृत्ति कार्यान्वित नहीं होती, तो वह ज्यों का त्यों बना रहता, अर्थात ग्रन्थों के आधार पर प्राप्त ज्ञान को पचाने का मौका वह पा नहीं पाता और परिणामतः उसका यह ज्ञान स्थिर, अचल रह जाता। ऐसा अचल, अजीर्ण ज्ञान न उसे विकासोन्मुख ही

बनाता है और न वह उसके बलपर मानव के ज्ञान-कोश में अपना कोई उल्लेखनीय योग दे सकेगा। अतएव राहुलजी का कहना है कि ज्ञान जीवन-वाहिनी की भाँति हमेशा चलायमान रहे। तभी मानव का स्तर ऊँचा बना पाता और कल्याणकारी हो सकता।

**2. "रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं।
रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।"**

यह श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी कृत "निंदिया लागी" नामक कहानी से उद्धृत है। लेखक की इस उक्ति के द्वारा कहानी के पात्र बेनी बाबू के चरित्र का सार मानों उजागर हुआ है।

मानव विचारशील प्राणी है। विचार का आधार अनुभव है। जैसा अनुभव वैसा विचार। अतएव विचार अपने अपने होते हैं। मानव के कार्य-कलाप बहुधा उसके विचारों के अनुरूप होते हैं। विचार सप्रयोजन होते हैं अर्थात् प्रत्येक विचार अपना एक स्वार्थ लिए चलता है। बृहत् स्वार्थ का तो हृदय सदैव समर्थन करता है। किन्तु संकीर्ण स्वार्थ प्रेरित विचार के संदर्भ में ही मन और मस्तिषक के बीच में संघर्ष छिड़ता है। मन का दूसरा नाम भाव-कोश है। अनुभूति प्रधान मन ही असल में मानव के आचरण का संचालत करता है। इतना होते हुए भी समाज के परिवेश में मानव कभी कभी ऐसी दिशा में बहता है जिसका अनुमोदन मन नहीं करता है।

पशु चर्वित चर्वण करनेवाला प्राणी है अर्थात् वह जुगाली करके अपनी खुराक (शारीरिक) को अच्छी तरह पचाकर अपने शरीर को पुष्ट बना लेता है। इसीतरह मानव नामक प्राणी भी अपने ऐसे अनुभवों का चर्वण या 'जुगाली' करता है जो उसे कर्म-संकुल जीवन में प्राप्त हैं। यहाँ चर्वित-चर्वण मानसिक क्षेत्र में होता है और वहाँ शरीरिक क्षेत्र में। मानव के लिए मन शरीर की अपेक्षा ज्यादा महत्व रखता है। अतएव वह ऐसी खुराक की खोजमें भी रहता है जो उसके विचारों और मन को सबल और समीचीन बना पावें। निठल्ले की बैठक में ही असल में आदमी अपनी असलियत को पहचान पाएगा। आदमी न बिल्कुल खरा है न बिल्कुल खोटा। वह दुर्बल जरूर है। उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है अपनी दुर्बलता न मानना। अतएव यह कहना गलत है कि वह हमेशा अपनी असलियत पहचानना चाहता है; क्योंकि असलियत में खूबियों के साथ खामियाँ भी नज़र आती हैं, जिनकी ओर से आदमी अक्सर अपना मुँह फेर लेना चाहता है। यहीं पर मानव की दुर्बलता पकड़ में आती है। बेनीबाबू भी दूध के धुले नहीं है। वे जानते हैं कि मज़दूरों के साथ

उनका व्यवहार मानवोचित नहीं है; रामलखन के साथ उनका रुखाई के साथ पेश आना बर्बरतापूर्ण है। खाली समय में जब कभी भी उनको सोचना पड़ता है, तब उनके सामने उनका यह अमानुषिक रूप उजागर होता है। ऐसे संदर्भ में वे अपना सोचना जारी रखना नहीं चाहते हों, ऐसी बात नहीं है। किन्तु ऐसे सोच के कारण—जुगाली के कारण, उनका व्यवहार उन्हीं को भद्दा दिखाई देता था। तुर्रा यह है कि ऐसा आचरण किए विना वे मजदूरों से काम कराने में अपने को असमर्थ पाते हैं। मज़दूरों से काम लेना हो तो उनका ऐसा व्यवहार अनिवार्य-सा हो जाता है, जिसका अनुमोदन उनका मन कभी नहीं करता। मनोनुकूल आचरण करके कर्तव्य हमेशा निभाया नहीं जा सकता। फलत: वे अपने काले कारनामों के बारे में और-और सोचना तो चाहते हैं—अधिक से अधिक जानकारी पाना तो चाहते हैं; फिर भी वे इसलिए ऐसे संदर्भ में सोचना जारी नहीं रखते कि उससे उनके कर्यव्य-पालन में बाधा पहुँचने का भय है।

8. 'जो लोग बाहर से विशुद्ध खद्दरधारी होते हैं, वे भी विदेशी रेशम के थान खरीदकर रखते हैं; इसी से तो देश की उन्नति नहीं होती।"

श्रीमती महादेवी वर्मा आधुनिक हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री और मार्मिक गद्य लेखिका हैं। यह उद्धरण उन्हींके संस्मरणात्मक शब्द चित्र 'वह चीनी भाई' से दिया गया है। श्रीमती महादेवी वर्मा से उनकी एक मित्र ने यह आक्षेप तब किया जबकि उन्होंने उनकी अलमारी में चीनी रेशम के थान देखे थे।

स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव में आकर श्रीमती महादेवी वर्मा भी खद्दर पहनने लगी। खद्दर पहनना और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करना एक समय में देश-प्रेम समझा जाता था। अपने देशवासियों और अपनी देशी चीज़ों से प्रेम करना निस्संदेह एक अच्छा लक्षण है अपने देश से प्रेम करने का मतलब. अन्य देश से द्वेष करना नहीं है। प्रत्येक को अपने देश से प्रेम करने का अधिकार है। यह प्रेम तब तक ही अच्छा समझा जाता है, जब तक यह पक्षपात में परिणत न हो जाए। पक्षपात असहन, कट्टरता, द्वेष आदि कुत्सित प्रवृत्तियों को जन्म देता है। इन प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर आदमी आत्म-श्लाघा और परनिंदा में निरत रहता है और विशाल प्रेममय मार्ग से दूर हो जाता है। असल में विशाल प्रेममय मार्ग ही प्रगतिशील मार्ग है, जिसपर बढ़-बढ़कर आदमी अपने को आदमी बनाए रख पाता है। प्रेम किसी प्रकार का क्यों न हो, उसमें स्वस्थ प्रतियोगिता के लिए भी गुंजाइश होती है। यों तो 'चीनी भाई' भारतवर्ष को विदेश नहीं समझता है; इसलिए तो वह लेखिका से पूछता है—"हम क्या विदेशी हैं? हम तो चाइना से आता है।"

किन्तु संकट के समय जबकि उसके स्वदेश चीन पर बाहरी आक्रमण हुआ, अपना सब कुछ छोड़कर अपनी मातृभूमि चीन की ओर रवाना हुआ, उसे तनमन से विदेशी आक्रमण से बचाने की आतुरता से। एक साधारण फेरीवाले के अंदर स्वदेश प्रेम की उस अचंचल दृढ़ता ने लेखिका को एकदम अभिभूत किया। इसलिए तो उन्होंने प्रवल स्वदेशप्रेमी चीनी भाई के स्मृति-चिह्न के रूप में उसके कपड़े के थान अलमारी में सुरक्षित रखे। उसके स्वदेश प्रेम की प्रशंसा किए बिना उनसे रहा नहीं जाता। क्योंकि वे भी स्वदेश-प्रेम से सनी हुई हैं। सच्चे स्वदेश-प्रेमी को अन्य स्वदेश-प्रेमी के अचंचल प्रेम से अनुप्रेरणा अवश्य मिलती है। सच्चा प्रेम कट्टरता अथवा पक्षपात से कोसों दूर रहता। अतएव 'चीनी भाई' के दिए हुए कपड़े के थान लेखिका के स्वदेश प्रेम के संबल के रूप में उनकी अलमारी में सुरक्षित हैं। बेचारी उनकी 'मित्र' विदेशी कपड़े के थानों के पीछे की यह गुप्त प्रेरणा क्या समझे! अतएव उनका श्रीमती वर्मा के प्रति यह आक्षेप कितना बेतुका है? इसलिए तो लेखिका उनके अज्ञान के प्रति अपनी हँसी को कष्ट से रोक पाईं।

—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री

प्रवेशिका परीक्षा

1. **विपुल कल्पना से त्रिभुवन की**
   विविध रूप धर, भर नभ अंक
   हम फिर क्रीडा कौतुक करते,
   छा अनन्त उर में निःशंक— (पद्यमाला)

श्री सुमित्रानन्दन पन्त जी प्रकृति के चिर युवा प्रेमी के रूप में हिन्दी काव्य जगत् में प्रसिद्ध हैं। प्रकृति की अनन्त रमणीयता आपकी कल्पना की सतरंगी छटा से आप्लावित होकर जब प्रकट होती है, तब पाठक अतीव मुग्ध हो जाता है। प्रस्तुत पंक्तियाँ बादल शीर्षक कविता से उद्धृत हैं। आकाश में आवारों की तरह फ़िरनेवाले बादलों की कहानी उनकी ज़बानी कवि सुनाते हैं। मनुष्य के हृदय में कल्पनाएँ अनन्त हैं। उन कल्पनाओं के रूप और आकृति भी अनन्त हैं। उसी प्रकार बादल भी अपनी इच्छा के अनुसार बहुरूपियों की तरह विविध रूप धरकर विशद गगन में विचरण करते हैं। शिशु सुलभ उल्लास और चंचलता के साथ खेलते रहते हैं। आकाश के अनन्त उर को अपना घर बनाकर, निडर होकर उछलते कूदते रहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार कल्पना के ऊपर कोई नियन्त्रण सम्भव नहीं, उसी प्रकार बादलों का विचरण भी स्वच्छन्द और अबाधित है।

2. हम जमीं को तेरी नापाक न होने देंगे
तेरे दामन को कभी चाक न होने देंगे
तुझको जीते हैं तो गमनाक न होने देंगे
ऐसी अकसीर को यूँ खाक न होने देंगे (पद्यमाला)

जोश मलीहाबादी उर्दू के नयादौर के कवियों में जबर्दस्त हस्ती के माने जाते थे। आपकी कविताएँ छलकते पैमानों की तरह देश प्रेम की भावनाओं से लबालब भरी हुई हैं। अपने देश पर आपको बड़ा नाज है और आपके हृदय में देश के बडप्पन को बनाये रखने की बड़ी आरज़ू है। वतन शीर्षक प्रस्तुत कविता में भी आपके तहे दिल से उमड़नेवाले देश प्रेम के दहकते अंगारों सी भावनाओं से हम परिचित होते हैं। कवि कहते हैं कि अपने देश की ज़मीन को कभी अपवित्र नहीं होने देंगे। अर्थात् इस देश को परपदाक्रान्त होने से बचाने का प्रयत्न हमेशा करेंगे। कवि आगे कहते हैं कि इस देश के विस्तार को अखण्डित रखने का अनवरत प्रयास करेंगे। देश पर दुख दर्द के बादल छाने न देंगे। प्राणों की बाजी लगाकर भी स्वदेश की आत्मा को स्वस्थ, उन्नत और अभंग रखने की कोशिश करेंगे। देश प्रेम से बढ़कर बड़ा लक्ष्य और क्या हो सकता है! देश को पीडित करने-वाले हर रोग के लिए वह रामबाण है। इसे अपनी असावधानी या आलस्य से हम कभी खोएँगे नहीं। जहाज डूब जाता है, तो उसके साथ सभी मुसाफिर जल समाधि में लीन हो जाते हैं। इसी तरह देश परतन्त्र हुआ, तो सारी प्रजा गुलाम बन जाती है। कवि कहते हैं कि इस देश में ऐसी हालत को फिर कभी आने न देंगे।

3. याद रखिये कि आज़ादी ऐसी चीज़ है कि जिस वक्त गफलत में पड़े फिसल जाएगी। (गद्य-कुसुम)

प्रस्तुत पंक्तियाँ हमारी ताकत और जिम्मेदारियाँ शीर्षक पाठ से उद्धृत की गयी हैं। उक्त पाठ में भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू के उद्गार व्यक्त किये गये हैं। हमारा स्वतन्त्रता दिवस देश के लिए मूल्यांकन का दिवस है। हमारी पिछली भूलों को पहचानकर, उनकी परछाई से बचकर आनेवाले कल की तसबीर को उजली और सुहानी बनाने का प्रयास हमें करना चाहिए। जवाहरलालजी हमें ऐसे ही उपदेश देते हुए स्वतन्त्रता का महत्व समझाते हैं। अंग्रेज़ी में कहावत है कि "सदा जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।" अपने भाग्य विधाता खुद बन जाने पर मनुष्य को प्रत्येक विषय पर स्वतन्त्र निर्णय करना पड़ता है और उसके सुखदुख को भोगना पड़ता है। पर ऐसे निर्णय के मूल कड़वे होने पर भी अप्रिय नहीं लगते। अगर हम अपना निर्णय आप करना भूल जाएँगे, तो हमारे निर्णयों का

निर्देश करनेवाला कोई आ जाएगा और देखते देखते हमारी हस्ती जंजीरों में गिरफ़तार हो जाएगी। इसलिए आज़ादी की मांग है कि हमारी आंखें सदा चौकन्नी रहें। हम थोड़े सुस्तायेंगे तो हमारी आजाद बस्ती पस्त हो जाएगी। आज़ादी के दुश्मन देश के बाहर भी हैं, अन्दर भी हैं। इनके आक्रमण की आशंका हमेशा बनी रहती शासन को डगमगा देने के लिए और आर्थिक व्यवस्था को अस्तव्यस्त करने के लिए ये दुश्मन हमेशा तैयार रहते हैं और हमारी आंखों में थोड़ी सी झपकी भर की प्रतीक्षा करते हैं। इनके ज़हरीले फणों को दबाये रखना चाहिए। यह तभी संभव है, जब हम सदा जागरूक रहें।

—श्री विष्णुप्रिया, मद्रास

एक निवेदन!

प्रचारक बन्धुओं से हमारा नम्र निवेदन है कि वे 'सभा-समारोह' स्तंभ के लिए मेटर भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें:—

1. इस उपलक्ष्य में जो मेटर भेजी जाय वह अत्यंत संक्षिप्त व स्पष्ट भाषा में लिखी हो। बहुत ज़रूरी होने पर ही फोटो या ब्लाक, जो मेटर के साथ मिले स्वीकृत हो सकती है। किसी भी हालत में फोटो-प्रूफ़ स्वीकृत नहीं होगी।

2. फोटो के बदले ब्लाक मिलने पर उसपर यथाशीघ्र विचार किया जायगा। अन्यथा देर होने या फोटो अस्वीकृत होने की संभावना है।

3. 'सभा-समारोह' में भाषणों, रपोर्ताज व नामावलियों का विवरण किसी भी हालत में नहीं दिया जायगा। इन विवरणों के साथ जो मेटर मिलेगी उसकी अस्वीकृत होने की भी संभावना है।

4. किसी विद्यालय, मंडली या अन्यान्य संस्था को उपरोक्त प्रकार की किसी विशेष रिपोर्ट या सूचना निकालनी हो, तो उसे विज्ञापन के रूप में समाचार में दे सकते हैं, जिसके लिए निश्चित विज्ञापन दर अग्रिम चुकाना पड़ेगा। (इस उपलक्ष्य में आवश्यक जानकारी के लिए समाचार के परिवर्तित विज्ञापन दर इसी अंक में अन्यत्र देख लें।)

—संपादक

सभा में श्री कोठावळे का आगमन

मैसूर राज्य की लेजिस्लेटिव असेम्बली के अध्यक्ष माननीय श्री कोठावळे ने ता. 2-7-1970 को सभा में पधारकर सभा के विभिन्न विभागों का संदर्शन किया। संदर्शन के बाद प्रधान मंत्री के कक्ष में श्री कोठावळे जी के सम्मानार्थ एक सभा हुई। सभा के कोशाध्यक्ष श्री ए. सी. कामाक्षि राव ने अध्यक्षासन ग्रहण किया। चाय-पार्टी के उपरान्त सभा के प्रधान मंत्री श्री शा. रा. शारंगपाणि ने सभा के कार्य-कलापों का परिचय देते हुए माननीय अतिथि का स्वागत किया। सभा के कार्य-कर्ताओं का परिचय भी उन्हें कराया गया। इसके बाद श्री कामाक्षि राव ने सभा की स्वर्ण-जयन्ती का कार्यक्रम, सभा की आर्थिक अवस्था आदि पर प्रकाश डालते हुए माननीय अतिथि के सहयोग की प्रार्थना की।

माननीय श्री कोठावळे ने स्वागत का उत्तर देते हुए सभा की निष्ठायुक्त सेवा की प्रशंसा की। उन्होंने बताया कि यह संस्था पूज्य बापूजी द्वारा संस्थापित है तथा बहुत अच्छे उद्देश्यों को लेकर चल रही है, सारे भारत में इसका सुनाम है, अतः इस संस्था को सभी वर्गों के लोगों से प्रोत्साहन प्राप्त होना ही चाहिए। उन्होंने सभा के मंगलमय भविष्य की चाह भी की।

श्री बी. एम. कृष्णस्वामी, साहित्य मंत्री ने धन्यवाद समर्पण किया।

कर्नाटक प्रान्तीय हिन्दी प्रचार सभा, धारवाड़

रामदुर्ग—कर्नाटक प्रांतीय हिन्दी प्रचार सभा, धारवाड़ के प्रधान संगठक श्री दा. रा. पुराणिकजी जब संगठन कार्य के सिलसिले यहाँ पधारे, तब हिन्दी सदन में स्थानीय चुने हुए प्रचारकों की एक बैठक बुलायी गयी। इस बैठक में श्री पुराणिकजी ने सभा की परीक्षाओं के लिए अधिकाधिक परीक्षार्थियों को तैयार करने की सलाह प्रचारकों को दी। प्रचारक बंधु श्री एन. वाय. सोनारजी ने प्रचारकों की कठिनाइयों को व्यक्त किया। समय-समय पर संगठक महोदय के इस प्रकार के संदर्शन से कठिनाइयाँ दूर होने में आसानी होती है। सभा के कार्य की प्रगति के लिए कुछ ठोस सुझाव भी दिये गये। श्री ए. ए. काजी ने धन्यवाद दिये। जलपान के साथ बैठक सामाप्त हुई।

बेलगांव—सभा के प्रधान संगठक श्री दा. रा. पुराणिकजी यहाँ ता. 22-5-70 को संगठन कार्य से आये। सभा के भवन में शामको प्रचारकों के

श्री पुराणिकजी ने सभा के कार्यकलापों को नये सिरे से कार्यगत करने की योजना रखी। साथ ही सभा के प्रकाशनों और भारतवाणी पत्रिका की परीक्षार्थियों के लिए उपयुक्तता पर प्रकाश डाला। सभा के मंत्री श्री द. पां. साटमजी ने आगंतुकों का परिचय आदि करा दिया। प्रचारकों ने भी प्रचार प्रसार कार्य की उपयुक्त सलाहें दे दी। श्री जी. आर. अम्मणगीजी ने धन्यवाद दिये और एक खासा सुझाव रखा कि बेलगाँव जिले के प्रचारकों की एक सम्मिलित बैठक शीघ्र बुलाने का प्रबंध सभा करें, जिससे यहाँ के प्रचार प्रसार कार्य में और भी तेज़ी से प्रगति की जा सकती है।

आपने बेलगाँव भ्रमण में शहापुर व होसुर केन्द्रों का भी संदर्शन किया और वहाँ के प्रचारक श्री एन. के. कट्टी और श्री नागोजवर आदि प्रचारकों से मिले। बेलगाँव नगर के अन्यान्य प्रचारकों से भी आपने सलाह मशविरा किया जिससे भावी प्रचार कार्य की प्रगति हो।

चिक्कोडी—ता. 27-5-70 को प्रांतीय सभा के प्रधान संगठक श्री दा. रा. पुराणिकजी आर. डी. हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक श्री बी. सी. कलावंत, हिन्दी अध्यापक आदि से मिले। सभा का ठोस कार्य फिर से इस केन्द्र में करने की सलाह श्री पुराणिकजी ने प्रचारकों को दी। सभा के पुराने प्रचारक श्री वा. गो. चिंचणीकरजी के मार्गदर्शन में कार्य आगे बढ़ाने की अपनी तैयारी प्रचारक श्री एम. एन. कुरले, श्री कलावंतजी तथा पुष्पा ओतारी आदि ने व्यक्त की। चिक्कोडी केन्द्र के भ्रमण के अवसर पर श्री पुराणिकजी एक्संबा, सदलगा, कोथली आदि केन्द्रों में भी गये और वहाँ के प्रचारक श्री बी. बी. कमती, श्री एस. टी. उपाध्याय तथा केन्द्र व्यवस्थापक श्री वी. बी. नाईक आदि से मिलकर प्रचार कार्य संबंधी सलाह मशविरा किया।

हिन्दी विद्यार्थी सांस्कृतिक सम्मेलन, एलूरु

वार्षिकोत्सव—ता. 7-6-70 को सम्मेलन का एकादश वार्षिकोत्सव मनाया गया। श्री माले वेंकटनारायणा एम.एल.ए., ने झंडा फहराया। सर्वश्री के. विष्णु, गुरजाडा सीतारामराव, मानेपल्लि नागेश्वरराव आदि के भाषण हुए। विद्यार्थियों में मिठाइयाँ बाँटी गयीं। सर्वश्री कर्ण राजशेषगिरिराव तथा चं. अप्पन्न शास्त्री भी उत्सव में उपस्थित हुए।

सायंकाल ओय.एम.एच.ए. कलाक्षेत्रम में सांस्कृतिक सभा श्री पैडा वेंकटरत्नम की अध्यक्षता में संपन्न हुई। श्री माले वेंकटनारायणा ने प्रारंभिक भाषण दिया। श्री शिवगोपाल लुनानी ने हिन्दी की आवश्यकता पर भाषण दिया। श्री चंद्रभट्ल अप्पन्नशास्त्री, प्रांतीय मंत्री ने हिन्दी प्रचार सभा के कार्यकलापों पर प्रकाश डाला।

श्री परमेश्वरराव, एंप्लाइमेंट अफ़सर तथा श्री एस. वी. रामराव आदि के भाषण हुए। श्री पुल्लूरि गांधी, संयुक्त मंत्री ने सम्मेलन का परिचय दिया। श्री संगम नारायणराव, सेक्रटरी रिपोर्ट पढ़ सुनायी। श्री के. विष्णु ने प्रमुख अतिथियों को मालालंकृत किया। श्री वेत्सा पांडुरंगाराव (संस्थापक) ने डा. कर्ण राजशेषगिरिराव तथा डा. चेन्नकेशवुल रंगाराव का परिचय दिया।

अलंकृत आसनों में श्री डा. कर्ण राजशेषगिरिराव तथा डा. रंगाराव को बिठाकर कनकाभिषेक करके उनका सम्मान किया गया। ब्राह्मणों के सामवेद-गान तथा मंगल-वाद्यों की आवाज़ से सभा की रौनक में चार चाँद लग गये। श्री पैडा वेंकटरत्नम ने सम्मेलन की तरफ़ से श्री डा. रंगाराव का सम्मान किया। श्री शिव-गोपाल लुनानी ने डा. कर्ण राजशेषगिरिराव को शाल ओढ़ाकर सम्मान किया। श्री वेत्सा पांडुरंगराव तथा गुरजाड़ा सीतारामराव ने सम्मान पत्र पढ़ सुनाया। डा. रंगाराव एम. बी. बी. एस. ने लेखन-स्पर्धा तथा वाक्-स्पर्धा के विजेताओं में पुरस्कार वितरण किया। श्री पोट्टी श्रीरामचंद्रमूर्ति ने धन्यवाद समर्पण किया। सांस्कृतिक प्रदर्शन श्री तुम्मल शिवलक्ष्मीनारायणा के नेतृत्व में हुआ। जनगणमन के साथ सभा विसर्जित हुई।

हिन्दी विद्यार्थी सांस्कृतिक सम्मेलन, एलूरू

उद्घाटन—ता. 9-5-'70 को श्री वेत्सा पांडुरंगराव की अध्यक्षता में, पोट्टी श्रीरामुलु मेमोरियल स्कूल में हिन्दी सम्मेलन शाखा-1 (मुफ़्त हिन्दी पाठशाला) का उद्घाटन-उत्सव श्री माले वेंकटनारायणा एम.एल.ए., के कर-कमलों से संपन्न हुआ। श्री पुल्लूरि गांधी ने धन्यवाद समर्पण किया। मिठाइयाँ बाँटी गयी।

ता. 10-5-70 को श्री पैडा वेंकटरत्नम, अध्यक्ष, अर्बन बैंक ने अपने कर-कमलों से हिन्दी सम्मेलन (निःशुल्क पाठशाला) शाखा-2 ; वेन्नवल्लिवारिपेटा (हरिजन-बस्ती) का उद्घाटन किया। सर्वश्री वेत्सा पांडुरंगराव, सुवर्णराजू, फादर देवदास आदि बोले। श्री पामर्ती वेंकटेश्वरराव ने अध्यापन कार्य ग्रहण किया। लूथरन-चर्च सदस्यों की तरफ़ से श्री वेत्सा और श्री पैडा का सम्मान हुआ। बालक-बालिकाओं में मिठाइयाँ बाँटी गयीं। द. भा. हिन्दी प्रचार सभा की पचास-पुस्तकें रत्नम ने गरीब बच्चों को भेंट की।

मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति, बेंगलोर

रजत जयंती समारोह—ता. 21-4-70 को समिति का रजत-जयंती-समारोह समिति के कार्यालय के विशाल भवन के बगले में संपन्न हुआ। मध्य प्रदेश के

राज्यपाल तथा समिति के अध्यक्ष श्री के. सी. रेड्डि ने अध्यक्षासन ग्रहण किया। श्रीमती तुंगाबाई की प्रार्थना के बाद श्री रेड्डीजी ने सबका स्वागत किया। खासकर अखिल भारतीय हिन्दी संस्था संघ के अध्यक्ष श्री गंगाशरण सिंह, एम.पी. और श्री मोटूरि सत्यनारायणजी का स्वागत हुआ। शिक्षा परिषद के अध्यक्ष श्रीनागप्पाजी ने गंगाशरणजी सिंह के संबंध में प्रशस्ति पत्र पढ़ सुनाया। "राजभाषा विभूषण" की गौरव उपाधि के प्रमाण के तौर पर अध्यक्ष श्री रेड्डीजी ने श्री गंगाबाबू को ताम्रपत्र प्रदान किया। प्रशस्ति पत्र का श्री गंगाशरणजी सिंह ने उचित उत्तर दिया।

श्री मोटूरि सत्यनारायणजी के बारे में शिक्षा परिषद् के मन्त्री श्री पि. कृ. राजगोपालन ने प्रशस्ति पत्र पढ़ा। श्री सत्यनारायणजी को भी अध्यक्षजी ने "राजभाषा विभूषण" की गौरव उपाधि प्रदान करते हुए ताम्रपत्र दिया गया। इसका श्री सत्यनारायणजी ने उचित उत्तर दिया। इस समारोह में 532 स्नातकों को "राजभाषा विद्वान" की उपाधि प्रदान की गयी। श्री गंगाशरण सिंह ने स्नातकों का संबोधन करते हुए दीक्षान्त भाषण दिया। समिति के प्रधान मंत्री छोटूभाई देसाईजी ने श्री के. सी. रेड्डी (अध्यक्ष) श्री गंगाशरण सिंह और श्री मोटूरि सत्यनारायण को धन्यवाद दिया।

समारोह का उद्घाटन—शाम के पाँच बजे रजत जयन्ती समारोह का उद्घाटन समारोह श्री वीरेंद्रपाटील (मुख्यमंत्री) की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। समारोह का उद्घाटन और रजतजयन्ती स्मारिका ग्रन्थ (पृष्ठ सं. 300) का प्रमोचन मैसूर राज्य के राज्यपाल श्री धर्मवीर के करकमलों से संपन्न हुआ। इस अवसर पर समिति के अध्यक्ष श्री के. सी. रेड्डि ने सबका स्वागत करते हुए कहा कि समिति श्री एच. सी. दासप्पा और श्री ए. जी. रामचन्द्रराव का चिरऋणी है जिन्होंने अध्यक्ष होकर अपने स्वर्गवास के दिन तक समिति की तन-मन-धन से सेवा की।

समिति के संगठक के हैसियत से डा० हिरण्मयजी की सेवा की अध्यक्षजी ने प्रशंसा की। समारोह का उद्घाटन राज्यपाल श्री धर्मवीरजी ने किया। मान्य मुख्य-मन्त्री वीरेंद्रपाटील ने अपने अध्यक्ष भाषण में कहा—"जनता में हिन्दी के प्रति कोई विरोध नहीं है। केवल नेता लोग जनता को उभाडते हैं। इसलिए हमने यद्यपि हिन्दी को स्कूलों में अनिवार्य तौर पर दिया है, फिर भी हिन्दी को परीक्षा विषय बनाने की हिम्मत नहीं हो रही है।

दीर्घकालीन सेवा किये हुए हिन्दी अध्यापक प्रचारकों को राज्यपाल ने शाल एवं हिन्दी सेवा सम्मान पत्र एवं पदक प्रदान करने के द्वारा सम्मानित किया।

सभा की स्वर्ण-जयंती के उपलक्ष्य में एक मौखिक परीक्षा चलाने का निश्चय हुआ है

1. इस परीक्षा का नाम 'सरल हिन्दी परीक्षा' है।
2. यह बोलचाल की (मौखिक) परीक्षा है। लिखने पढ़ने की जानकारी की आवश्यकता नहीं है।
3. इस परीक्षा का उद्देश्य छात्रों में रोज़मर्रे के व्यवहार से संबन्धित—जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना, बाज़ार, स्कूल और तत्संबन्धी बातें, यात्रा आदि बातों को छोटे-छोटे वाक्यों में व्यक्त करने की शक्ति पैदा करना है।
4. इसके लिए मौखिक शिक्षण-वर्ग कम से कम 20 दिन चलेंगे। परीक्षार्थी को कम से कम 15 दिन की हाज़िरी देना आवश्यक है।
5. इस परीक्षा का शुल्क रु. 2/- (दो रुपये) मात्र होगा।
6. वर्ग समाप्त होने पर परीक्षा चलायी जायगी। कम से कम 35 अंक पानेवाले परीक्षार्थी उत्तीर्ण समझे जायेंगे और 60 या उससे अधिक अंक पानेवालों को पहली श्रेणी दी जायगी।
7. उत्तीर्ण छात्रों को प्रमाण-पत्र दिया जायगा।
8. प्रांतों में प्रांतीय सभा द्वारा तथा केन्द्र सभा में नगर कार्यालय द्वारा परीक्षा चलायी जायगी।
9. अधिक संख्या में छात्रों को प्रेषित करनेवाले प्रचारकों को प्रोत्साहित किया जायगा।
10. इस परीक्षा के लिए एक अलग पुस्तक तैयार की गयी है, जिसमें आवेदन-पत्र भी है। परीक्षार्थी उस आवेदन-पत्र को भरकर भेज सकते हैं। पुस्तक का अलग मूल्य नहीं है।
11. इस संबन्ध में विवरण चाहनेवाले नगर-मंत्री या प्रांतीय मंत्री से संपर्क स्थापित कर लें।

द. भा. हिन्दी प्रचार सभा,
मद्रास

परीक्षा मंत्री

'व्रजभाषा प्रवीण' परीक्षा

1\. केहि हेतु रानि रिसानि........................

........................मरम ठाहुर देखि। (अयोध्याकांड)

प्रसंग—उक्त छंद अयोध्याकांड के 'मंथरा प्रसंग' से लिया गया है। मंथरा का जादू जब रानी कैकेयी पर चल जाता है तो वह कोप भवन में जा बैठती है। जब राजा दशरथ कैकेयी को कोप-भवन में देखते हैं कि "भूमि सयन पट मोट पुराना दिये डार तन भूषण नाना", तो वे कैकेयी के इस रूप को देखकर भयभीत हो जाते हैं, विलासी पुरुष के लिए जो स्वाभाविक है। कवि ने भी राजा दशरथ को लक्ष्य करते हुए उनकी विलासप्रियता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया है। वे डर का कारण बतलाते हैं—"सूल कुलिस असि अगवन हारे, ते रति नाथ सुमन सर मारे।" नारी पुरुष की इस कमजोरी से अपना स्वार्थ सिद्ध कर लेती है। राजा दशरथ प्रिय रानी के इस कुवेष को देखकर कहते हैं—"हे, प्राण प्यारी! मुझे बतलाओ तो सही, तुम्हारे क्रोध का कारण क्या है?" इसमें तुलसीदास ने क्रोधित नागिन का सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है। क्रोधित नागिन अपने प्रतिपक्षी का प्राण लेकर ही शांत हो पाती है। इसमें तुलसी "सरोष भुअंग भामिनी" कहकर राजा दशरथ की भावी की सूचना दे जाते हैं। साँप के दो जीभ होती हैं और दो दाँत होते हैं। इनके द्वारा वासना और वरदान का सफल रूपक हमारे सामने खिंच जाता है।

भावार्थ—राजा दशरथ जब यह कहते हुए अपने हाथ से रानी के शरीर का स्पर्श करते हैं कि "रानी, तुम किसलिए नाराज हो" तो कैकेयी झटक कर उनके हाथ को हटाकर क्रोध भरी नागिन की तरह क्रूर दृष्टि से देखती है। रानी की दो वरदान माँगने की इच्छाएँ सर्पिणी की जीभ हैं और दो वरदान उस साँपिन के दो दाँत हैं। (साँप के एक दाँत में ही विष होता है, दूसरे में नहीं।) विष भरे दाँत का वरदान राम के लिए और दूसरा दाँत भरत के लिए है। (दूसरे दाँत का विष तो नहीं फैलता मगर घाव अवश्य कर देता है, उस दाँत से भरत को भी घायल-जैसी पीड़ा होती है।) सर्पिणी मर्मस्थल को देखकर चोट करना चाहती है जिससे उपचार ही न हो सके। कैकेयी भी उस अवसर की ताक में है। कहते हैं "विनाशकाले विपरीत बुद्धिः" राजा होनहार के वशीभूत कैकेयी के इस व्यवहार को कामलीला ही समझ रहे थे। क्योंकि "त्रिया चरित्र जाने नहीं कोय", फिर भला राजा दशरथ भी उस चरित्र को कैसे जान सकते थे!

2. **यदि कहीं मूल या व्यापक.........................**
...............................उल्लंघन असंगत नहीं। (चिंतामणि)

प्रसंग—यह वाक्यांश चिंतामणि में 'मानस' की धर्मभूमि निबन्ध से लिया है। इनके निबन्धों में चिंतन स्वातंत्र्य होते हुए भी एक गहन जटिलता को सुबोध पहेली की भाँति सुलझाते चलने की शक्ति है। मानस में धर्म की अवहेलना साधारण पाठकों को झलकती है। लेकिन जो ऐसा सोचते हैं उसका कारण है कि धर्म की पाँचभूमियों में से परिमित धर्मभूमि तक ही उनकी बुद्धि पहुँच पाती है। ये पाँचभूमि हैं— गृहधर्म, कुलधर्म, समाज धर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म। अतः मानस में धर्म की अवहेलना पानेवाले विश्वधर्म की भूमि पर खड़े होकर नहीं सोचते जो अपरिमित है। उदाहरण के लिए विभीषण के बारे में कहा जाता है—वह "घर का भेदी" तथा "भ्रातृद्रोही" है। इसका अर्थ यही है कि वे पाठक गृहधर्म और कुलधर्म तक ही सोच पाते हैं। भरत के बारे में भी कहा जाता है कि उन्होंने अपनी माँ से जो कटुवचन कहे वे मर्यादा के विरुद्ध हैं। भरत विश्वधर्म की भूमि पर खड़े होकर जो कहते हैं वह उचित ही है। इन्हीं बातों को शुक्लजी ने अपने निबन्ध में स्पष्ट किया है—

अपरिमित और व्यापक धर्म की रक्षा के लिए मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से परिमित क्षेत्र के धर्म का उल्लंघन असंगत नहीं माना जाता।

इस प्रकार शुक्लजी गहन विषय सुबोध-गम्य करते हुए आगे बढ़ते हैं।

—श्री पन्नालाल त्रिपाठी, मद्रास

'राष्ट्रभाषा विशारद' पूर्वार्द्ध परीक्षा

1. **"पर जो कथाएँ हृदय का बाँध तोड़कर दूसरों को अपना परिचय देने के लिए बह निकलती हैं, प्रायः करुण होती हैं और करुण की भाषा शब्दहीन रहकर भी बोलने में समर्थ है।"**

श्रीमती महादेवी वर्मा के "वह चीनी भाई" नामक मार्मिक शब्द-चित्र से यह उद्धृत है। श्रीमती वर्मा के गद्य की यह विशेषता है कि वह कविता की भाँति सरस एवं रमणीय होता है। यह लेखिका का, उस सन्दर्भ का कथन है जब कि "वह चीनी भाई" अंग्रेजी की क्रियाहीन संज्ञाओं और हिन्दुस्तानी की संज्ञाहीन क्रियाओं के मिश्रण के सहारे अपने विगत जीवन की करुणाकलित कथा को मुखरित करने में समर्थ हुआ।

मानव की सजीवता, मनोवेग अथवा भावों की तत्परता में है। भावाधिक्य में आकूल रहकर वह अपने को किसी न किसी प्रकार से व्यक्त करने का प्रयत्न

करता है। "वह चीनी भाई" भी इस का अपवाद नहीं हो सकता। आते-जाते वह लेखिका को "सिस्तर" कहने लगा और जब-तब "सिस्तर का वास्ते" रूमाल वग़ैरह लाने लगा। धीरे-धीरे परिचय कुछ गाढ़ा हुआ, तो वह अपनी "सिस्टर" से सहानुभूति पाने की कांक्षा करने लगा। इसके लिए उसके पास आवश्यक सामग्री भरपूर है। उसका सारा जीवन दुख में कटा! और वह अपनी यह जीवन-गाथा सुनाने लगा। वक्ता और श्रोता एक दूसरे की भाषा अपेक्षित मात्रा में नहीं जानते। किन्तु यह अड़चन कोई अड़चन नहीं रही। शुरू करते ही वह करुणाकलित विगत जीवन मानों अपने आप मुखरित हो उठा, जिसे वह अपनी "सिस्तर" को जताने के प्रयत्न में छटपटाता था। वास्तव में भाषा भाव को पूर्णतः अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं होती। यह भी असत्य नहीं कि भाषा के अभाव में भी भाव कभी-कभी पूर्णतः अभिव्यक्त होता है। यह भाव- विभोरता में बिलकुल संगत है। दुख अथवा करुणा नामक भाव में तो यह और भी सत्य है। करुणा अन्य भावों के मुक़ाबले में सहानुभूति जगाने में अधिक समर्थ होती है। करुणा की अनुभूति के लिए दुख के अलावा और किसी विशेषता की आवश्यकता नहीं है। किन्तु आनन्द की बात अलग है। हम ऐसे ही व्यक्ति के सुख से आनन्दित होते हैं जो हमारा परिचित या सम्बन्धी हो। इतना ही नहीं, दुखानुभूति की-सी तीव्रता सुखानुभूति की नहीं होती। अनुभूति की तीव्रता के कारण दुख बाँध तोड़कर बाहर निकलता है—भाषा, जानकारी आदि के अभाव में भी। अतएव "वह चीनी भाई" हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ी की अपेक्षित जानकारी के बिना ही अपने करुणापूर्ण जीवन की अमिट छाप लेखिका पर डालने में समर्थ हो गया।

2. "हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है!"

यह अंश श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी की "निंदिया लागी" नामक कहानी से उद्धृत है। मजदूरों की शोचनीय स्थिति पर तरस खाकर कहानी के प्रधान पात्र बेनीमाधव ने यह कथन कहा है।

बहुधा कहा जाता है कि आदमी को निस्वार्थ रहना चाहिए। निस्वार्थता निष्कामता में ही संभव होती है। किन्तु मानव की ज़िन्दगी काम और स्वार्थ में ही दिखाई देती है। काम या इच्छा की तुष्टि के लिए मानव प्रयत्न करता है और क्रियाशील रहता है। इस क्रियाशीलता में ही उसकी समस्त संस्कृति और सभ्यता की कुंजी मिलती है। मानव अन्य प्राणियों से अलग है, विशिष्ट है। क्योंकि वह विवेकी है। इस विवेक की बदौलत ही वह अपने स्वार्थों को समयानुकूल विस्तृत अथवा संकुचित कर समाज के अन्य सदस्यों से मैत्री करने में समर्थ होता है।

इसलिए उसे कभी-कभी अभिनय भी करना पड़ता है। यह अभिनय-कुशलता साधारणतः सब लोगों में पाई जाती है। यदि अंतर है तो केवल मात्रा में। अतएव वह हमेशा बनता है। असल में जैसा है वैसा न दीखने का और वैसा दीखने का प्रयत्न करता रहता है जैसा असल में वह नहीं है। इसी प्रयत्न में वह अपने स्वार्थों पर परदा डालता है जिससे कि वे अधिक कटु न प्रतीत हों और जघन्य न दीखें। इस प्रयत्न की पराकाष्टा वहाँ है जहाँ पहुँचकर वह अपने निकृष्ट से निकृष्ट स्वार्थ का भी समर्थन करने पर उतारू हो जाता है। इसीलिए तो प्रसिद्ध विचारक फ्रांकोस मोरचक ने कहा—"हम आत्मानुशीलन के संदर्भ में ऐसी ही बातों का स्मरण करते हैं जो हमारे पक्ष का समर्थन कर हमरी गवाही देती हैं। (In the Court-room of our conscience we call only witnesses for the defence—Franco's Mauriac).

असीम स्वार्थ आदमी को अंधा बना डालता है। फलतः वह अन्य सगे संबंधी मानवों की सुख-सुविधाओं का ख्याल बिलकुल नहीं करता है और दोनों के बीच में कोसों दूर है। और स्वार्थ की उच्छृंखलता के कारण सत्य बिलकुल विलीन हो जाता है। मज़दूरों से काम करानेवाले लोग यह समझकर तसल्ली की साँस लेते हैं कि जिस मज़दूरी पर तैय किया गया वह देने से मज़दूरों के साथ न्यायोचित व्यवहार किया गया है। किन्तु क्या मजदूर की उसके कार्य के अनुपात में मज़दूरी देने मात्र से उत्तरदायित्व निभा गया? मजदूरों को जो मज़दूरी मिलती है उसका सारा उपभोग वह अकेला ही करता है? नहीं। उसपर ही उसके बाल-बच्चे, बूढ़े माँ-बाप वग़ैरह निर्भर करते है। ऐसी स्थिति में, दी जानेवाली मज़दूरी किसी भी हालत में काफ़ी नहीं होती। इस कठोर सत्य को काम करानेबाले लोग नहीं समझते हैं या समझना नहीं चाहते हैं। यदि समझते, तो उनकी आमदनी का कुछ अंश निकल जाता है जो बात वे बिलकुल पसंद नहीं करते। अतएव वे मज़दूरों से डरा-धमकाकर काम लेते हैं या उनका खून चूसते हैं, केवल अपनी जघन्य कामना की पूर्ति के लिए और अपने निरंकुश स्वार्थों की तुष्टि के लिए। ऐसी ही स्थिति में सामाजिक व्यवस्था के प्रतिकूल विद्रोह खड़े किये जाते हैं और न्यायसंगतता दूसरे की सुख-सुविधा के ख़याल में और तदनुरूप व्यवहार में निहित है। यह तभी संभव हो सकता है जब कि मानव पर-स्वार्थ के प्रति सहिष्णु बनकर अपने स्वार्थ की सीमा बाँधे जिससे कि विभिन्न स्वार्थ एक दूसरे से न टकराएँ। कहते हैं कि समाजवाद की व्यवस्था में आदमी सामर्थ्य भर श्रम करता है और आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक पाता है। क्या ही वाँछनीय व्यवस्था है! तब आदमी सचमुच बर्बता से बरी हो जायगा और यथार्थ सत्य को—मानवीय सत्य को पहचानने में समर्थ होगा।

3. अपनी इच्छा से जो व्यक्ति अपने चारों तरफ़ दीवारें खड़ी कर देता है, काल का प्रवाह लगातार आघात करता हुआ उसकी उन दीवारों को एक दिन तोड़ देता है और उसको रास्ते पर ले आता है।"

यह स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर के "पथ के छोर पर" नामक भावात्मक लेख से लिया गया है। इस लेख में मुख्यतः मानव के मानवोचित व्यवहार की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

मानव की जीवन-यात्रा का सबल सम्बल प्रेम है। यह परिस्थिति के अनुसार बदलता, बढ़ता जाता है। यात्रा के सन्दर्भ में मानव की भाव-वृत्ति घनीभूत होती है। प्रेम करना और चिन्तन करना मानव के स्वभाव के अनुकूल है। ये दो गुण जिस व्यक्ति के अंदर नहीं है वह एक प्रकार के घिराव में रहता है। घेरे के बाहर के वातावरण का कोई प्रभाव उस पर न पड़े, इसके लिए वह घेरे को ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी करके सुरक्षित करने का प्रयत्न करता है। वह अपने लोक को सीमाबद्ध करके संकीर्ण बनाकर अपने चिर-पोषित विचारों में सिर खपाए रहता है। प्रसिद्ध चीनी विचारक कनफूसियस का कथन है—"उस आदमी पर विपत्ति अवश्य टूट पड़ेगी जो वर्तमान काल में रहते हुए प्राचीनतम आदर्शों को हृदय से लगाए रहता है।" ("Calamity will invitebly befall that man who while living in the present age is always harping back to the ways of antiquity"—Confucius) किन्तु काल का प्रवाह किसी की ख़ातिर नहीं करता। उसकी गति रोके नहीं रुकती। बड़े-बड़े हाथी भी इसमें बह जाते हैं। चीज़ कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, विचार कितना ही उपादेय क्यों न हो, उसे काल की गति में तिरोहित होना ही पड़ता है। वस्तु हो या विचार उसकी सामर्थ्य की सीमाएँ होती हैं। ये सीमाएँ हैं देश और काल। इनके बदलते ही वस्तु और विचार की उपादेयता घटती जाती है। ऐसी स्थिति में कोई कट्टर पक्षपाती ही उसे हृदय से लगाकर अपने सर्वनाश का आह्वान करता है। पक्षधर व्यक्ति काल के प्रवाह से अपने को दूर रखने के हज़ारों प्रयत्न करते हैं। किन्तु एकाध व्यक्ति संगठित समाज का सामना नहीं कर पाते हैं। अकेला चना भाड नहीं फोड़ सकता। काल के प्रभाव के पीछे स्वस्थ समाज होता है जो समयानुकूल भावों और विचारों से पोषित है। व्यक्ति का विकास समाज के संदर्भ में होता है। अतएव काल के प्रभाव में उसे भी कभी न कभी आना ही पड़ता है; क्योंकि समाज से दूर सीमित वातावरण में एकांतवास करनेवाले व्यक्ति का असल में कोई जीवन नहीं होता है। काल का प्रवाह नदी की धारा की भाँति बढ़ते-बढ़ते विशाल ही नहीं बनता बल्कि गहरा भी बनता है। तब वह अपना प्रभाव सब दिशाओं में डालता हुआ

संकीर्ण वातावरण में दम घुटानेवाले व्यक्ति के चारों तरफ़ की दीवारें ढहा देता है और उसे भी ढकेलकर चार लोगों के बीच में ला खड़ा करता है। तब वह भी विशाल जन-समूह में रहकर स्वस्थ वायु का सेवन करता है, अर्थात् तत्कालीन विचार-धारा से अपने को पोषित कर भाव संकुल जीवन व्यतीत करने में समर्थ होता है। उसे भी यात्रा के सम्बल उपलब्ध होते हैं और सहयात्रियों के कंधों से कंधा भिड़ाकर प्रगतिशील रहता है। **—श्री के. सत्यनारायण, राजमहेन्द्री**

'राष्ट्रभाषा विशारद उत्तरार्द्ध' परीक्षा

1. **जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।**
सो सब कारन जान विधाता। फरकहिं सुभग अंग सुनु भ्राता।
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपथ पगु धरहिं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।

(पद्य-रत्नाकर-पृष्ठ 136)

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी रामभक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ महाकवि हैं। वे भारतीय जनता के प्रतिनिधि कवि हैं। 'रामचरितमानस' तुलसीदासजी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। 'वाटिका-प्रसंग' मानस के बालकाण्ड का एक सरस एवं मार्मिक अंश है। श्रीराम और लक्ष्मण ने जनक राजा का सुन्दर बाग देखा। उस परम रमणीय बाग ने श्रीरामचन्द्रजी के हृदय को हठात् आकृष्ट किया। पार्वतीजी की उपासना के बाद सीता अपनी सखी की बात सुनकर उस सुन्दर उद्यान में राजकुमारों के दर्शन करने आ पहुँची। सीताजी का उज्वल सौन्दर्य देख रामचन्द्रजी उनपर मोहित हो गये। प्रस्तुत प्रसंग में श्रीरामचन्द्रजी अपने भाई लक्ष्मण से उद्यान में प्रकाश करती हुई फिरनेवाली सीताजी की अनुपम शोभा की प्रशंसा करते हैं।

जिसकी अलौकिक सुन्दरता देखकर स्वभाव से ही पवित्र मेरा मन क्षुब्ध हो गया है, वह सब कारण तो विधाता ही जाने। किन्तु हे भाई! सुनो, मेरे मंगलदायक अंग (दाहिना हाथ) फडक रहे हैं। रघुवंशियों का यह सहज स्वभाव है कि उनका मन कभी कुमार्ग पर पैर नहीं रखता। मुझे तो अपने मन का दृढ़ विश्वास है कि उससे स्वप्न में भी परायी स्त्री पर दृष्टि नहीं डाली है।

काव्य नायक के उज्वल चरित्र की झांकी प्रस्तुत प्रसंग में व्यक्त होती है। स्वप्न में भी पर-नारी की ओर न देखनेवाले जितेन्द्रिय श्रीरामजी के सात्विक प्रेम की मनोरम अभिव्यक्ति यहाँ हुई है।

2. **गाओ कवियो ! जयगान, कल्पना तानो,**
आ रहा देवता जो, उसको पहचानो ।
है एक हाथ में परशु, एक में कुश है,
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है ! (पद्य-रत्नाकर-पृष्ठ-51)

श्री रामधारी सिंह दिनकरजी के काव्यों में तरुण हृदय के सुप्त तारों को झंकृत कर देने की असीम शक्ति निहित है। उन्होंने अपनी हुँकारमयी वाणी से हिन्दी साहित्य जगत् को झकझोर दिया। वे भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रस्तोता कवि हैं। अतीत के प्रति पूज्यभाव और वर्तमान के प्रति आस्था उनकी काव्यगत विशेषता है। दिनकरजी भारत की वर्तमान परिस्थिति को संभालने के लिए परशुराम के पुनीत एवं उच्च आदर्शों को प्रतिष्ठित करने की ज़रूरत पर ज़ोर देते हैं। तप, त्याग और आत्मबल से ओतप्रोत धीर साहसी परशुराम को कवि अत्याचारों के अंबारों में आग लगाने के लिए पुनः भारत में निमंत्रण करते हैं।

हे कवियो ! उनका जयगान गाओ। कल्पना तानो। जो देवता जनता के बीच आ रहा है, उसको पहचानो। उसके एक हाथ में परशु है तो दूसरे में कुश। नये भारत का भाग्य पुरुष आ रहा है।

कवि का दृढ़ विश्वास है कि भावी भारत का भाग्योदय तभी होगा जब कि परशुराम पुनः भारत में पदार्पण करें।

3. **वह देख, यवनिका गिरती है, समझा, कुछ अपनी नादानी ।**
छिप जाएँगे हम दोनों ही लेकर अपने अपने आशय ।
मिट्ठी का तन, मस्ती का मन, क्षण-भर जीवन मेरा परिचय ।

(पद्य-रत्नाकर-पृष्ठ 60)

श्री हरिवंशराय बच्चन जीवन और यौवन के गायक हैं। वे मस्ती के गीत गाते हुए हिन्दी काव्यक्षेत्र में आये। वे हालावादी काव्यधारा के प्रबल समर्थक एवं प्रवर्तक हैं। बच्चन जी ने व्यापक खिन्नता और अवसाद के युग में मध्यवर्ग के विक्षुब्ध, वेदना ग्रस्त मन को वाणी का वरदान दिया।

कवि नश्वर क्षणिक जीवन में आमोद-प्रमोद में तन्मय होने का उद्बोधन करते हैं। जीवन की यवनिका गिरती है, ज़रा वह देख। अपनी नादानी तू कुछ समझ ले। हम दोनों ही अपने-अपने आशय लेकर छिप जाएँगे। हमारा तन मिट्टी का है। मन तो मस्ती से भरा है। जीवन क्षण भर का है।

संसार रूपी रंगमंच पर किंचित अभिनय दिखाने के पश्चात् अन्तर्धान होनेवाले मानव से कवि चेतावनी देते हैं कि संसार नश्वर है। मानव जीवन भी क्षण-

भंगुर है। नश्वर जीवन में आनन्द की उपलब्धि मानव के लिए प्रेय एवं श्रेय है। बच्चनजी की भाषा में मधुरता और प्रवाह, छन्द में लय और शब्दों में मोहिनी शक्ति विद्यमान है। बच्चनजी की प्रस्तुत पंक्तियाँ नितान्त वैयक्तिक, आत्मस्फूर्त एवं आत्मकेन्द्रित हैं।

4. सिद्धान्त की अपेक्षा अनुभव का अधिक महत्व होता है महात्मन!

(ऋष्यशृंग—पृष्ठ 104)

श्री विपिन चन्द्र बन्धुजी का एक सरस एकांकी है 'ऋष्यशृंग।' अंग देश में भयंकर अकाल पड़ गया। जनता दिन-ब-दिन भूखों मरने लगी। किसी धर्मशास्त्री ने बताया कि राज्य में किसी पूर्ण ब्रह्मचारी के आने से दुर्भिक्ष दूर होगा। अतः लोग एक पूर्ण ब्रह्मचारी का पता लगाने लगे। सौभाग्य से गौतम नामक एक अनुभवी ऋषि ने ऋष्यशृंग नामक एक पूर्ण ब्रह्मचारी का नाम निर्देश किया। ऋष्यशृंग के पिता विभांडक जब गौतम से मिले तब उन्हें ज्ञात हुआ कि अपने पुत्र का नाम निर्देश किया गया है। इससे विभांडक को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने ऋष्यशृंग को आदर्श, भव्य चरित्रवान बनाया था। प्रस्तुत प्रसंग में अनुभवी ऋषि गौतम विभांडक की शिक्षा पद्धति की आलोचना करते हैं।

सिद्धांत की अपेक्षा अनुभव का अधिक महत्व होता है। आम्र वृक्ष के विषय में पाठ पढ़ते वक़्त अगर बालक आम के पेड़ को अपनी आँखों से देख ले तो पाठ आसानी से वह समझ लेगा। बालकों के मृदु हृदय में जब रंगीन चित्र अंकित हो जाता है तब पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भांति वह पाठ अविस्मरणीय रहेगा। आधुनिक शिक्षा पद्धति में भी अनुभव ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

गौतम का कथन ठीक है। एक अनुभवी आचार्य के मुँह से ही ऐसी अमर वाणी निसृत होगी। **—श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर**

'प्रवेशिका' परीक्षा

"उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्" में जो उपदेश दिया गया है, वह केवल धन की उदारता नहीं, वरन उसमें प्रेम और सेवा की उदारता भी सम्मिलित है। (गद्य कुसुम)

प्रस्तुत पंक्तियाँ बाबू गुलाब राय से लिखित 'चरित्र संगठन' शीर्षक निबन्ध से उद्धृत हैं। हिन्दी के निबन्धकारों में बाबू गुलाब राय का विशेष महत्व है। आपके निबन्धों में स्पष्ट एवं सुलझी हुई शैली में विचारों का प्रस्तुतीकरण होता है। चरित्र संगठन शीर्षक निबन्ध में आप उत्तम चरित्र को उपार्जित करने के उपायों का

परिचय देते हैं। संस्कृत में एक सूक्ति वाक्य है "उदार चरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्।" इसका तात्पर्य है कि जिसका चरित्र उदार है वह सारे संसार को अपना परिवार बना लेता है। उदारता अक्सर धन से सम्बद्ध मानी जाती है। परन्तु उदारता सर्व व्यापक शब्द है। इसका सम्बन्ध सात्विकता के सभी अंशों से है। प्रेम की उदारता मनुष्य को द्वेष, घृणा आदि अमानवीय दोषों से बचाती है। सेवा की उदारता मनुष्य को निर्बन्ध होकर, जाति, वर्ण आदि भेदों को भूलकर संसार के सभी लोगों की सेवा के लिए तत्पर और उद्यत बनाती है। इस प्रकार शुद्ध उदारता परार्थ के लिए प्राणोत्सर्ग तक करने को प्रेरित करती है।

"इसको इतना नहीं मालूम कि जब बादशाह बाहर निकलता है तो शाही शानशौकत से जाता है कैदियों की तरह दीवारें नहीं फांदता।"

प्रस्तुत पंक्तियाँ 'बन्दी' शीर्षक एकांकी नाटक से उद्धृत हैं। "बन्दी" एकांकी के लेखक हैं श्री आरिगपूडी। दक्षिण भारत से निकलनेवाले हिन्दी लेखकों में आपका स्थान अग्रगण्य है। प्रस्तुत एकांकी में आप मुगल सम्राट शाहजहाँ के आखिरी दिनों की एक झांकी दिखाते हैं। शाहजहाँ के अन्तिम दिनों में उन्हें अपना जीवन प्राय: बन्दी की तरह बिताना पड़ा। महत्वाकांक्षी औरगज़ेब ने अपने भाइओं की हत्या करके रक्त सिंचित सिंहासन पर सम्राट बनकर आरूढ़ हो गया। अपने पिता को उसने नज़रबन्द कर दिया। शाहजहाँ आगरा के किले में थे। एक दिन उन्होंने देखा कि किले की दीवारें ऊँची की जा रही हैं। शाहजहाँ के साथ रहनेवाली उसकी बेटी जहानारा ने बताया कि शायद औरंगजेब को यह डर है कि कहीं हम मुक्त न हो जाएँ। इसीलिए दीवारें ऊँची की जा रही हैं। शाहजहाँ के दिल पर बड़ी ठेस पहुँची कि अपना ही बेटा कैदियों की तरह उनसे बर्ताव कर रहा है। तब जहानारा से कहते हैं कि औरंगज़ेब मुझे समझ नहीं सका। जो शाहशाह रह चुके हैं वे साधारण कैदी की तरह क्षुद्र विचारों के बहकाव में आकर दीवार लांघकर भागेंगे नहीं। यदि बाहर निकलेंगे तो सम्राट की तरह सारी शान शौकत के साथ निकलेंगे। डरपोक बनकर भाग निकलने के लिए इतने दिनों तक वे सम्राट न रहे।

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन पल में साकार
काल चक्र से चढ़ते गिरते
पल में जल धर फिर जल धार (पद्यमाला-2)

प्रस्तुत पंक्तियाँ श्री सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा लिखित 'बादल' शीर्षक कविता से उद्धृत हैं। सुमित्रानन्दन पन्त खड़ी बोली काव्य साहित्य के अक्षय कीर्ति सम्पन्न कवि हैं। छायावादी युग के कवियों में आप अग्रगण्य माने जाते हैं। प्रकृति की

अनन्त रमणीयता का हूबहू चित्रण आपकी कविताओं की विशेषता है। प्रस्तुत कविता में कवि बादलों की कहानी, उनकी ज़वानी सुना रहे हैं।

बादलों की कहानी भी कितनी दिलचस्प है! काल चक्र में आज का पर्वत घिसते-घिसते धूल बनकर वातावरण में हर कहीं बिखर जाता है। बिखरे रेणु जमते-जमते पहाड़ बन जाते हैं। परिवर्तनशीलता प्रकृति का शाश्वत नियम है। आज के जितने रूप हैं वे बदल जाते हैं और बदली हुई सूरतें फिर पहली सी शकल पा जाती हैं। बादल भी इसके अपवाद नहीं हैं। जलधर के रूप में गगनांगण में मुक्त विचरण करते हैं और हवा के शीतल थपेड़ों से सहलाये जाकर स्निग्ध वर्षा के रूप में उमड़ पड़ते हैं। सागर की गोद में पैदा होकर फिर सागर में ही लीन हो जाते हैं। उनका जीवन भी एक पूरा चक्र है। बनना, बढ़ना, बदलना और फिर उमड़ना, यही बादलों की कहानी है। कवि इन पंक्तियों में प्रकृति के शाश्वत नियमों का संकेत करते हुए, हमारे जीवन चक्र की परिवर्तनशीलता की भी झलक दिखाते हैं।

1. रहिमन देखि बडेन को लघु न दीजिये डारि
जहाँ काम आवै सुई, कहा करै तरवारि

* * * *

2. जो सब ही को देत है, दाता कहिये सोय
जलधर बरषत सम विषम, थलन विचारत कोय (पद्य-माला-2)

(1) प्रस्तुत दोहा प्राचीन हिन्दी के सफल साहित्यकार अब्दुर्रहीम खानखाना की कलम का कमाल है। आप अव्वल दर्जे के रसिक थे और जीवन के कड़ुवे मीठे अनुभवों की तसवीर खींचने में बेजोड़ थे। सूक्तियों के तो आप एक प्रकार से सम्राट ही हैं। प्रस्तुत दोहे में आप हमें यह उपदेश देना चाहते हैं कि हर चीज़ की अपनी विशेषता होती है। बडप्पन के बहकाव में आकर यदि हम लघु व्यक्ति और विषयों की अवहेलना करने लग जाय तो हमारी हानि ही होगी। जहाँ सूई से काम चलता है वहाँ तलवार का कोई प्रयोजन नहीं। इसलिए कभी किसी व्यक्ति या विषय का छोटा समझकर तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

(2) प्रस्तुत दोहा कविवर वृन्द की रचना है। कविवर वृन्द का भी प्राचीन हिन्दी के साहित्यकारों में विशेष स्थान है। इनकी सतसई सूक्तियों का भण्डार मानी जाती है। इस दोहे में कवि दाता की परिभाषा करते हैं। दाता का हृदय उदार होता है। व्यक्तिगत या जातिगत भावों के शिकार होकर अपनी दान-शीलता के प्रवाह को संकुचित बना लेनेवाला वास्तविक दाता नहीं है। वास्तविक दानी तो वर्षा के बादल के समान सब को अपनी दानशीलता से आप्लावित करता है।

—श्री विष्णुप्रिया, मद्रास

भारत भारती

भारतीय ज्ञान पीठ पुरस्कार विजेता आंध्र कवि सम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण एवं महाकवि गोस्वामी तुलसीदास की

काव्य-कला

डा० सरगु कृष्णमूर्ति

पुरुषोत्तम रामचंद्र का गुणगान करके न जाने कितने नर कवि अब तक अमर हो गये हैं ! ने 'राम नाम मणि दीप धर जीह देहरी द्वार' 'बाहर भीतर उजियार' भर हिन्दी को चमका दिया है। तुलसी का मानस काव्यतत्व, मर्यादा, शैली, बुद्धि तत्व, कल्पना-कमनीयता, कथा-संविधान, चित्रात्मकता, लक्ष्य आदि में इतना महान्, इतना उदात्त तथा इतना समग्र है कि अन्यान्य रामकाव्य महिमा में उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाते, जहाँ तक कि 'मानस' कवि का मानस उठ पाया है। केवल तीन चार कृतियाँ ही ऐसी हैं, जो कि तुलसी के समीप रखी जा सकती हैं। वैसी कृतियों में ज्ञान-पीठ से पुरस्कृत विश्वनाथ सत्यनारायण का श्रीमद्रामायण-कल्पवृक्ष एक है। तेलुगु में अब तक करीबन् छः सौ रामकाव्य निकले हैं। रामायण सूर्य-चंद्र के समान 'चिर पुरातन' एवं 'नित्य नूतन' है।

"कवि सम्राट"

'भावुकता अंगूर लता से' खींच कल्पना का पीयूष, इन राम कृतियों ने जन-जीवन को सरस बनाया है। तुलसी की भाँति आंध्रकवि विश्वनाथ ने भी पूर्व रचित आनंद रामायण, अध्यात्म रामायण, हनुमन्नाटक, वाल्मीकि रामायण आदि से रसामृत प्राप्त किया हैं। तुलसी भावुकता के सम्राट हैं तो विश्वनाथ भाव-तीव्रता के चक्रवर्ती हैं। सीताराम-लक्ष्मण-वन-गमन, अयोध्यावासियों का दुख, ग्रामवासियों की व्याकुलता, अशोक वन में सीता की विरह वेदना, हनुमान का गगन विहार, मातृ कार्य से व्यथित भरत की चिंता, राम-भरत-मिलाप आदि के वर्णन में इन दोनों महानुभावों ने अद्भुत सहृदयता एवं भव्य भावुकता का परिचय दिया है। अंतर

इतना ही है कि गोस्वामीजी विषयों का संक्षिप्त रस रूप व्यक्त करते हैं तो विश्वनाथ कवि रूप में भी उपन्यासकार का विस्तार दिखाते हैं।

पुनः रामायण क्यों? :—इसका उत्तर दोनों ने अपनी-अपनी चित्त-वृत्ति के अनुसार दिया है। ग्रंथारंभ में आंध्र कवि बताते हैं—

मरल निदेल रामायणं बन्नचो—नी प्रपंचकमेल्ल नेल्ल वेळ
दिनचुन्न यन्नमे तितुचुन्न देप्रोद्दु—तन रुचि ब्रदुकुलु तनवि गान
चेसिन संसारमे सेयु चुन्नदि—तनदैन यनुभूति तनदि गान
तलचिन रामुने तलचेद नेनुनु—ना भक्ति रचनलु नावि गान
कवि प्रतिथ लोन नुंडुनु काव्य गत श—तांशमुल यंदु दोंबदि यैन पाळ्ळु
प्राग्विपश्चिन्मतंबुन रसमु चेयि—रेट्लु गोप्पदि नवकथादृतिनि मिंचि।

रामायण पुनः क्यों? कहे तो सुनो—सारा जग—
सदा कृत कर्म पुनः करता है दिन दिन

सदा एक सा खाना ही पूर्व जैसा खाता जग—
क्योंकि रुचि अपनी है, अपना जीवन धन

भजे हुए राम को ही भजता हूँ क्योंकि मेरी—
भक्ति रचनाएँ मेरी अपनी लगन धुन

नव कथा दृति में नहीं कि दस में से नव—
भाग रस प्रतिभा में मानते सुमन मन।

ठीक ऐसी ही प्रतिभा व रस दृष्टि तुलसी में भी थी। उनकी प्रतिभा उपलब्ध प्रसंगों द्वारा शाश्वत रसानुभूति उत्पन्न करनेवाली थी। उपन्यासों में विश्वनाथ ने तथा अपनी अन्य कृतियों में तुलसी ने नये कल्पित प्रसंगों की छटा दिखाई है। प्रबंध की रचना के लिए दोनों ने उपलब्ध कथा ही अपनायी।

दोनों में 'मानस' व विश्वनाथ का स्मरण हुआ है। तुलसी का मानस 'विश्वनाथ' के मानस से निकला है। मानस के कथक शिवजी हैं। तुलसी ने 'मानस' का सुंदर सांग रूपक बाँधा है। आंध्रकवि विश्वनाथ 'विश्वनाथ के सारथी' बनकर कल्दवृक्ष की दिशा में मनोश्व बढ़ाते हुए 'मानस जिह्वा' (4, बाल) से राम को भजते हैं। कल्पवृक्ष का आरंभ ही विश्वेश्वर स्मरण से हुआ है। गोस्वामीजी ने द्वितीय श्लोक में भवानी-शंकर की वंदना की है—

भवानी शङ्करौ वंदे—श्रद्धा विश्वास रूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति—सिद्धाः स्वाँतस्थ मीश्वरम्॥

विश्वनाथ कवि के राम शिवप्रिय हैं और शिव रामप्रिय हैं। तुलसी भी 'जग प्रिय हरि, हरि हर प्रिय आपू' कहते हैं। उत्तर प्रदेश व आंध्र प्रदेश के हरिहरप्रिय एवं हर हरिप्रिय बने हैं।

'मानस' व 'कल्पवृक्ष' का नामकरण समान रूप से रूपक छटा से संपन्न हुआ है। तुलसी के पूर्व हिन्दी काव्य क्षेत्र रासो काव्य के गर्जनों से अरण्य-सा, रणरंग-सा और सूफियों की रहस्य स्थली-सा था। मानस की निर्मल भक्ति सुधा से वे उसे परम पवित्र एवं सरस बनाना चाहते थे। अतः उन्होंने 'मानस'—धारा बहाई। अलावा इसके उनके हरिप्रिय शिवजी 'रामचरित मानस' (बहुव्रीहि समास) थे।

'कल्पवृक्ष' नाम की भी कुछ ऐसी ही ध्वनि है। दिगंबर कविता, प्रयोगवाद, अभ्युदयवाद, वचन कविता, मर्म कविता आदि की लता, बबूल, धतूरे आदि से भरा आधुनिक आंध्र काव्य क्षेत्र विश्वनाथजी को ऊबड़-खाबड़ सा दिखाई दिया। अतः उन्होंने उसे यह कल्पवृक्ष दिया।

कल्पना—मानस की शिव-पार्वती कथा-कल्पना अनूठी है तो विश्वनाथ की मेनका-विश्वामित्र उपकथा की कल्पना भूमिका रूप में अनूठी है। सुंदर काण्ड में दोनों की भाव कल्पना निराली है। अयोध्या काण्ड करुणा की सरयू है। अशोक वनस्था सीता की विरह दशा का वर्णन दोनों ही 'रस कल्पना' तक पहुँचाते हुए करते हैं। कथा-कल्पना, प्रसंग-कल्पना, उपमान कल्पना, ध्वनि कल्पना आदि का समन्वित रूप तुलसी 'अयोध्या' में प्रस्तुत करते हैं तो विश्वनाथ 'किष्किंधा' में।

आत्म संबंध में दोनों चंद मुख्य बातें बताते हैं। विश्वनाथजी स्वविषय में लिखते हैं—

> नेनु मनस्सन्यासिनि—नेनिदि यिम्मंचु नडुग नेव्वरि नेपुडन्
> दानेदियेनियु ब्राप्त—म्मैनन् वलदंचु जेप्प नंतियगाकन्।
> लेता, वह स्वयं मिले तो—पर कभी आँख ले प्यासी
> मैं नहीं माँगता कुछ भी—मैं सदा मनस्सन्यासी।

वे कहते हैं कि मुझ-सा शिष्यवर पाने का सौभाग्य न नन्नया को मिला, न तिक्कन्ना को ही; केवल मेरे गुरु चेल्लपेल्ल वेंकट कवि को मिला है—

> अल नन्नय्यकु लेदु तिक्कनकु लेदा भोग मस्मादृशुं
> डलघस्वाद रसावतार धिषणाहंकार संभार दो-
> हल ब्राह्मीमयमूर्ति शिष्यु डयिनाडन्नट्टि दा व्योम पे-
> शल चांद्रीमृदु कीर्ति चेल्लपेल वंशस्वामि कुन्नट्लुगन्.

मिल पायी वह तिक्क-नन्नय घनों को भी न अस्मादृशों-
दलघुस्वादु रसावतार धिषणाहंकार संभार दो-
हल ब्राह्मीमय मूर्ति शिष्य धन भाग्यश्री, यथा व्योम पे-
शल चांद्री मृदु कीर्ति चेल्लपेल वंशश्रीश को प्राप्त है।

तुलसीदास कहते हैं—'कवि न होउँ नहिं चतुर कहाऊँ, मति अनुरूप राम गुन गाऊँ'—

कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना
सकल कला सब विद्या हीना
कवित विवेक एक नहिं मोरे
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।

वे कहते हैं—'माँ-बाप अपने पुत्र की तुतली बात भी जैसे प्यार से सुनते हैं, वैसे ही मेरे बाल वचन को सुन लें—

छमिहहिं सज्जन मोरि डिठाई—सुनिहहिं बाल वचन मन लाई
जौं बालक कह तोतरि बाता—सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।

वे पूछते हैं—'निज कबित्त केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका।' तुलसी की विनयशीलता अद्भुत है। विश्वनाथ की उक्ति भूषण की-सी है।

कुकवि निंदा वर्जन विश्वनाथजी यह कहकर कुकवि निंदा तजते हैं कि सिवा एक आदि कवि के, दूसरा कौन 'सुकवि' शब्द वाच्य है? मुनि ऋण चुकाने वे पुनः राम यश गाते हैं—

ओक्क वाल्मीकि काक वेरोक्कडेवडु—सुकवि शब्द वाच्चुंडिक कुकवि निंद
अप्रशस्त पथंबुगा नगुट जेसि—मुनि ऋणमु दीर्पन्नी काव्यमुनु रचितु—

तुलसी ने असंत संत प्रसंग उठाया और ईर्ष्यालुओं की ओर इशारा किया—

जे पर भनिति सुनत हरषा हीं
ते वर पुरुष बहुत जग नाहीं।

दोनों के काव्य दैव-समर्पित हैं।

गुरु स्मरण—तुलसी अपने गुरु का—शंकर-रूप, कृपा सिंधु आदि शब्दों से स्मरण करते हैं:—वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कर रूपिणम्—यमाश्रितोहि वक्रोपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते। नरहरि गुरु स्मरण अब समूचा हिन्दी संसार करता है—

बँदउँ गुरु पद कंज—कृपा सिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज—जासु वचन रवि कर निकर॥

तुलसी के गुरु नरहरि हैं तो विश्वनाथ के तरू चेल्लपेल्ल वेंकटकवि गुण में बड़ी हैं—

शिष्य वात्सल्यंबु चेलुवु दीर्चिन मूर्ति—काकवि कंठंबु कत्ति कोत
येड़द मेत्तदनंबु विडिदि चेसिन चोट—व्यर्थवादंबुलकु अग्गि पिडुगु ।
शिष्य वत्सलता की सजी सँवारी मूर्ति है—कुकवि कंठों के लिए कृपाण की काट है
हृदय कोमलता प्रवास गंगा घाट है—व्यर्थवाद पर आग की बिजली घोर है ।

दोनों ने संस्कृत में भी पद्य रचे हैं । इष्टि के 'नमो नमो हविः प्रियाय नाक वासिनां मुखा-य··· ? पद्य में विश्वनाथ गीर्वाण वाणी में ही वंदना करते हैं । यही काव्य कला तुलसी ने अपनायी थी। प्रारंभिक पद्यों के अतिरिक्त तुलसी ने बीच-बीच में भी यह कला निभायी है । देशीय छंद के अतिरिक्त इन दोनों कवियों ने निम्न लिखित संस्कृत वृत्तों का प्रयोग किया है—

चतुष्पद, तोमर, हरिगीतिका, त्रिभंगी, अनुष्टुप्, इंद्रवज्रा, शार्दूल, मत्तेभ, स्रग्धरा, मालिनी, वसंततिलका, भुजंगप्रयान, तोटक, वंशस्थ, नागस्वरूपिणी । तुलसी के प्रमुख छंदों के नाम भी उनकी भक्ति की ओर इशारा करते हैं यथा—हरिगीतिका, माधव, देवघनाक्षरी । विश्वनाथ इतने शृंगारप्रिय हैं कि ढूंढ-ढूंढ़कर स्त्रियों के नाम वाले छंद निकाल लेते हैं यथा—चंद्रकला, प्रियंवदा, चंद्रिका, चंद्ररेखा, तन्वी, मधुमति, सुंदरी, सुमुखी, तरूणी ।

भाषा शैली—तुलसी की भाँति विश्वनाथ भी संस्कृत भूयिष्ठ शैली प्रिय हैं—

सरसिज़ पत्र लोचन विभवांबुधि ! श्लाघ्य माघ्य सुं
दर तर मंदहास वदना ! सदनायित सत्कृपा गुणा ! (सुंदर, पृ 333).

समास दोनों को प्रिय हैं । तुलसी के समास जाति कठिन हैं—

जड़-चेतन-गुण-दोषमय-विश्व कीन्ह करतार
संत हस-गुण गर्हाहि पय—परिहरि वारि-विकार ।

अवधी, व्रज, संस्कृत, अरबी, व फारसी शब्द दोनों की भाषाओं में मिलते हैं ।

दौलत, जोड़, अजमाइसी (अजमाइश), वसूली (वसूल) जमी, असलु (असल), सेबास (शहवास), कबुरु (खबर), पौजु (फौज़), पजीत (फजीहत) । बजाज, सराफ, बजार (बाजार-फा.)—सूरत, गरीब (अरबी) । तुलसी के नियर (Near), मूड़ (Mood) आदि शब्द अंग्रेजी के नहीं, हिन्दी के ही हैं, यद्यपि हिन्दी व अंग्रेज़ी में इनके अर्थ एक ही हैं । महाकवियों की भाषा सदा मिश्रित ही होती है, क्योंकि वे प्रजा कवि हैं ।

तुलसी मुहावरों के भण्डार हैं। 'सो दिन सोने को कब अइ है?', बड़े भाग उर आवहि जासु—आदि की छटा निराली है। 'मोगंबुलंदु पट्ट पगलिटि सूर्युलु (चेहरों पर बीच दिन के सूरज), मुनि गीसिनगीत (मुनि की लकीर)—आदि मुहावरों ने विश्वनाथ की वाणी को सजीव बनाया है। लोकोक्तियों के तो दोनों ही सरदार हैं—पराधीन सपनेहु सुख नाहीं, नारि धरमु पति देउ न दूजा—तुलसी। पूपु पुट्टंग ने दिक्कुल परिमलंबुलु पिक्कटिल्लु (फूल के खिलते ही, हर सू खुशबू फैलती है) कीडेंचि मेलेंचुमु (पहले आफ़त सोच, बाद में किस्मत)—विश्वनाथ।

नत्रार्थवाचक शब्द तुलसी ने अच्छे गढ़े हैं—नाव को वे 'वन-वाहन' बनाते हैं। ओंठ 'दसन वसन' है, सूर्य 'किरण-केतु' है। अग्नि 'धूमध्वज' हैं तो दीपक 'अजंन-केश' है। विश्वनाथ ने भी ऐसे चित्रात्मक शब्द गढ़े हैं यथा—शिव के लिए वे 'ना येदलो नुंचिन दीपमा!'—'मेरे हृदय में न्यस्त दीप' कहते हैं। विश्वनाथ गुरु के कोमल मन को 'मृदता का प्रवास निलय' बनाते हैं।

समाज की रीति नीति का जीवित चित्र—समाज के आचार-विचार रीति-नीति व रंग-ढंग को तुलसी की भाँति विश्वनाथ भी बड़ी खूबी के साथ पेश करते हैं। समाज का सूक्ष्म दिग्दर्शन सच्ची कविता की जान है, साहित्य समाज का दर्पण तो ठहरा। गर्भिणी स्त्रियाँ मनचाही (चिरुतिंडि बलिसे जनपति सतुलन्) खाती हैं। कल्पवृक्ष में इसका उल्लेख है। हल्दी-चूना मिश्रित जल से नज़र उतारने की प्रथा (कट्टेरें नील्लुत्रिप्पि…) भी छिप न सकी। पुत्रजन्मोपरांत साडी पर गेहूँ बिखेर, उसपर शिशु को बिठा, पास के अंडे के चारों ओर मशाल घुमाने का (गोधुमलु बोसि…) सामाजिक रिवाज भी इसमें वर्णित है। युद्ध यात्रा के आरंभ में करणीय आचार लंका काण्ड में वर्णित हैं। तुलसी ने भी इन्हें शाश्वत रूप दिया है:—विवाह में दान—भै बकसीस जाचकन्ह दीन्हा; दहेज—कहि न जाइ कछु दाइज भूरि; विवाह के अश्लील गीत—गारि गान सुनि अति अनुरागे; परिहास—जेवँत देहिं मधुर धुनि गारी—लै लै नाम पुरुष अरु नारी।

अनुभूति की परिधि—अपनी विशाल अनुभूति की परिधि में दोनों जीवन व जगत के सुख-दुख, कलाप-विलाप और सदसद् की रेखाएँ खींचते हैं। लंका के प्रजा-जीवन-वर्णन में आंध्र कवि ने युगीन जीवन दशा को विस्मृत नहीं किया। दोनों की अनुभूति ही काव्यकृतियाँ बनीं। विश्वनाथ ने गरीबी का भी ढंग देखा था; बेकारी की बेकरारी में वे भी बदहवास हुए थे। इनके पिता दानी ऐसे थे कि छोटा अंगवस्त्र कमर-घुटने तक के भाग पर ओढ़, धोती ही दान में दे दी थी! विश्वनाथ ने

खुद भूखा रह मँगतों को तुष्ट किया था! बाद में लक्ष्मी इनके पास स्वयं आयी। हाथी पर जुलूस, कनकाभिषेक, पद्म भूषण, कवि सम्राट, कलाप्रपूर्ण, पी. एच. डी; कविसिंह, विरुदावलियाँ, साहित्य अकादमी पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार—न जाने क्या-क्या आये और आ रहे हैं, जबकि वे पचहत्तर पार कर रहे हैं!

तुलसी भी ऐसे ही थे। सब कुछ उन्होंने दान में दे दिया। एक ही लोटा शेष था। होल राय कवि की दृष्टि उसपर पड़ी। होल ने कहा—

लोटा तुलसीदास को—लाख टका को मोल

तुलसी ने तुरंत यह कहते हुए लोटा होल राय को दान में दे दिया—

मोल तोल कछु है नहीं – लेहु राय कवि होल।

तुलसी को जनमते ही माँ-बाप से दूर होना पड़ा। 'घर-घर माँगे टूक' और 'छाछी को ललात' वे पेट भरते थे। जहाँ-कहीं शहनाई बजती तो ये रामबोला वहाँ दौड़कर पहुँच जाते और पेट दिखाकर कुछ माँग लेते। ऐसी थी उनकी अवस्था—

जायो कुल मंगन बधावनो बजाये।

बाद में हाल बदला। पहले तो उनके लिए 'चार चने' ही चार परमार्थ थे। पत्नी-सुख भी उन्हें काफ़ी न मिला। ये भिखारी ही बाद में गोसाईं बने। इस भिखारी ने 'रामचरित मानस' के रूप में इस संसार को एक ऐसा दान दिया, जैसा कि कोई सम्राट भी अब तक न दे सका। गोस्वामी बनने के बाद न जाने इनके कितने सम्मान हुए! कविसिंह, रामभ्रमर, 'साहित्य सूर्य' आदि विरुदावलियाँ मिलीं! स्वयं सम्राट अकबर इनके पास आये। राजाओं ने इनके चरणों में शीर्ष झुकाये। राम नाम ने दोनों कवियों को अभूतपूर्व विभूति प्रदान की है!

इनके महान स्थान-मान के बावजूद भी इन दोनों को जाति-भेद और संप्रदाय भेद जनित विष पीना पड़ा। तुलसी ने कहीं अपनी जाति का उल्लेख नहीं किया है। अपने को 'सुकुल' व मंगन कुल का बताया है। अब सभी इन्हें अपनी-अपनी जात के बनाना चाहते हैं। जाति की पूछताछ बार-बार करके सतानेवाले शैव ब्राह्मणों को उन्होंने फटकारा था—'काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जात बिगारि न सोऊ ...।' विश्वनाथ ने भी जातिभेद की समाप्ति की कामना व्यक्त की है—

ई देशम्मा कुलमनु—भेंदम्मुलु लेकयुंड़ विविध जनमुलुन्
मोदमु पोंदग सत्का-रादरमुलु कलुग जूडुमा श्रद्धामेयिन्

यह देश सँभालो ऐसा
कुल भेद की जिससे जायें
सत्कार और आदर में
जन विविध नाचते गायें।

अंतर्कथा संयोजन में विश्वनाथ ने नवता दिखाई है। तुलसी ने सती, चित्रकेतु, अजामिल, अदिति, अंबरीष, अंधतापस, कद्रू, गज, गणिक, गरुड़, गालव, चंद्र, हेमा, दधीचि, दुर्वासा, राहु, पृथुराज, नलवील, दंडक आदि की उपकथाओं से काव्य कलेवर का साजोसिंगार किया तो विश्वनाथ ने वसिष्ठ, विश्वामित्र, सीता शृंगार, देव दानव युद्ध, शबला, मेनका, शुनश्शेफ़, रंभा, अरुंधती, सगर, विशालपुरी, सत्यवती आदि की उपकथाएँ मुख्य कथा सूत्र में आबद्ध की हैं। उमा-महेश्वर की कथा मानस की भूमिका है, जबकि कल्पवृक्ष की भूमिका मेनका-विश्वामित्र की प्रेम-कथा है। तुलसी में सर्वत्र ऋषि सुलभशांति है तो विश्वनाथ में बीसवीं सदी के संघर्ष निरत 'मनस्सन्यासी' की धड़कन है। संबंध सूत्र बनाये रखते हुए काव्य में सौ-दो सौ उपकथाओं का निर्वहण कर देना साधारण कवियों की शक्ति के बाहर की बात है। कल्पवृक्ष में वस्तुतः रामकाव्य को भारत का-सा ढाँचा मिला है। साठ उपन्यासों के प्रणेता विश्वनाथ की उपन्यास-कला उनके काव्य में भी आ गयी है।

अहल्या उपाख्यान, गंगावतरण, दुंदुभि, नारद, परशुराम, प्रह्लाद, बलि, वेणु, ययाति, रंतिदेव, रावण, वाल्मीकि, विराध, शबरी, कौशिक, शिवि, शृंगी, हरिश्चंद्र, जटायु, जंबुमाली, ताटका, वामन, सुबाहु, मारीच, सहस्रबाहु, हिरण्य, त्रिशंकु आदि की उपकथाएँ दोनों में हैं। विश्वनाथ के राम लक्ष्मण से 'उत्तम कथक' के संबंध में कहते हैं—'ये अंतर्दृष्टा हैं, बहुधारूपित सूक्ष्मतर कथांश हैं।' यही उक्ति कवि के संबंध में भी कही जा सकती है।

नाटकीय रमणीयता से दोनों ने कथा को सजीव बनाया है। शिव-पार्वती, काकभुसुंडी-गरुड तथा भरद्वाज-याज्ञवल्क्य संवादों में कथित तुलसी रामचरित की कथायोजना अभूतपूर्व है। मानस के उमा-नारद, लक्ष्मण-परशुराम, हनुमान-सीता आदि के संवाद अनोखे हैं। कल्पवृक्ष के अंगद-हनुमान संवाद, सुग्रीव-राम संवाद, कैकेयी-दशरथ संवाद आदि सैकड़ों संभाषणों ने महानाटक की छटा बिखरायी है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' यहाँ 'नाटकेषु काव्यं रम्यम्' बना है।

वाल्मीकि स्मरण दोनों अत्यादर के साथ करते हैं। दोनों का आधार आदि काव्य ही है। अंतर इतना ही है कि तुलसी ने वाल्मीकि के अंशों को संक्षिप्त बनाया तो विश्वनाथ ने उनका भाष्य प्रणीत किया है। ऋष्यशृंग की सूचना मात्र

देकर तुलसी संतुष्ट होते हैं कि अपनी शृंगार-प्रवृत्ति के अनुकूल होने से 'शांता' का पल्ला पकड़कर, विश्वनाथ उक्त प्रसंग में शृंगार-हास्य के परिपाक में लग जाते हैं। तुलसी वाल्मीकि को 'सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य विहारी' एवं 'विशुद्ध विज्ञान' कहकर नमते हैं—

सीताराम गुणग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ
वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ।

वाल्मीकि के साथ इसी रूप में हनुमान का भी इसमें स्मरण हुआ है।

वाल्मीकि स्मरण के साथ तुलसी के आंध्र प्रतिरूप विश्वनाथजी अपने में काव्यावेश भरनेवाले नन्नया, तिक्कना, एर्रना, श्रीनाथ, नाचन सोमना, भास, कालिदास, भवभूति, दिङ्नाग आदि का भी पुण्यस्मरण करते हैं।

चरित्र चित्रण में दोनों के पंथ अलग-अलग हैं। पात्र वाल्मीकि के हैं, पर उनकी आत्माएँ तुलसी व विश्वनाथ की हैं। प्रत्येक पात्र पर इनकी मुहरें लगी हुई हैं। वाल्मीकि के दशरथ महानृप अवश्य हैं, पर विश्वनाथ के दशरथ मानवतावादी, संसारी पुरुष, दक्षपालक, शृंगारप्रिय, बंधु-प्राण आदि रूपों में चित्रित है। तुलसी के दशरथ शिष्ट हैं। चरित्र विस्तार प्रवृत्ति के कारण विश्वनाथजी अनेकों प्रसंगों की नवोद्भावना करते हैं। शांता चरित्र को उन्होंने अत्यधिक बढ़ावा दिया है। वाल्मीकि के राम पुरुषोत्तम हैं, तुलसी के राम मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं तो विश्वनाथ के राम शृंगारप्रिय एवं कर्तव्य लीन महामानव हैं। कल्पवृक्ष के राम पर विश्वनाथ की उद्दण्ड प्रकृति की छाप है। हनुमान में सरलोग्र रामभक्त हैं, जबकि विश्वनाथ के हनुमान आधुनिक युद्ध-नीति-विशारद राजदूत हैं। सीता का चरित्र चित्रण विश्वनाथ ने प्राकृतिक मानवी के रूप में किया है। कवि अपना अग्नित्व किष्किंधाकाण्ड में उनके शील में दिखाते हैं। इन्हीं परिवर्तनों के कारण मानस की भाँति कल्पवृक्ष भक्ति-काव्य न बनकर, लौकिक काव्य बन गया है।

काव्य विस्तार एवं स्वांतः सुखाय:—मानस में संग्रह व लोक संग्रह प्रवृत्ति है, जबकि कल्पवृक्ष समस्त रामाख्यानों का विस्तृत संग्रह है। कल्पवृक्ष भला छोटा कैसे हो सकता? उसके काण्ड ढाई हजार पृष्ठों तक फैले हैं। इतनी विस्तृति किसी भी भाषा की रामकृति में नहीं मिलती। यह काव्य—

'ना सकलोह वैभव सनाथमु
माथ कथन् रचि चेदन्' (बालकाण्ड-पृ. 4)

कवि कथन के अनुसार ही 'सकलोह वैभव सनाथ नाथ कथा' है। मानस गागर में सागर है। 'स्वांतः सुखाय' प्रवृत्ति दोनों में है। विश्वनाथ कहते हैं—

तलचिन रामुने तलचेद नेनुनु
ना भक्ति रचनलु नावि गान

'अब तक भजे हुए राम को ही मैं भजता हूँ, ध्यान करता हूँ, क्योंकि मेरी भक्ति व रचनाएँ मेरी अपनी हैं।' मानस की रचना भी स्वांतः सुखाय हुई है—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि
स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषा निबंधमति मञ्जुल मातनोति।

आगे की कथा की सूचना ध्वनि द्वारा पहले ही सूचित करने की प्रवृत्ति दोनों में एक-सी है। कहीं-कहीं भाव व्यंजना-सौलभ्य के लिए विश्वनाथ कविता-की-कविता (82-245 पृ, बाल) यों ही रख देते हैं। भक्ति बोधक प्रसंगों में तुलसी ने भी ऐसा ही किया। अपने अन्य काव्यों के पद्य दोनों रामकाव्य में जोड़ देते हैं। गोस्वामी के पद्य कल्पवृक्ष में व सतसई के पद्य मानस में आ गये हैं।

उपमान प्राचुर्य—चंद्र, कमल, भृंग, ज्योत्स्ना, कुमुद, मधु, वसंत, कोकिल आदि प्रचलित उपमानों के अतिरिक्त दोनों ने नये नये उपमान भी अपनाये हैं। जनप्रियता सूचित करने विश्वनाथ 'प्रजा नयनों में कर्पूर-सा' पदावली में कर्पूर को उपमान बनाते हैं। 'कुशलव', ब्रह्ममुख आदि पुराणेतिहास उपमान भी दे देते हैं—

(i) पुत्र हुए दो लव कुश जैसे (कोडुकुलिद्दरैरि लवकुशुलं बले)

(ii) चतुः शाखा ब्राह्मण यथा ब्रह्मा के चतुर्मुख (नाल्गु शाखल ब्राह्मणश्रेणी ब्रह्म चतुर्मुखं बुल बोले)

तुलसी ने भी ऐसे उपमान गृहीत किये हैं—

(i) राम सीय सुंदर परछाहीं—जगमगाति मन खंभन माहीं।
मनहु मदन रवि धरि बहु रूपा—देखत राम विवाह अनूपा।

तुलसी के गिरि, विधु, किंशुक आदि अप्रस्तुत अभिव्यंजना के विद्युद्दीप बने हैं—

(i) अंगद दीख दसानन कैसा—सहित प्राण कज्जल गिरि जैसा

(ii) घायल बीर बिराजहिं कैसे—कुसुमित किंसुक के तरु जैसे।

विश्वनाथ को भी ये प्राकृतिक उपमान प्रिय हैं। वधू हास को वे 'शुक्लाष्टमी ज्योत्स्ना विलास' बताते हैं। हनुमान के शब्दों में राम 'तांबूल पत्र लघुलता' हैं।

दोनों सूर्यचंद्रोपमानप्रिय हैं। तुलसी में 'विधु वदन', 'सूर्य सम' जैसे प्रयोग सर्वत्र मिलते हैं—

विधु बदनी सब भाँति सँवारी—सोह न बसन बिना बर नारी

विश्वनाथ को भी सूर्य व चंद्र भाते हैं। उनके हनुमान सीता माता से कहते हैं—

रामुडु सूर्युडयिनन्—सौमित्रियु जंद्रुमसुडु जनक दुहित! या
रामुडु गगनं बयिनन्—सौमित्रियु वायुवम्म जलजाप्तवधू!
जानकी! सूर्य यदि राम चंद्र—तो चंद्र सुमित्रानंदन हैं
जलजाप्तवधू! यदि राम गगन—तो वायु ऊर्मिला चंदन हैं।

रविवंशज राम सूर्य ही हैं। यह ध्वनिगर्भित उपमान है। सौमित्रि शब्दस्थ 'सुमित्र' (मित्र-रवि) बहुव्रीहि के अनुसार सूर्य युक्त चंद्रमा सूचक हैं। राम गगन हैं तो लक्ष्मण वायु हैं। राम ब्रह्म होने से गगन हैं तो लक्ष्मण वायु-जीव हैं, अत: वायु-प्राण शेष हैं! इन उपमानों का औचित्य निराला है। इन दोनों ने नये-नये उपमान भी प्रयुक्त किये हैं—रामकथा कलि पन्नग भरनी, पुनि विवेक पावक कहँ अरनी तुलसी। विश्वनाथ के नये उपमान देखिए:—

(i) तल्ली! रमणीय चारु लवलीलवलीनविलास हास वल्ली!

(ii) वर्ण वर्ण रंजित लांगूल मानों इंद्रचाप,
उड़े कपि कुंजर ऊपर उठा शोभा से (कल्पवृक्ष-सुंदरकाण्ड)

हज़ारों रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में आये अप्रस्तुतों की इनकी योजना हमें चकित कर देती है।

रस—तुलसीदास और विश्वनाथ दोनों ही रसपोषण में सिद्धहस्त हैं। 'अद्भुत' रस का सर्वत्र अद्भुत परिपाक है। मेनका-कौशिक, सीता-राम, कैकेयी-दशरथ, शांता-ऋष्यशृंग आदि के प्रेम-व्यापार-प्रसंगों में विश्वनाथ बाध्यवस्तु व्यंजना को अधिक स्थान देते हैं; कहीं-कहीं उनका शृंगार सीमा तक पहुँच जाता है, जबकि मर्यादा-भावना के कारण, जानकी-राम एवं पार्वती-परमेश्वर के प्रेम वर्णन में मानसिक भाव व्यंजना को अधिक प्रश्रय देकर, गोस्वामीजी शिष्ट सरस मित शृंगार को साधु रूप में प्रदान करते हैं। हाँ, गीतावलीगत शृंगार कल्पवृक्ष का-सा है। कल्पवृक्ष के प्रेम-शृंगार में पूर्व रचित सीताकल्याण (पिडुपर्ति बसवय्या सिंगर), सीता परिणय

(कूचिमंचि तिम्म), जानकी परिणय (कूचिमंचि जग्ग), जानकी राघव (पेतपूडि कृष्णय्या) आदि की-सी मधुर भावना है।

भक्ति को तुलसी ने दसवाँ रस ही बना दिया है। विश्वनाथ की भक्ति-भावना शैव दर्शन से प्रभावित है। किष्किंधा काण्ड की कपि-सेना के वर्णन में, सुंदर काण्ड के पावनी-राक्षस-समर वर्णन में एवं लंका काण्ड के अनेक युद्ध प्रसंगों में वीर रस साकार हो उठा है। लंका काण्ड में विश्वनाथ ने करुणा को भी निभाया है। वसिष्ठ द्वारा ही ब्रह्मर्षि-पद संबोधन सुनने तक सहस्रों वर्ष तपस्या कर अंत में विश्वामित्र जो विजय प्राप्त करते हैं, उसके वर्णन में तपोवीर की नयी उद्भावना है। शिवजी की बरात एवं शिवजी के वर वेष के वर्णन में तुलसी ने सरस हास्य को स्थान दिया तो विश्वनाथ ने शांता-ऋष्यशृंग कथा एवं दशरथ-जनक सेवकों के कलह प्रसंग में हास्य की छटा दिखायी है। हनुमान द्वारा कृत राक्षस रूप भंग के वर्णन में दोनों ही हास विलास दिखाते हैं। प्रसंगानुसार अन्य रसों का भी समुचित पोषण हुआ है।

प्रबंधात्मकता में दोनों बेजोड़ हैं। मानस शुद्ध महाकाव्य है, जबकि कल्पवृक्ष महाकाव्य होते हुए भी, आंध्र प्रबंधों की अतिशय वर्णन पटुता एवं उपन्यास सहज विस्तृति के कारण उपन्यासात्मक प्रबन्ध काव्य बन पड़ा है। कल्पवृक्षकार का ध्यान कथा, अंतर्कथा, वर्णन एवं कल्पना पर अधिक है, समन्वित प्रभाव एवं समन्वित दृष्टि पर कम है। मानस सरस सरयू और मधुर मंदानिकी है, जबकि कल्पवृक्ष उद्धृत आंध्र गोदावरी है। कल्पवृक्ष पग-पग पर बताता है—'मैं उपन्यासकार का प्रबंध हूँ।' मानस कहता है—'मैं महाभक्त एवं महाकवि का मानस हूँ।' एक ही विषय को लेकर दूर तक चलने की प्रबंध-प्रवृत्ति विश्वनाथ में अधिक है। इसके फलस्वरूप कथा गमन ने कहीं-कहीं धक्का खाया है। तथापि विश्वनाथ के सरस वर्णन, नव प्रतीकोयमान संपत्ति आदि पाठक को बरबस आगे खींच ले चलती है। इसमें एक ही अठारह नहीं, बल्कि दस अठारह वर्णन हैं। समुद्र, पावनी गगन विहार, लंका काण्ड गत अखण्ड प्रकाण्ड युद्ध, लक्ष्मण मूर्छा, राम विलाप, अशोक वनोपलंभ आदि के वर्णन में दोनों अनूठी काव्य-मर्मज्ञता प्रदर्शित करते हैं।

यत्र तत्र हास्य की पिचकारियाँ चलाने में दोनों रस का अनुभव करते हैं। शिवजी की बरात व वेष भूषा देख देवस्त्रियाँ मुस्कुरा पड़ती हैं! कैसी अनोखी सज-धज! साँपों के कंकण, विभूति, पट सिंह की छाल, बरात भूत-प्रेत, साँप का उपवीत, गले में नर सिर माला! ऐसे 'वर-लायक' दुलहिन कहाँ मिलेगी?—

देख शिवहिं सुर तिय मुसुकाहीं—बर लायक दुलहिनि जग नाहीं
विष्णु बिरंचि आदि सुर ब्राता—चढ़ि चढ़ि बाहन चले बराता
सुरसमाज सब भाँति अनूपा—नहिं बरात दूलह अनुरूपा।

वे कहती हैं कि देवगणों की बरात दूल्हे के अनुरूप नहीं है। हनुमान-राक्षस युद्ध और राम-दान से पुलकित वानरों की चेष्टाओं के वर्णन में भी तुलसी ने शिष्ट हास्य का पोषण किया है।

विश्वनाथजी ऋष्यशृंग की कथा, वानर-चेष्टा वर्णन, सीता हनुमान संभाषण आदि में हास्य को पुष्ट करते हैं। रामकल्याण के संभाषण, राम-वानर-संभाषण आदि में हास्य को पुष्ट करते हैं। रामकल्याण के पश्चात् जनक-दशरथ के सेवकों में होनेवाले कलह-प्रसंग को लेकर वे हास्य की पिचकारी चलाते हैं—

एंत साधुवुगा नैन नेमि तगवु-सुंत लेकुंड़ पेंड्लिकि शोभ लेदु
अलकु गुड्डकुनै कलहंबु जरिगे—जनक दशरथ गृह परिचारिकुलकु,
साधु रहा हो वह कितना ही—कलह विना परिणय ही व्यर्थ!
लड़े जनक दशरथ परिचारिक—वहाँ पोंछने के पट अर्थ।

'मानस' हिन्दी भारती का मानस है तो कल्पवृक्ष आंध्र भारती-वन का कल्पवृक्ष है। इन दोनों कवियों ने अपने-अपने समय की समस्त साहित्य विधाओं में कलम चलाकर, उन सभी विधाओं में अपना-अपना स्थान सुभद्र बना लिया है। अपने समकालिकों से स्पर्धा करने की प्रवृत्ति दोनों की एक मुख्य प्रवृत्ति है। ये दोनों काव्य के बीच में अन्य पात्रों के वेष में समान रूप से अपने इष्टदेवों के पास पहुँचते हैं यथा तुलसी सरयू तट पर संत वेष में राम से, और विश्वनाथ शचीपुरंदर रूप में मारुती के यहाँ। विश्वनाथ मारुतीप्रिय हैं, मारुती नगर में ही वे रहते हैं। 'कीरति भनिति भूति भलि सोई—सुर सरि सम सब कहँ हित होई'—उक्ति दोनों पर लागू होती है। मानस शिवजी के मानस से निकला तो कल्पवृक्ष भी 'विश्वनाथ' के ही मानस से निकला है। तुलसी हिन्दी के सूर्य हैं। विश्वनाथ तेलुगु के कल्पवृक्ष हैं।

जवानी बयासी

श्री रा. वीलिनाथन्

सन् उन्नीस सौ बत्तीस या तैंतीस की बात है। पूज्य बापूजी का रचनात्मक कार्यक्रम ज़ोर पकड़कर गाँव-गाँव में व्याप गया था। मेरी तो छुटपन की उम्र थी। मेरे जन्म-गाँव की यह विशेषता रही है कि देश-सेवा के कार्यों में वह अपना क़दम आगे ही रखे। हिन्दी के प्रचार में भी उसने कितने ही सेनानी तैयार किये हैं! पुराने ज़माने में, जैसे आपत्काल में घर-घर से कम से कम एक जवान को सैनिक बनाकर रण क्षेत्र में भेजने की प्रथा रही है, वैसे ही हमारे गाँव का बच्चा-बच्चा हिन्दी सीखने में उत्साह दिखाने लग गया था।

सच पूछा जाए तो सर्व प्रथम हिन्दी प्रेमी मंडल की स्थापना करने का श्रेय हमारे गंवई गाँव विष्णुपुरम को ही था।

हिन्दी प्रेमी मंडल की ओर से एक अध्यापक की मांग करते हुए हिन्दी प्रचार सभा को पत्र गया तो सभा के प्रप्रथम प्रधान मंत्री पंडित हरिहर शर्मा के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उन्होंने लिखा कि यथाशीघ्र हम कोई प्रचारक आपके यहाँ भेज देंगे।

पर अध्यापक आसानी से मिलते नहीं थे। गाँववालों में इतना उत्साह था कि वे एक क्षण भी गंवाना गवारा नहीं करते थे। पूज्य श्री शर्माजी के 'स्वयं-शिक्षक' की सहायता से हिन्दी सीखने लग गये। यही नहीं, प्राथमिक, मध्यमा आदि परीक्षाएँ भी देने लग गये। कई वर्षों तक विष्णुपुरम को प्रमुख परीक्षा केन्द्र रहने का सौभाग्य मिला है।

हिन्दी स्वबोधिनी की मार्फ़त बेसिक शिक्षा तो मिल सकी। पर पुस्तकें पढ़ते हुए कई-कई नये शब्दों और प्रयोगों का सामना करना पड़ा, जिनका हम सिर-पैर नहीं निकाल सके। उस समय कोश-वोश भी इतने उपलब्ध कहाँ थे?

पाठ के संदर्भों को लेकर हमने अर्थ का अनर्थ किया और वाद-विवाद में भी उलझने लगे। आखिर हमने निश्चय किया कि कठिन शब्दों को लिखकर सभा को भेजें और उनसे अर्थ मंगवाएँ।

श्री शर्माजी के पास पत्र गया तो उन्होंने लिखा कि पहले यह लिखिये कि किन-किन पृष्ठों में ये शब्द आये हैं तो हमें संदर्भ सहित अर्थ समझाने में आसानी होगी। हमारे पत्र के जाने के चार ही पाँच दिनों में उन्हीं के हस्ताक्षरों में हमें ठीक-ठीक अर्थ प्रयोग-सहित आ गये। असल में हमारे गाँव के हिन्दी प्रेमियों के

लिये वे अदृश्य रूप से गुरु थे। हमारी निष्ठा और उनके प्रोत्साहन ने हमें आशातीत सफलता प्रदान की।

कांग्रेस के राष्ट्रपति के रूप में बाबू राजेन्द्र प्रसाद हमारे भी गाँव पधारे थे और प्रमाण-पत्र वितरण करते हुए हमारे हिन्दी प्रेम की सराहना की थी। पर हाँ, इसकी तह में श्री शर्माजी ही थे। इस समय तक श्री शर्माजी के प्रयत्न से हमारे गाँव में हिन्दी-शिक्षा देने के लिये श्री एस. एन. नागराज राव आ गये थे, सो बात अलग।

सच पूछिये तो मुझ एकलव्य को श्री शर्मा रूपी द्रोणाचार्य के प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य सन् 1946 में ही हुआ था। विश्ववन्द्य बापू के मुख से 'अण्णा' की उपाधि पानेवाले श्री हरिहर शर्मा को समक्ष-देखकर मैं इतना प्रभावित हुआ कि मेरे मुंह से बोल ही नहीं फूटे थे। पर उनकी निष्कपट-शिशु-मुस्कान मेरे हृदय-पटल पर सदा सदा के लिये अंकित हो गयी थी।

श्री शर्माजी अपनी किशोरावस्था में क्रांतिकारी के रूप में ही उभरे थे। पर गांधीजी के अंकुश ने उन्हें ऐसा अहिंसा व्रती बना दिया कि अपने सेवाकाल में उन्होंने जान-लेवा जहर का भी सहर्ष पान किया और गांधीजी के भी 'अण्णा' हो गये।

कंधों पर 'झोली' लटकाये हिन्दी प्रचार सभा की भव्य इमारत को खड़ा करने के लिये उन्होंने जो तपस्या-निष्ठा की, उसकी कीर्तिगाथा सभा-भवन की हर ईंट गाती है। इससे बढ़कर उनके लिये अमिट स्मृति-चिन्ह और क्या हो सकता है?

ऐसे पूज्यश्री शर्मा के साथ उनके पडौस में रहने का दुर्लभ सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को मिला, तो अपना जीवन सार्थक मानने लगा। पर अपने संकोची स्वभाव के कारण उनसे खुलकर मिलने और बातें करने को हिचकता था। अलावा इसके, अपने को हिन्दी प्रचार के क्षेत्र से अलग करने की बात भी उसके मन को खरोंच रही थी!

पर शर्माजी तो उसे आसानी से छोड़नेवाले नहीं थे! उससे मिलकर उन्होंने उसका संकोच मिटाया ही नहीं, उसे हिन्दी प्रचार क्षेत्र का एक अंग बनाया। उनके साहचर्य ने इन पंक्तियों के लेखक को 'वाणी तमिल हिन्दी स्वबोधिनी' तैयार करने को बाध्य किया। श्री शर्माजी ने उक्त पुस्तक के लिये जो भूमिका लिखी, वह हिन्दी प्रचार के लिये एक दिशा-बोध है।

बातों के सिलसिले में जब विष्णुपुरम का नाम आया तो उन्होंने अपनी बच्चों की हँसी उडेलते हुए कहा, 'अरे, विष्णुपुरम तो मेरे लिये गुरु के समान है! बग़ैर पढ़े इधर उधर मारे फिरनेवाले मुझ विद्यार्थी को बिठाकर पाठ की पुनरावृत्ति करा दी ओर परीक्षा में उत्तीर्ण करा दिया!'

अहा! शर्माजी की इस सादगी को क्या कहा जाए?

श्री शर्माजी केवल हिन्दी प्रचारक नहीं थे। उन्होंने तमिल के लिये जो अतुल सेवा की है, उसकी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती। वे तमि ल के महाकवि भारती के घनिष्ठतम संपर्क में थे। उनकी रचनाओं को बड़े यत्न से संकलित कर तमिल जनता के समक्ष सुरक्षित रखने का महान कार्य उन्हीं ने किया है। भारती के लघु भ्राता श्री विश्वताथ अय्यर के साथ श्री शर्मा ने 'भारती प्रचुरालयम्' की स्थापना की। यही नहीं, भारती को संसार के समक्ष अन्यान्य भाषाओं में भी पेश करने का श्रेय पाया और भारती को श्रेय प्रदान किया।

श्री शर्माजी बहुभाषा विद थे और आदान-प्रदान के कार्य में अपनी सेवाओं द्वारा एकात्म-भावना फैलानेवालों में अग्रगण्य थे!

श्री शर्माजी के अंतिम दर्शन करने का सुअवसर मुझे दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्वर्णजयंती के दिन मिला। उन्होंने खेल-खेल में मेरी पीठ ज़रा-ज़ोर से ठोंकी तो मैं 'ओह' कह बैठा। वे अपनी बाल-हँसी मुझपर फेरते हुए बोले, अरे 'आह, ओह' क्या करते हो? बयासी वर्ष के इस बूढ़े की मार सह नहीं पाते हो क्या?"

"आपको कौन बूढ़ा रहेगा? आप तो हम जवानों के जवान हैं! आपकी यह बेफ़िक्री हँसी कोई पा जाएँ तो कैसे बूढ़ा होगा?—मैंने कहा।

मेरी बात सुनते-सुनते वे मंच पर चले गये थे! पर कौन जानता था कि इतनी जल्दी वे दुनिया के इस रंगमंच से उठ जाएँगे? पर सुनता हूँ कि मरने के बाद भी उनकी वह शिशु सुलभ हँसी मिटी नहीं। आँखों में वह सूरत उतारकर मैं प्रार्थना करता हूँ कि वह हँसी अमृत बनकर हमें बल-संबल प्रदान करे।

आवेदक की अयोग्यता

श्री 'वंशीधर', वैजाग

कह नहीं सकता कितने दफ़्तरों की सीढ़ियाँ मेरे चढ़ने-उतरने में घिस गयीं। जहाँ भी जाऊँ, एक ही उत्तर है 'नो वैकेन्सी'। मेरा भाग्य है! 'फर्स्ट क्लास' तो मिला है, 'एम. ए.' में। मगर ज़िंदगी में क्या कभी कहीं कोई नौकरी मुझे मिलेगी—यह सवाल है।

उस दिन सबेरे ही दोस्त की सलाह से 'भारत बैंक' के 'मैनेजर' साहब के दर्शन किये। सोचा यह 'मैनेजर' साहब 'नरम दिल'—मेरा मतलब है, 'दयालु'—दिखें तो काम बन जाएगा।

चार आने का सिक्का चुप-चाप चपरासी के हाथ में दबाकर किसी तरह साहब के सामने जा सका। सबेरे सात बजे निकला तो करीब साढ़े ग्यारह तक साहब के दर्शन हुए। टाट-बाट दिखाते हुए साहब ने पूछा, 'इसके पहले कहीं काम किया था।' प्रश्न सुन मैं कुछ सहम गया। 'जी, पत्र पत्रिकाओं में लेख, कहानी आदि कभी कभी लिखा करता हूँ,' सविनय जवाब दिया। लेकिन मेरा जवाब सुनते ही साहब के चेहरे का रंग बदल गया। एक मिनट तक साहब कुछ सोचते रहे। शायद यही कि 'क्या कहकर भेज दिया जाय'। मैंने तो समझा कि फिर एक बार आवेदन-पत्र लिखकर देने की आज्ञा फ़रमाएँगे।

"मगर......यहाँ तो कोई वैकन्सी नहीं है"

इतना कहकर वे कागज़ात देखने में लग गये। मेरी आशा पर पानी फिर गया। निरनुभवी होने के कारण साहब के इस तरह कहने का मतलब मेरी समझ में नहीं आया। अपने सारे धैर्य को समेटकर मैंने बड़े ही विनम्र स्वर में कहा, "जी, कल ही सुना है कि यहाँ किसी 'क्लर्क पोस्ट' की 'वैकन्सी'……"कहा न कि वैकेन्सी नहीं है"? साहब कुछ नाराज़-से दीख पड़े। रोज़ की तरह मैं इस महाशय को भी प्रणाम करके बाहर निकला। मैं अपनी राह लेनेवाला ही था कि इतने में कमरे के बाहर चपरासी ने मुझसे कहा "भैय्या, साहब तो लेखकों से चिढ़ते हैं। यहाँ का कोई कर्मचारी लेखक नहीं है। तुम्हें अपने लायक किसी दूसरे दफ़्तर में जाना था।"

चार आने का सिक्का लिया तो लिया, चपरासी ने असली बात बता दी। लिखने में मेरी अभिरुचि ही मेरी ज़िंदगी के लिए काँटा बन गयी। क्या करूँ? सामान के बोझ से लदी हुई मालगाड़ी की तरह किसी तरह घर पहुँचा।

शाम को एक दोस्त ने कहा कि भाई, कोई 'रिकमण्डेशन' ले जाओ तो काम बन जाएगा। उसका कहना तो ठीक है। पर मुझ गरीब के लिए ऐसा सहारा कहाँ से मिलेगा? आख़िर वह बड़े लोग बड़े लोगों के लिए करेंगे।

बातचीत करते-करते अपने उसी दोस्त के साथ रोज़ की तरह अख़बारों के 'वांटिग कॉलम्स' देखने, स्थानीय लाइब्रेरी में घुस गया। तलाश करते आख़िर नवभारत टाइम्स के एक कोने में नौकरी का विज्ञापन दीख पड़ा। 'सौरभ' हिन्दी साप्ताहिक पत्र के लिए उपसंपादक चाहिए। क्वालिफ़िकेशन बी.ए., हो तो काफ़ी है। मैंने समझा नौकरी मिल ही गयी है। क्योंकि उन लोगों के लिए बी.ए. काफ़ी है। मैं तो उससे ऊँचे दर्जे का फ़र्स्ट क्लास हूँ। मेरी कहानियाँ तथा निबन्ध लिखने की आदत तो पढ़ाई के दिनों से ही है। जर्नलिज़्म मेरा इंटरेस्टिंग सब्जेक्ट है।

बस, निश्चित तिथि पर 'सौरभ' साप्ताहिक पत्र के दफ़्तर में दुनिया की सारी विनम्रता को साथ लेकर इंटर्व्यू के लिए हाज़िर हुआ। साथ-साथ अपनी कहानियाँ और निबन्ध भी प्रमाण-पत्रों के साथ ले गया।

"बी.ए. में कब पास हुए?" साहब ने पूछा।

"जी, मैंने एम.ए. पाँच साल पहले ही पास किया है। फ़र्स्ट क्लास भी मिला। मेरी कुछ कहानियाँ और निबन्ध भी प्रकाशित हैं। मुझे पत्रकारिता में विशेष रुचि है।" अपने मूल्य का बयान देकर मैंने अपने प्रमाण-पत्र और कहानियाँ व निबंध भी साहब के सामने रखे। मगर साहब के चेहरे पर प्रसन्नता के बदले अप्रसन्नता का रंग दीख पड़ा। इसका मतलब मेरी समझ में नहीं आया।

"सॉरी मिस्टर", साहब कहने लगे, "हम इस नौकरी के लिए बी.ए. वालों को ही चाहते हैं। इस काम के लिए पोस्ट ग्रेड्येट्स और रचना में रुचि रखनेवाले नालायक़ हैं। मेरा मतलब है, वे लोग काम किये बिना हमेशा अपने काम के कल्पनालोक में ही उड़ते रहेंगे..."

"जी मैं तो दिल तोड़कर..."

"नो, नो। हम तुमको यह नौकरी दे नहीं सकते। 'वेरी सॉरी।" साहब ने अपनी रिवाल्विग-चैर' ज़रा घुमाकर इंटर्व्यू के लिए दूसरे का नाम पुकारा।

"हिन्दी का भविष्य उज्वल"

"राष्ट्रीय एकता के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार दक्षिण भारत में हो, यह बात राष्ट्रपिता गांधीजी के ध्यान में आयी। 1918 के इन्दौर सभा में उन्होंने युवकों को दक्षिण भारत में जाकर हिन्दी सिखाने का आह्वान किया। स्वामी सत्यदेवजी, देवदास आदि नौजवानों ने चुनौती स्वीकार की और दक्षिण भारत में हिन्दी प्रचार का कार्यक्रम प्रारंभ हुआ। उस समय उत्तर से दक्षिण आकर काम करना बहुत कठिन कार्य था। लोगों ने जिस उत्साह के साथ काम प्रारंभ किया था, उसी उत्साह और लगन की आज भी जरूरत है। आज दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा भिन्न-भिन्न तरीकों से व्यापक सेवा कर रही है, फिर भी हमारे अन्दर वह तेज, वह लगन, वह उत्साह नहीं दिखता।" ये बातें केन्द्रीय हिन्दी शिक्षा निर्देशक श्री गोपाल शर्माजी ने कर्नाटक हिन्दी अपग्रेडेड प्राइमरी शाला की एक सभा में बोलते हुए बतायीं।

उन्होंने बच्चों को संबोधित करते हुए कहा कि आप लोगों के चेहरे पर जो तेज है, उसे देख कर मैं बहुत खुश हूँ। हरेक विद्यार्थी को चाहिए कि वह कम से कम तीन भाषाएँ अवश्य सीखे, जिनकी मातृ भाषा हिन्दी है उन्हें दक्षिण की एक भाषा सीखनी चाहिए। त्रिभाषा फार्मूला ही हमारे देश के भाषिक विवाद का एक मात्र हल है। विद्यार्थियों का तेज और शिक्षकों का उत्साह देखते हुए उन्होंने अपना हर्ष प्रगट किया कि हिन्दी का भविष्य उज्जवल है। सभा का प्रयास सराहनीय है। शिक्षकों की ऐसी सेवावृत्ति से ही हिन्दी की सच्ची सेवा हो सकती है।

श्री सारंगमठजी ने स्वागत तथा श्री सीताशरण शर्माजी ने धन्यवाद अर्पण किया। श्री घनश्याम मिश्रजी ने अतिथि को माल्य प्रदान किया।

हाई स्कूल में बोलते हुए श्री शर्माजी ने विद्यार्थियों को बताया कि यह भय मन से निकाल दें कि हिन्दी के माध्यम से पढ़ने पर नौकरी नहीं मिलेगी। निकट भविष्य में हिन्दी शिक्षा का माध्यम बनने जा रही है। उन्होंने उन लोगों की आलोचना की, जो यह कहते हैं कि आज़ादी के पहले शिक्षण का माध्यम अंग्रेज़ी था। वास्तव में लोगों को भ्रम हो गया था कि अंग्रेजी ही हमारी एकता और आज़ादी का मूल है। इसलिए उसे शिक्षा का माध्यम बनना चाहिए। यह ठीक नहीं, देश आगे बढ़ रहा है और शीघ्र ही विज्ञान की कठिनतम पुस्तकें भी हिन्दी में उपलब्ध हो जायेंगी। श्री के. सी. सारंगमठजी ने स्वागत और श्रीमती मालती शर्मा ने धन्यवाद अर्पण किया। श्री सदाशिवजी ने माल्य प्रदान किया। केन्द्रीय हिन्दी शिक्षा उप-निर्देशक श्री हरिमोहनजी ने भी शालाओं का निरीक्षण किया।

नव हिन्दी लेखक शिबिर-बैंगलोर

भारत सरकार ने अहिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों का एक शिबिर गत 10-1-71 से 16-1-71 तक बेंगलोर में चलाया था।

10-1-71 **इतवार**—सबेरे दस बजे श्रीमती तुलसी जयरामन के प्रार्थना-गीत के साथ शिबिर शुरू हुआ। मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार सभा के अध्यक्ष श्री श्रीनिवास मूर्तिजी ने सब का स्वागत किया। शिबिर मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार सभा भवन में ही संपन्न हुआ और आये हुये शिबिरार्थियों को ठहरने और भोजन करने का प्रबंध भी सभा भवन में ही किया गया। श्री श्रीनिवास मूर्तिजी के स्वागत भाषण के बाद शिबिराध्यक्ष श्री नागप्पाजी ने मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति की प्रगति के बारे में भाषण दिया। उसके बाद आये हुए सभी शिबिरार्थियों का परिचय कराया गया। दोपहर बारह बजे सभा विसर्जित हुई।

11-1-71 **सोमवार**—सबेरे दस बजे की सभा में अच्छे-अच्छे भाषण हुए। नये लेखकों के मार्गदर्शन के लिये कई मार्ग दर्शक आये थे। उनका विवरण यों है:—

श्रीमती मन्नू भंडारी—कहानी क्षेत्र के मार्ग दर्शक
श्री राजेन्द्र यादव—कहानी क्षेत्र के मार्ग दर्शक
श्री भारतभूषण अग्रवाल—कविता क्षेत्र के मार्ग दर्शक
श्री बालशौरि रेड्डी—उपन्यास क्षेत्र के मार्ग दर्शक
श्री आरिगपूडी रमेश चौधरी—आलोचना क्षेत्र के मार्ग दर्शक
श्री भारत कुलभूषण—शिबिर संचालक

भाषणों के बाद शामको शिबिर चार भागों में विभक्त होकर विचार विनिमय करने लगा। 1. कविता ग्रूप 2. कहानी ग्रूप 3. उपन्यास ग्रूप 4. नाटक ग्रूप। कविता ग्रूप के अध्यक्ष थे श्री भारत भूषण 'अग्रवाल'।. कहानी ग्रूप की अध्यक्षा श्रीमती मन्नूभंडारी और श्री राजेश्वर यादव थे। उपन्यास ग्रूप के अध्यक्ष श्री बालशौरि रेड्डी थे। आज श्री अग्रवालजी का भाषण अधूरा ही था, सभा 5-30 बजे विसर्जित हुई।

12-1-71 **मंगलवार**—दस बजे की बैठक में श्रीमती मन्नू भंडारीजी ने उपन्यास व कहानी के क्षेत्र में अपने अनुभवों को बताया। दोपहर तीन बजे कल की तरह कविता ग्रूप श्री भारत भूषण अग्रवालजी की अध्यक्षता में हुई। अग्रवालजी ने कल के अधूरे भाषण को आज पूरा किया।

रात के नौ बजे एक बैठक हुई। श्रीमती राजलक्ष्मी गोविन्दन के "भजो रे भैया राम गोविन्द हरि" कबीर भजन के साथ शिविर शुरू हुआ। पहले श्री भारत भूषण अग्रवाल ने भाषण दिया। उनके बाद कर्नाटक के श्री गणपति भट ने भाषण दिया। सभा रात के 11-45 बजे खतम हुई।

13-1-71 **बुधवार**—सवेरे साढ़े आठ बजे शिविरार्थियों का फोटो लिया गया। सबेरे साढे-नौ बजे सभा शुरू हुई। सबसे पहले श्री नागप्पाजी बोले। उनके बाद श्री भारत भूषण अग्रवाल जी का भाषण हुआ। फिर राजेन्द्र यादवजी का। 12-30 बजे सभा विसर्जित हुई। दोपहर के तीन बजे कवि सम्मेलन हुआ जिसका अध्यक्षासन श्री भारत भूषण अग्रवाल ने ग्रहण किया। सभा रात के 12 बजे तक चली।

14-1-71 **गुरुवार**—सब शिविरार्थी मैसूर की यात्रा के लिये रवाना हुये। उनके लिए एक मिनि बस तैयार था, सबेरे 7-30 बजे वे मैसूर रियासत हिन्दी प्रचार समिति भवन से रवाना हुये। श्री नागप्पाजी जहाँ तहाँ ठहरकर हरएक स्थान की विशेषताओं के बारे में बताते हुए आये और बस से उतरकर उन्होंने उनके मार्ग दर्शन में कई जगहें देखीं। यात्रा हर तरह से उल्लास की थी। हरएक जगह को देखते-देखते भूतकाल के भारत की ऐतिहासिक स्थिति की याद आयी।

15-1-71 **शुक्रवार**—सवेरे की बैठक में श्री आरिगपूडी रमेश चौधरी ने अपने हिन्दी लेखन-जीवन के कुछ अनुभव प्रस्तुत किये। शिबिर के कार्यक्रमों को देखने के लिये और भी दो बड़े अफ़्सर दिल्ली से आये। एक थे श्री हरि मोहन, दूसरे थे श्री गोपालशर्मा; श्री भारत भूषण अग्रवाल ने उन दोनों का परिचय दिया।

दोपहर तीन बजे श्री अग्रवाल की अध्यक्षता में एक कवि सम्मेलन हुआ। उस वक्त दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के श्री पी. नारायणजी ने "शान्ति कहाँ रे शान्ति कहाँ" शीर्षक अपनी कविता सुनायी। हरएक की कविता की आलोचनाएँ की गयीं। श्रीमती राजलक्ष्मी गोविन्दन ने मत्तगयन्द सवैया में रची हुई अपनी कविता "शिव मीनाक्षी का विवाह" पढ़कर सुनायी। यह उनके "मधुरा" नामक काव्य का एक अध्याय है। श्रीमती तुलसी जयरामन ने "प्रिय मिले क्या तुम मुझे"—शीर्षक अपनी एक कविता सुनायी। "हमें काँटों पै सर रखकर"—श्रीमती ताजुन्निसा ताज ने अपनी गज़ल सुनायी। और कई कवियों ने अपनी रचनाएँ सुनायीं। उन्होंने अपना नाम नहीं बताया और न उनका परिचय किसी ने दिया।

शामको पाँच बजे कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति के यहाँ अतिथि होकर जाने का कार्यक्रम था। सेवा समिति की महिलाओं ने बस को भेज दिया था। बेंगलोर के चामराज पेट में सेवा समिति का भवन है। हम सब पाँच बजे जयनगर से यानी शिबिर केन्द्र से रवाना होकर वहाँ चले। समिति भवन में फोटो स्टेज तैयार था। शिबिर संचालक, शिबिरार्थी, कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति की महिलाएँ सबोंने मिलकर उस स्नेह मिलन के फ़ोटो में भाग लिया। फिर चाय पार्टी हुई। सेवा समिति की महिलाओं ने समिति के कार्यक्रमों के बारे में बताया। रात को 9-45 बजे श्री गोपाल शर्मा की अध्यक्षता में मातृभाषा में कविता लिखनेवालों की एक गोष्ठी हुई। कन्नड में एक कवि ने राम आज्ञा पर एक कविता सुनायी। राम आज्ञा पर सीता को वन में अकेली छोड़कर लक्ष्मण के चले जाने के बाद सीता के मन में जो विचार उत्पन्न हुये उन्हें बतानेवाली कविता थी "राम आज्ञा"।

श्री पी. नारायण ने मलयालम में रची हुई अपनी कविता को पढ़कर सुनाया। श्री राजेश्वर राव ने अपनी एक तेलुगु कविता सुनायी। श्री कृष्णमूर्ति ने तमिल के सुब्रह्मण्य भारती के बारे में कुछ बातें बतायी। एक शिबिरार्थी ने त्यागराज का "एन्दरो महानुभावुलु" नामक गीत गाया। और एक ने कोंकणी भाषा की कविता सुनायी। श्री सुब्रह्मण्य आचार्य ने तुळु भाषा के बारे में बताया। श्रीमती राजलक्ष्मी गोविन्दन ने तमिल भाषा में अपने द्वारा रचा हुआ कोमलांगी राग का एक गीत गाया।

उसके बाद भारत कुलभूषण ने अपने पिता 'सुदर्शन' जी की एक कविता को, जो व्रज भाषा में है, गाया। श्री कुलभूषणजी के बाद दिल्ली के अक्कौन्ट्स आफ़िसर श्री लालाजी ने सिंधी भाषा का एक गीत गाया। "माता दर्शन दे" गीत का प्रथम चरण था। श्री भारत भूषण अग्रवाल ने बंगला की एक कविता "अँधी वधू" को गीत के रूप में प्रस्तुत किया। व्रजभाषा का एक झूला गीत "उल्ली पार मेरे बटुआ" श्री अग्रवाल जी ने सुनाया। यह था बहिन का गीत भाई के प्रति। "एक दिन की मौत" शीर्षक कविता को श्री गोपालशर्मा ने सुनाया। आखिर श्रीमती तुलसी जयरामन ने निराला की एक कविता सुनायी।

16-1-71 शनिवार—सबेरे 9-30 बजे की बैठक में श्री नागप्पाजी ने आये हुए लोगों को बिदाई दी। फिर भारत भूषण अग्रवाल ने अपनी रचना के बारे में कहा। श्री अग्रवाल की कविताएँ भावपूर्ण और सुननेवालों के हृदय पर जमनेवाली थीं।

तेलुगु कविता की एक अद्भुत प्रक्रिया

श्री मु. भ. इ. शर्मा, "ईश", खम्मम

यों तो किसी भी तेलुगु-शतक में आदि से अंत तक एक ही वृत्त में एक सौ या कभी-कभी उससे कुछ कम या कभी-कभी कुछ अधिक पद्य होते हैं और सभी पद्यों में एक ही वृत्त का प्रयोग होता है। हर एक पद्य के अन्त में एक ही मकुट होता है। उसी मकुट के आधार पर वृत्त का निर्णय शतक-कर्ता पहले ही निश्चय कर लेता है।

वाङ्मय में शतक-रचना का प्रारंभ ईस्वी सन् की चौदहवीं सदी से हुआ और तब से लेकर अब तक अविच्छिन्न रूप से यह परंपरा चली आती है। इतनी सुदीर्घ अवधि में हज़ारों शतकों की रचना की गयी थी; लेकिन अब तक जो शतक प्रकाश में आ गये थे, उनकी संख्या छः सौ से अधिक नहीं है। इन समस्त शतकों का विषय भक्ति, श्रृंगार, नीति या सामाजिक रहा है और सभी शतक-कर्ता उसके रचना-विधान के नियमों का पालन करते आये हैं। ईस्वी सन् की उन्नीसवीं सदी के "अनंत राजु सुब्बराय कवि" भी उक्त नियमों का पालन करते रहे; लेकिन साथ-साथ उन्होंने अपनी शतक-रचना में एक अद्भुत प्रक्रिया का प्रवेश कराया। उसी प्रक्रिया पर प्रकाश डालना इस निबन्ध का उद्देश्य है।

अनंतराजु सुब्बरायकवि रायलसीमा (आन्ध्र प्रदेश) के कार्वेटि नगर के राजा श्री कुमार वेंकट पेरुमाल के आस्थान में रहते थे और वे राजबंधु माने जाते थे। वे नियोगी-ब्राह्मण थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता के प्रोत्साहन से 'सदाशिव शतक' की रचना की थीं। इस शतक में चित्र-विचित्र प्रयोग होने तथा इस शतक का प्रधान वृत्त "सीस" होने के कारण इसके कर्ता ने इस शतक को "चित्रतर सीस शतक" के नाम से प्रचलित किया था।

इस शतक की विशेषता यह है कि इसका हर एक "सीस" पद्य कुछ न कुछ दूसरे वृत्त से गर्भित है; अर्थात सीस वृत्त के अन्दर किसी दूसरे वृत्त का प्रयोग किया गया है। कवि ने स्वयं ही स्पष्ट करके दिखाया है कि कौन से पद्य में कौन-सा दूसरा वृत्त समा दिया गया है। गर्भित वृत्त दिये जाने पर भी इस शतक के पद्यों की गति बड़ी सरस, सहज, अर्थ-वंत तथा धारायुक्त बन पड़ी है। ऐसी रचना कवि की बुद्धि कुशलता और उनके पांडित्य-प्रकर्ष का द्योतक है।

साधारणतया सीस वृत्त के चार पाद होते हैं और हर एक पाद में 6 इन्द्रगण (इन्द्रगण 6 प्रकार के हैं।—नगण + लघु; नगण + गुरु; सगण + लघु; भगण; रगण; तगण) और 2 सूर्यगण (सूर्यगण दो प्रकार के हैं:—नगण के साथ एक गुरु

या एक लघु) कुल मिलाकर आठ गण होते हैं। इस पाद को दो समान भागों में विभाजित करने से प्रथम भाग में चार इन्द्रगण और द्वितीय भाग में दो इन्द्रगण और दो सूर्यगण होते हैं। इन दोनों भागों में तीसरे गण का प्रथम अक्षर "यति" स्थान है। 'प्रास' का नियम नहीं होता। 'सीस' पद्य के अन्त में "आटवेलदि" वृत्त के या "तेटगीति" वृत्त के पद्य का होना अनिवार्य है।

"आटवेलदि" का लक्षण :—

इस पद्य के विषम पादों में तीन सूर्यगण और दो इन्द्रगण कुल पाँच गण होते हैं। सम पादों में पाँच सूर्य गण होते हैं। सभी पादों में चौथे गण का प्रथम अक्षर "यति" स्थान है। 'प्रास' का नियम नहीं है।

"तेटगीति" का लक्षण :—

एक एक पाद में एक सूर्य गण, दो इन्द्रगण और दो सूर्यगण के क्रम में कुल पाँच गण होते हैं। चौथे गण का पहला अक्षर 'यति' स्थान है। 'प्रास' का नियम नहीं है।

इस शतक में एक सौ पद्य हैं। पहले पद्य को छोड़कर बाकी सब पद्यों में बासठ विविध वृत्तों को कवि ने समा दिया है। कुछ पद्य राग-ताल बद्ध बनाये गये हैं, जो गेय हैं। यह शतक भक्ति रस-प्रधान है। चित्र-कविता का तत्व जानने की इच्छा रखनेवालों के लिये यह अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। इसमें अंत्य प्रास के नियमों का पालन किया गया है। काव्य के लक्ष्य से लक्षणों का विरोध न हो, ऐसी सावधानी कवि ने बरती थी। इसलिये तेलुगु के शतकों में यह "सदाशिव शतक" विशिष्ट माना जाता है।

इस शतक का मकुट है "नगवरशरास कावाटनगरवास, गिरिधरशरा सदाशिव! कृत्तिवास!"[1]

शतक-रचना करने का कारण इस कवि ने प्रथम पद्य में ही इस प्रकार व्यक्त किया है।

"श्रीकर सप्तांग श्रृंगार पूरित
राज्य साम्राज्य धुरंधरुंडु
माकराड्वंश कुमार वेंकट
पेरुमाल्ल राजेंद्रुडु महित कनक

---

1. तेलुगु में हर एक पाद के अन्तिम अकारान्त शब्द का अकारान्त में ही उच्चारण करना चाहिये। हिन्दी के जैसे हलन्त उच्चारण नहीं करना चाहिये।

विलसितंबगु सभास्थलि रत्न
सिंहासनमुन नासीनुडै नन्ननंत
राजान्वयुनि, सुब्बराय कवींद्रुनि
बिलिचि इट्लने चित्रकलित सीस
शतकमु रचिंपु मनिननु संतसिल्लि
विरचन कुपक्रमिंचिति विनुमु कृपनु
नगवरशरास, कार्वेटिनगरवास,
गिरिधर शरा, सदाशिव, कृत्तिवास !

(**भावार्थ** :—कार्वेटिनगर में निवास करनेवाले हे नगवरशरास, गिरिधर शरा, सदाशिव, हे कृत्तिवास ! शुभप्रद होनेवाले और सप्तांगों से पूर्ण राज्य-साम्राज्य के धुरंधर, माकराट् वंश में जन्म लेनेवाले कुमार वेंकट पेरुमाल राजेन्द्र ने महित कनक से पूर्ण सभा में रत्न सिंहासन पर आसीन होकर 'अनन्तराज' वंश के मुझ सुब्बाराय-कवींद्र को बुलाकर कहा कि चित्रकलित सीस-शतक की रचना करो। इस बात से खुश होकर मैं ने तुम्हारी कृपा से इस शतक की रचना का प्रारंभ किया है।)

इस कवि ने अपनी काव्य-दुहिता का वर्णन 'मत्तेभवृत्त गर्भित सीस' में इस तरह किया है।—

"विलसदर्थोत्कर विश्रृताखिल गुणा-
लंकारसंयुक्त रा, प्रकाश !
प्रियसमाह्लादक रीति लक्षण सुशी-
लांचच्चमत्कारि रा, सुभाषि !
सरस भावोचित सर्वशालिनि सुमी
राजत्सुवर्णगिरा, मनोज्ञ !
सुरसवत्वंबुन सोंपुलौ पदमुलन्
रम्य स्वरोद्भासिरा, सुवृत्त !

नव्य सुकुमारि ! **कै कोम्मु, नादु काव्य**
दुहित निच्चिति मत्तेभसहितमुगनु
नगवर शरास, कार्वेटि नगर वास !
गिरिधर शरा, सदाशिव, कृत्तिवास ! !

पूरा पद्य संस्कृत शब्द बाहुल्य से परिपुष्ट है। पद्य के अन्त में तेलुगु के जो गाढांकित शब्द हैं उनका अर्थ है—अपनी काव्य दुहिता को मत्तेभ सहित समर्पित

कर रहा हूँ ; स्वीकार करो। उपर्युक्त 'सीस' के प्रथम लघु को और अन्तिम संबोधन को हटाकर पढ़ने से वह "मत्तेभवृत्त"[1] हो जायगा।

कुकवियों की निंदा करते हुये इस कवि ने जो 'सीस' पद्य लिखा है वह "तोटक वृत्त" गर्भित है। पद्य इस प्रकार है:—

"मिसि मिसि यौवन बलिमिगॉनं गुंटयि
भावमु लेक संद्भाषलुडिगि
सरसंपु जोकल शय्यपदं बिड
कर्थमनन् रचनानुसरणि
गीलु गोल्पक चुलंकिचि हितक्रिय
सूपक ग्रंथंबु सूटि नरुग
कुडुगनि चिंतल नुंदुरु गोलकतं
गुकवुल् वसुंधरनु ब्रबलि
इट्टि मूढुलु लज्जिप ने रचिंतु
चित्र तर सीस शतकंबु चित्तगिंपु
नगवर……
गिरिवर……

(**भावार्थ**:—काव्य-कन्या के नव यौवन का बलात्कार करके अपहरण करने से वह भाव हीन हो जाती है और सद्भाषा से वंचित हो जाती है ; सरस शब्दों से सुंदर शैली का प्रयोग करने का प्रयत्न करने में कुकवियों का रचना-विधान कुंठित हो जाता है ; ऐसे लोग काव्य के लक्षण नहीं जानते और ऐसे कुकवि भूलोक में अनेक हैं जो बहुत दुःखित होते हैं। ऐसे लोगों को लज्जित करते हुये हे…कृत्तिवास ! देखो, मैं "चित्रतर सीस शतक" की रचना करूँगा।)

उपर्युक्त सीस पद्य में "तोटक वृत्त" गर्भित वृत्त है जिसके हर एक पाद में चार 'स' गण होते हैं। उपर्युक्त सीस पद्य में 'तोटक वृत्त' इस प्रकार है:—

"बलिमिगोनगुंटयि भावमुले
कलशय्यपदं बिड कर्थं मनं
चुलंकिचि हितक्रिय सूपक चिं
तलनुंदुरु गोलकतं गुकवुल्"

---

1. मत्तेभवृत्त का लक्षण:—इस वृत्त के हर एक पाद में क्रम से स, भ, र, न, म, य गण और एक लघु और एक गुरु होंगे। पाद के प्रथम तथा चौदहवें अक्षर में 'यति' की मैत्री होगी। इस वृत्त में प्रास का नियम होता है।

इस कवि की विद्वत्ता की प्रतिभा को सूचित करनेवाले कुछ पद्यांश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। इनमें अंत्यप्रास का नियम तथा संस्कृत-शब्द प्राचुर्य ध्यान देने योग्य हैं।

1. प्रविमल ज्ञान, विज्ञानभासमान
   विश्वसंस्थान, विषपान, वृषभयान !
2. भक्त-जन पोष, सविशेष, परमपुरुष,
   मधुर संभाष, बुधतोष, मौनिवेष !
3. कलुष जीमूत वातूल, काल काल,
   कर्बुर विफाल, श्रुति मूल, काम पाल !
4. दुष्टशासन, समवर्ति, यष्टमूर्ति
   स्वच्छतर कीर्ति, देवता चक्रवर्ति !
5. साधु निकुरुंब सेवित चरण, सांब
   यधिक करुणावलंब, द्विट्कुधर शंब !
6. प्रकृति संस्फोट, करधृताब्ज करोट,
   खंडित निशाट, कबलित कालकूट !!

इस प्रकार कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। लेकिन विस्तार भीति के कारण उनका परिहार किया जा रहा है।

इतने महान पंडित तथा कवि होकर भी इस कवि ने कहीं अपने कुल या गोत्र के विषय में नहीं कहा। धन्य हैं ऐसे कवि जो इस निस्वार्थ भाव से तेलुगु भाषा योषा को अमूल्य रत्न हारों से अलंकृत कर चुके थे।

एक दुःखद समाचार

सभा के भूतपूर्व कार्यकर्ता श्री श्रीगिरिराजु रामाराव का, जो दो साल पहले सभा की सेवा से अवकाश प्राप्त कर चुके थे, अचानक ता. 29-3-1971 सोमवार को निधन हो गया है। स्वर्गीय रामराव की सभा के विभिन्न विभागों की सेवाएँ कभी भुलायी नहीं जा सकतीं। भगवान उनके आहत परिवार को तथा दिवंगत आत्मा को शांति प्रदान करे।

आदि कवि पंप

श्री सुमित्रा, हारोहल्ली

भारतभूमि सदा से पुण्य-भूमि रही है। यह सत्कवियों की जन्म-भूमि है। आदि-कवि पंप से लेकर आधुनिक कवि कुवेंपु तक सभी कविगण अपनी-अपनी सीमा में श्रेष्ठ माने गये हैं। उनमें पंप महाकवि को ही "आदि-कवि" माना जाता है। वह 'सुविस्तृत कन्नड़ के सत्कवि पंप हैं'—क़रीब छः सौ बरस पहले नागराज नामक कवि ने यह वाणी सुनाई थी। आज भी पंप के बारे में यह बात लागू है। उसे 'नाडोज-पंप' भी कहते हैं। क्योंकि पंप अपने समय का बहुत प्रभावशाली कवि था। नाडोजा' का अर्थ है गाँव का गुरु। पंप कवि गुरु माने जाते हैं।

पंप के बुजुर्ग वेंगीं मंडल में बसे थे। वह कृष्णा—गोदावरी नदियों के बीच की भूमि है। इसी प्रदेश में पंप का मशहूर परिवार था। इसके परिवरवाले वैदिक धर्मानुयायी थे, हवन-यज्ञ करते थे। इसी परिवार में अभिरामदेव पैदा हुए जो इस महाकवि के पिता थे। इन्होंने वैदिक धर्म को छोड़कर जैन धर्म को अपना लिया।

उस समय लेंबुलवाटिका नामक नगर में चालुक्य राजा दूसरा अरिकेसरी राज करता था। पंप महाकवि ने इसके यहाँ 'कविता गुणार्णव' नामक गौरव-पद प्राप्त किया। लेकिन जबकभी हम पंप महाकवि के वनवासी-प्रदेश के रसीले वर्णन पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है मानों उन्होंने अपना जीवन का मधुमय समय वहीं पर बिताया होगा। समूचे कन्नड साहित्य में उनकी वर्णन शैली बहुत ही आकर्षक है। सारा वनवासी उन्हें नंदन-वन-सा लगा। उन्होंने खुद ही बताया कि वहाँ मवान को पैदा होकर आनंदमय जीवन बिताना चाहिए। नहीं तो, पशु-पक्षी का ही सही वहाँ पर जन्म लेना चाहिए। इतना ही नहीं—उनका कहना है कि सैकड़ों रोड़े पड़ने पर भी मेरा मन वनवासी को ही ढूंढता है। इसीसे उनका काव्य सौंदर्य बढ़ा हुआ है। उनकी भाषा भी स्थानानुकूल होकर आवश्यकता के अनुसार बहती है। वह धारवार ज़िले के पुलिगेरे की सरस सरल भाषा है।

ई. पू. 941 में महाकवि पंप ने 'आदि-पुराण' की रचना की। तब ये 39 बरस के थे। तब तक वह अरिकेसरी के दरबार में आस्थान-कवि बने थे। इसके कुछ ही दिनों के बाद 'विक्रमार्जुन-विजय' काव्य की रचना की। राजा की इच्छा थी कि इसे एक बरस में पंप को पूरा करना चाहिए। परंतु कविता गुणार्णव महाकवि पंप ने उसे छः महीने में ही पूरा कर दिया।

आदि-पुराण में जैन-धर्म के प्रति, 'विक्रमार्जुन-विजय' में लौकिक-धर्म पर प्रकाश-डालने की कवि अपनी इच्छा स्वयं प्रकट करता है। इस महाकवि ने इन दोनों

महाकाव्यों के लिए दो संस्कृत ग्रंथ आधार रूप चुन लिए हैं। भगवज्जिनसेन का 'महापुराण' आदि-पुराण का आधार है। व्यास विरचित महाभारत, विक्रमार्जुन-विजय का आधार-कृति है। इतने महान् कृतियों को लेकर दो महाकाव्यों की सृष्टि करना—यह सचमुच कवि की काव्यशक्ति का परिचायक है। साथ साथ उनका उचित विनय भी प्रकट किया गया है।

आदि-पुराण में पंप ने जैन परंपरा का पहला तीर्थंकर श्री वृषभदेव के चरित्र का वर्णन किया है। उनका ही दूसरा नाम था आदिनाथ। इनके सुप्रसिद्ध पुत्र बाहुबलि भरत की कहानी भी इसमें वर्णित है। आदिनाथ महापुरुष थे। उन्होंने तप से धर्मामृत पाया तथा उसे सारे संसार को बाँट दिया। यह दिव्यामृत पाने के लिए उन्हें कई जन्म लेना पड़ा। इनके जन्मांतर की कथा भी आदिपुराण में उल्लेखनीय है। इसके साथ भरत ने अपनी आयुध शाला में मिले चक्ररत्न से जो दिग्विजय की साधना की थी, उसकी कथा भी उपलब्ध होती है। चक्रवर्ति पद की प्राप्ति के लिए छोटे-भाई बाहुबलि के साथ भरत ने जब युद्ध का श्रीगणेश किया, उस समय का वर्णन भी ज्ञान-प्रद तथा मर्मस्पर्शी है। तीर्थंकर की दिग्विजय अगर धार्मिक विजय मानें तो भरतेश की विजय लौकिक विजय मानी जाती है। इस तरह त्याग और भोग का अलौकिक सम्मिश्रण इस आदि-पुराण में हम पा सकते हैं। अतएव आदिपुराण महाकाव्य से कवि की कविता शक्ति व जैनधर्म का मर्म मालूम होता है। यही कारण है कि पंप महाकवि, पुराण कवि तथा आदि-कवि हैं।

पंप की दूसरी रचना है विक्रमार्जुन विजय। यह महाभारत की कथा का ही रूपांतर है। इसमें पंप अपने आश्रयदाता तथा प्रभु अरिकेसरी को ही नायक चुना है। अर्जुन के समान उसका वर्णन किया गया है। कवि ने अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए महाभारत की कथा में भी कुछ हेर-फेर कर लिया है। उसके अनुसार पांचाली यहाँ पर पंचवल्लभा नहीं है। सिर्फ एकमात्र अर्जुन की धर्म पत्नी है। अर्जुन के बहादुरी के आधार पर ही महाभारत की कथा का निरीक्षण किया गया है। आखिर युधिष्ठिर से कहलाता है कि हे अर्जुन! हम तो सिर्फ़ आयु में बड़े हैं। परंतु तुम बहादुरी और महत्ता में बड़े हो। तुमही राजलक्ष्मी का पाणि-ग्रहण करो। इनकार नहीं करो। बस, उसीको गद्दी पर बिठाता है। इस तरह अर्जुन को नायक बनाकर उसके प्रतिस्पर्धी कर्ण को भी समुचित स्थान दिया गया है। कर्ण की बहादुरी, सचाई तथा महान त्याग का चित्र इस महाकवि के हृदय में खूब अंकित हो चुका था। इसीलिए उन्होंने मुक्तकंठ से घोषणा की है कि समूचे भारत में अगर किसीकी याद करनी है तो कर्ण की याद पहले करनी चाहिए, अन्य की नहीं। इसी तरह दुर्योधन

आदि वीरों को भी यत्र-तत्र समुचित सम्मान प्रदान किया गया है। पात्रानुसार अनेक कवि-समयों की सृष्टि हुई है। कुछ प्रसंग तो बिलकुल छूट गये हैं। ये सभी परिवर्तन पंप महाकवि की प्रतिभा के प्रकाश में पड़कर नवीन कांति से नगीने की तरह चमकते हैं। और काव्य को भी स्वतंत्र बनाने में समर्थ हुए है।

पंप कवि तो थे ही, साथ ही साथ बहादुर भी थे। वह खुद रणरंग पर डटे रहकर अकेले लड़नेवाले वीर थे। इसलिए उन्होंने युद्ध का जो वर्णन किया है वह सरसपूर्ण तथा स्वाभाविक लगता है। उसे पढ़ने पर ही उसका स्वाद मिल सकता है।

आदिकवि पंप स्वयं प्रतिभा से महाकवि हुए। उस सुयोग के लिए भी भाग्य का भी संयोग रहा। ऐसे महान कवि को पाकर कर्नाटक ही धन्य नहीं, अपितु सारा भारत देश धन्य है!

✶

सभा की सेवा से अवकाश

कार्यालय पर्यवेक्षक श्री पी. गणपति अय्यर ने करीब तीस साल की सभा की सेवा के बाद ता. 14-4-1971 से अवकाश प्राप्त कर लिया है। इस उपलक्ष्य में सभा के विभिन्न विभागों के कार्य का समर्थता व सुव्यवस्था के साथ संचालन करनेवाले इस कार्यकर्ता की हम मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। सभा की कार्यकर्ता-परंपरा के एक निस्वार्थी व सेवाप्रवण हिन्दी सेवक के रूप में श्री गणपति का नाम सभा के इतिहास में सदा अंकित रहेगा। भगवान करे उनका भविष्य जीवन सुखमय व शांति-पूर्ण हो!

कुमारनाशान की काव्य साधना

श्री पी. कृष्णन, कण्णनूर

महाकवि श्री एन. कुमारनाशान मलयालम के यशस्वी कवि थे। उनकी कला-कृतियाँ मलयालम साहित्य की अक्षय विभूतियाँ हैं। वे प्रेम और सौन्दर्य के सुमधुर गायक थे। श्री आशान मलयालम काव्य संसार में पदार्पण करते समय सभी यशः-प्रार्थी कवि महाकाव्य की रचना में दत्तचित्त थे। क्योंकि महाकाव्य के निर्माण से उन्हें अधिक यश और अर्थ प्राप्ति की संभावनाएँ थीं। लेकिन आशान ने इस पर कोई रुचि नहीं ली। वे अपने पथ को प्रशस्त करनेवाले थे। उन्होंने मलयालम काव्य के भाव और रूप में भी परिवर्तन किया।

श्री कुमारनाशान का जन्म सन् 1873 को कायिक्करा के एक मध्यम परिवार में हुआ। उनके पिता श्री नारायणन एक भक्त एवं साहित्यानुरागी थे। श्री आशान के बचपन का नाम कुमारु था। उनकी शिक्षा-दीक्षा बेंगलूर, मद्रास, कलकत्ता आदि जगहों में हुई। बेंगलूर के श्री चामराजेन्द्र संस्कृत कालेज में पढ़ते समय आशान ने 'सौन्दर्यलहरी' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये। सन् 1918 को उनकी शादी श्रीमती भानुमति अम्मा से हुई। सन् 1924 को एक जलयान के खतरे में वे स्वर्ग सिधारे।

आशान जीवन के बड़े गहरे द्रष्टा थे। वे अनश्वर प्रेम के सुमधुर गायक थे। अस्वतंत्रता, अनीति और अनाचार से त्रस्त मानवता को उन्होंने वाणी दी। जाति-पांति के अंबारों में आग लगाने का स्तुत्य यत्न पहले पहल आशान ने ही किया था। उनकी 'दुरवस्था', 'चण्डालभिक्षुकी' नामक कृतियों में जातिपांति को जड़ से उखाड़ फेंकने का आह्वान है। दीन, दलित एवं पतित जाति के आक्रोश और करुणरुदन की गूंज इन कृतियों में मुखरित है।

सन् 1908 को आशान ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'वीणपूवु' की रचना की। यह सुन्दर काव्यरूप एवं भाव की दृष्टि से दूसरी रोमान्टिक कृतियों से सर्वथा भिन्न था। कवि की भावुकता और दार्शनिक विचारधाराओं का मधुर सम्मेलन 'वीणपूवु' में दृष्टव्य है। मिट्टी में गिरे हुए एक सूखे सुमन की दयनीय दशा का चित्ताकर्षक चित्रण है 'वीणपूवु'। लेकिन मुरझाया फूल एक प्रतीक मात्र है। इसमें फूल की कथा से भी अधिक मानव जीवन के कटु अनुभव और नश्वरता का वर्णन ही परोक्ष-रूप में हुआ है। 'मंजुल सुकोमल पृष्पवर' अब 'धरा पर शुष्क बिखरा' पड़ा है। कवि इस फूल की दयनीय अवस्था देख खिन्न हो जाता है। एकाएक कविताकोमल-मृदु हृदय बोल उठा—'क्यों विधाता ने इतने अधिक गुण एक ही वस्तु—फूल—में

भर-भरकर रखे हैं ? फिर क्यों उसे एकाएक छीन लिया ? यह सब सृष्टि के रहस्य हैं। असल में अपने जन्म-प्रयोजन के निर्वाह के पश्चात् फिर इस जगत् को छोड़ने से दुखी होने की ज़रूरत नहीं है। युग-युगों से पथिकों के पैरों को पीड़ित करनेवाले चट्टानों के जीवन से भी धन्य एवं भव्य है एक बिजली के एक-पल का जीवन। जिसका सृजन हुआ है, उसका आखिर निश्संशय विनाश होगा ही। लेकिन जिसका नाश हुआ है, उसकी उत्पत्ति कर्मगति के अनुसार फिर होती है। काव्य जगत् में 'वीणपूवु' की अच्छी ख्याति हुई। उसकी विचारधाराएँ भारतीय हैं। लेकिन कीट्स, षेल्ली आदि पाश्चात्य कवियों के शिल्प विधान में ही इस सुन्दर काव्य का निर्माण हुआ है। 'वीणपूवु' के पश्चात् की कुछ कृतियाँ ये हैं: नलिनी (1911), लीला (1913), श्री बुद्धचरितम् (1915), बालरामायणम् (1917), ग्रामवृक्षत्तिले कुयिल, प्ररोदन (1919), चिन्ताविष्टयाय सीता (1920), दुरवस्था, चण्डाल भिक्षुकी (1923), करुणा, पुष्पवाटी, मणिमाला और वनमाला (1924)।

आशान की 'नलिनी' और 'लीला' नारी ट्रेजेडी की कथाएँ हैं। उनमें करुणा की सूक्ष्म कोमल स्मिति रेखा है। नलिनी और लीला अपने निस्पृह बलिदान से काव्य में एक करुण गन्ध छोड़ जानेवाली फूल-सी सुकुमारियाँ हैं। इनका व्यक्तित्व जैसे जीवन का सजीव कोमल करुण व्यंग्य है। कवि की असाधारण रंगीन कल्पना और रोमांस की अमिट प्यास इन कृतियों में दृष्टव्य है। 'नलिनी' आशान का एक प्रसिद्ध प्रेम काव्य है। हिमालय की तराई में एक प्रभात को दिवाकर और उसके बचपन की संगिनी नलिनी का अन्तिम मधुर मिलन होता है। नलिनी ने बचपन से ही दिवाकर को अपना दिल दे दिया था। लेकिन दिवाकर चढ़ती जवानी में ही संसार से विरक्त होकर जंगल चला गया। नलिनी ने अपने प्रेमी को ढूँढ़ने का तीव्र यत्न किया। आखिर वह दिवाकर मुनि से हिमालय की तराई में मिली। समर्थ कवि नलिनी और दिवाकर के वार्तालाप से उनके बचपन के सुनहले दिनों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। संसार से विरक्त दिवाकर ने नलिनी को छोड़ जाने का प्रयत्न किया। लेकिन नलिनी उससे अलग होने के लिए थोड़े ही वहाँ आयी थी।

आख़िर नलिनी ने रवि की भांति कांतिमान अपने प्रियतम के अर्द्ध नग्न शरीर को अपनी मृत्यु शय्या बनायी। अलौकिक शृंगार रस से युक्त यह कृति नितांत सुन्दर एवं मार्मिक है। काव्य में उसका अपूर्व बलिदान विरक्त दिवाकर के चित्त को भी चंचल एवं चिन्तन करने को विवश करता है। नाटकीयता नलिनी-काव्य का विशेषगुण है। जिस प्रकार एक कली धीरे-धीरे खिल जाती है, उसी प्रकार

इस काव्य के नाटकीय मुहूर्त का प्रादुर्भाव होता है। नलिनी में एक एकांकी नाटक की शिल्पकला की चारुता एवं गठन है। नलिनी के नायक और नायिका सात्विक अवस्था में पहुँचे पात्र हैं।

'लैला मजनू' की भांति एक सरस प्रेम कथा ही लीला का इतिवृत्त है। विरह विधुरा लीला अपने प्रेमी को ढूँढ़ते इधर उधर घूँमने लगी। उसकी सखी ने उसे बताया कि उसका प्रियतम नर्मदा नदी तट के पास के वन में है। प्रस्तुत कृति का प्रारंभ यहाँ से होता है। पाठकों की जिज्ञासा की वृद्धि कर फिर उनके बीते दिनों की घटनाओं का ज़िक्र करते हैं। लीला और मदनन एक साथ खेल कूदकर बड़े हुए थे। जवानी में पहुँचते-पहुँचते दोनों की आँखें चार हुई थीं। लेकिन पिता ने लीला का एक अमीर से विवाह करा दिया। बेचारा आशिक मदनन निराश होकर पागल की भांति जंगल में घूँमने लगा। लीला के जीवन में भी काल गति काली घटा घेर लायी। लीला के पति का निधन हुआ। वह बेचारी घर वापस आयी। लेकिन उसके माँ-बाप पहले ही मर गये थे। लीला को ज्ञात हुआ कि उसका प्रेमी मदनन निराश होकर जंगल में भटक रहा है। लीला अपनी सखी माधवी के साथ मदनन को ढूँढ़ने गयी। आखिर नर्मदा नदी तट के पास के वन में लीला नाम जपकर पागल की भांति प्रलाप करनेवाले मदनन से वह मिली। एक पल के दर्शन के पश्चात् मदनन ने नर्मदा नदी में कूद आत्महत्या कर ली। लीला ने भी लाचार होकर नदी में कूदकर अपने प्राण छोड़े। इसके बाद लीला और मदनन ने सूक्ष्म देह धारण कर ली। उन्होंने दुखी सखी माधवी के चिरन्तन तत्वों का उपदेश दिया।

श्री ए. आर. राजराजवर्माजी के निधन से कवि अत्यन्त दुखी होगये। उनकी मधुर स्मृति को चिरस्थायी बनाने का यत्न है 'प्ररोदन।' यह एक सुन्दर विलाप काव्य है। कवि ने इसमें संसार के कई रहस्यों को व्यक्त किया है।

रामायण के इतिवृत्त के एक मार्मिक अंश को लेकर ही आशान ने "चिन्ताविष्टयाय सीता" की रचना की है। प्रजा रंजन के वास्ते श्रीराम ने निरपराधी सती सीता देवी को घोर कानन में छोड़ दिया। इस अन्याय, अविचार और अनाचार से कवि हृदय रो उठा। पति परायणा, कोमल हृदया सीताजी के व्यथित हृदय के भावों को भली भांति इसमें अभिव्यक्त किया गया है।

इस कृति ने केरल के सामाजिक जीवन में एक बड़ी क्रांति उत्पन्न की थी। उस समय मलबार में सांप्रदायिक झगड़े हुए। मुसलमानों के क्रूर आक्रमण

से लोग हाहाकार करने लगे। सावित्री नामक एक नंपूतिरी (ब्राह्मणी) युवती विवश होकर चात्तन नामक एक 'पुलय' की कुटी में आश्रय के लिए आ पहुँची। चात्तन ने उस देवी को आश्रय दिया। वह सावित्री की सेवा सुश्रूषा में संलग्न रहा। धीरे-धीरे चात्तन के भोलापन और पवित्र प्रेम ने सावित्री को हठात् आकृष्ट किया। तो सावित्री को भी चात्तन के प्रति कृतज्ञता-निर्भर अनुराग उत्पन्न हुआ। आखिर दोनों विवाह के पावन सूत्र में आबद्ध हो गये। मनोवैज्ञानिक तत्वों के आधार पर ही कवि ने इस कथानक को सँवारा और सजाया भी।

कुछ आलोचकों की राय में आशान की सर्वश्रेष्ठ कृति 'करुणा' है। वासवदत्ता नामक वेश्या को उपगुप्त नामक बुद्ध शिष्य पर वासनारंजित अनुराग उत्पन्न हुआ। उसने अपना हृदय किवाड़ उपगुप्त के लिए खोल दिया। बेचारी वासवदत्ता ने अपनी सखियों को उपगुप्त को लाने के लिए भेजा। लेकिन उपगुप्त ने कहला भेजा कि आने का समय अभी नहीं आया। यौवन छवि से दीप्ततन्वंगी वासवदत्ता अपनी कामपिपासा को शान्त करने के लिए घृणित कर्म करने में भी संकोच नहीं करती थी। दुर्भाग्य से एक धनी चेट्टियार उसके जाल में फँस गया। उस शहर के मज़दूरों का नेता भी वहाँ प्रति-दिन आकर अपनी कामपिपासा को शान्त करता था। मज़दूरों के नेता को नये अतिथि का आगमन अखरने लगा। वासवदत्ता के सामने एक कठिन प्रश्न उपस्थित हुआ। मज़दूरों का नेता उस शहर का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। लेकिन नये अतिथि से वासवदत्ता को धन और मान अधिक मिलते थे। एक दिन वासवदत्ता ने मज़दूरों के नेता की हत्या कर डाली। कुछ दिन के बाद सारा भेद खुल गया। न्यायाधीश ने उस कोमलांगी के सुन्दर अंगो को काटकर उसे श्मशान भूमि में छोड़ देने की आज्ञा दी। सुकुमारी वासवदत्ता के सुन्दर अंगों को छेदकर उसको श्मशान में छोड़ दिया गया। ठीक उसी समय उपगुप्त उस बीभत्स श्मशान में पधारे। उन्होंने वासवदत्ता को शरणत्रयों का उपदेश दिया। वासवदत्ता ने अलौकिक शान्ति के साथ अपने प्राण छोड़े। यह सुन्दर कृति समाज की आलोचना से बढ़कर जीवन की आलोचना है।

श्री कुमारनाशान मलयालम के युगान्तकारी कवि हैं। आधुनिक मलयालम के कवित्रय में (श्री वल्लत्तोल, श्री आशान, श्री उल्लूर) मध्यस्थित हैं कुमारनाशान!

प्रियतम की खोज

'भक्तिसार', मद्रास

प्राचीन काल से लेकर ब्रह्मरूपी सत्य के कल्याणकारी दर्शन के सुखानुभव में महान व्यक्तियों ने अपना सारा जीवन व्यतीत किया है। भगवान और भागवत का संबंध बहुत ही प्राचीन माना जाता है। इस परम सौभाग्य की प्राप्ति दैव्य है। रामावतार के काल में वशिष्टादि मुनियों ने इस तत्व का निरूपण कर श्री राम में पूर्णत्व देखा और उनकी सत्यप्रियता और कर्तव्यनिष्ठा से प्रभावित होकर आनंद विभोर हुए थे। कृष्णावतार में गोपिकाएँ नन्दकिशोर की लीलाविभूतियों की दर्शी थीं। महाकवियों ने सत्य की खोज में अपने रागों की लय कर अनुभूति की चिर सुंदर रचनाएँ की थीं जो हृदयग्राह्य बन गयी हैं। इन रचनाओं के भाव, सौदर्य, अर्थविन्यास, रूप संकेत आदि विषयों की जांच में हम तन्मय हो उठते हैं।

गोदाजी का अनंग से निवेदन है कि वे श्री वेंकटेश्वर को उनका जीवन साथी बनावें। श्री माणिक्कवाचकर ने अरुणाचलेश्वर की प्रेयसी बनकर उनका यशोगान गाया है। उनके तिरुक्कोवैयार नामक ग्रंथ में नायक नायिका के प्रेमतत्व द्वारा शिवानुराग की ओर संकेत मिलता है।

तमिल महाकवि श्री सुब्रह्मण्य भारती का नाम राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति में स्मरणीय है, फिर भी आध्यात्मवाद की ओर भी चिरंजीवी है। उन्होंने नन्ददुलारे को नाना रूपों में देखने का प्रयास किया है।

प्रियतम भागवत कवि की सेवा में तत्पर रहता है और सेवक का रूप धारण कर लेता है। उसकी सेवाओं से प्रभावित होकर कवि कहते हैं:—

'नण्पनाय्, मन्दिरियाय् नल्लाशिरियनुमाय्
पण्पिले दैवमाय् पार्वैयिले शेवकनाय्
एंगिरुंदो वन्दान् कण्णन् इडैच्चादि एन्ट्रट सोन्नाम्।'

वह आया, मित्र बनकर आया, मंत्री जैसे सलाह दी, आचार्य के रूप में उपदेश दिया, दास का सा विनीत बर्ताव किया, दैवीगुणों सहित दास का रूप धारण कर वह कहीं से आया। अपने कुल का नाम गोपल कहता है।

कवि प्रियतम की खोज करते हैं। हमारे सामने एक जीता जागता चित्रण समर्पित करते हैं। प्रियतम की खोज हो रही है। खोजने का स्थान एक घना वन प्रदेश है। खोजनेवाली एक युवती है। भगवान के सामने सारे मानव प्रेयसी हैं। कवि का वर्णन देखिए।

वह सुंदर युवती कहती है, 'हे प्रियतम! तुम्हारी खोज में घुमक्कड बन मैं दुबली-पतली हो गयी। इस प्रदेश के बारे में तुम जरा सोचो। यहाँ के तरुवर भलाई के पैदावर हैं। फल भोग्य हैं। गिरिवर की शिखाएँ दिग्दर्शन में बाधा डालती हैं। नदियाँ कल-कल ध्वनि द्वारा रागालाप करती हैं। यहाँ के प्रफुल्लित पुष्प हृदय के प्रेमानल के प्रतीक हैं। पर्वत की लंबी तराइयाँ, अथाह झरने, कांटे, झाडियाँ जो वेदनाप्रद हैं यहाँ के नित्य-शूर हैं।

हिरनों की आंखों में प्रेम याचना झलक रही है। व्याघ्रों का गरजन दिल धडकानेवाला है। चिडियों की बोलचाल में काव्य रचना हो रही है। रास्ते में एक भयंकर अजगर अचल पड़ा है। शेर इच्छानुसार घूम रहे हैं। उनका गरजन सुनकर हाथी कांप उठते हैं और विचलित हो रहे हैं। मृगी दौड़ रही है और मेंढक अपने बचाव के लिए छिप जाते हैं। अब कल्पना करो कि इस प्रदेश में मेरी कैसी हालत हो।'

वह और कहती है, 'थकावट के कारण मुझे नींद आई और मैं ज़मीन पर गिर पड़ी। उस समय हाथ में शूल लिए एक निषाद आया। कामातुर होकर वह मुझे देखने लगा। उसने कहा 'हे युवती! तुम्हारी नव सुंदरता को देखकर मेरे दिल में इच्छा होती है। मोहवश मैं पागल हो गया हूँ। तुम मेरी आंखों का तारा हो। मैं तुम्हारा आलिंगन करूँगा। थकावट की क्यों सोच रही हो? माँसाहार बनवाकर हम खाएँगे। मैं रुचिकर फल लाऊँगा। हम शहद पीकर सुख के साथ रहेंगे।'

युवती कहती है 'निषाद के वचनों ने मेरे मन में बड़ा धक्का पहुँचा दिया।'

युवती के पातिव्रत्य की परख हो रही है। वह समझती है कि पतिव्रता के लिए पति को छोड़कर अन्य सभी परपुरुष हैं। अतः वह पुरुषों से भी शीलता की मांग करती है।

वह कहती है—

'अण्णा उनदडियिल वीळंदेन—एनै
अंजक कोडुमै शोल्ल वेंडाम्—पिरन्
कण्णालम् शेय्दुविट्ट पेण्णै—उंदन्
कण्णाल् पार्तिडवुम् तगुमो।'

अर्थात् 'हे मेरे भाई! मैं तुम्हारे पैरों पड़ूंगी। कृपया मुझ से ऐसे कटुवचन न कहें। मैं परनारी हो गयी तो मुझपर दृष्टि डालना धर्म है क्या?'

पति को छोड़कर अन्य पुरुषों से पिता या भाई का सा व्यवहार करना ही उचित और माननीय है। महाकवि इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर सद्व्यवहार का प्रचार करते हैं।

उस नीच निषाद ने जवाब दिया 'तेरी शास्त्र विधियों की मैं क्यों परवाह करूँ? तेरा भोग ही मेरा भाग है। मेरे सिर में चक्कर काट रहा है। लालसा मुझमें पुरानी ताड़ी का सा काम करती है।'

युवती कहती है 'मेरे कानों ने यह वाक्य सुना कि मुख ने तुरंत ही श्री कृष्ण की पुकार की। मैं जमीन पर गिर पड़ी। मुझे याद है कि थोड़े ही क्षण बीत गए होंगे। वहाँ मेरे प्रियतम दीख पड़े। निषाद का वहाँ पता नहीं था। ऐसी झांकी देकर मेरे प्रियतम ने मेरी रक्षा की।

शरणागत-वत्सल श्री कृष्ण की कृपा का यहाँ एक जीता जागता चित्रण मिलता है। महाकवि भारती का यह अनुभव साहित्यिकों और साधारण लोगों के मन में पूर्ण रूपेण जीता रहता है और आत्मानुभव की ओर अग्रसर करता है। भक्ति के व्यापक क्षेत्र में इस तरह का प्रचार और प्रसार कवियों के दिल की कल्पना भले ही हो, परंतु वे सत्य के संयोजक और मार्गदर्शक अवश्य हैं।

स्वर्ण-जयन्ती समारोह

यह निवेदन करते हुए प्रसन्नता होती है कि सभा की स्वर्ण जयन्ती अप्रैल 29, 30 को मनाने का निश्चय हुआ है। आशा है, स्कूल-कालेजों में छुट्टी होने के कारण सभी प्रचारक, अध्यापक तथा छात्र-छात्राएँ सोत्साह समारोह में भाग लेंगे।

प्रचारक बन्धुओं से विनती है कि स्वर्ण-जयन्ती संबंधी सरल हिन्दी परीक्षा चलाने के कार्य में वे और अधिक स्फूर्ति लाने की कृपा करें।

स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर 1970 में उत्तीर्ण स्नातकों के लिए पदवीदान समारंभ भी होगा। स्नातकगण पदवीदान-शुल्क के साथ पाँच रुपये का अतिरिक्त शुल्क अदा करके प्रतिनिधि बन सकते हैं। उन्हें पदवीदान के दिन सभा की ओर से मद्रास में ठहरने व भोजन आदि की सुविधा दी जाएगी।

स्वर्ण जयन्ती के सिलसिले में मद्रास आने-जाने का रेलवे किराया प्राप्त करने का प्रयत्न हो रहा है। दस रुपये देकर प्रतिनिधि बननेवाले प्रमाणित प्रचारकों तथा पाँच रुपये का अतिरिक्त शुल्क चुकानेवाले स्नातकों को यह रेलवे रियायती फ़ारम भेजा जायेगा। जो प्रचारक बन्धु अब तक प्रतिनिधि नहीं बने हैं, वे कृपया तुरंत अपना प्रतिनिधि-शुल्क भेज दें।

दो दिन का कार्यक्रम होगा, जिसमें विभिन्न प्रकार के सम्मेलन, भाषा-समारोह, कवि-गोष्ठी, मनोरंजन आदि होंगे। विस्तृत कार्यक्रम अन्यत्र दिया गया है।

"हिन्दी प्रचार समाचार" के प्रिय पाठकों से :

सभा का यह मुखपत्र भिन्न-भिन्न रूप, नाम धारे गत पचास सालों से हिन्दी के साथ-साथ दक्षिण की प्रादेशिक भाषाओं की भी भरसक सेवा करता आ रहा है। यह कार्य आज भी चालू है। दक्षिण के हज़ार-हज़ार हिन्दी-शिक्षकों का यह परिचित सखा व मार्ग-दर्शक माना जाता है। असंख्य हिन्दीतर हिन्दी शिक्षार्थियों की लेखन-शक्ति के अंकुरण का भी इसे श्रेय प्राप्त है। आकार में वामन होने पर भी दक्षिणी सूबों की सांस्कृतिकमिलन-प्रक्रिया में इसका योगदान अभूतपूर्व रहा है। परिस्थितियों के दबाववश इस पत्रिका का वांछित विकास भले ही संभव हो नहीं पाया हो फिर भी सतत हमारी आकांक्षा रही है कि दक्षिण के लक्ष-लक्ष हिन्दी प्रेमी-पाठकों, छात्र-छात्राओं तथा हिन्दी शिक्षकों के उपयोगार्थ विविध रोचक स्तंभ इसमें जोड़े जाय। इस संबन्ध में हम अपने उत्साही पाठकों की सलाहों का भी स्वागत करना चाहेंगे। तात्कालिक रूप में "गांधी हिन्दी दर्शन", "प्रश्न आपका जवाब हमारा" तथा 'भारत भारती' शीर्षक तीन रोचक स्तंभ जोड़े जा रहे हैं जिनका विवरण यों है :—

(1) **गांधी हिन्दी दर्शन**—स्वतंत्र भारत के नागरिक की हैसियत से यह कड़ुआ सत्य घोषित करना ही पड़ रहा है कि गत चौबीस आज़ाद सालों में यहाँ राष्ट्रपिता को, उनके राष्ट्रीय शिक्षा सिद्धान्त को खासकर हिन्दी शिक्षा नीति को भुलाने का ही सयत्न प्रयास होता रहा है। ऐसे शापमूर्छित माहौल में बापूजी की हिन्दी-विचार-संहिता जो 1906 से स्वर्गंगा की तरह विविध भाषण-प्रवचनों तथा लेखन रूप में सतत प्रवहमान रही है, उन सबका यत्किंचित पुनःस्मरण शिक्षार्थियों की वर्तमान दिग्मूढ़ नयी पीढ़ी को पर्वस्नान का सा चैतन्य प्रदान कर पायगा—इसी उम्मीद से उक्त स्तंभ में गांधीजी के तत्संबन्धी मंतव्यों को खंडशः प्रकाशित किया जायगा।

(2) **प्रश्न आपका, जवाब हमारा**—सभा के विविध विभागों में आनेवाले पत्रों से पता लगता है कि हिन्दी प्रेमियों, परीक्षार्थियों, हिन्दी प्रचारक, शिक्षक व लेखकों में हिन्दी प्रचार, परीक्षा-पाठ्यक्रम, हिन्दी तथा हिन्दीतर लेखकों की हिन्दी रचना-प्रक्रिया, सरकारी तथा गैर सरकारी हिन्दी संस्थाओं की नीति व कार्यों की गति-विधि मूलक विविधमुखी जानकारी की जिज्ञासा भरी है जिसकी पत्राचार द्वारा सही पूर्ति नहीं हो पाती है। अतः इसे हम पाठकों का स्तंभ मानते हैं। प्रश्नकर्ता निम्नांकित हिदायतों पर ध्यान देंगे—(1) प्रश्न हिन्दी संबंधी ही हों। (2) प्रश्न कार्ड में ही संक्षिप्त वाक्यों में लिख भेजें। (3) अपने प्रश्नों का जवाब प्रश्नकर्ता "हिन्दी समाचार" में देख लें, अलग पत्राचार की उम्मीद न रखें। प्रश्न, संपादक के पते पर भेजा करें।

भारती साहित्यकार प्रतिष्ठान, नई दिल्ली-1

अभिनन्दन समारोह

तेलुगे के उपन्यास "वेयिपडगलु" तथा कन्नड़ काव्य "मंकुतिम्मनकग्ग" के अनुवादक श्री पी. वी. नरसिंह राव, शिक्षामंत्री, आन्ध्र प्रदेश तथा डॉ. सरोजिनी महिषी, उपमंत्री, भारत सरकार का अभिनंदन भारती साहित्यकार प्रतिष्ठान की तरफ़ से 18 दिसंबर, 1970 की शाम को एन. बी. ओ. हाल निर्माण भवन, नई दिल्ली में संपन्न हुआ। भारत के उपराष्ट्रपति श्री गोपाल स्वरूप पाठक ने अध्यक्षता की। भारतीय साहित्यकार प्रतिष्ठान के मंत्री श्री वे. आंजनेय शर्मा ने अतिथियों का स्वागत किया और भारतीय साहित्यकार प्रतिष्ठान की रूप-रेखा पर प्रकाश डाला। दोनों अनुवादकों का हृदय से अभिनंदन किया।

श्री जयकृष्ण अग्रवाल, कृष्णा ब्रदर्स ने श्री नरसिंहराव जी को शाल तथा डॉ. सरोजिनी महिषीजी को रेशम की साड़ी भेंट की। तेलुगु साहिती तथा आंध्र एजूकेशन सोसाइटी की तरफ़ से अतिथियों को मालाएँ समर्पित की गयीं। अध्यक्षासन से भाषण करते हुए श्री गोपाल स्वरूप पाठक जी ने दोनों मंत्रियों की साहित्यिक सेवा की सराहना की और उन्होंने बताया कि भारत की एकता रूपी ब्रिज बनानेवाले ये ही लोग हैं। भारत की सभी भाषाएँ एक समान हैं। हर एक भारतवासी को यह समझना चाहिए कि भारत की सभी भाषाएँ उसकी अपनी भाषाएँ हैं। उन्होंने अभिनंदन कार्य के लिए प्रतिष्ठान को बधाई दी।

संसद सदस्य श्री गंगाशरण सिंह तथा डॉ० प्रभाकर माचवे ने कृतियों की विशेषता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला और उन्होंने बताया कि ये भारत की दो उत्तम कृतियाँ हैं। एक उपन्यास है दूसरा काव्य। भारत के जन जीवन का इन दोनों कृतियों में बारीकी से विश्लेषण किया गया है। श्री नरसिंहराव जी ने 'वेयिपडगलु' की विशेषताओं पर प्रकाश डाला और बताया कि तेलुगु के महान उपन्यास का अनुवाद करके राष्ट्रभारती की सेवा करने का जो मौका मुझे मिला उसपर प्रसन्न हूँ। डॉ० सरोजिनी महिषी ने 'मंकुतिम्मनकग्ग' काव्य की कविताएँ यत्रतत्र पढ़कर सुनाईं और श्री गुण्डप्पा के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला। प्रतिष्ठान के कोषाध्यक्ष डॉ० चन्द्रकान्त महेता ने धन्यवाद समर्पण किया। कुमारी लक्ष्मी मेनोन के राष्ट्रगीत के साथ समारोह समाप्त हुआ।

तमिल साहित्य में 'प्रवास'

श्री टी. एस. कुप्पुस्वामी, मदुरै

[संघकालीन तमिल साहित्य के अध्ययन में भारतीय साहित्य-शास्त्र के प्रतिमानों के अनुरूप नये दृष्टिकोण को अपनाने की आवश्यकता है। पालैत्तिणै के विस्तृत साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उदीयमान लेखक ने इस ओर संकेत किया है, यह प्रसन्नता की बात है। इन महान् फुटकर रचनाओं के जिस प्रकरण-वक्रता के अभाव की आर लेखक ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है वह निश्चय ही अनुशीलनीय है। हम आशा करते हैं कि तमिल साहित्य के अन्यान्य हिन्दी लेखक इस पहलू पर आवश्यक प्रकाश डालेंगे।

—संपादक]

संपूर्ण संघकालीन वाङ्मय को 'अहम्' तथा 'पुरम्' नाम के दो वर्गों में विभाजित किया गया है। अहम् के अन्तर्गत रति-भाव पर आश्रित काव्य आता है तो रत्येतर भावों पर आधारित रचनाओं का समावेश पुरम् के भीतर किया जाता है। संघकाल में विरचित प्राय: सभी रीति-व्यंजक रचनाएँ मुक्तकों में ही हैं तथा प्रत्येक मुक्तक प्रेम-जीवन की किसी न किसी स्थिति विशेष को नाटकीय ढंग से उपयुक्त प्राकृतिक परिप्रेक्ष्य में पाठक के समक्ष समुपस्थित करता है। ये स्थितियाँ पाँच प्रमुख शीर्षकों के अधीन वर्गीकृत की गयी हैं, जिनके नाम हैं—

(1) कुरिंजि, (2) मुल्लै, (3) नेय्दल, (4) मरुदम तथा (5) पालै। लक्षणों के आधार पर इनकी तुलना यदि हम संस्कृत काव्य-शास्त्र की कतिपय मान्यताओं के साथ करना चाहें तो 'कुरिंजि' को 'संयोग शृंगार' तथा शेष चारों को 'विप्रलंभ शृंगार' के अंतर्गत पायेंगे। इन चारों में मरुदम का संबन्ध तो स्पष्टत: 'मान-विप्रलंभ' से है तथा अन्य तीनों का संबंध प्रमुखतया प्रवास-विप्रलंभ से जुड़ा है। लक्षणों के ही आधार पर यदि हम इन तीनों के बीच परस्पर भेद करना चाहें तो कह सकते हैं कि मुल्लै में धीरा स्वकीया प्रोषितपतिका नायिका का, नेयदल में विरहोत्कंठिता नायिका का तथा पालै में विदेश-गमनोद्यत नायक एवं प्रवत्स्यत्पतिका नायिका दोनों का वर्णन प्रधान रहता है; गौण रूप में कुछ अन्य प्रसंग भी यत्र-तत्र रह सकते हैं। इन पाँचों में से संघकालीन अहम् साहित्य का लगभग आधा अंश पालै के गीतों से ही भरा पड़ा है।

सच्चे प्रेमियों का संसार ही निराला है जहाँ दो से अधिक व्यक्तियों के प्रवेश की गुंजाइश ही नहीं होती। उनके उत्फुल्ल प्रेमोद्यान में तीसरे व्यक्ति को उतना ही

आदर प्राप्त है जितना दाल-भात में मूसलचंद महाराज को। उनके संयोग-सुख की प्रकृति बहुत कुछ छुईमुई की-सी होती है जो किसी व्यक्ति को अपने निकट जानने मात्र-से ही कुम्हला जाती है। यही कारण है कि दूसरों का सुख छीनने की कला में नित्य-नूतन कुशलता प्राप्त करनेवाले इस युग में समुद तट पर या नगर-उद्यान के किसी निभृत पार्श्व में तन्मय पड़े प्रेमी-युगल के समीप जा बैठना अशिष्ट समझा जाता है। इन प्रेमी-जीवों के मोहक जगत् पर घोरतम वज्रपात तब होता है जब इन दोनों के बीच विरह की प्राचीर खड़ी कर दी जाती है। इसकी सृष्टि के साथ ही अनुरागियों का सुनहरा संसार धूलि-धूसर हो जाता है तथा सर्वत्र मलिनता का साम्राज्य बस जाता है। इसी उथल-पुथल की अस्पृहणीय आशंका एवं चिन्ता से ग्रस्त नायक-नायिका का अत्यंत हृदय-द्रावक तथा स्वाभाविक चित्रण हमें पालैत्तिणै के गीतों में देखने को मिलता है।

धनोपार्जन के उद्देश्य से नायक परदेश जाने का निश्चय कर बैठा है। ग्रीष्म की तपती ऋतु में कई बीहड वनों, शुष्क मैदानों तथा दुर्गम पर्वतों को पार करके वणिकों के साथ उसे जाना है। मार्ग में हिंस्र जंतुओं का भय है; लुटेरों-बटमारों का आतंक है। उन सबसे यदि कोई बचकर जाय तो तब किसी प्रसिद्ध नगर में पहुँचकर अर्थ संचित कर ला सकता है। उस सूरत में भी वह कम-से-कम दो-तीन महीने से पहले घर नहीं लौट सकता। मगर तब तक तरुणी नायिका—भोली ग्रामीण वधू—कैसे धैर्य धारण किये बैठी रहे? नायक के जाने के साथ ही एक ओर उसको निर्दयी विरह पीड़ा देगा; तो दूसरी ओर क्रूर-कर्मा दस्युओं तथा रक्त-पिपासु वन्य जीवों से भरे जल-विहीन अरण्यों में जेठ की दुपहरी में भटकनेवाले प्रियतम की चिन्ता उसको चुडैल बनकर खा न जायेगा क्या? बेचारी डरती है कि कुछ अनिष्ट न हो जाय। भय और चिन्ता से भरकर वह चाहने लगती है कि प्रिय परदेश न जाएँ। हम धनवान नहीं हैं तो ना सही। जितना कुछ पास है उसीसे निर्वाह कर लेंगे, लेकिन विरह की दुसह वेदना का शिकार नहीं बनेंगे।

नायिका की उपर्युक्त मनोदशा को अत्यंत बारीकी के साथ अंकित करने में संघकालीन तमिल कवियों ने पूरी प्रतिभा, सहृदयता तथा मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ से काम लिया है। बहुधा नायिका अथवा उसकी सखी की उक्ति के रूप में ही नायिका के अन्तःस्थल का उद्घाटन किया गया है। जैसा कि ऊपर कहा गया है इन उक्तियों का प्रधान उद्देश्य प्रवासोद्यत नायक को जाने से रोककर नायिका की भावी वियोग-व्यथा को टालना है। इसी लक्ष्य के अनुरूप तत्कालीन कवियों ने नाना बिम्बों तथा वाक्-चातुर्य की योजना अपने गीतों में की है। उदाहरणार्थ कविवर 'पेरुंकडुंको' का यह गीत लीजिए—

"नायक ! मैंने कितनी ही बार तुमसे कहा कि अगर तुम मेरी सखी से बिछुड़कर चले जाओगे तो वह बिचारी तड़प-तड़पकर जान दे देगी। पर तुम ऐसे हठीले हो कि मेरी एक नहीं सुनते। अच्छा, यदि तुम्हें जाना ही है तो जाओ। पर हाँ, सुना है, तुम्हारे मार्ग में एक मनोरम सरोवर पड़ता है जो अपने प्रिय जल से वियुक्त हो जाने के कारण तप-तपकर सारी रमणीयता, शीतलता तथा उपादेयता खो चुका है तथा जिसकी विरह-दग्ध छाती के कई जगह फट जाने से उसपर असंख्य दरारें उभर आयी हैं।

"और हाँ, कहते हैं कि उस पथ पर बारि के अभाव में ठूँठ बन खड़े वृक्ष भी हैं जिनसे लिपटी लतिकाएँ अपनी समग्र कमनीयता, कांति तथा मृदुलता से विरहित होकर स्पन्दनहीन निज प्रिय के चरणों में ही धूल में लोट रही हैं।

"इतना ही नहीं, तुमने कुछ समय पूर्व उस रास्ते में जो हरा-भरा एवं फूला-फला वृक्ष देखा था वह अब अपनी संपूर्ण सुषमा से हाथ धो बैठा होगा। उसकी एक-एक मंजरी उष्ण लुओं की लपेट में आकर झुलस गयी होगी।

"अब तो मुझे इनका ही भरोसा है। ये ही तुम्हें भली-भाँति समझा बुझाकर सही मार्ग पर ला सकेंगे तथा परदेश जाने से रोक सकेंगे।" (पालैक्कलि-2)

हठीले नायक को मनाने के लिए कैसी परोक्ष किन्तु मनोवैज्ञानिक एवं प्रभावशाली प्रणाली को अपनाया गया है! मार्ग की वस्तुएँ गिनाने के बहाने वास्तव में सखी ने नायिका की भावी स्थिति का ही मार्मिक वर्णन किया है। सौन्दर्यहत मलिन सरोवर, विच्छिन्न लतिका, आतप-दग्ध कोमल किसलय इत्यादि नायिका की भावी विरह-पीड़ित अवस्था की ओर ही इंगित कर रहे हैं। सीधे-सादे कथन में निहित प्रभविष्णुता उपयुक्त उपमानों का सहयोग पाकर कई गुना बढ़ जाती है, इसका सखी को परिज्ञान है। और फिर, कभी-कभी प्रकृति अपनी मौन वाणी में कुछ रहस्यपूर्ण बातें करके चित्त पर वह असर पैदा करती है जो बातूनी पंडितों के लंबे-चौड़े भाषणों द्वारा भी संपन्न नहीं होता। इसी कारण कवि ने सखी को अपनी शिक्षा से अधिक नैसर्गिक वस्तुओं की प्रभावशीलता पर भरोसा करते दिखाया है।

एक और दृश्य लीजिये! तिरुवल्लुवर की नायिका समझा-समझाकर थक गयी है, पर नायक मानने में नहीं आ रहा। वह तो बराबर यही कहता जा रहा है कि मैं शीघ्र लौट आऊँगा, मैं शीघ्र लौट आऊँगा। आखिर वह झल्ला उठती है और कहती है—

"अगर न जाने की बात करनी हो तो मुझसे करो। और, अगर शीघ्र लौट आने की ही बात करनी हो तो उससे जाकर करो जो तब तक प्राण बचाये रखने का साहस रखती हो।" (तिरुक्कुरल-1151)

इसे सरल भोलापन कहें या नारी-सुलभ चतुराई? सीधा-साधा कथन होने पर भी इसमें जो मर्मस्पर्शी व्यंग्य है वह किसी भी दृढ़-हृदय को, क्षण भर के लिए ही सही, अपने निश्चय से डिगा सकता है। बात यह है कि सच्चा प्रेमी किसी भी वस्तु का त्याग कर सकता है किन्तु अपने प्रेम-पात्र का नहीं। वह तो दिन-रात सुख-चिन्ता में लीन रहनेवाला है; इतना अधिक कि कभी-कभी उसे बड़ी ही निराधार तथा फूहड़ चिन्ताएँ भी सताने लगती हैं, जैसे—

'पँखुरी लगै गुलाब की, परि है गात खरोट'।

तो फिर क्या ऐसा अनुरागी चित्त अपने प्रिय की मृत्यु की—विश्व के घोरतम दुःख की—कल्पना कर सकता है? प्रकृतया हर स्त्री अपने प्रिय की इस कमज़ोरी को समझती है। प्रस्तुत पंक्तियों की नायिका ने भी पुरुष की इसी मानसिक दुर्बलता को जाने-अनजाने अपनी लक्ष्य-प्राप्ति का उपादान बनाया है।

यद्यपि संघकाल में भावाभिव्यंजना के लिए वाणी को ही अधिक महत्व दिया गया है तथा पात्रों के वक्तव्यों के रूप में ही उनके अंतर्जगत का उद्घाटन किया है तथापि कुछ स्थलों पर हाव-भावों तथा अनुभावों द्वारा भी भावों का प्रकाशन करने का सफल प्रयास लक्षित होता है। अहनानूरु से लिये गये निम्न गीत का कथक यूँ तो नायक ही है परन्तु उसने नायिका के अनुभावों का जो चित्रोपम वर्णन किया है उसकी छटा देखते ही बनती है—

"मैंने कितनी ही प्रेम-सिक्त बातें कहीं। पर उसके मुख पर फैली उदासी न धुली। मेरे लाख बुलाने पर भी वह पास नहीं आयी। अनसुनी की नाईं खड़ी रही। मैं निकट ही था, फिर भी वह स्वयं को अकेला-अकेला अनुभव करती रही। कुछ देर बाद, सुकुमार चरणों से लाली बिखेरती आहिस्ता-आहिस्ता मेरी ओर बढ़ी, प्रतिमावत् मेरे सम्मुख आकर खड़ी हो गयी। मुँह उठाकर टकटकी लगाये कुछ क्षण मेरी तरफ़ ताकती रही। उसका वह ताकना भी कुछ विचित्र ढंग का था। फिर सहसा एक गूढ़ मुस्कान उसके अधरों को स्पन्दित कर गयी। सीपी के ईषत् खुल जाने से मुक्तापंक्ति क्षण-भर झलककर ओझल हो गयी। लगा, वह मुस्कान मुस्कान न होकर उसके अंतर्मन की किसी वेदना की दूती हो। ओह, कितनी पीड़ा भरी थी उस स्मिति की ओट में, कितनी थकान थी और थी कितनी निराशा! ऐसा जान पड़ता है कि उसने मेरे परदेश-गमन की बात मेरे बताने से पहले ही किसी प्रकार ताड़ ली है।

"उसके मुख पर की रेखाएँ मूक स्वरों में उपालंभ दे रही थीं—'क्या प्रिय-जन को बिलखते छोड़ जाना ही तुम्हारा पुरुष-धर्म है!' वह पाटलांकित चित्र-सी कुछ समय खड़ी रही। अचानक उसके नेत्र छलछला उठे और पुतलिकाएँ शनैः शनैः अश्रु-प्रवाह में गोता खाने लगीं तथा अंत में उसी के भीतर डूबकर जल-समाधि ग्रहण कर गयीं। साथ ही, उसने दोनों हाथों से वक्ष से चिपटे हमारे पुत्र को कसकर पकड़ लिया। उस बालक की शिखा में अरुण कमल का सद्य-विकसित एवं तुषार-सिक्त सुमन सुशोभित था। मेरी पत्नी ने ऐसी आह भरी कि अनजाने में जिसका ताप लगने से वह शीतल जलज भी तत्क्षण झुलसकर मुरझा गया।

"इतना सब देख लेने के वाद भी क्या मैं परदेश जाता? नहीं, मैंने वह विचार ही त्याग दिया।" (अहनानूरू-5)

विरह-भीत नायिका का वर्णन कितनी सूक्ष्मता के साथ किया गया है! उसका एक-एक ब्यौरा इतना सजीव तथा इतना सक्रम तथा इतना सुव्यवस्थित है कि लगता है, कवि ने उन्हें प्रस्तुत करने के लिए लेखनी से नहीं प्रत्युत् 'चल-चित्र कैमिरा' से काम लिया हो। नायिका के मुख से एक शब्द भी तो निकला, फिर भी उसके मौन ने वह काम कर दिखाया जो शायद ढेर सारे शब्द भी न कर पाते! उसकी आंगिक चेष्टाओं ने मानसिक विषाद तथा क्लेश को नायक पर प्रकट किया सो किया, उसके साथ-ही-साथ प्रिय का विदेश-गमन रोककर अपना अवसाद दूर करने का औषध भी फोकट में पा लिया। काव्य का कलेवर ऐसे ही संश्लिष्ट बिम्बों द्वारा सप्राण बनता है तथा वास्तविक अर्थ में काव्यत्व को प्राप्त करता है।

हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने (या यों कहें, शृंगार वर्णन करनेवाले प्रायः सभी हिन्दी कवियों ने) विरह-वर्णन के समय केवल नायिका की वेदना को ही बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया है, सारा रोना-पीटना औरतों के मत्थे मढ़ दिया है तथा नायक को वियोग-पीड़ा की आँच से दूर रख छोड़ा है, जैसा कि बिहारीलाल की एक नायिका शिकायत करती है कि उसका नायक 'विरह बिथा-जल परस बिनु, बसत मो हिय ताल।' कभी-कभी तो ऐसे शृंगार वर्णन पढ़कर हमें शक होने लगता है कि ये नायक कहीं निपट कामी, लंपट तथा हृदय हीन तो नहीं थे जिन्हें प्रिया की पीड़ा तनिक भी नहीं सताती थी। घनानंद के जैसे कुछ सहृदय नायकों को हम भूले तो नहीं हैं परन्तु उन्हें हम अपवाद की कोटि में ही पाएँगे।

इधर, संघकालीन तमिल कवियों ने जितनी तल्लीनता के साथ विरह विह्वल नायिका के आकुल चित्त का अनावरण किया है उतनी ही भाव-मग्नता के साथ विरह-विदग्ध तथा सुकुमारी प्रिया के अनिष्ट की चिन्ता से विक्षुब्ध नायक की मनः-

स्थिति को भी अंकित किया है। पालै के गीतों में कई स्थलों पर संकल्प-विकल्प के भँवर में पड़कर डूबते उतराते नायक का अत्यंत हृदयस्पर्शी चित्रण देखने को मिलता है, जिसको आधुनिक शब्दावलि में 'अंत: संघर्ष' भी कहा जा सकता है। कभी तो नायक अपने कर्तव्य का विचार करता है और सोचता है कि धन के बिना संसार का कोई भी सुख नहीं मिल सकता; और तो और, गृहस्थ-धर्म का पालन भी सम्यक् रूप से नहीं हो सकता। तो कभी, यौवन के मकरंद से मदमाती प्रेयसी की ओर देखता है ओर अपने मन से कहता है कि क्या इस सरस, सुन्दर एवं सुरभित वाटिका को उजाड़कर तुम जीवन में सुख पा सकोगे? क्यों नहीं इसके श्यामल कुन्तल की शीतल छाँह में, कोमल बाहों के मधुर परिरंभण में यौवन की दुर्लभ घड़ियाँ मस्ती में बिता देते? किसी-किसी नायक की प्रणय-भावना इतनी बलवती होती है कि वह उसकी इच्छा-शक्ति को धर दबाती है तथा उसे अपना परदेश-गमन का विचार ही छोड़ देने पर बाध्य होना पड़ता है। और कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आती है कि कोई नायक अपना चित्त पत्थर बनाकर घर से निकल तो पड़ता है, किन्तु मार्ग में कोई मर्मस्पर्शी—दृश्य यथा, भीषण धूप की गरमी से व्याकुल हिरनी को अपने तन की ठंडी छाँह में बिठाकर स्वयं प्रचण्ड आतप में जलनेवाला हिरन, देखकर नायक का मन विचलित हो जाता है; उसे हिरनी के ही समान विरहाग्नि में झुलसती अपनी प्रियतमा का ध्यान सताने लगता है और उसका भावुक हृदय विरहोत्कंठित प्रणयिनी को निज सान्निध्य की शीतलता पहुँचाकर उसका संपूर्ण विरह-ताप हरने के निमित्त अनुरागी मृग के समान मचलने लगता है। बुद्धि के लाख समझाने पर भी हृदय नहीं मानता, अतएव अंत में हारकर नायक बीच मार्ग से ही घर लौट आता है। लेकिन ऐसा कम ही होता है। प्राय: भावुकता पर विजयी होकर कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होनेवाले नायकों के दर्शन ही हमें पालै के गीतों में देखने को मिलते हैं।

अहनानूरु, नट्रिणै तथा कलित्तोगै में सन्निविष्ट लंबे पालै गीतों में, जहाँ कहीं भी अवकाश मिला है तत्कालीन कवियों ने वेदना-विवृति के अतिरिक्त मानवेतर प्रकृति का भी अतिशय हृदयहारी चित्रण किया है। वास्तव में, प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से संघकालीन कृतियाँ तमिल-साहित्य-कोषागार के बेजोड़ रत्न हैं। चूँकि तद्युगीन काव्य-शास्त्र तोलगाप्पियम में प्रत्येक प्रणय-व्यापार का संबन्ध बाह्य-प्रकृति के विशिष्ट रूप-व्यापार द्वारा निर्मित परिप्रेक्ष्य के साथ जोड़ दिया गया था तथा किसी भी देश-काल की भूमिका में किसी भी प्रणय-प्रसंग का वर्णन (जैसा कि संस्कृत तथा हिन्दी वाङ्मय में देखा जा सकता है) तमिल-साहित्य-सौध में सुकवि-सम्मत तथा श्लाघनीय नहीं समझा जाता था, इसलिए लगभग सभी संघकालीन कवियों ने

यथासाध्य साहित्याचार्यों द्वारा निर्धारित नियमों की परिसीमा के भीतर आबद्ध रहकर ही प्रकृति-वर्णन करने का प्रयास किया है। इस बंधन के बावजूद, उन्होंने अपनी सूक्ष्म अंतरदृष्टि, प्राणी-जीवन से घनिष्ठ परिचय, मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ इत्यादि के कारण पशु-पक्षियों के दैनिक जीवन पर आधारित अनेक ऐसे मौलिक एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना की है कि उनका अध्येता अपने समस्त पूर्वाग्रहों से विनिर्मुक्त होकर हिंस्र पशुओं के साथ भी आत्मीयता और सहानुभूति का अनुभव करने लगता है; और यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी की शब्दावली में कहें तो, वह 'हृदय की मुक्तावस्था' में पहुँच जाता है और उनकी सम्मति के अनुसार इसी अवस्था का दूसरा नाम 'रस-दशा' है।

तोलगाप्पियम के अनुसार पालै के गीतों की भूमिका मरुभूमि तथा ग्रीष्मकालीन मध्यान्ह के द्वारा ही निर्मित होनी चाहिए! यहाँ मरुभूमि से तात्पर्य रेगिस्तान अथवा रेतीला प्रदेश ही नहीं। तमिल-साहित्य चिन्तकों की दृष्टि में कोई भी प्रदेश (चाहे वह पर्वतों या वनों या कृषि-क्षेत्रों या समुद्र-तट से मंडित हो) जो ग्रीष्म की ज्वाला में जलकर अपनी उर्वरता, शैत्य तथा हरीतिमा से नितांत विरहित हो चुका हो, मरुस्थल की संज्ञा से अभिहित होता है। तमिल में, पालै शब्द का वाच्यार्थ भी रेगिस्तान ही है जो उपर्युक्त अर्थ-विस्तार के साथ ही प्रस्तुत संदर्भ में ग्राह्य है।

तोलगाप्पियम के अनुकरण पर पालैत्तिणै के गीतों में हमें ग्रीष्म कालीन प्रकृति का उग्र रूप ही देखने को मिलता है। वस्तुतः इन प्रकृति-वर्णनों में नायक-नायिका के अंतर्जगत् को ही प्रतिबिम्बित किया गया है; नायक-नायिका के विरहानल का व्यक्त रूप बाह्य जगत् की आग उगलती धूप में; उनके प्रेमाकुल हृदय की छटपटाहट दुसह गरमी से विक्षुब्ध वनैले जीवों की कातर तड़पन में तथा वियोग-व्यथा से जर्जरित उनके चित्त का करुण स्वरूप वृष्टि के अभाव तथा धूप की भयंकरता के कारण विस्फुटित धर्ती के वक्षःस्थल पर उभरी अगणित दरारों में प्रतिबिंबित हुए हैं। इस प्रकार इन गीतों में अंतर्जगत् तथा बहिर्जगत के बीच एक अद्भुत सामंजस्य स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास दृष्टिगोचर होता है। साथ ही, आग उगलती दुपहरी में, जल-विहीन जंगलों में पानी या भोजन की खोज में भटकते वन्य पशुओं का जो करुणामय बिम्ब उपस्थित किया है; अथवा भूखे-प्यासे होते हुए भी शत्रुओं से प्राण बचाने की चिन्ता से अधीर वनचरों का जो दयनीय एवं अंतर्द्वंद्वपूर्ण दृश्य चित्रित किया गया है; अथवा ऐसी विकट घड़ी में जान पर खेलकर भी अपनी पत्नी व बच्चों की रक्षा करने के लिए आतुर नर-पशुओं की तत्परता, ममत्व तथा उत्सर्ग-भाव का जो अश्रु-गीला चित्र अंकित किया गया है उसे पढ़कर हृदय गद्गद् हो उठता है। क्षण-भर के लिए तो हम यह भी भूल बैठते हैं कि जिनके दुःख पर हम

आँसू बहा रहे हैं वे वास्तविक जीवन में हमारे कुटिल शत्रु हैं। उस समय वे हमारे भय एवं जुगुप्सा के आलंबन न रहकर रति तथा करुणा के आलंबन बन जाते हैं।

वनचरों के संघर्षमय जीवन का एक नाटकीय दृश्य लीजिये—

विशाल पर्वत की तलहटी में बसा एक छोटा-सा गाँव! झुलसती धूप के कारण हरियाली का नामोनिशान नहीं रहा है। केवल महुए के वृक्षों पर ही कुछ हरीतिमा दीख रही है। ये वृक्ष इतने सघन हैं कि इनको भेदकर सूर्य की किरणें भी कठिनाई से प्रवेश कर पा रही हैं! महुए के पके फल मीठी-मादक सुगंध बिखेरते धर्ती पर बिखरे पड़े हैं; कुछ धर्ती को चूमने की प्रतीक्षा में वृक्षों पर ही लटक रहे हैं। रीछों का एक झुंड कहीं कुछ खाने को न मिलने के कारण महुए की मधुर गन्ध से आकर्षित होकर भोजन पाने की आशा से इस ओर आ रहा है! इधर, भीलों का एक दल शिकार की तलाश में घात लगाये बैठा है। रीछों को इसका सुराग़ मिल गया है। वे प्राण बचाकर भागना चाहते हैं; भीलों के विष बुझे बाणों से बचना चाहते हैं। पर भूख उनके पैरों में बेड़ी बनकर जकड़ गयी है। वे बेचारे न आगे जा पाते हैं, न पीछे! आखिर, वे व्याधों के घातक शरों से बचने के लिए भू पर बिखरे पड़े महुए के फलों को न खाकर (जिनको सरलता से प्राप्त किया जा सकता था) ऊँची शाखों पर लगे-श्वेत-सछिद्र फलों को ही चखने लगे हैं; तथा बीच-बीच में चौकन्ने होकर चारों ओर देखते भी जा रहे हैं। (अहनानूरु: 171)

मनुष्यों तथा रीछों का उक्त वर्णन पढ़कर हमें शक होता है कि इन दोनों में कौन अधिक बर्बर है—महुए के फलों से पेट पालनेवाला रीछ या उदरपूर्त्ति हेतु भालुओं के रक्त से हाथ रंगनेवाला मानव? निस्संदेह, इस प्रसंग के पाठक की सहानुभूति जितनी अधिक निरीह भालुओं के प्रति होगी उतनी हिंसा-वृत्ति को अपनानेवाले भीलों के प्रति नहीं। इसके अतिरिक्त, भूख की अकुलाहट तथा प्राणों का मोह दोनों क्षोभदायक किन्तु परस्पर विरोधी प्रवृत्तिवाले भावों की एकत्र अवस्थिति के कारण उत्पन्न संघर्षशील मनोदशा का मर्मस्पर्शी चित्रण करने में कवि ने कमाल कर दिया है। उक्त पंक्तियों में उसकी दृष्टि की सूक्ष्मता, भेदकता तथा सहानुभूतिशीलता देखते ही बनती है। आश्चर्य इस बात का है कि यह सारा परिश्रम रीछ जैसे जंगली जानवर के अंतर्मन को उद्घाटन कर उसके प्रति करुणा का भाव जगाने के लिए किया गया है। केवल मनुष्यों तक ही प्रेम, करुणा जैसे उदात्त भावों को सीमित रखना शायद संघकालीन कवियों को सह्य न था।

अहनानूरु का ही एक दूसरा दृश्य प्रस्तुत है जिसकी रचना प्रसिद्ध कवयित्री अव्वैयार ने की है—एक ऊँचे भूधर के पदतल में फैली भयानक निर्जन घाटी! भीमाकार शिलाखंड इधर-उधर बिखरे पड़े हैं! दो सटी चट्टानों की ओट में एक

सँकरे स्थान पर मादा चीता ने एक साथ तीन बच्चे दिये हैं—चितकबरे, गदबदे तथा चारों पादों में टेढे, तीखे और लंबे नाखूनोंवाले! जच्चे को भूख सता रही है; नर को भोजन की खोज में जाना है। वह अपने कर्तव्य के प्रति सजग है, किन्तु अपनी प्रिय पत्नी व नवजात शिशुओं से बिछुड़कर जाना उसे नहीं सुहाता! वह बिचारा विवश है; पर भोजन तो जुटाना ही पड़ेगा। अतः नर-चीता वहीं बैठा-बैठा भोजन की आहट लेने लगा है और एक चट्टान की आड़ लेकर दूर कहीं से आते बारहसींगे के आह्वान-स्वर को उत्सुकता पूर्वक सुन रहा है।" (अहनानूरु: 147)

कहिये, है न एक भरे-पूरे परिवार का चित्र—पति, पत्नी, बच्चे सभी तो हैं इसमें! ऐसा कौन-सा सहृदय पाठक होगा जो इस नर-चीते की पितृ-भावना, पत्नी-प्रेम तथा कर्तव्य-परायणता का कायल नहीं हो जाएगा! आजकल के मनोवैज्ञानिक तथा नीति-विशारद जघन्यतम कर्मों का मूल्यांकन भी उनकी प्रेरणा (Motive) के आधार पर करने लगे हैं। उसी दृष्टिकोण से देखने पर, क्या हम उक्त वर्णन में आये नर-चीते के प्रति एक प्रशंसापूर्ण प्रसाद की भावना व्यक्त किये बिना रह सकते हैं? क्या इस चीते की स्थिति उस मनुष्य से बहुत भिन्न है जो पत्नी-बच्चों के लिए कोई खाद्य पदार्थ खरीदने हेतु सड़क पर कहीं दूर से आती फेरीवाले या रेहड़ीवाले की आवाज़ को ध्यान से सुनता है तथा उत्सुक होकर उसकी प्रतीक्षा करने लगता है? जो थोड़ा-बहुत अंतर है, वह परिस्थिति का ही है, तात्विक वा प्रकृतिगत नहीं!

अच्छा, अब 'ऐन्दिणै ऐंबदु' का एक प्रणय पूरित प्रसंग लीजिये जिसकी रचना संघकाल के कुछ पीछे होने पर भी पूर्णतया संघकालीन पद्धति पर ही की गयी है।

जेठ की दुपहरी में प्यासे हिरन पानी की खोज में भटक रहे हैं। मृगों का एक जोड़ा शुष्क-प्राय पर्वत स्रोत के पास आया है। उसमें पानी है तो, किन्तु बहुत ही कम! उन दोनों में से कोई एक ही उसका पान करके तृषा शान्त कर सकता है! दोनों एक दूसरे का मुँह ताकते हैं। सती नारी की भांति मृगी अपने पति को ही जल ग्रहण करने का आग्रह करती है। लोकरीति के अनुसार मृग को उसकी बात माननी ही पड़ती है। वह जल पीने के निमित्त नीचे उतर आता है। पर स्वार्थी तो वह भी नहीं है; वह भी हृदय से पत्नी में अनुरक्त है तथा पति होने के नाते अपने कर्तव्य से भी अभिज्ञ है। अतः वह सारा जल स्वयं पीकर हिरनी को प्यास से तड़पाना नहीं चाहता। साथ ही, वह यह भी जानता है कि यदि वह जल नहीं पियेगा तो उसकी पत्नी भी नहीं पियेगी! इधर पानी दो-चार घूँट ही है; अतः आधा-आधा करके पीने में भी कोई लाभ नहीं हो सकता! इन्हीं विचारों में उलझा वह जल के निकट आता है! तभी, 'जहाँ चाह, वहाँ राह' वाली कहावत के अनुसार

उसका सात्विक प्रणय तथा उत्सर्ग-भाव इस द्विविधा से निकलने का एक उपाय सुझा देता है। वह प्रेमी मृग जल पर झुककर झूठमूठ दो-चार चुस्कियाँ लेता है और बिना कुछ पिये तृषित ही तट पर लौट आता है! मृगी बिचारी इतनी भोली है कि वह तो सोचती है कि पति जल-ग्रहण के पश्चात् तृप्त होकर लौटे हैं; अतः वह नीचे उतरकर जल पीने लगती है।"

तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के जटिल ताने-बाने से नितान्त असंपृक्त इन अबोध एवं निरीह प्राणियों का सरल, सानुराग तथा सोत्सर्ग जीवन किस सहृदय जन का मन मोह नहीं लेगा! आदर्श प्रेम का ऐसा मर्मस्पर्शी उदाहरण तो मनु-पुत्रों में भी विरला ही देखने को मिलता है; सो भी बहुधा काव्य-ग्रन्थों में। धन्य हैं वे कवि, जिन्होंने तथाकथित हीन प्राणियों में भी प्रेम व त्याग जैसे महान गुणों का अवलोकन किया तथा कराया है!

यह तो हुई प्राणि-जीवन से संबद्ध प्रकरणों की बात! कई स्थलों पर मार्ग की कठिनाइयों के वर्णन भी आये हैं जिनमें यातायात की असुविधा, क्लेशदायी ग्रीष्म, भीषण वन, दुर्लंघ्य गिरि तथा विकराल वनचरों की चर्चा के अतिरिक्त पाषाण-हृदय क्रूरकर्मा दस्युओं का उल्लेख भी बार-बार आया है! कहा गया है कि ये दस्यु इतने भयंकर तथा निर्दय होते थे कि रास्ते में मिलनेवाले किसी भी यात्री को जीवित नहीं जाने देते थे, चाहे उसके पास धन हो या न हो। ये तरु-शाखाओं पर गिरोह बनाकर छिपे रहते थे तथा अपने नुक़ीले विशिखों के अचूक प्रहार द्वारा पथिकों की हत्या करके उनका सारी स्वत्व छीन लेते थे तथा उनके मृत शरीरों को पास ही कहीं गढ़े खोदकर गाड़ देते थे। ये लोग भगवती काली के पूजक थे तथा लूट पर जाने से पूर्व कई प्रकार की बलि चढ़ाकर उसकी कृपा प्राप्त कर लेते थे।

उन स्थलों पर जहाँ नायक अपना परदेश गमन स्थगित करता है, या सखी नायिका सान्त्वना देती हुई उसको समझाती है, वहाँ हमें अक्सर तत्कालीन समाज, नगर तथा इतिहास से संबन्ध रखनेवाली बातें भी देखने को मिलती हैं। चूँकि नायक के प्रवास का प्रमुख कारण अर्थोपलब्धि ही होता है, इसलिए जो नायक अपनी यात्रा को स्थगित करता है वह कभी-कभी यह कह कहके अपना वक्तव्य समाप्त करता है कि चाहे मुझे इस प्रवास तथा वियोग दुख के द्वारा अमुक बहुमूल्य पदार्थ ही क्यों न मिले, मैं अपनी प्राण-प्रिया को रोते-तड़पते छोड़कर नहीं जाऊँगा। सखी भी नायक के विषय में ऐसी ही कोई बात कहकर नायिका को धैर्य धारण करने की शिक्षा देती है। 'अहनानूरु' के कुछ गीतों में इस 'बहुमूल्य पदार्थ' का भी सांगोपांग वर्णन किया गया है। इन्हीं स्थलों पर हमें उस युग के इतिहास आदि के बारे में बहुत सारे तथ्य प्राप्त होते हैं।

मामूलनार विरचित अहनानुरु के एक गीत (सं० 127) से पता चलता है कि चेरलादन नामक चेर-नरेश ने हिमालय तक का सारा प्रदेश जीतकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था तथा उसकी स्मृति में हिमालय पर अपनी ध्वजा का धनुष-चिन्ह भी अंकित किया था। पराभूत भूपतियों ने असंख्य बहुमूल्य उपहार उसके श्रीचरणों में समर्पित किये थे! मामूलनार के ही एक अन्य गीत (अहनानुरु : 265) द्वारा विदित होता है कि पाटलिपुर के नंद राजाओं के पास अपार धन-राशि थी जिसे उन्होंने गंगा-जल में किसी गुप्त स्थान पर गाड़ रखा था! इसी प्रकार, पत्तुप्पाट्टु (दशगीत) के अंतर्गत परिगणित तथा कविवर उरुद्रंकण्णनार (शायद यह संस्कृत के 'रुद्राक्ष' का तमिल अनुवाद है।) द्वारा प्रणीत 'पट्टिनप्पालै' नामक लंबे गीत के लगभग 300 चरणों में प्रसिद्ध चोल राजधानी 'पूंबुहार' का सांगोपांग वर्णन आया है। अन्य अनेक स्थलों पर भी इस प्रकार के वर्णन देखे जा सकते हैं।

यद्यपि पालैत्तिणै का प्रत्येक गीत स्वतः संपूर्ण तथा रोचक है, तथापि इन सभी गीतों को समग्र रूप से देखने पर हमें उसकी एक बात कुछ खटकने लगती है। पालै संघयुगीन कवियों के अहम् संबन्धी कार्य-व्यापारों का सर्वाधिक प्रिय क्षेत्र रहा है तथा तत्कालीन अहम् साहित्य का विपुल अंश पालै के गीतों से निर्मित है तथा बीसियों कवियों ने इस प्रसंग पर लेखनी चलायी है, फिर भी प्रायः सभी गीतों में नायक के प्रवास का एक ही कारण धनोपार्जन बताया गया है और उसके पीछे नये-नये कारणों की परिकल्पना करने का प्रयास नहीं किया गया है। यदि आचार्य कुंतक की शब्दावली का प्रयोग करें तो इन गीतों में 'प्रकरण वक्रता' का अभाव है। काव्य में सरसता तथा रोचकता को बनाये रखने के लिए यह प्रकरण वक्रता अत्यन्त आवश्यक होती है। उदाहरणतया, राजा रत्नसेन के सिंहल द्वीप जाने में, कृष्ण की मथुरा यात्रा में, तथा साकेत के लक्ष्मण के वन-गमन में कारणभूत वैविध्य है और इस कारण इन प्रसंगों में आयी प्रवत्स्यत्पतिका नायिकाओं की चिन्ता तथा वेदना के स्वरूप में भी परस्पर भिन्नता का सन्निवेश हो गया है। अतएव ये तीनों प्रसंग निर्बाध रोचकता के साथ लगातार पढ़े जा सकते हैं। किन्तु यदि ये तीनों नायक एक ही कारणवश प्रवास को रवाना होते तथा उनका और उनकी नायिकाओं का चरित्र भी सर्वत्र एकरस ही होता, जैसा कि संघकालीन रचनाओं में, तो निश्चित है कि उनको एक साथ पढ़ने पर प्रथम पठित प्रसंग को छोड़ शेष दोनों प्रसंग भी पिष्टपेषण तथा चर्वितचर्वण का शिकार ही मालूम पड़ते और उनको पढ़ने में बहुत कम आनंद आता। पालै के गीतों में यही एकरसता तथा वैविध्य की कमी बहुत खटकती है। हाँ, मानवेतर प्रकृति के बहुविध वर्णनों द्वारा कुछ सीमा तक इस अभाव की पूर्ति हुई है।

वैसे तोलगाप्पियर ने प्रवास के कारणों में अर्थ-संचय के अलावा युद्ध, दौत्य तथा शिक्षाभ्यास को भी निभाया है, किन्तु विरला ही किसी कवि ने इन कारणों की नींव पर पालै गीतों की सृष्टि की है। इन कवियों के पक्ष में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अलग-अलग प्रदेश में लगभग समानांतर अपनी कविताएँ लिखी थीं, अतः उनको यह जानने का बहुत कम अवसर रहा होगा कि कोई दूसरा व्यक्ति भी मेरे ही समान लिख रहा है और यह नितांत संयोग की बात थी कि सबने नायक की धन-लब्धि की अभिलाषा को ही प्रवास का कारण चुना। इसमें भारतीय आदर्शवादिता का भी यथेष्ट योग रहा होगा जो देश-रक्षा हित युद्ध करने अथवा दौत्य पर जाते समय, तथा शिक्षा-प्राप्ति के लिए जाते समय किसी व्यक्ति को रोकना अशुभ तथा अस्पृहणीय समझती है, किन्तु धन को तुच्छ तथा हेय मानने के कारण उसकी उपलब्धि में बाधा डालने को निंद्य नहीं समझता। या, यह भी संभव है कि इन कारणों पर भी पालै गीतों का प्रणयन हुआ हो। परन्तु अहनानूरु आदि ग्रंथों के संग्रहकर्ताओं ने उन्हें उत्कृष्ट न मानकर अपने संग्रहों में स्थान न दिया हो।

इसका परिणाम यह हुआ है कि विशुद्ध पालैत्तिणै की सैंकड़ों कविताएँ प्रधानतया निम्नलिखित चार प्रसंगों तक ही सीमित रह गयी हैं।

1. अर्थोपार्जन के प्रति उत्सुक नायक भावी यात्रा की यातनाओं के साथ वर्तमान सुखमय जीवन की तुलना कर रहा है तथा साथ ही कल्पना कर रहा है कि वियोग के परिणामस्वरूप नायिका की कैसी दुर्गति होगी!

2. भावी विरह-वेदना के अनुमान-मात्र से विकल नायिका को उसकी सखी समझा रही है तथा धीरज बंधा रही है।

3. सखी नायक के सन्मुख नायिका की असह्य पीड़ा का वर्णन करके उससे अपनी यात्रा स्थगित करने की प्रार्थना कर रही है।

4. प्रवास के मार्ग में नायक अपनी प्रिया का स्मरण करके उद्विग्न हो रहा है तथा कभी-कभी उसकी विरह-व्यथा को दूर करने के लिए अर्थ-कामना त्यागकर वापस चला आता है।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है अलग-अलग देखने पर ये सभी गीत स्वतः संपूर्ण हैं, सरस हैं, सरल हैं, भाव-प्रवण हैं तथा अनावश्यक वागाडंबर या अलंकारों की उछल कूद से नितांत मुक्त हैं। जिस प्रकार इन गीतों के रचयिताओं ने मानवेतर प्राणियों के जीवन के संबन्ध में नाना प्रसंगोद्भावनाएँ करने में अपनी विलक्षण-प्रतिभा से काम लिया था उसी प्रकार अगर वे मानव-जीवन की विभिन्न अवस्थाओं तथा स्थितियों को भी काव्यरूप देने की ओर ध्यान देते तो उनके गीत-संग्रहों को चार चाँद लग जाते!

मलयालम में लघुकथा

श्री एन. वेंकटेश्वरन, मद्रास

[केरल की अनुपम प्राकृतिक रमणीयता के साथ वहाँ के जनजीवन व साहित्य का घनिष्ट संबंध है जिसके कारण समग्र भारतीय साहित्य में मलयालम साहित्य अपना अलग व्यक्तित्व व प्रभाव रखता है। मलयालम के आधुनिक साहित्य के बहुमुखीन विकासक्रम को देखते हुए हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि अन्यान्य भारतीय साहित्यों के साथ साथ विकासोन्मुख अभियान में वह अबाधगति से आगे बढ़ रहा है। विद्वान लेखक प्रस्तुत लेख में मलयालम लघु-कथा की प्रगति की एक झाँकी प्रस्तुत करते हैं जो स्पृहणीय है।
—संपादक]

ईसा के पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िरी वर्षों में अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के व्यापक अध्ययन, अनुशीलन और अनुकरण के फल-स्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं की तरह मलयालम में भी लघु कथा-साहित्य के सृजन के नूतन क्षेत्र में कई लेखकों ने अपनी साधना प्रारंभ की थी। उनके द्वारा रची विविध विषयों की कई कथाएँ तत्कालीन "विद्या विनोदिनी", "भाषा-पोषिणी", "रसिक रंजिनी" आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं। मलयालम के लघु-कथा-साहित्य के उन प्रारंभिक लेखकों में स्वर्गीय वेंङ्ङयिल कुंञुरामन नायनार, ऑटुविल कुंञु कृष्ण मेनोन, सी. एस. गोपाल पणिकर, अम्पाटि नारायण पुतुवाल, के. सुकुमारन, चेंकुलत्तु कुंञुरामन मेनोन आदि के नाम विशेष स्मरणीय हैं। "मेनोक्कियेकॉन्नताणु", "पाताल राजावु" "परमार्थं", "मदिराशी पित्तलाट्टम्", "पोट्ट भाग्यम्"—आदि नायनार की कहानियों में विनोदप्रियता, काल्पनिक शिल्प-सौष्ठव और अविश्वसनीयता की मात्रा बहुत अधिक मिलती है।

वास्तविक जीवन के अनुभव की गरमी और चेतना प्रकट करने की अपेक्षा जादूगर की-सी विस्मयजनक रंगीली घटनाओं के मायाजाल में अपने पाठकों को फँसाये रखने का प्रयत्न करना ही उन दिनों के कथाकारों का मुख्य लक्ष्य रहा था। ऑटुविल कुंञुकृष्ण मेनोन की लिखी कुछ कथाओं में, इसके विपरीत, हम तत्कालीन सामाजिक परिवेश के स्वाभाविक और सच्चे वर्णन अवश्य पाते हैं, जो आगे की कथा-परंपरा और कथाकारों के लिए मार्गदर्शक और अनुकरणीय सिद्ध हुए हैं। यद्यपि श्री सी. एस. गोपाल पणिक्कर की कहानियाँ संख्या में कम थीं, तो भी वे ज्यादा कलात्मक एवं लक्षणयुक्त मानी जाती हैं। प्राचीन दन्तकथाओं और

लोककथाओं के आधार पर श्री अम्पाटि नारायण पुतुवाल ने कई लघुकथाएँ रची थीं। वे मनोरंजक और शिक्षाप्रद मात्र हैं। इतना ही नहीं, शब्दालंकारमयी और क्लिष्ट भाषा-शैली के कारण उनकी कई कथाएँ लोकप्रिय नहीं बन सकी थीं। श्री के. सुकुमारन की कहानियों में औरों की अपेक्षा सरस कथोपकथन और रोचक इतिवृत्तात्मकता के गुण मिलते हैं। जागरण और जीवन की मात्रा भी उनमें अधिक है जिससे उनकी कहानियाँ आज भी लोकप्रियता की दृष्टि से अपराजित बनी हुई हैं। इस सिलसिले में यह बात भी बतानी ही पड़ती है कि प्रायः उपर्युक्त कथाकारों की कुछ लघुकथाएँ अपनी स्वाभाविक सीमा का अतिक्रमण करके दीर्घ-कथाओं का रूप भी धारण कर लिया करती थीं। मलयालम के लघु-कथा साहित्य के प्रारंभिक काल में अंग्रेजी की कथाओं के कुछ अनुकरण और अनुवाद भी मिलते हैं, जो स्वदेशी पात्रों और प्रादेशिक घटनाओं का जामा पहने हुए हैं।

वास्तव में, बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब स्वर्गीय श्री ई. वी. कृष्ण पिल्लै की लिखी नवीन और मौलिक कहानियों का प्रचार बढ़ने लगा तभी मलयालम के लघु कथा-साहित्य में एक प्रकार के युगान्तर के मुहूर्त का आविर्भाव हो गया। स्वर्गीय श्री ई. वी. कृष्ण पिल्लै ने अपने पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में जो कमियाँ देखी थीं उनका यथासंभव निवारण करके ही अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। अपनी रचनाओं के लिए नवीन कथा-वस्तु ढूँढने में, प्रसंग-चित्रण की स्वाभाविक प्रणाली का अवलंबन करने में, अपने कथोपकथन को सजीव बनाने में तथा परिणामगुप्ति को बड़ी सावधानी से प्रस्तुत करने में श्री ई. वी. कृष्ण पिल्लै को असाधारण सफलता मिली है। उनकी कथाओं में पूर्ववर्ती कथाकारों के वासनामय प्रेम की जगह, काल्पनिक प्रेम का वर्णन, सामाजिक तथा घरेलू वातावरण का प्रस्तुतीकरण और भावुकता का मार्मिक ढँग से सन्निवेश हुआ है। इस कारण से वे लोकजीवन की सच्ची अनुभूति से ओत-प्रोत रहने लगीं। मलयालम के लघु-कथा-साहित्य को कृत्रिम एवं काल्पनिक परिवेश से दूरकर वास्तविक और भावमय जीवन के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने का पूरा श्रेय स्वर्गीय श्री. ई. वी. कृष्ण पिल्लै को दिया जा सकता है। मलयालम के आधुनिक लघु-कथा-साहित्य के क्षेत्र में अनश्वर यश के अधिकारी बने हुए इने-गिने श्रेष्ठ कथाकारों में यद्यपि स्वर्गीय श्री ई. वी. कृष्ण पिल्लै का नाम बहुत कम ही लिया जाता है, तो भी उनकी सेवाएँ अवश्य ही बहुमूल्य रही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अभिनव युग के कथाकारों में सर्वथा प्रथम गणनीय एवं लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक सर्वश्री तकषि् शिवशंकरन पिल्लै, केशवदेव, मुहम्मद बषीर, पोनकुन्नं वर्की, एस. के. पोट्टकाट, ललिताम्बिका अन्तर्जनम्, पी. सी. कुट्टिक्कृष्णन, सरस्वती अम्मा, कारूर,

नागवल्ली, वेट्टूर, मुहम्मद राफ़ी—आदि हैं। इनमें तकषि और केशवदेव स्वर्गीय ई. वी. कृष्ण पिल्लै के साथ ही लघुकथा-साहित्य-निर्माण के कार्य में प्रविष्ट हुए। वे दोनों अब भी आधुनिक मलयालम के साहित्य-क्षेत्र में लघु कथाओं के सृजन-कार्य में सजग, सुदृढ़ एवं क्रियाशील बने रहते हैं। वे समय की गति-विधि के अनुसार अपनी कला, कथावस्तु, रचना-प्रणाली और लक्ष्य में समुचित परिवर्तन, सुधार और विप्लव सर्वथा पैदा करते ही रहते हैं। वे अवश्य ही युग के साथ बढ़ते हैं और बदलते भी हैं। उन दोनों के द्वारा उपलब्ध लघ-कथा साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन मात्र करने से मलयालम की इस प्रगतिशील साहित्य-धारा का संपूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित हो सकता है।

"तकषि" की रची प्रारंभिक कहानियों में हम कई सामाजिक कुरीतियों, निरर्थक आचार-विचारों और निष्ठुर अत्याचारों के नग्न चित्र देखकर, चकित रह जाते हैं। उनको उस समय कदाचित् फ्रेंच भाषा के महान कहानीकार मोप्पसाङ् की रचनाओं से प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली होगी। उनकी तत्कालीन सामाजिक क्रान्तिकारी कथाओं में नैतिकता और सदाचार की अवहेलना और आचार-विचारों की निरर्थकता को घोषित करनेवाले कई रोचक और रोमांचकारी प्रसंग हमको मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रांतिकारी और विद्रोहपूर्ण भावना से प्रेरित और उत्तेजित होकर, कड़वी-सी कड़वी बातें भी अश्लील और नग्न शब्दों में अभिव्यक्त करना वे अत्यंत आवश्यक और अनिवार्य समझते हैं।

उनकी लघु कथाओं में कामुकता, वासना, ऐयाशी, भोग-लिप्सा और स्त्री-पुरुष के अभिसार-व्यभिचार के प्रसंग बहुत मिलते हैं। सामाजिक गन्दगी को उसके छिपे स्थान से खींचकर बाहर निकाल लाने और उसके भीतर की भोग-लिप्सा और वासना की तीव्रता को चित्रित करने की दिशा में उनकी लघु-कथाएँ अत्यंत सफ़ल रही हैं। पाठकों को चकित कर डालनेवाली तथा कडुवी होने पर भी सच्ची बातें एक दम निस्पृह एवं तटस्थ होकर, वे अपनी कहानियों में प्रस्तुत करने की क्षमता रखते हैं। धीरे-धीरे उनकी कई लघु-कथाओं का लक्ष्य साम्यवादी आदर्शों का समर्थन और प्रचार करना बन गया। लेकिन उनकी ऐसी प्रचारवादी कथाओं में भी वे रक्तहीन शुष्क कंकालों के भयानक दृश्य प्रस्तुत करके अपने पाठकों को कड़े शब्दों से सावधान करते हुए भविष्य की तरफ़ आह्वान करते हैं।

"तकषि" जहाँ ज़्यादा स्त्री-पुरुष सम्बन्धी वासनामय क्षुधा और तृषा पर केन्द्रित होकर अपनी कथाओं के द्वारा साम्यवाद का प्रचार करने का प्रयत्न करते हैं वहाँ "केशवदेव" सामूहिक उच्च-नीच-भाव, अस्पृश्यता, जाति-भेद, पूंजीपतियों के अत्याचार, मानवीय भावुकता और वेदनाओं आदि का अवलंबन करके यथार्थवादी

कथाएँ बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। हम उनकी कथाओं में मानव और मानवता की स्वाभाविक गरमी और रोशनी का पूरा अनुभव करते हैं। उनकी कथाएँ पढ़ते समय मानव की अवहेलना करनेवाली विपरीत परिस्थितियों के जाल में हम स्वयं फँसकर, किसी न किसी प्रकार छुटकारा पाने के लिए अपने आप को तड़फड़ाते हुए पाते हैं। वास्तविक जीवन के क्षेत्र से चुनकर निकाले हुए अपने कथा-पात्रों को कहीं दूर रखकर, उनके सुख-दुख की कहानी सुनाने की अपेक्षा 'केशवदेव' स्वयं उनके साथ हिल-मिल कर एकात्म भाव से कभी हँसते, कभी रोते से दिखाई देते हैं। यही उनकी कथाओं की मार्मिकता और लोकप्रियता का मुख्य कारण है। नाटकीय ढंग से वे अपनी लघु-कथा का प्रस्तुतीकरण करने की अद्भुत क्षमता रखते हैं। जहाँ 'तकषि' की कहानियों में भावुकता केवल अन्तर्धारा की भांति भीतर ही भीतर अदृश्य रूप से प्रवाहित होती रहती है, वहाँ 'केशवदेव' की लघुकथाओं में मार्मिकता और भावुकता का समुद्र ही सर्वत्र तरंगित और उमड़ता हुआ सा प्रतीत होता है। दोनों का शिल्प विधान एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी अवश्य ही दोनों में अपने ढंग का सफल एवं कलात्मक अभिव्यंजन प्रस्तुत है। आधुनिक लघु-कथा साहित्य में इन दोनों की कृतियाँ संख्या की दृष्टि से भी अन्य कथाकारों की अपेक्षा बहुत अधिक मिलती हैं।

'तकषि' और 'केशवदेव' के समान समादरणीय और लोकप्रिय लघु-कथा लेखक हैं, 'पोनकुन्नं वर्की' और 'ललिताम्बिका अन्तर्जनम्'। प्रारंभ में पोनकुन्नं वर्की ईसाई-धर्म में प्रचलित अन्धविश्वासों, गिरजाघरों तथा पादरियों के अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठानेवाले विद्रोही एवं धर्मविद्वेषी कथाकार के रूप में ही प्रकट हुए। वे कभी कभी अपनी कथाओं के बीच में तत्कालीन राष्ट्रीय एवं सामूहिक परिस्थितियों तथा कुरीतियों के खिलाफ़ लघु-भाषणों की भरमार अस्थानों पर लादकर उनकी रोचकता को कमज़ोर बना डालते हैं। प्रायः उनकी प्रचारवादी कला और पक्षपात-पूर्ण राजनैतिक विचारों के कारण ही ऐसा हो जाता है। 'पोनकुन्नं वर्की' के पात्र प्रायः वास्तविक धरातल के सच्चे और प्रत्यक्ष स्त्री-पुरुष होते हैं जिनको हम आंचलिक परिवेश में सर्वत्र आसानी से देख सकते हैं।

'ललिताम्बिका अन्तर्जनम्' की कथाएँ केरल के नम्पूतिरी समाज में होनेवाले कई प्रकार की अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावनावों से ओत-प्रोत बनी रहती हैं। उनकी कथाएँ नंपूतिरी समाज की सीमित साम्प्रदायिक अथवा जातीय क्षेत्र से सम्बन्धित होने पर भी अत्यंत मार्मिक और रोचक होती हैं। उनमें एक ओर नारी-सहज करुण-क्रन्दन की मर्म-भेदक आवाज सुन पड़ती है तो दूसरी ओर विप्लव के स्फुलिंगों की वजह से चमकती ज्वाला भी दृश्यमान होती है। 'अन्तर्जनम्' की

भाषा कवित्वपूर्ण और हृदयस्पर्शी है। 'आँसू' और 'आग' दोनों उनकी कहानी कला की विभूतियाँ हैं। समाज-सुधार और नारी का उद्धार ये दोनों उनकी रचनाओं के प्रधान लक्ष्य हैं। वे किसी राजनीति, दलबन्दी अथवा पार्टी के समर्थक के रूप में अपने को कहीं प्रकट नहीं होने देतीं, यद्यपि सामयिक एवं सामाजिक परिस्थितियों से वे भी पूर्ण रूप से परिचित और जागरूक रहती हैं। उनकी कथाओं की भाषा कलापूर्ण एवं काव्यमय शैली की होती है जो हमें हिन्दी की 'महादेवी वर्मा' की गद्यशैली का स्मरण करा देती है।

'मुहम्मद बषीर' की कथाओं का क्षेत्र भी धार्मिक और सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह के लिए उपयुक्त होनेवाला रण-क्षेत्र ही है। लेकिन वे अपने व्यक्तित्वपूर्ण और कलात्मक ढंग से अपनी परिचित वस्तुस्थिति मात्र का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत करके रण-क्षेत्र से तटस्थ भाव से हट जानेवाले कुशल कलाकार हैं। इस्लाम धर्म के कई निरर्थक एवं घृणित आचार-विचारों के प्रति विद्रोह की आवाज़ उठाने का उनका ज़बरदस्त आग्रह उनकी लघु-कथाओं में दीख पड़ता है। उन्होंने न केवल अपनी सहज एवं प्रतिभाशाली बोलचाल की मलयालम में कई लघु-कथाओं का सृजन कर रखा है, मगर सैकड़ों आकर्षक व्यंग्यपूर्ण रेखा-चित्रों की अनुपम सृष्टि भी प्रस्तुत की है। उनके ऐसे रेखा-चित्रों में 'नवीनतम' कहानी-कला की सच्ची एवं नग्न अभिव्यक्ति की बदबू उपलब्ध होती है।

पी. सी. कुट्टिक्कृष्णन और एस. के. पोट्टकाट सच्चे अर्थ में पूर्ण रूप से कथाकार मात्र हैं। उनकी लिखी कथाएँ विविध विषयों तथा विशाल वातावरण से सम्बन्धित हैं। स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के वातावरण को एस. के. पोट्टकाट अपनी लघुकथा रचना के लिए सर्वथा उपयुक्त मानते हैं। अनुभूत सत्य को अत्यन्त सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने की कला का साक्षात्कार उनकी कृतियों में हम पा सकते हैं। मानव जीवन के सुखद और दुखद अनुभवों को असली रूप में प्रस्तुत करना ही उनकी लघुकथाओं का मुख्य लक्ष्य है। श्री पी. सी. कुट्टि कृष्णन मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के ज़रिये अपने सभी कथा-पात्रों को समुचित स्थानों पर प्रतिष्ठित करते हुए बड़े संयम और विवेक के साथ अत्यधिक आसानी से कथा का निर्वाह करने में असाधारण सिद्ध-हस्त कथाकार माने जाते हैं। उनकी रचना-शैली प्रसंगानुकूल उतार-चढ़ाव के साथ विकसित होकर आप गठित होनेवाली है। अकृत्रिमता और स्वाभाविकता उनके शिल्प-विधान के मूल मंत्र हैं। लघु-कथा-साहित्य की चिरन्तनता और स्थायित्व की दृष्टि से देखा जाय तो एस. के. पोट्टकाट और पी. सी. कुट्टिक्कृष्णन की रचनाएँ अन्य समकालीन लेखकों की अपेक्षा अधिक सफल मानी जा सकती हैं।

अनुबंध

विश्व विद्यालय-विभाग

मानसेवी सहसंपादक : श्री एस. श्रीकण्ठमूर्ति

हिन्दी प्रशिक्षण विभाग

नागरिकता प्रशिक्षण शिबिर

दिसंबर मास के तीसरे सप्ताह में हिन्दी प्रशिक्षण कालेज, मद्रास के प्रशिक्षार्थियों का एक नागरिकता प्रशिक्षण शिबिर सभा के अहाते में चलाने का आयोजन किया गया था। नौ दिनों के इस शिबिर में राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत, संसदकार्य, शिबिराग्नि, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता, श्रमदान, सामूहिक जीवन आदि के परिचय के अतिरिक्त संसद प्रणाली द्वारा शिबिर स्वयं चलाने का तथा तज्ञों से नागरिकता संबंधी भाषण सुनने का अनुभव प्रशिक्षार्थी प्राप्त कर सके।

स्नातकोत्तर अध्ययन एवं शोधसंस्थान

दि. 15-11-70 को दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, पाण्डिच्चेरी द्वारा आयोजित द्विदिवसीय संगोष्ठी में विभागाध्यक्ष डा. रवीन्द्रकुमार जन ने "हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल—एक मूल्याङ्कन" विषय पर गवेषणापूर्ण भाषण दिया।

अग्रवाल नवयुवक संघ, मद्रास द्वारा आयोजित विवाद प्रतियोगिता में स्नातकोत्तर विभाग के श्री कलैवाणन् एवं सुश्री कु. उषाराम् ने क्रमश: प्रथम एवं द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किये। रजतचल पदक भी विभाग को प्राप्त हुआ। निबन्ध प्रतियोगिता में श्री लक्ष्मीनारायण को प्रथम एवं श्री वेंकटेश्वर गुप्त को द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुए। ये छात्र हमारे हार्दिक साधुवाद के पात्र हैं। छात्र परिषद के अन्तर्गत इस मास में इन विषयों पर छात्र-छात्राओं एवं प्राध्यापकों के व्याख्यान हुए—(1) विश्वविद्यालयों में छात्रों का दायित्व। (2) भारत को अणुबम का निर्माण करना चाहिए? (3) रसराज कौन है? इस मास के आरम्भ से स्ना. विभाग एवं प्रशिक्षण कालेज के छात्र-छात्राओं के लिए वाली बाल, रिंगटेनिस एवं केरम खेल आरम्भ किये गये हैं। दि. 14-11-70 को विभाग ने मैसूर विश्वविद्यालय के ज्ञानवर्धक यात्रार्थ आये हुए प्राध्यापक एवं छात्र-छात्राओं का स्वागत किया। डॉ. एम. एस. कृष्णमूर्ति ने अपना संक्षिप्त यात्रा विवरण सुनाया एवं मैसूर विश्वविद्यालय तथा सभा के स्नातकोत्तर विभाग के सौहार्दपूर्ण सम्बन्धों का उल्लेख किया।

हिन्दी में जैनकाव्य

डॉ. रवीन्द्रकुमार जैन, मद्रास

जैन साहित्य विशाल एवं अथाह है। इस साहित्य का विपुल भाग अपभ्रंश और हिन्दी में लिखा गया है। अपभ्रंश भाषा हिन्दी की जननी है। हिन्दी साहित्य का बहुमुखी विकास अपभ्रंश से ही हुआ है। अपभ्रंश भाषा का प्रायः समस्त साहित्य जैन साहित्यकारों द्वारा रचा गया है। हिन्दी साहित्य के उद्भवों और विकास में भी जैन साहित्यकारों की सेवाएँ आज हिन्दी संसार को सुविदित हैं। भाषा, शैली एवं विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इन साहित्य सेवियों ने सदैव अपने अन्य साथियों को भरपूर योग दिया है और अनेक अवसरों पर विभिन्न दिशाओं में तो पथनिर्देशन का भी सौभाग्य इन्हें ही प्राप्त हुआ है। हिन्दी साहित्य की मूल स्रोत अपभ्रंश भाषा के प्रथम महाकवि स्वयम्भू से लेकर आज तक हिन्दी साहित्य के सभी युगों में अपनी अजस्र धारा प्रवाहित करते हुए जैन साहित्यकारों ने हिन्दी की श्रीवृद्धि बड़ी सजगता और साधुता से की है। जैन साहित्य का मूलस्वर नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक है। साहित्य को एक आदर्श, एक लक्ष्य, एक नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था का सशक्त सम्वाहक साधन ही जैन साहित्यकारों ने स्वीकार किया है।

हिन्दी में रचित जैन काव्यों की सुदीर्घ परम्परा को अपभ्रंश के पृष्ठाधार के बिना नहीं समझा जा सकता। हिन्दी जैन काव्यों का चेतनागत वैभव और कलागत लालित्य पूर्णतया अपभ्रंश से अनुप्राणित एवं उत्प्राणित है। अतः अपभ्रंश काव्य-धारा के संस्पर्शी अवगाहन के साथ ही हम हिन्दी में प्रवाहमान जैन काव्य तरंगिणी में निमज्जन करेंगे। जैनपरक साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य और सूक्तक काव्यों की अविच्छिन्न एवं दीर्घ परम्परा रही है। यहाँ हम कालक्रम से आविर्भूत साहित्यकारों का व्यक्तिशः पर्यालोचन करेंगे।

हिन्दी और हिन्दी के जैन साहित्यकारों की परम्परा स्वनामधन्य महाकवि स्वयम्भू से प्रारम्भ होती है। इनका आविर्भाव काल ईस्वी सन् 770 है। इनके दो पत्नियाँ थीं। इनके कई पुत्र थे। उनमें से त्रिभुवनदेव इनके ही समान प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। स्वयम्भू का वंश ही कवि वंश था। इनके पिता मारुतदेव भी श्रेष्ठ कवि थे। स्वयम्भू ने 'पउम-चरिउ' अर्थात् जैन रामायण और 'रिट्ठणेमिचरिउ' अर्थात् अरिष्टनेमि चरित जो महाभारत का रुपान्तर है, नामक दो सशक्त महाकाव्यों की रचना की थी। पउमचरिउ की शैली पर मानस और पद्मावत की रचना हुई है। इस महाकाव्य में राम आदि का वर्णन जैन मान्यता के अनुसार किया गया है।

इस ग्रन्थ में 12000 पद्य, 90 सन्धियाँ और पांच काण्ड हैं। इन काण्डों का क्रम इस प्रकार है:—

1. विद्याधर काण्ड—20 सन्धियाँ 2. अयोध्याकाण्ड—22 सन्धियाँ 3. सुन्दर-काण्ड—14 सन्धियाँ 4. युद्धकाण्ड—21 सन्धियाँ 5. उत्तरकाण्ड—13 सन्धियाँ

इन सन्धियों में 83 सन्धियाँ महाकवि स्वयम्भू की हैं और शेष सात इनके पुत्र त्रिभुवन द्वारा रचित हैं। यह महाकाव्य कथा संगठन, चरित्र निर्वाह एवं भाषा शैली की दृष्टि से एक भव्य आदर्श रचना के रूप में आज भी प्रख्यात है। 'पद्धड़िसाबद्ध' एवं 'पंचमी चरिउ' नामक काव्य ग्रन्थ भी आपने रचे। इनके अतिरिक्त स्वयम्भूच्छन्दस नामक अपभ्रंश का छन्दग्रन्थ भी स्वयम्भू ने रचा। महापंडित राहुल सांकृत्यायन का स्वयम्भू के सम्बन्ध में दिया गया अभिमत यहाँ उल्लेख्य है।—संस्कृत के काव्य-गगन में जो स्थान कालिदास का है, प्राकृत में जो स्थान हाल ने प्राप्त किया, हिन्दी में तुलसी जिस स्थान पर हैं, अपभ्रंश के सारे काल में स्वयम्भू वही स्थान रखते हैं।

महाकवि स्वयम्भू के पश्चात् नवीं और दशवीं शताब्दी के साहित्यगगन को सर्वाधिक आलोकित करनेवाले कविवर पुष्पदन्त हुए। ये ब्राह्मण थे, बाद में जैन हो गये थे। ये असाधारण प्रतिभा के धनी थे। "तिसटिठमहापुरिसगुणालंकारु" या महापुराण, 'णयकुमारचरिउ' तथा 'जसहरचरिउ' नामक प्रबन्ध काव्यों की आपने रचना की। इन सभी काव्यों के कई अनवाद हुए और कई टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं। ये सभी चरित्रप्रधान काव्य हैं।

इसके पश्चात् हिन्दी साहित्याकाश को एक सर्वथा नया आलोकवलय प्रादन करनेवाले कविवर रामसिंह हमारे सम्मुख आते हैं। दशम और एकादश शताब्दी को मुनि रामसिंह की काव्य धारा ने सर्वाधिक प्रभावित किया। इस क्रान्तिकारी कवि ने पहली बार धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अपने सशक्त काव्य के द्वारा क्रियाकाण्ड और रुढियों के विरुद्ध उद्घोष किया। सरलतम अभिव्यक्ति और सहज भाषा के माध्यम से इस महान् कवि ने जनता के सच्चे अध्यात्म को जगाया और शाणित भी किया। देह और आत्मा का भेद कितनी स्पष्टता और प्रभावकता से कवि ने स्पष्ट किया है! —

मूढा देहम रज्जियइ, देह ण अप्पा होइ।
देहहि भिन्नउ णाणमउ, सो तुहु अप्पा जोइ॥

अर्थात् मूर्ख व्यक्ति ही देह में अनुरक्त होते हैं। यह देह कदापि आत्मा नहीं हो सकता। देह से भिन्न आत्मा ज्ञानमय है, उसीमें अनुराग कर। इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्व का प्रतिपादन मुनि रामसिंह ने किया है।

बारहवीं शती में हेमचन्द्र सूरि, हरिभद्र सूरि शालाभद्र सूरि आदि अनेक अध्यात्म चेता कवि हुए जिन्होंने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा रचित साहित्य की परंपरा को अनेक नये मोड़ दिये तथा उसे सुरक्षित रखा। मूलत: ये कवि पुरातन के नवगायक थे। शैली और भाषा में ही इनका योग अधिक रहा। पुरातन परंपरा को अधिकाधिक लोकप्रिय इन कवियों ने बनाया।

तेरहवीं एवं चौदहवीं शतियों में रासो ग्रन्थों एवं कथाप्रधान चौपाई काव्य-ग्रन्थों के निर्माण की एक स्वस्थ परम्परा रही। महापुरुषों के लोकरंजनकारी एवं आत्मशक्ति के प्रबल प्रेरक चरितग्रन्थ इस युग में पर्याप्त मात्रा में रचे गये। सामान्यतया सम्पूर्ण जैन साहित्य में अहिंसा का युक्तियुक्त एवं अन्तस् की निर्मलता का उद्बोधक चित्रण मिलता है। परन्तु इन शताब्दियों में यह बात साहित्य का मूल धरातल बनकर चली है। इस युग में रूढ़िवाद, परधर्मनिन्दा, क्रियाकाण्ड एवं वैमनस्य से उद्भूत शास्त्रार्थ ही मुख्य हो गये थे। अत: जैनाचार्यों ने अहिंसक जीवन की नैसर्गिक एवं काव्यात्मक व्याख्या करके समाज के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया। वस्तुत: समस्त जैनाचार अहिंसामूलक है और विचार अनेकान्तात्मक। इसी प्रकार इस धर्म ने आत्मा के क्षेत्र में भी प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मानी है और उसे परमात्मा पद का अधिकारी बताया है। कवि लक्खण तथा कविवर विबुध श्रीधर क्रमश: 13 वीं एवं 14 वीं शतियों के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं।

15 वीं शती में जैन साहित्यकारों ने अध्यात्म एवं आचार की स्वस्थ परम्परा को अपने श्रेष्ठ काव्यों द्वारा अक्षुण्ण ही रखा। इस शती में भट्टार्क सकल कीर्ति तथा विजयभद्रादि कवि हुए। ये कवि पारम्परिक आचार पर ही काव्य रचना करते रहे। किसी प्रकार की नवता और भव्यता का उद्घाटन न कर सके। अपभ्रंश भाषा में रचना करनेवाले महाकवि रइधू निर्विवाद रूपसे इस शताब्दी के प्रमुख एवं स्मरणीय कवि हुए हैं। ग्रन्थसंख्या की दृष्टि से, रचनाविधान की दृष्टि से तथा विषय चयन की अभूतपूर्व क्षमता के कारण कविवर रइधू अग्रगण्य हैं।

16 वीं शती में ब्रह्म जिनदास एक युगान्तरकारी कवि हुए हैं। आपने आदिपुराण, श्रेणिक चरित, सम्यक्त्व रास, यशोधर रास, आदि ग्रन्थ रचे। पौराणिक प्रबन्धों और रास ग्रन्थों की जैन साहित्य में एक स्वस्थ एवं दीर्घ परम्परा रही है। ब्रह्म जिनदास जैनधर्मानुयायियों में अत्यन्त लोकप्रिय आज भी हैं। काश, जैनधर्म अपनी स्वस्थ आचार और विचार की महत्ता के साथ बहुमत का मान्य धर्म भी होता! यदि ऐसा होता तो आज उसकी सर्वतोमुखी लोकप्रियता का भी पार न होता। मानव का सामान्य मनोविज्ञान है और हैं उसके अपने धार्मिक संस्कार—जिनकी पृष्ठभूमि में ही वह आस्वाद का अभ्यासी होता है। इसके साथ

ही यह बात भी नहीं भुलाई जा सकती कि जैन साहित्यकारों ने मानवजाति को जो आध्यात्मिक अथवा नैतिक सन्देश देना चाहा है, वह केवल जैन मान्यता के झरोखे से। फलतः उनकी भावात्मा अनतिविस्तृत और कला आचारबोझिल होने से नहीं बची है। जहाँ कवि का भावक्षेत्र सीमित होगा वहाँ मानवात्मा यदाकदा और सीमित रूप में ही रम सकेगी।

17 वीं शती में जैन साहित्य गगन में ऐसे कविनक्षत्रों का उदय हुआ जिन्होंने अपनी भास्वर प्रतिभा, ज्ञानगरिमा एवं अनुराग विरगात्मक संसार के अनुभवों द्वारा इस साहित्य को अक्षय निधि से परिपूर्ण कर दिया। अपने समकालीन महाकवि तुलसीदास, केशवदास एवं भक्तप्रवर सुन्दरदास के समान इन कवियों ने भी अपनी साहित्य सर्जना द्वारा एक नवीन सृष्टि एवं दृष्टि उत्पन्न कर दी। पद्य एवं गद्य दोनों ही दिशाओं में इस शती में पर्याप्त महत्वपूर्ण सृजन कार्य हुआ। कविवर बनारसीदास, रूपचन्द एवं श्री जिनमय सुन्दर जैसे कविरत्नों ने इस समय अत्यंत ठोस एवं निर्मायक चेतना के साहित्य द्वारा जर्जरित एवं सच्ची मानवी चेतना से स्खलित मानव समाज का वास्तविक दिशानिर्देशन किया। इस समय तक जनता खण्डन-मण्डन एवं शास्त्रार्थों की कटु एवं घातक प्रथा से ऊबकर अरुचि के साथ घृणा भी करने लगी थी। मानवतावादी साहित्य का अथवा लोकवादी साहित्य का समारंभ इसी परिस्थिति ने किया। बनारसीदास ने प्रायः काव्य के सभी रूपों पर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। मुक्तक पद, पद्य एवं उर्मि गीतों के अन्तर्गत बनारसी विलास की सभी रचनाएँ वर्गीकृत की जा सकती हैं। 'समयसार नाटक' एक महाकाव्य की सभी विशेषताओं से युक्त काव्य है। इसमें आत्मा की विविध अवस्थाओं का चित्रण है। 'मोह विवेक युद्ध' कवि का एक भावात्मक खण्डकाव्य है। 'बनारसी नाममाला' एक लघुकाय कोष है। 'अर्धकथानक' कविवर की आत्मकथा है। यह पद्यबद्ध सरल, उत्कृष्ट, संक्षिप्त एवं सत्यमय हिन्दी की सबसे पहली आत्मकथा है। इन रचनाओं के अतिरिक्त कविवर ने पर्याप्त मात्रा में प्रार्थनापरक स्तोत्र साहित्य का सृजन भी किया। कविवर बनारसीदास हिन्दी जैन साहित्य के तो निर्विवाद रूप से श्रेष्ठतम कवि हैं और हिन्दी के मध्यकालीन कवियों में भी उनकी अग्रगण्यता असन्दिग्ध है। उनकी आदर्श कवि भर्त्सना और ठोस साहित्य चेतना की आज तो और अधिक आवश्यकता है—

मांस की गरंथि कुच कंचन कलस कहें,
कहें मुखचन्द जो सलेषमा को घरु है।
हाड़ के दसन आहि हीरा मोती कहें ताहि
मांस के अधर ओंठ कहें बिंब फरु है।

हाड़ दण्डभुजा कहें कौलनाल कामधुजा,
हाड़ ही के थम्बा जंघा कहें रम्भातरु है ।
यों ही झूठी जुगति बनावें औ' कहावें कवि,
एते पर कहें हमें सारदा को बरु है ॥

शरीर के अंगों को वस्तुवादी दृष्टि से देखें तो वे अन्ततः क्या हैं? कुच, दन्त, हाथ, ओष्ठ आदि अंग कवियों द्वारा कंचन कलश, हीरा, कमलनाल और बिम्बफल के रूप में वर्णित किये जाते हैं। ये सभी अंग मांसपिण्ड और अस्थियों के अतिरिक्त और क्या हैं? इस प्रकार कवियों ने समाज को पथभ्रष्ट किया है।

मनुष्य का सच्चा सुख उसके अंतस् के संतोष में है। भौतिक सुख उसे क्षणिक और मिथ्या संतोष ही देता है। सुख का मूलाधार मानव की धैर्यमूलक चेतना है। इंद्र रोते-रोते मरता है और किसान फटेहाल रहकर भी प्रसन्न रहता है। अतः मन का संतोष सुख का मूल है। देखिए :—

रे मन कर सदा सन्तोष ।
जाते मिटत सब दुख दोष । रे मन ।
बढ़त परिगृह मोह बाढत, अधिक तृषना होति ।
बहुत इंधन जरत जैसे, अगनि ऊँची जोति ।
लोभ लालच मूढ जन सौं, कहत कंचन दान ।
फिरत आरत नहिं विचारत, धरम धन की हान
नारकिन के पाइ सेवत, सकुच मानत संक,
ज्ञानकरि बूझै बनारसि, को नृपति को रंक ॥

इसी प्रकार निरंजन जिनेन्द्र के प्रति कवि का भक्तिभाव कितना अनुभूतिमूलक और सात्विक है!—प्रस्तुत पद से स्पष्ट हो जाएगा—

दुबिधा कब जैहै यामन की ।
कब जिननाथ निरंजन सुमिरों, तजि सेवा जन जन की ।
कब रुचि सौं पीवें दृग चातक बूँद अखयपद घन की
कब शुभ ध्यान धरों समता गहि करूँ न ममता तन की ।
कब घर छोड़ होहुँ एकाकी, लिए लालसा बन की ।
ऐसी दशा होय कब मेरी, हों बलि बलि बा छन की ॥

उक्त पद में भावाकुलता, भाषागत प्रांजलता और संगीतात्मकता तथा अन्विति का मनोहारी निर्वाह हुआ है।

अठारहवीं शती में भैया भगवतीदास एवं कविवर धानतराय ने इस काव्य-धारा को अक्षुण्ण रखा है। इस शती में प्रायः अध्यात्म प्रधान पद रचे गये और बड़े-बड़े पुराणों का देश-भाषा में अनुवाद हुआ।

19-वीं शती के हिन्दी जैन कवि अनेक हैं किन्तु उनमें से उल्लेख्य दौलतराम और भूधर दास ही हैं। कवि प्रवर बुधजन भी अपनी तीव्र भावानुभूति और सहज अभिव्यक्ति के लिए बेजोड़ ही कहे जाएँगे।

दौलतराम किस प्रकार मन को संबोधित करते हैं!—

रे मन तेरी को कुटेब यह, करन विषय में धावै है।
इन्हीं के वश तू अनादि तें निज स्वरूप न लखावै है।
पराधीन छिनछीन समाकुल दुरगति विपति चखावै है।

कविवर बुधजन का धर्माचरण पर कैसा सात्विक बल है!—

धर्म बिनु कोई नहीं अपना।
सुख, संपति, धन थिर नहि जग में जैसे रैन सपना।
आगे किया सो पाया भाई याही है निरना।
अब को करैगा सो पावैगा, तातैं धर्म करना॥

स्पष्ट है कि जैन पदों में गंभीरतम आत्मभावों की अनुभूति सुकुमार एवं श्रुतिमधुर शब्दों के माध्यम से हुई है। भावदुरूहता अथवा भावदीनता और शब्दों की तोड़मरोड़ कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। कविवर बनारसी दास, भूधर दास, दौलतराम, बुधजन एवं आनंदघन आदि के पद हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि हैं। इनमें मानवात्मा के चिरन्तन प्रश्नों का सहज समाधान है।

जहाँ तक वर्तमान शती के हिन्दी जैन साहित्य की बात है, उसके विषय में यही कहा जा सकता है कि वह कई धाराओं से प्रभावित होकर आया है। यह गुण भी है और दोष भी। प्रभावित होना मानव बुद्धि और उसकी आत्मा का गुण है जब कि अन्धानुकरण हमारी मौलिक शक्ति के दिवालियेपन को सूचित करता है। आज का युग भौतिक और जनवादी चेतना को प्रमुखता देता है। आज धर्म की प्राचीन मान्यताएँ भी बिलकुल नये मानवीय मोड़ ले रही हैं। अनेक प्रतिभा संपन्न लेखक और कवि इस शताब्दी में हुए हैं। उल्लेख्य कवि और काव्य ये हैं—

यशस्वी कवि श्री अनूप शर्मा द्वारा रचित "वद्र्धमान" नामक महाकाव्य इस शती के पांक्तेय महाकाव्यों में गणनीय है। इस महाकाव्य में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर का पावन जीवन अत्यंत भव्यता के साथ चित्रित है। आधारभूत कथा में कवि ने कुछ मनचाहे परिवर्तन भी किये हैं। वैदिक मान्यताओं का चार-पाँच स्थलों पर आरोप किया गया है। यह संभवतः जैन धर्म की कम जानकारी के

कारण हुआ है। किन्तु कवि के प्रस्तुतीकरण और औचित्यपूर्ण चयन पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। उसकी अपनी स्वतंत्रता होती है। इस महाकाव्य की शैली संस्कृत महाकाव्यों के अनुरूप है। संस्कृत के वंशस्थ, मालिनी और द्रुतविलंबित वृत्तों में यह काव्य रचा गया है। प्रायः सभी शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह का ध्यान रखा गया है। साकेत, यशोधरा, प्रियप्रवास, कुमारसंभवम् तथा रघुवंश आदि काव्यों ने वद्र्धमान महाकाव्य की चेतनाभूमि और शिल्पविधान को प्रभावित किया है। निष्कर्षतः यह एक सफल महाकाव्य है।

खण्डकाव्यों की दिशा में श्री बालचन्द्र कृत "राजुल" और श्री धन्यकुमार जैन सुधेश कृत "विराग" ही उल्लेख्य हैं। ये दोनों काव्य अपनी अनेक त्रुटियों के बावजूद सफल कहे जा सकते हैं। इनमें मौलिकता कम और पर प्रभाव अधिक है। "राजुल" को यशोधरा की समकक्षता तथा महावीर को गांधी, बुद्ध और राम के आलोकवलय में अंकित किया गया है।

गीतों और मुक्तकों की दिशा में कार्य तो पर्याप्त हुआ है परंतु उल्लेख्य कोटि का कम है। जुगल किशोर मुख्तार, नाथूराम प्रेमी, गुणभद्र, वीरेन्द्र कुमार और हुकमचंद बुखारिया की गीतात्मक रचनाएँ अवश्य ही सरस एवं प्रवाहपूर्ण हैं।

इस प्रकार जैन साहित्यकारों की स्वस्थ काव्य सृजन परंपरा हिन्दी में महाकवि स्वयंभू से अद्यावधि अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित है। यह धारा अरस्तू के समान काव्य में नैतिकता, साम्यवादी चिन्तक मार्क्स के समान मानव साम्य और गांधी जी के समान लोकादर्श को महत्व प्रदान करती है। साहित्य समाज की अंतश्चेतना का गतिशील दर्पण है, वह मानवमुक्ति का सशक्त साधन है यही मान्यता इस धारा की है।